ॐ

श्रीमत्स्वामिविद्यारण्य-भारती तीर्थ-विरचिता

"पञ्चदशी"

राष्ट्र भाषान्वयव्याख्यासमलङ्कृता ।।

अन्वयव्याख्याकारः

परिब्राजकाचार्यः

श्रीमत्स्वामिस्वतन्त्रानन्दगिरिः

(महामण्डलेश्वरः)

शिवालयः

संवत्-२०४४ ऋषिकेशः।।

ॐ

श्रीगुरवे नमः

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर १०८
श्रीमत्स्वामी स्वतन्त्रानन्द गिरि जी महाराज

श्रीमत्स्वामिविद्यारण्य-भारती तीर्थ-विरचिता

"पञ्चदशी"

राष्ट्रभाषान्वयव्याख्यासमलङ्कृता ॥

अन्वयव्याख्याकार :

परिव्राजकाचार्य

श्रीमत्स्वामिस्वतन्त्रानन्दगिरि : ॥

शिवालय:

शिवरात्रि संवत्-२०४४

ऋषिकेश: ॥

प्रकाशक—

फोन नं० ३४६

श्री स्वामीपूर्णानन्द ट्रस्ट

शिवालय, ऋषिकेश

(इस ग्रन्थ का सर्वाधिकार सुरक्षित)

चतुर्थ संस्करण—२०००

फरवरी १९८८

स्वामी अशोकानन्द गिरि

सचिव पूर्णानन्द ट्रस्ट

शिवालय, ऋषिकेश

फोन ३४६

सम्पादकीय

हर्ष का विषय है कि कलकत्ता महानगर के प्रवास काल में श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महामण्डलेश्वर श्री १०८ श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द गिरि जी महाराज के मुखारबिन्द से अध्यापन काल में मुखरित पञ्चदशी के अन्वयार्थ भाषा भाष्य को उनकी शिष्या श्रीमती ताराबाई वाजोरिया ने अक्षरशः लिपिबद्ध किया था। उसका चतुर्थ संस्करण मुमुक्षु जनों के लाभार्थ प्रकाशित करते हुए अपार हर्ष हो रहा है।

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के प्रकाशन एवं सम्पादन में इस आश्रम के परमाध्यक्ष विद्वद्वरेण्य श्री १०८ श्री स्वामी योगिन्द्रानन्द गिरि जी महाराज का पूर्ण सहयोग रहा है। द्वितीय संस्करण के संशोधन एवं परिवर्धन में सहयोग के लिए डा० सच्चिदानन्द हरि 'साक्षी' जी के आभारी हैं।

पञ्चदशी के चतुर्थ संस्करण का प्रकाशन महाराज जी की शिष्या श्री सुशीला बाई अग्रवाल की प्रेरणा से स्व० श्री प्रयाग दास जी राजगढ़िया की स्मृति में उनके पुत्रों ने प्रकाशित किया है।

शुभेच्छुः

स्वामी अशोकानन्द गिरि

॥ आमुख ॥

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

मानव इतिहास के पर्यालोचन करने पर सब विद्वानों का यह एक मत है कि सब से प्राचीन साहित्य वैदिक साहित्य ही है। साहित्य सामाजिक चित्र है। साहित्य से ही देश और समाज की तात्कालिकी संस्कृति, उन्नति, अवनति आदि सब का ज्ञान होता है। वैदिक साहित्य प्रधानतया—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषत्—इन चारों भागों में विभक्त हैं। इनका शिरोभाग या प्रधान-भाग विचारात्मक दार्शनिकतत्त्वबहुल उपनिषत्साहित्य है, जो वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है।

इस वेदान्त के आधार पर श्री वेदव्यास के द्वारा रचित ब्रह्म-सूत्र (वेदान्त दर्शन) के ऊपर श्री मदाद्य शंकराचार्य जी भगवान् ने भाष्य लिख कर तथा उपनिषत्, गीता आदि ग्रन्थों के ऊपर भाष्य की रचना करके ब्रह्माद्वैतवाद का सिद्धान्त पुनः स्थापित किया। उन के अनेक अनुयायी मननशील आचार्यों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये समय समय पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। उन ग्रन्थों में से प्रक्रियाप्रधान पञ्चदशी की रचना श्री विद्यारण्य स्वामीजी तथा श्री भारती तीर्थ जी ने की।

नाम के अनुसार यह ग्रन्थ पञ्चदश प्रकरणात्मक है। इस में क्रम से पञ्चविवेक, पञ्चदीप एवं पञ्च आनन्दरूप से प्रकरणों का विभाग किया गया है। इस का टीकाकार श्री अच्युतराय जी ने अपनी टीका की भूमिका में—पञ्चविवेक में "त्वम्" पदार्थ के, पञ्च-दीप में "तत्" पदार्थ के तथा पञ्च आनन्द में उभय पदार्थों के ऐक्यार्थ के प्रतिपादन में तात्पर्य पर्यवसित होता है—ऐसा लिखा है। उन्होंने मूल पञ्चदशी के ऊपर व्याख्यान करने मे विशेष ध्यान नहीं दिया, किन्तु कहीं कहीं विषय को छोड़कर विस्तृत पाण्डित्य-

पूर्ण विचार किया। इसके विपरीत श्रीरामकृष्ण जी ने जो टीका लिखी है, वह बहुत ही सरल तथा पदपदार्थों की तात्पर्यबोधिका व्याख्या है। भारत की अनेक प्रान्तीयभाषाओं में भी पञ्चदशी का अनुवाद उपलब्ध होता है, तथा पठन-पाठन प्रचलित है। श्री विद्यारण्य मुनिजी से अर्वाचीन आचार्यों ने भी अद्वैतवेदान्त के प्रमाण रूप से पञ्चदशी को आदर दृष्टि से देखा है। अतः यह ग्रन्थ अत्यंत उपयोगी है।

पञ्चदशीकार के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध प्रवाद है कि चतुर्थाश्रम में आने से पहले श्री विद्यारण्य मुनि जी पूर्वाश्रम में माधवाचार्य के नाम से प्रसिद्ध थे और वे राजा हरिहर के प्रधान अमात्यपद पर आसीन होकर राज्यशासन करते थे। संन्यास लेने के बाद अपने गुरु श्री भारती तीर्थ जी को प्रसन्न करने के लिये उन्हों ने पञ्चदशी के प्रथम पञ्चविवेक और चित्रदीप इन छः प्रकरणों को लिख कर श्री भारती तीर्थ जी को दिखाया। उसी से अति प्रसन्न होकर श्री भारती तीर्थ जी अनायास ही अवशिष्ट नौ प्रकरणों को लिखा। इस विषय का उल्लेख टीकाकार अच्युतराय ने अपने ग्रंथ की भूमिका में किया है, तथा श्री रामकृष्ण जी ने भी सप्तम प्रकरण तृप्तिदीप के टीकारम्भ में इसका उल्लेख किया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि श्री रामकृष्ण जी श्री भारती तीर्थ जी और विद्यारण्य जी के साक्षात् शिष्य थे।

इस पञ्चदशी के ऊपर पीताम्बरी हिन्दी अनुवाद आदि के होते हुए भी गुरुभक्ता शिष्याओं ने अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से ब्रह्मलीन श्री १०८ महामण्डलेश्वर स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज द्वारा पढ़ाते समय कथित हिंदी अन्वय व्याख्या को प्रकाशित करने के लिये महान् प्रयत्न किया है। इस प्रकाशन से मुमुक्षुओं के लिये अत्यन्त हित होगा—ऐसी आशा करता हूँ।

इति शुभमस्तु

दिनांक १७-७-७८

सतामनुचर

स्वामी चिन्मयानन्द गिरि

शिवालय, ऋषिकेश

सम्मति

यह पञ्चदशीका स्तुत्य संस्करण बहुत सुन्दर हुआ, मैं आशा करता हूँ कि अद्वैतज्ञान के लिये यह ग्रन्थ बहुत लाभदायक होगा।

श्रद्धेय आदरणीय महामण्डलेश्वर १०८ श्रीमत् स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज जी के द्वारा कथित यह अनुवाद ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिये उपकारक होगा। इति।

निवेदक

दिनांक ११-७-७८ स्वामी निर्दोषानन्द

शिवालय, ऋषिकेश

वेदान्त दर्शन के अनुपम ग्रन्थरत्न पञ्चदशी की न्यायवेदान्त-शिरोमणि महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी स्वतन्त्रानन्द गिरि जी के द्वारा वेदान्तजिज्ञासु एवं मुमुक्षु जनों के हितार्थ निर्मित टीका अन्वयार्थ प्रकाशक भाषा भाष्य का प्रकाशन कुछ भक्त शिष्याओं के पुरुषार्थ से सम्पन्न हुआ है।

आशा करता हूँ यह प्रकाशन विद्वानों एवं वेदान्तजिज्ञासुओं के लिये वेदान्तचिन्तन में समानरूप से उपादेय सिद्ध होगा।

ख्यालीराम उपाध्याय

साहित्याचार्य एम० ए० हिन्दी साहित्यरत्न

साहित्य विभागाध्यक्ष पंजाब सिन्ध क्षेत्र

दिनांक १५-७-७८ साधु महाविद्यालय, ऋषिकेश

श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्री १०८ स्वतन्त्रानन्द जी महाराज द्वारा पञ्चदशी हिन्दी भाष्य का जो निर्माण हुआ है वह जिज्ञासु भक्तों के लिये भवसागर से पार करने में नौकारूप है। ऋषिकेश स्थित महाराज जी छपने से पूर्व इस भाष्य द्वारा दूर प्रदेश में रहने वाले अपने भक्तों का उद्धार करते रहे हैं। अब तो यह शास्त्रसम्मत भाष्य उनकी गुरुभक्तशिष्याओं के प्रयास से छप कर लोकहित के लिये तैय्यार हो गया है। श्री १०८ स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज समद्रष्टा महापुरुष हो गये हैं।

ज्योतिः प्रसाद
मैनेजर धर्मशाला सेठ मामनचन्द जी खेमका
मेन बाजार, ऋषिकेश

दिनांक ५-७-७८

महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी स्वतन्त्रानन्द गिरि जी के पञ्चदशी ग्रन्थ के अन्वयार्थ भाषाभाष्य की रचना का स्तुत्य प्रयास वेदान्तजिज्ञासुओं एवं मुमुक्षुओं के लिए वेदान्त के गहन सिद्धान्तों के अध्ययन मनन एवं निदिध्यासन का कारण बन कर उनकी कैवल्य-प्राप्ति का साधन होगा।

प्रातः स्मरणीय अपने गुरु जी की अमूल्य रचना को सर्वजन-सुलभ बनाने से उनके शिष्यावर्ग धन्यवाद का पात्र है।

वा० रा० शुक्ल
प्राचार्य
आयुर्वेद महाविद्यालय
बाबा काली कमली वाला
ऋषिकेश (देहरादून)

दिनांक ७-७-७८

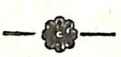

॥ विज्ञापन ॥

ब्रह्मलीन श्री १०८ महामण्डलेश्वर स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज न्याय-वेदान्त-मीमांसा आदि शास्त्रों के अत्यन्त मर्मज्ञ विद्वान् थे। वे व्यवहार में भी सदा कर्तव्य परायण, मितभाषी और साधुसेवी थे; उनके पास कोई भी महात्मा किसी आवश्यक वस्तु के लिये चले जाये तो कदापि खाली हाथ लौटने नहीं देते थे, यथा-सम्भव सत्कार करके आगन्तुक महात्मा को सन्तुष्ट करके ही लौटने देते थे। वे जहाँ तहाँ भी चतुर्मास आदि में चले जाये तो भक्त तथा शिष्यावर्ग को पञ्चदशी अत्यन्त सुन्दर रीति से श्री रामकृष्ण की टीका के आधार पर पढ़ाये करते थे। इस लिये उनका नाम ही पञ्चदशीस्वामी जी के रूप से प्रसिद्ध हुआ था। उनके पढ़ाते समय कुछ शिष्यावर्ग जैसे वे कहते जाते थे, वैसे ही लिखा करता था। इस प्रकार लिखते लिखते शिष्यावर्ग ने सम्पूर्ण पञ्चदशी की हिन्दी अन्वय व्याख्या लिख डाली। श्री स्वामी जी महाराज के तो उस लिखित अन्वय व्याख्या को छपा कर पुस्तकरूप से प्रकाशित करने का लेशमात्र भी संकल्प नहीं था। परन्तु उनके ब्रह्मलीन होने के बाद शिष्यावर्ग ने उनकी पुण्यस्मृति में उस लिखित अन्वय व्याख्या को मूल श्लोकों के सहित अविकल छपाने का निश्चय किया। इस लिये यह अन्वय व्याख्या श्री स्वामी जी महारज के द्वारा लिखित नहीं, किन्तु पढ़ाते समय कथित है। छपाने के लिये उनके द्वारा यह अन्वय व्याख्या लिखित होती तो और भी अत्यन्त सुन्दर सोने में सुगन्ध हो जाती। अस्तु, इन शिष्याओं ने गुरुभक्ति से प्रेरित होकर श्री स्वामी जी महाराज के द्वारा कथित इस हिन्दी अन्वय व्याख्या को पुस्तकरूप से प्रकाशित करके वेदान्त जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपकार ही किया है। अतः इन सब गुरुभक्त श्रद्धालुशिष्याओं के कल्याण के लिये मैं हार्दिक कामना करता हूँ; और ब्रह्मलीन श्री स्वामी जी महाराज की असीम कृपादृष्टि भी इन सब के ऊपर अवश्य रहेगी—ऐसी आशा करता हूँ।

दिनाँक १८-७-७८

विज्ञापक

स्वामी योगेन्द्रानन्दगिरि

॥ विषयानुक्रमणिका ॥

क्रमांकाः	विषयाः			पृष्ठ-संख्याः
१।	तत्त्वविवेक प्रकरणम्	...	...	१—३२
२।	पञ्चभूतविवेक प्रकरणम्	...	...	३३—७८
३।	पञ्चकोशविवेक प्रकरणम्	...	...	७९—९८
४।	द्वैतविवेक प्रकरणम्	...	...	९९—१२७
५।	महावाक्यविवेकप्रकरणम्	...	...	१२८—१३२
६।	चित्रदीप प्रकरणम्	...	...	१३३—२४७
७।	तृप्तिदीप प्रकरणम्	...	...	२४८—३६७
८।	कूटस्थदीप प्रकरणम्	...	...	३६८—४०१
९।	ध्यानदीप प्रकरणम्	...	...	४०२—४६८
१०।	नाटकदीप प्रकरणम्	...	...	४६९—४८०
११।	ब्रह्मानन्दे योगानन्दः	...	...	४८१—५३९
१२।	ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दः	...	...	५४०—५७९
१३।	ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दः	..	...	५८०—६२४
१४।	ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दः	...	...	६२५—६४७
१५।	ब्रह्मानन्दे विषयानन्दः	...	...	६४८—६६१
१६।	शुद्धिपत्र	...	...	६६३—

ॐ

श्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिता

पञ्चदशी

अथ प्रथमं तत्त्वविवेकप्रकरणम्

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
प्रत्यक्तत्त्वविवेकस्य क्रियते पददीपिका ॥

अभिलषित ग्रन्थ की विघ्ननाश पूर्वक समाप्ति और प्रचार इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि के लिये शिष्ट पुरुषों के आचार रूप प्रमाण से कर्तव्यतया प्राप्त इष्ट देवता से अभिन्न गुरुओं का नमस्कार रूप जो मङ्गलाचरण जिसका ग्रन्थकार ने अनुष्ठान किया, उसी मंगलाचरण को शिष्यों की शिक्षा के लिये (हमारे शिष्य भी ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण अवश्य करें इस प्रकार शिक्षा के लिये) श्लोक द्वारा ग्रन्थ के प्रथम अवयव रूप से लिखते हैं, और श्लोक के अर्थ से ग्रन्थप्रतिपाद्य विषय और ग्रन्थाभ्यास के प्रयोजन को भी सूचन करते हैं 'नमः' इत्यादि शब्दों के द्वारा—

नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने ।
सविलासमहामोह ग्राह ग्रासैक कर्मणे ॥१॥

सविलासमहामोहग्राह ग्रासैक कर्मणे = कार्य सहित मूल अज्ञान रूपी ग्राह को नाश करना ही एक मुख्य कर्म है जिनका ऐसे, श्री शङ्करानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने = श्रीशंकरानन्द गुरु के चरण कमलों के लिये, नमः = नमस्कार है ।

इस प्रथम श्लोक के द्वारा ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय और प्रयोजन का अर्थतः सूचन इस प्रकार है—

सम्पूर्ण जगत् का आनन्दकर परमात्मा ही "शंकर" शब्द का अर्थ है, निरतिशय प्रेम का विषय जो सुखरूप प्रत्यगात्मा, वही आनन्द पद का अर्थ है। जो शंकर है वही आनन्द है -- इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से परमात्मा और प्रत्यगात्मा की एकता सिद्ध होती है, और वही जीवाभिन्न परमात्मा गुरु रूप होने से तथा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु 'अहंब्रह्मास्मि' इस ज्ञान के द्वारा अनन्य रूप होने से अपनी विभूति के द्वारा शिष्यों के अज्ञान नाश करने में समर्थ हैं --

इतने अर्थ को कहने के लिये श्री शंकरानन्द गुरु इस प्रकार पदों का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया। अतः अज्ञात अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म रूप "जीव ब्रह्म की एकता" (वेदान्तप्रकरणरूपहोने से) इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है, और प्रत्यगात्मा 'भूमा' शब्द वाच्य अपरिच्छिन्न सुख रूप स्वस्वरूप आविर्भूत होने के कारण परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्षात्मक प्रयोजन का भी सूचन किया ॥१॥

अब अग्रिम श्लोक से अधिकारी तथा अनायास तत्त्व ज्ञान प्राप्तिरूप अवान्तर प्रयोजन का कथन पूर्वक ग्रन्थारम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं --

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम् ।
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥२॥

तत्पादाम्बुरुहद्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्=उन गुरुओं के चरण कमल युगल की सेवा से निर्मल होगया है चित्त जिनका ऐसे अधिकारी जनों के, **सुख बोधाय**=अनायास तत्त्व ज्ञान उत्पादन के लिये, **अयं तत्त्वस्य विवेकः**=यह अखण्ड सच्चिदानन्द रूप यथार्थ स्वरूप का विवेचन (अर्थात् पञ्चकोश से विवेचन), **विधीयते**=किया जाता है ॥२॥

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय जीवब्रह्म की एकता का सम्भावना के लिये जीव सत्यज्ञान आनन्द स्वरूप है, इस बात को दिखाने की इच्छा वाला ग्रन्थकार प्रथम ज्ञान का अभेद प्रतिपादन द्वारा ज्ञान

की नित्यता को अग्रिम ग्रन्थ से सिद्ध करते हैं, और उसमें भी 'शब्दस्पर्शादयः' इत्यादि प्रथम श्लोक से स्पष्ट व्यवहार युक्त जाग्रत् अवस्था में ज्ञान का अभेद प्रतिपादन करते हैं –

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ।
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥३॥

जागरे वेद्याः = जाग्रत् अवस्था में ज्ञान के विषय, शब्दस्पर्शादयः = शब्द-स्पर्श-रूप-रस गन्ध इत्यादि सम्पूर्ण पदार्थ, वैचित्र्यात् पृथक् = परस्पर विलक्षण होने से अलग-अलग हैं, ततः विभक्ता = उन वेद्य पदार्थों से विवेचन किया हुआ, तत् संवित् = उनका ज्ञान, ऐकरूप्यात् = एक रूप होने से (समानाकार प्रतीत होने से), न भिद्यते = भिन्न भिन्न नहीं है किन्तु एक है ।

टि० – जाग्रत् अवस्था का लक्षण—'इन्द्रियैरर्थोपलब्धिर्जागरितम्' जिस अवस्था में श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों का अनुभव होता है, उस अवस्थाको जाग्रत् अवस्था कहते हैं । शब्दस्पर्शादि विषयों का ज्ञान स्वरूप से भिन्न- नहीं है, क्योंकि शब्दस्पर्शादि उपाधि की कल्पना के विना ज्ञान मात्र का भेद कभी भी प्रतीत नहीं होता, जैसे घट मठ आदि उपाधि की कल्पना के बिना आकाश का भेद प्रतीत न होने से घटाकाश, मठाकाश आदि स्वरूप से भिन्न नहीं, किन्तु आकाश एक है, उसी प्रकार चिद् रूप ज्ञान भी सर्वत्र एक ही है । घटाकार, पटाकार आदि अनेक वृत्तियों में स्थित हुआ एक ही चैतन्य रूप ज्ञान घट पट शब्दस्पर्शादि सभी विषयों का अवभासक है; इसलिये चैतन्य एक ही है ॥३॥

पूर्व श्लोक में कहा गया जो न्याय अर्थात् नियम अथवा दृष्टान्त, उसी का अतिदेश स्वप्न अवस्था में भी करते हैं—"तथा-स्वप्ने" इत्यादि श्लोक से— यदि स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाओं में न्याय समान ही है, तब तो स्वप्न और जाग्रत् का भेद नहीं सिद्ध होगा, और यदि भेद है तो उस का निमित्त कहना चाहिये— इस प्रकार की आशंका का उत्तर "अत्रवेद्यं तु" इत्यादि श्लोकांश से

कहा— स्वप्न और जाग्रत् का भेद मान लेने पर उन दोनों अवस्थाओं का ज्ञान भी तो भिन्न-भिन्न ही होगा ऐसी आशंका का उत्तर 'तयोः' इत्यादि श्लोकांश से कहा—

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ॥४॥

तथा स्वप्ने=उसी प्रकार (जैसे जाग्रत् अवस्था में विलक्षण शब्दादियों का परस्पर भेद है, और विषयों से ज्ञान का भेद है, और एक रूप ज्ञान का अभेद है उसी प्रकार) स्वप्न अवस्था में भी जानना, **अत्र वेद्यं तु स्थिरं न**=स्वप्नावस्था में दृश्य वस्तु समूह तो स्थायी नहीं होते, **जागरे स्थिरम्**=और जाग्रत् अवस्था में तो वेद्य वस्तु स्थिर होती है, **अतः**=इसलिये (विषय की स्थिरता और अस्थिरता के कारण), **तद् भेदः**=स्वप्न और जाग्रत् का भेद सिद्ध होता है, **तयोः संविद्**=किन्तु स्वप्न और जाग्रत् अवस्था का ज्ञान, **एक रूपा न भिद्यते**=एक रूप ही प्रतीत होता है इसलिये ज्ञान भिन्न-भिन्न नहीं होता है।

स्वप्नावस्था का लक्षण— "करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः" चक्षुरादि इन्द्रिय रूप करणों का उपशम हो जाने पर जाग्रत् के संस्कार से उत्पन्न विषय सहित बोध अर्थात् ज्ञान जिस अवस्था में होता है, वह स्वप्नावस्था हैं ॥४॥

पूर्वोक्त प्रकार से जाग्रत् स्वप्न दोनों अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है, इसका प्रतिपादन किया। अब सुषुप्ति अवस्थाओं के ज्ञान से अभिन्न ही है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिये सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान को पहले सिद्ध करते हैं, "सुप्तोत्थितस्य" इत्यादि श्लोक से—

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्त तमोबोधो भवेत्स्मृतिः ।
सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्ध तत्तदा तमः ॥५॥

सुप्तोत्थितस्य=सुषुप्ति से जगे हुए पुरुष को, **सौषुप्ततमोबोधः**=सुषुप्तिकालीन अज्ञान का जो ज्ञान अर्थात् बोध (मैं सोया

हुआ कुछ भी नहीं जानता था, इस प्रकार का जो ज्ञान है), **स्मृतिः भवेत्**=वह(१) ज्ञान स्मृति रूप है (अनुभव रूप नहीं),**सा च अवबुद्धविषया**=और वह स्मरण ज्ञान अनुभव(२) किये हुए विषय का ही होता है, **तत् तमः**=इसलिये, सुषुप्ति कालीन अज्ञान का, **तदा अवबुद्धं**=सुषुप्ति काल में अनुभव हुआ था (ऐसा जानना चाहिये)।

१-न किंचिद् अवेदिषं—अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में मैंने कुछ भी नहीं जाना यही अज्ञान की स्मृति है।

२-जो जो स्मरण ज्ञान है वह पूर्व अनुभव जन्य सस्कार से ही उत्पन्न होता है, और अनुभव किये हुए विषय का ही होता हैं यह नियम है। इस नियम के अनुसार सुषुप्ति काल में अज्ञान का अनुभव रूप ज्ञान अवश्य हुआ है-यह मानना ही पड़ेगा।

सुषुप्ति का लक्षण—विशेषज्ञानोपसंहारे बुद्धेः कारणात्मनाऽवस्थानं सुषुप्तिः' सब प्रकार के विशेष ज्ञान का लय हो जाने पर बुद्धि की कारण रूप से (अर्थात् अज्ञान रूप से) स्थिति जिस अवस्था में होती है, वह सुषुप्ति अवस्था है ॥५॥

अब आगे के श्लोक के पूर्वार्ध से उस सुषुप्ति कालीन अज्ञानानुभव का स्वविषय अज्ञान से भेद, और जाग्रत् स्वप्न के ज्ञान से अभेद कथन करते हैं। और उत्तरार्ध से फलितार्थ को कथन करते हुए पूर्वोक्त न्याय का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं। सप्तम श्लोक के पूर्वार्द्ध तक ग्रन्थ से इस एक संवित् रूप ज्ञान को प्रकाश करने वाला दूसरा ज्ञान भी मानना आवश्यक होगा तो वह अप्रकाशित ज्ञान जगत् का प्रकाश नहीं कर सकेगा, इस कारण से प्रथम ज्ञान का प्रकाशक दूसरा ज्ञान मानना चाहिये। और दूसरा ज्ञान भी अपने प्रकाश के लिये तीसरे ज्ञान की अपेक्षा रखेगा इस प्रकार से अनवस्था दोष प्राप्त होगा ऐसी आशंका का समाधान 'एषा' इत्यादि पदों से करते हैं।

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत् ।
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्भिनान्तरे ॥६॥

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा ।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥७॥

स बोधः=वह सुषुप्ति कालीन अज्ञान का अनुभव, **विषयात् भिन्नः**=अपने विषय अज्ञान से पृथक् है किन्तु, **बोधात् न**=जाग्रत् आदि के बोध से भिन्न नहीं, **स्वप्नबोधवत्**=स्वप्न बोध की न्याई, अर्थात् जैसे स्वप्न का बोध जाग्रत् के बोध से भिन्न नहीं उसी प्रकार सुषुप्ति कालीन अनुभव भी जाग्रत् आदि के शब्दादि ज्ञान से भिन्न नहीं किन्तु एक ही है, **एवं स्थानत्रयेऽपि**=इस प्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों स्थानों में, भी **संवित् एका**=ज्ञान एक ही है, **तद्वत् दिनान्तरे**=इस तरह दूसरे दिन में भी जानना, **अनेकधा गतागम्येषु**=इसी प्रकार अनेक प्रकार से बीते हुए और आने वाले, **मासाब्द युगकल्पेषु संवित् एका**=मास वर्ष युग और कल्पों में ज्ञान एक ही है, **न उदेति न अस्तमेति**=इसलिये न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है, **एषा स्वयंप्रभा**=यह ज्ञान स्वयं प्रकाश रूप है ॥६, ७॥

उक्त प्रकार से यह संवित् अर्थात् ज्ञान उदयास्त रहित नित्य तथा स्वयं प्रकाश रूप सिद्ध होने पर भी आत्मा में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, ऐसी शंका का समाधान 'इयमात्मा' इत्यादि श्लोक से करते हुए हेतु सहित आत्मा की परमानन्द रूपता को 'परानन्दः' इत्यादि शब्दों से सिद्ध करते हैं और श्लोक के उत्तरार्ध से हेतु सहित आत्मा की परमप्रीतिविषयता को शंका समाधान पूर्वक प्रतिपादन करते हैं—

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः ।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ॥८॥

इयम् आत्मा=यह नित्य स्वयं प्रकाश रूप ज्ञान, आत्मस्वरूप ही है, **परानन्दः**=यह आत्मा निरितिशय सुख रूप है, **यतः परप्रेमास्पदं**=क्योंकि स्वाभाविक तथा निरितिशय प्रेमका विषय है, **हि आत्मनि**=इस कारण से आत्मा में, **मा भूवं न भूयासम्**=मेरा

असत्त्व (अभाव) कदापि मत होवे किन्तु मैं सदा बना रहूँ, इति प्रेम ईक्ष्यते=इस प्रकार का प्रेम देखने में आता हैं ॥८॥

आत्मा परम प्रेम का विषय है, इस प्रकार आत्मप्रेम का परम विशेषण कहा, सो प्रमाणाभाव से असिद्ध है ऐसी आंशका होने पर आगे के श्लोक से उत्तर देते हैं—

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि ।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनः ॥९॥

अन्यत्र प्रेम=अपने स्वरूप से भिन्न पुत्रादियों में जो प्रेम है, तत् आत्मार्थम्=वह प्रेम आत्मा के लिये है, अर्थात् आत्मप्रेम के अधीन है (स्वाभाविक नहीं है), एवं आत्मनि=इसी तरह आत्मा में विद्यमान प्रेम, अन्यार्थम् न=अन्य प्रेम के अधीन नहीं, किन्तु स्वाभाविक है। अतः=इसलिये अर्थात् आत्मा में प्रेम स्वभाव सिद्ध होने से, तत् परमं=वह आत्मप्रेम, निरतिशय है, तेन आत्मनः=और निरतिशय प्रेम का आस्पद होने से आत्मा, परमानन्दता=निरतिशय सुख रूप सिद्ध हुआ ॥९॥

अब तक प्रथम दो श्लोक छोड़कर बाकी सात श्लोकों के द्वारा प्रतिपादन किये हुए अर्थ को संक्षेप से आगे के श्लोक से कहते है, और ज्ञानस्वरूप आत्मा युक्ति सिद्ध होने पर ज्ञात आत्मा का बोधक श्रुति अप्रमाण सिद्ध होगी, ऐसी आशंका का निवारण भी करते हैं —

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम् ।
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते ॥१०॥

इत्थं युक्त्या=इस प्रकार युक्ति से, आत्मा=आत्मा (त्वं पद का अर्थ), सच्चित्परानन्दः=सत्चित् और निरतिशय सुख रूप सिद्ध हुआ, तथाविधम्=उसी प्रकार सच्चिदानन्द रूप, परं ब्रह्म=पर ब्रह्म भी (तत् पद का अर्थ), तयोः च=त्वं पद के अर्थ कूटस्थ आत्मा और तत् पद के अर्थ पर ब्रह्म इन दोनों की, ऐक्यं=एकता

(अखण्डता, एकरसता), श्रुत्यन्तेषु=वेदान्तों में, (उपनिषदों में), उपदिश्यते=कही जाती है। इसलिये जीव और ब्रह्म की एकता रूप अज्ञात विषय का प्रतिपादक अप्रमाण नहीं किन्तु प्रमाण है ॥१०॥

अब अग्रिम श्लोक के पूर्वार्द्ध से आत्मा की परमानन्दरूपता नहीं बन सकती इस प्रकार आक्षेप करते हैं। और उत्तरार्द्ध से उसका परिहार भी करते हैं—

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा ।

अतो भानेऽप्यभातासौ परमानन्दतात्मनः ॥११॥

अभाने=सुख रूप आत्मा की प्रतीति न होने पर, परं प्रेम न =आत्मा में निरतिशय प्रीति नहीं हो सकती (क्योंकि पदार्थ की सुन्दरता का ज्ञान होने से ही उस पदार्थ में प्रेम बनता है), भाने विषये=सुख रूप आत्मा की प्राप्ति होने से सुख के साधन माला चन्दन आदि कों में और उससे उत्पन्न हुए सुख में, स्पृहा न=इच्छा नहीं होगी (क्योंकि निरतिशय आनन्द रूप आत्मा के ज्ञान अर्थात् लाभ होने पर क्षणिक सांसारिक सुख में इच्छा नहीं बन सकती) अतः=इसलिये (जिस कारण से आत्मा की प्रतीति अथवा अप्रतीति दोनों पक्षों में दोष हैं, इस कारण से), आत्मनः असौ परमानन्दता= आत्मा की वह निरतिशय सुखरूपता, भाने अपि=प्रतीत होने पर भी (सामान्य रूप से प्रतीत होने पर भी), अभाता=विशेष रूप से प्रतीत नहीं होती। इस कारण से आत्मा में परम प्रीति तथा विषय स्पृहा दोनों बातें बन सकती हैं ॥११॥

एक ही वस्तु का एक ही काल में भान और अभान अयुक्त हैं ऐसी आकांक्षा का उत्तर विकल्प पूर्वक देते हैं, और वह विकल्प इस प्रकार है, अयुक्तत्व का अर्थ अदृष्टचरत्व हैं, अथवा उपपत्तिरहितत्त्व है (अर्थात् एक ही वस्तु का एक ही काल में भान, अभान नहीं देखने में आता है इसलिये अयुक्त है अथवा युक्ति रहित होने से अयुक्त है) ? इन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष का निषेध 'अध्येतृवर्ग' इत्यादि शब्दों से करते हुए द्वितीय पक्ष का निषेध भी 'भानस्य' इत्यादि शब्द से करते हैं—

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ।
भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते ॥१२॥

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत्=वेद पाठकों के समूह के मध्य में स्थित पुत्र के वेद पाठ की ध्वनि की न्यांई (पुत्र की ध्वनि जैसे बाहर स्थित पिता के लिये सामान्य रूप से प्रतीत है, परन्तु यह मेरे पुत्र की ध्वनि है इस प्रकार विशेष रूप से प्रतीत नहीं होती उसी प्रकार), **भाने अपि**=आनन्द रूपता की सामान्य रूप से प्रतीति होने पर भी, **अभानं**=विशेष से प्रतीत का अभाव, **भानस्य प्रतिबन्धेन**=विशेष रूप से प्रतीति का प्रतिबन्ध के कारण, **युज्यते**=बन सकता है ॥१२॥

वह प्रतिबन्ध क्या है ऐसी आशंका होने पर प्रतिबन्ध का स्वरूप अगले श्लोक से कहते हैं —

प्रतिबन्धोऽस्तिभातीतिव्यवहारार्हवस्तुनि ।
तं निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥१३॥

अस्ति भाति इति=विद्यमान है और भासता भी है इस प्रकार, **व्यवहारार्हवस्तुनि**=व्यवहार योग्य वस्तु में (वस्तु के विषय में), **तं निरस्य विरुद्धस्य**=उस व्यवहार का निराकरण करके, विद्यमान नहीं है और न भासता ही है इस प्रकार, **तस्य उत्पादनं**=उलटे व्यवहार की उत्पत्ति का हेतु, **प्रतिबन्धः उच्यते**=प्रतिबन्ध कहा जाता है ॥१३॥

उक्त प्रतिबन्ध के कारण को अग्रिम श्लोक से दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक उभयत्र क्रम से दिखाते हैं—

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनि श्रुतौ ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैक निबन्धनम् ॥१४॥

पुत्रध्वनिश्रुतौ=पुत्र के अध्ययन की ध्वनि के श्रवण में (श्रवण रूप दृष्टान्त में), **तस्य हेतुः समानाभिहारः**=उस प्रतिबन्ध

का कारण बहुतों के साथ एक ही काल में उच्चारण है, इह=दार्ष्टान्तिक में अर्थात् आत्मा की आनन्द रूपता के विशेष भान न होने में, व्यामोहैकनिबन्धनम्=विपरीत ज्ञान का मुख्य कारण, अनादिः अविद्यैव=अनादि अज्ञान ही है अर्थात् उत्पत्ति रहित अविद्या ही विशेष रूप से भान में प्रतिबन्ध के प्रति हेतु है ॥१४॥

अब अग्रिम श्लोक में प्रतिबन्ध का हेतु अविद्या का प्रतिपादन करने के लिये अविद्या की भी मूलभूत प्रकृति का व्युत्पादन करते हैं-

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता ।

तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥१५॥

चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता=चिदानन्दरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब सहित, तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिः=सत्त्व, रजः और तमो गुण की साम्यावस्था है, वह प्रकृति कही जाती है, सा द्विविधा=वह प्रकृति दो प्रकार की है। च=और, चकार से तीसरी प्रकार (तम प्रधान प्रकृति) को भी जानना, (जो १८ वें श्लोक में कही जाने वाली है) ॥१५॥

अब आगे हेतु सहित प्रकृति के द्वैविध्य को (दोनों प्रकारों को) पूर्वार्ध से दिखाते हैं। और उत्तरार्द्ध से माया और अविद्या के भेद के कथन का प्रयोजन भी बताते हैं—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥१६॥

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां=प्रकाशात्मक सत्त्वगुण की शुद्धि (दूसरे गुण के द्वारा मलिन न होना) और अविशुद्धि (रजोगुण, तमोगुण के द्वारा मलिन होना) से, ते च मायाविद्ये=वे दो प्रकार की माया और अविद्या रूप से संमत हैं, मायाबिम्बः तां=माया में स्थित चित्-प्रतिबिम्ब, उस माया को, वशीकृत्य=स्वाधीन बनाकर वर्तमान हुआ सर्वज्ञः ईश्वरः स्यात्=सर्वज्ञत्वादि गुण वाला ईश्वर कहा जाता है ॥१६॥

अब अवशिष्ट अविद्या विभाग के कथन का प्रयोजन बताते हुए तदभिमानी जीव की संज्ञा भी कहते हैं –

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान् ॥१७॥

अविद्यावशगः तु=और अविद्या में स्थित चित्प्रतिबिम्ब अविद्या के वश होता हुआ, अन्यः=ईश्वर से भिन्न जीव कहा जाता है (मलिनसत्त्वप्रधान प्रकृति को अविद्या कहते हैं, उसमें स्थित चैतन्य का प्रतिबिम्ब जब अविद्या के वश हो जाता है तब अधिष्ठान चैतन्य, उसकी उपाधि अविद्या और उसमें पड़ा हुआ चित्प्रतिबिम्ब अर्थात् चिदाभास ये तीनों मिलकर जीव कहा जाता है।) तत् वैचित्र्यात्=उस अविद्या की मलिनता की तारतम्य से, अनेकधा =यह जीव देवता, तिर्यग् आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। सा कारणशरीरंस्यात्=वह अविद्या स्थूल, सूक्ष्म शरीर का कारण होने से कारण शरीर कहा जाता है, तत्र=और उस कारण शरीर अविद्या में, अभिमानवान् प्राज्ञः=अहं अभिमान करने वाला जीव प्राज्ञ नाम से कहा जाता हैं ॥१७॥

क्रम से प्राप्त सूक्ष्म शरीर और तदुपाधिक जीव का व्युत्पादन करने के लिये सूक्ष्म शरीरादि का कारण आकाशादि को अब कहते हैं—

तमः प्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ।
वियत्पवनतेजोम्बुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥१८॥

तद्भोगाय=उन प्राज्ञ नामा जीवों के भोग के लिये (सुख दुःख के साक्षात्कार की सिद्धि के लिये),तमः प्रधान प्रकृतेः ईश्वराज्ञया=तमोगुण प्रधान प्रकृति से, ईश्वर की आज्ञा अनुसार (सृष्टि करने की इच्छारूप ईश्वर की आज्ञा से) वियत्पवनतेजोम्बुभुवः= आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये, भूतानि जज्ञिरे=पांच भूत (अपंचीकृत पंचमहाभूत) उत्पन्न हुए ॥१८॥

भूतों की सृष्टि कहने के अनन्तर अब भौतिक सृष्टि का कथन करते हुए प्रथम ज्ञानेन्द्रियों की सृष्टि कहते हैं —

सत्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम् ।
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥१९॥

तेषां पंचभिः सत्त्वांशैः = उन आकाशादि पंचभूतों के अलग-अलग पांच सत्त्व गुण के अंशों से, **श्रोत्रत्वक्अक्षिरसनघ्राणाख्यं** = श्रोत्र, त्वक् चक्षु रसना और घ्राण नाम वाली, **धीन्द्रियपञ्चकं क्रमात् उपजायते** = पांच ज्ञानेन्द्रिय क्रमानुसार उत्पन्न होती हैं। ज्ञान के जनक इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं ॥१९॥

पांचों भूतों के सत्त्व गुणांश के अलग अलग असाधारण कार्यों का कथन पूर्व श्लोक में कहकर, अब उन भूतों के मिले हुए सत्त्व-गुणांश के कार्य का कथन करते हैं, और उस कार्य के अवान्तर भेद को भी निमित्त सहित कहते हैं—

तैरन्तः करणं सर्वैर्वृत्ति भेदेन तद् द्विधा ।
मनो विमर्श रूपं स्याद् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥२०॥

तैः सर्वैः = उन पंच भूतों के मिले हुए सत्त्व गुण के अंश से **अन्तः करणं** = अन्तः करण उत्पन्न हुआ, **तत् वृत्तिभेदेन द्विधा** = वह अन्तः करण परिणाम भेद से दो प्रकार का है, **विमर्श रूपं मनः स्यात्** = संशयात्मक वृत्तिरूप मन है, **निश्चयात्मिका बुद्धिः स्यात्** = निश्चयात्मवृत्तिरूप बुद्धि है ॥२०॥

अब क्रम के अनुसार प्राप्त पंच भूतों के पृथक्-पृथक् रजोगुण के अंशों से पृथक् पृथक् असाधारण कार्यों को कहते हैं

रजोंशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात् कर्मेन्द्रियाणि तु ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥२१॥

तेषां पञ्चभिःरजोंशैः = उन आकाशादि भूतों के पृथक्-पृथक् पांच रजोगुण के अंशों से, **वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि** = वाक-

पाणी पाद पायु उपस्थ नामवाली, **कर्मेन्द्रियाणि तु क्रमात् जज्ञिरे**= पांच (१) कर्मेन्द्रियां क्रम से उत्पन्न हुई।

१ कर्म तथा क्रिया के जनक इन्द्रियों को कर्मेन्द्रियां कहते हैं ॥२१॥

अब पांच भूतों के मिले हुए रजो गुणांश का कार्य तथा उसके अवान्तर भेद को कहते हैं—

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्ति भेदात् स पंचधा ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥२२॥

तैः सर्वैः सहितैः प्राणः=उन पांच भूतों के मिले हुए (सम्मिलित) रजोगुण के अंश से प्राण उत्पन्न हुआ, **सः वृत्तिभेदात् पञ्चधा**=वह प्राण क्रियारूप वृत्ति के भेद से पांच प्रकार का है, **ते पुनः**=और वे पांच तो, **प्राणः अपानः समानः च उदानव्यानौच**= प्राण, अपान, समान तथा उदान और व्यान है ॥२१॥

जिस अभिप्राय से आकाश से लेकर प्राण पर्यन्त सृष्टि कही गई,उस अभिप्रेत अर्थ को अब दिखाते हैं—

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकं मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिगमुच्यते ॥२३॥

बुद्धि कर्मेन्द्रिय प्राणपञ्चकैः=पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और पांच प्राण इनके तथा, **मनसा धिया सप्तदशभिः**=मन बुद्धि के सहित सतरह अवयवों से युक्त, **सूक्ष्मं शरीरं**=सूक्ष्म शरीर होता है। **तत् लिङ्गं उच्यते**=उसी को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं ॥२३॥

इस प्रकार सूक्ष्म शरीर का कथन करके उसमें तादात्म्य अभिमान के कारण व्यष्टि समष्टि भेद से प्राज्ञ और ईश्वर का अवस्थान्तर दिखाते हैं

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ।
हिरण्यगर्भताधीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥२४॥

प्राज्ञः=(मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या उपाधि में अहं अभिमान करने वाला) प्राज्ञ जीव, तत्र अभिमानेन=उस व्यष्टि लिंग शरीर में अहं अभिमान करने के कारण, तैजसत्वं प्रपद्यते=तैजस नाम को प्राप्त होता हैं, ईशः=(शुद्ध सत्त्वप्रधान माया उपाधि में अहं अभिमान करने वाला) परमेश्वर, हिरण्यगर्भतां=समष्टि सूक्ष्म शरीर में अहं अभिमान के कारण हिरण्यगर्भ नाम को प्राप्त होता है। तयोः=तैजस और हिरण्यगर्भ दोनों का (लिंग शरीर में अभिमान समान होने पर भी) व्यष्टि समष्टिता=व्यष्टिभाव और समष्टिभाव है (इस कारण से तैजस और हिरण्यगर्भ में भेद हैं)॥२४॥

ईश्वर समष्टि रूप है और जीव व्यष्टि रूप है, इसमें कारण कहते हैं—

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टि संज्ञया ॥२५॥

ईशः सर्वेषां=हिरण्यगर्भ रूप ईश्वर सम्पूर्ण तैजसों को, स्वात्मतादात्म्यवेदनात् समष्टिः=अपने स्वरूप से अभिन्न करके जानने के कारण समष्टि रूप है, ततः अन्ये तु=और उस ईश्वर से भिन्न जीव तो, तत् अभावात्=तादात्म्य ज्ञान के अभाव से, व्यष्टि संज्ञया कथ्यन्ते=व्यष्टि नाम से कहे जाते हैं॥२५॥

इस प्रकार लिङ्ग शरीर उपाधि वाले तैजस और हिरण्यगर्भ का स्वरूप दिखाया, अब स्थूल शरीरादि की उत्पत्ति की सिद्धि के लिये पूर्वोक्त पंचभूतों के पंचीकरण का निरूपणार्थ अग्रिम श्लोक का आरम्भ करते हैं—

तद्भोगाय पुनर्भोग्य भोगायतन जन्मने ।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥२६॥

भगवान्=निरंकुश ऐश्वर्यादि गुण वाले परमेश्वर, पुनः तद्भोगाय=फिर उन जीवों के भोग के निमित्त, भोग्यभोगायतन-जन्मने=अन्नपानादि भोग्य(१) पदार्थ और अर्थात् स्थूल शरीर की

१ भोग

उत्पत्ति के लिये, वियदादिकं प्रत्येकं पञ्चीकरोति=आकाशादि भूतों के हर एक को पंचपंचात्मक बनाते हैं !

(१) सुख अथवा दुःख के साक्षात्कार को भोग कहते हैं ॥२६॥

हर एक भूत का पंचपंचात्मक स्वरूप किस प्रकार बना, ऐसी आशंका के उत्तर में पचीकरण का प्रकार कहते हैं—

द्विधाविधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते ॥२७॥

एकैकंच द्विधाविधाय=आकाशादि हर एक भूतों को समान दो दो भाग करके, पुनः प्रथमं=फिर हर एक के प्रथम प्रथम भाग को, चतुर्धा चार चार समान भाग करके, स्वस्वेतरद्वितीयांशैः= अपने-अपने से भिन्न चारों भूतों के जो दूसरे भाग हैं; उनके साथ चतुर्थांश भाग को, योजनात् ते पञ्च पञ्च=मिला देने से वे आकाशादि हर एक पंचीकृत हो जाते हैं ॥२७॥ दूसरे आधे

इस प्रकार पंचीकरण को कह कर, अब आगे के श्लोक से उन पंचीकृत भूतों के द्वारा उत्पादन करने के योग्य कार्य समूह को दिखाते हैं और समष्टि, व्यष्टि भेद से स्थूल शरीर अभिमानी की संज्ञा भी बताते हैं—

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन्देहे वैश्वानरो भवेत् ॥२८॥

तैः अण्डः=पञ्चीकृत भूतों से (उपादान कारण पंचीकृत भूतों से) ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, तत्र भुवनम्=उस ब्रह्माण्ड में चतुर्दश भुवन उत्पन्न होता है और, भोग्य भोगाश्रयोद्भवः=उन चौदह भुवनों में (प्राणियों के द्वारा भोगने-योग्य अन्नादि) भोग्य पदार्थ और भोगाश्रय अर्थात् योग्य शरीर की (पंचीकृत भूतों से ईश्वर की आज्ञा से) उत्पत्ति होती है, हिरण्यगर्भः अस्मिन् स्थूले= हिरण्यगर्भ इन स्थूल, देहे=समष्टि शरीर में अहं अभिमान करने से वैश्वानरः भवेत्=वैश्वानर नाम वाला (अर्थात् विराट्) होता है ॥२८॥

अब विश्व संज्ञा वाले जीवों का अवान्तर भेद कथन पूर्वक उनको तत्त्वज्ञान शून्य होने के कारण संसार प्राप्ति का प्रकार दृष्टान्त सहित दो श्लोकों से कहते हैं—

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ।
ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः ॥२९॥

तैजसाः=तैजस नाम वाले जीव व्यष्टि स्थूल शरीर में अह अभिमान करने से, विश्वतां याताः=विश्वनाम को प्राप्त होते हैं अर्थात् विश्वनाम वाले हो जाते हैं, देवतिर्यङ्नरादयः=और वे विश्व-नाम वाले जीव ही देवता तिर्यक् मनुष्यादि भेद से अनेक प्रकार के बन जाते हैं, ते पराग्दर्शिनः=वे देवतादिक जीव स्वभाव से बाह्य शब्दादिक विषयों को देखने वाले होते हैं। (प्रत्यक् आत्मा को नहीं देखते हैं)। प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः=क्योंकि वे अन्तरात्मा कूटस्थ चैतन्य के यथार्थ ज्ञान से रहित है ॥२९॥

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुञ्जते ।
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तान्तरमाशु ते ॥
व्रजन्तो जन्मनो जन्म लभन्ते नैव निर्वृतिम् ॥३०॥

भोगाय=इसलिये वे जीव सुखादि अनुभव करने के लिये, कर्म कुर्वते=मनुष्यादि शरीर में यथा योग्य कर्मों को करते रहते हैं, कर्म कर्तुं च भुञ्जते=और कर्म करने के लिये (देवता आदि शरीर में) कर्म फल भोगते हैं, नद्यां कीटा इव=नदी के प्रवाह में पड़े हुए कीड़े जैसे, आवर्तात् आवर्तान्तरं=एक भंवर से दूसरे भंवर को, आशु व्रजन्तो=शीघ्र ही प्राप्त हुए सुख को नहीं प्राप्त करते, ते जन्मनः जन्म=उसी प्रकार वे जीव भी एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त होकर, निर्वृत्तिं न एव लभन्ते=सुख नहीं प्राप्त करते हैं ॥३०॥

पूर्व श्लोक में संसार की प्राप्ति का कथन किया, अब इस श्लोक में उस संसार की निवृत्ति का उपाय दिखाने को दृष्टान्त कहते हैं—

सत् कर्म परिपाकात्ते करुणा निधिनोद्धृताः ।
प्राप्य तीर तरुच्छायां विश्राम्यन्ति यथा सुखम् ॥३१॥

ते सत्कर्म परिपाकात्=वे कीड़े पूर्व किये हुए पुण्य कर्म के फलोन्मुख होने से, करुणानिधिना=किसी कृपालु पुरुष के द्वारा, उद्धृता=नदी प्रवाह से बाहर निकाले हुए, तीरतरुच्छायां=नदी तट के वृक्ष की छाया को, प्राप्य=प्राप्त होकर, यथा सुखम् विश्राम्यन्ति= जैसे सुख पूर्वक आराम करते हैं ॥३१॥

अब दृष्टान्त में सिद्ध अर्थ को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ।
पञ्चकोशविवेकेन लभन्ते निर्वृतिं पराम् ॥३२॥

एवं तत्त्वदर्शिनः=पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म-साक्षात्कार वाले तत्त्ववेत्ता, आचार्यात् उपदेशम् अवाप्य=गुरु से तत्त्वमसि आदि महावाक्य का उपदेश प्राप्त करके, पञ्चकोश विवेकेनः=अन्नमयादि पञ्चकोशों के विवेचन द्वारा (वे जीव), पराम् निर्वृतिं लभन्ते=मोक्ष रूप सुख को प्राप्त करते हैं ॥३२॥

वे अन्नमयादि पंचकोश कौन कौन हैं ऐसी आकांक्षा होने पर उन पंचकोशों का उपदेश करते हैं, और अन्नमयादियों में 'कोश' शब्द के प्रयोग में कारण भी बताते हैं—

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानन्दश्चेति पञ्च ते ।
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत ॥३३॥

अन्नं प्राणः मनः बुद्धिः आनन्दः च = अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय आनन्दमय इति ते पंञ्च कोशाः (१) = इस प्रकार वे पाच कोश हैं, तैः आवृतः=उन कोशों से ढका हुआ होने के कारण, स्वात्मा विस्मृत्या= अपनी स्वरूप भूत आत्मा को भूल जाने से, संसृतिं व्रजेत्=जन्म मरणादि संसार को बार-बार प्राप्त करता है।

टि०१-जैसे कोशकार कृमि का कोश आवरक होने से प्रसिद्ध कोश क्लेश का हेतु है, उसी प्रकार अन्नमयादि भी अद्वय-आनन्दादि

स्वरूप के आवरक होने से क्लेश के हेतु हैं, इस कारण से अन्नमयादि को कोश कहते हैं ॥३३॥

अब उन पांच कोशों का स्वरूप क्रम से प्रतिपादन करते हैं, अढ़ाई श्लोकों से —

स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ।
लिङ्गे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेन्द्रियैः सह ॥३४॥

पञ्चीकृत भूतोत्थः=पंचीकृत महाभूतों से उत्पन्न, स्थूलः देहः अन्नसंज्ञकः स्यात्=स्थूल शरीर अन्नमय नाम वाला कोश है, लिङ्गे-तु राजसैः प्राणैः=और सूक्ष्म शरीर में वर्तमान रजोगुण के कार्य पांच प्राण, कर्मेन्द्रियैः सह प्राणः=पांच कर्मेन्द्रियों के सहित मिलकर प्राणमयकोश होता है ॥३४॥

सात्त्विकैर्धीन्द्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ।
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥३५॥

विमर्शात्मा सात्त्विकैः=संशयात्मक मन पंचभूतों के सत्त्व-गुणांश के कार्य, धीन्द्रियैः साकम्=ज्ञानेन्द्रियों के सहित मिलकर, मनोमयः=मनोमय कोश होता है, निश्चयात्मिकाधीः=और निश्चयात्मिक बुद्धि, तैः एव साकं=पूर्वोक्त ज्ञानेन्द्रियों के सहित मिलकर, विज्ञानमयः=विज्ञानमय नाम से कही जाती है ॥३५॥

स्थूल शरीर ही यदि अन्नमयादि का वाच्यार्थ है तो "स वा एष पुरुषः अन्नरसमयः" इत्यादि श्रुतियों में आत्मा को अन्नमयादि शब्द का वाच्य कैसे कहा-ऐसी आशंका कर श्लोक के उत्तरार्ध से उत्तर देते हैं, कि देहादि अन्नादि का विकार होने से अन्नमयादि शब्द का वाच्य है, और आत्मा तो तिस तिस कोश के साथ तादात्म्य अभिमान जोड़ लेने से श्रुति में अन्नमयादि शब्द से कहा गया है —

कारणे सत्त्वमानन्दमयो मोदादिवृत्तिभिः ।
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥३६॥

कारणे सत्त्वं=कारण शरीर रूप अविद्या में जो मलिन सत्त्व है, वह, मोदादिवृत्तिभिः आनन्दमयः=प्रिय मोद प्रमोद वृत्ति सहित आनन्द मय कोश है। इष्ट वस्तु का (अर्थात् पदार्थ का) दर्शन, लाभ और भोग से जो सुख विशेष उत्पन्न होता है, उनको क्रम से प्रिय, मोद और प्रमोद कहते हैं। कारण शरीर में जो मलिन सत्त्व है वह मोदादि वृत्ति सहित आनन्दमय कोश है। आत्मा तत्तत्कोशैः=कूटस्थ रूप प्रत्यगात्मा, तिस तिस आनन्दमयादि कोश के साथ, तादात्म्यात्= तादात्म्य अर्थात् अभेद अभिमान करने से, तत्तन्मयः भवेत्=तिस-तिस आनन्दमयादि कोश का वाच्य हो जाता है। तु=परन्तु वास्तव में आत्मा कोशों से विलक्षण है ॥३६॥

पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा की ब्रह्मरूपता फिर कैसे होती है, इस आशंका का उत्तर कहते हैं कि कोशों से आत्मा का विवेचन कर लेने पर आत्मा की ब्रह्म रूपता हो सकती है—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पञ्चकोशविवेकतः ।
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥३७॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां=अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति से, पञ्चकोश विवेकतः=आनन्दमयादि पांच कोशों के विवेक द्वारा (आनन्दमयादि पांच कोशों से प्रत्यग् आत्मा का विवेचन अर्थात् पृथक करके), स्वात्मानं ततः=प्रत्यग् आत्मा को उन कोशों से, उद्धृत्य=बुद्धि द्वारा निकाल कर अर्थात् चिदानन्दरूप से निश्चय करके, परं ब्रह्म प्रपद्यते= पर ब्रह्म को विवेकी प्राप्त होता है (ब्रह्म ही हो जाता है)॥३७॥

कहने को इष्ट (विवक्षित) अन्वय व्यतिरेक का स्वरूप अग्रिम चार श्लोकों से दिखते हैं—

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ।
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ॥३८॥

स्वप्ने स्थूलदेहस्य अभाने=स्वप्नावस्था में अन्नमय कोश की प्रतीति न होने पर भी, आत्मनः यत् भानं=प्रत्यक् स्वरूप आत्मा का जो स्वप्न के साक्षी रूप से भान अर्थात् स्फुरण है, सः अन्वयः=

वह आत्मा का अन्वय है, तद्भाने = उस स्वप्नावस्था में आत्मा का भान अर्थात् स्फुरण होने पर भी, अन्यानवभासनम् = स्थूल देह की जो अप्रतीति है वही, व्यतिरेकः = स्थूल शरीर का व्यतिरेक है।

टि०- इस प्रकरण में अन्वय और व्यतिरेक शब्द से अनुवृत्ति और व्यावृत्ति कही गई है ॥३८॥

इस प्रकार पूर्व श्लोक से स्थूल देह की अनात्मता का बोधक अन्वयव्यतिरेक रूप युक्ति दिखाकर अब सूक्ष्म शरीर का अनात्मत्व बोधक अन्वयव्यतिरेक को दिखाते हैं—

लिङ्गाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ।
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिङ्गस्याभानमुच्यते ॥३९॥

सुषुप्तौ लिङ्गाभाने = सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्म देह की अप्रतीति होने पर भी, आत्मनः भानं = प्रत्यक् आत्मा का उस अवस्था के साक्षी रूप से जो स्फुरण है, अन्वयः स्यात् = वह आत्मा का अन्वय है, तद्भाने तु लिङ्गस्याभानं = आत्मा का भान होने पर भी सूक्ष्म शरीर की अप्रतीति, व्यतिरेकः उच्यते = सूक्ष्म शरीर का व्यतिरेक कहा जाता है ॥३९॥

पंचकोशों के विवेचन का उपक्रम करके लिङ्ग देह का विवेचन असंगत है, ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्राणमय मनोमय और विज्ञानमय तीनों कोशों का लिङ्ग शरीर में अन्तर्भाव है इस वास्ते लिङ्ग शरीर का विवेचन प्रकृत में असंगत नहीं इस वार्ता को अब हेतु सहित कहते हैं—

तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ।
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृता ॥४०॥

तत् विवेकात् = लिङ्ग शरीर के विवेक करने से, प्राण मनोधियः कोशाः = प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों की, विविक्ताः स्युः हि = आत्मा से विवेक हो जाता है क्योंकि, तत्र गुणावस्था भेदमात्रात् = उस लिङ्ग शरीर में सत्त्व और रजोगुण की अवस्था के

भेद मात्र से, अर्थात् गुण की प्रधानता और अप्रधानता रूप निमित्त से, पृथक्कृताः=भिन्न-भिन्न कहे गये हैं ॥४०॥

अब आनन्दमय कोश शब्द से विवक्षित कारण शरीर के विवेचन का उपाय कहते हैं—

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ।
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥४१॥

समाधौ सुषुप्त्यभाने=समाधि की अवस्था में सुषुप्ति का अर्थात् कारण शरीर रूप अज्ञान की प्रतीति न होने पर भी, **आत्मनः तु भानं अन्वयः**=आत्मा का ही जो स्फुरण है, वह आत्मा का अन्वय है, **आत्म भाने**=आत्मा का स्फुरण होने पर भी, **सुषुप्त्यनवभासनम् तु**=सुषुप्ति अर्थात् अज्ञान की अप्रतीति ही, **व्यतिरेकः**=कारण शरीर रूप अज्ञान का व्यतिरेक है ॥४१॥

अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति से पांचों कोशों से विवेचन की हुई आत्मा की ब्रह्म प्राप्ति होती है यह वार्ता पूर्व ग्रन्थ से कही गई, अब उसी अर्थ का प्रतिपादन करने वाली कठोपनिषद् की श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं—

यथा मुञ्जादिषीकैवमात्मा युक्त्यासमुद्धृतः ।
शरीर त्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥४२॥

यथा मुञ्जात् इषीका=जिस प्रकार मुञ्जा नामक तृण से अन्दर का कोमल तृण, **युक्त्या**=बाहर के आवरण करने वाले स्थूल पत्रों का विभाग रूप युक्ति से अलग कर लिया जाता है, **एवम् आत्मा**=उसी प्रकार आत्मा भी (अन्वयव्यतिरेक रूप युक्ति से) **शरीरत्रितयात् धीरैः**=तीनों शरीरों से साधन संपन्न अधिकारियों के द्वारा, **समुद्धृतः परं ब्रह्मैव**=पृथक् करने पर, वह आत्मा पर ब्रह्म रूप ही, **जायते**=हो जाता है (क्योंकि ब्रह्म और प्रत्यगात्मा दोनों ही चिदानन्दस्वरूप ही हैं।) ॥४२॥

अब तक के इतने ग्रन्थ से फल सहित तत्त्वज्ञान का निरूपण किया गया, इसलिये आगे का ग्रन्थ आरम्भ नहीं करना चाहिए ऐसी आशंका होने पर अग्रिम ग्रन्थ की सिद्धि के लिये बीते हुए का कथन पूर्वक अग्रिम ग्रन्थ का तात्पर्य कहते हैं –

परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥४३॥

एवं परापरात्मनोः=उक्त प्रकार से तत् और त्वं पद के अर्थ परमात्मा और जीवात्मा दोनों की, एकता युक्त्यासंभाविता=एकता लक्षण की समता प्रदर्शन रूप युक्ति से मनाई गई, सा तत्त्वमस्यादिवाक्यैः=वह एकता तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से, भागत्यागेन लक्ष्यते=विरुद्धांश के त्याग से लक्षणा वृत्ति के द्वारा बोधित की जाती है (समझाई जाती है)॥४३॥

तत्त्वमसि इस वाक्य का अर्थज्ञान वाक्य में स्थित 'तदादि' पदों का अर्थज्ञान पूर्वक ही हो सकता है, इसलिये पहले 'तद्' पद के वाच्यार्थ को कहते हैं—

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ।
निमित्तं शुद्धसत्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥४४॥

यत् ब्रह्म तामसीम् मायाम्=जो सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म तमोगुण प्रधान माया को, आदाय जगतः=उपाधि रूप से स्वीकार करके चर, अचर रूप संपूर्ण जगत् का, उपादानं=उपादान कारण (जगत् भ्रम का अधिष्ठान) होता है, शुद्धसत्वां तां=और शुद्ध सत्त्व प्रधान माया को उपाधि रूप से ग्रहण करके, निमित्तं=निमित्त कारण (कर्ता) होता है, (तद् ब्रह्म)=(वह ब्रह्म अर्थात् जगत् का निमित्त और उपादान उभय कारण रूप ब्रह्म),तद् गिरा=तत् त्वं असि इस महावाक्य के तत् पद से कहा जाता है ॥४४॥

अब त्वं पद के वाच्यार्थ को कहते हैं—

यदा मलिन सत्वां तां कामकर्मादिदूषिताम् ।
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ॥४५॥

तत् परं ब्रह्म यदा=वही सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म जिस अवस्था में, **मलिन सत्वां कामकर्मादिदूषितां**=मलिन सत्व प्रधान (इसी कारण से) काम-कर्म आदि दोष वाली, **तां आदत्ते**=अविद्या शब्द का वाच्य माया को उपाधि रूप से स्वीकार करता है, **तदा त्वंपदेन उच्यते**=तब तत्त्वमसि वाक्य के त्वं पद से कहा जाता है ॥४५॥

इस प्रकार तत् पद और त्वं पद के दोनों अर्थों को कहकर अब वाक्यार्थ को कहते हैं—

त्रितयीमपि तां मुक्त्वा परस्परविरोधिनीम् ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते ॥४६॥

त्रितयीम् अपि=तीनों प्रकार की (तमः प्रधान, शुद्ध सत्व प्रधान और मलिन सत्व प्रधान इस भेद से तीनों प्रकार की कही गई), **परस्परविरोधिनीं**=इसीलिये आपस में विरोधिनी, **तां मुक्त्वा अखण्डं**=उस माया को त्याग कर भेद रहित, **सच्चिदानन्दं महावाक्येन**=सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म तत्त्वमसि इस महावाक्य से, **लक्ष्यते**=लक्षणा द्वारा समझाया जाता है ॥४६॥

लक्षणा वृत्ति से वाक्यार्थ का बोधन लोक में कहां देखा गया है, ऐसी आकांक्षा का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदन्तयोः ।
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥४७॥

सोऽयमित्यादिवाक्येषु=सोयं देवदत्त (सो यह देवदत्त है) इत्यादि वाक्यों में, **तदिदन्तयोः**=तत्ता और इदंता अर्थात् परोक्ष तद्देश और तत्काल तथा अपरोक्ष एतद्देश और एतत्काल रूप विशेषणों के, **विरोधात्**=विरोध के कारण देवदत्त की एकता असंभव होने से, **भागयोः त्यागेन**=उन विरुद्धांश विशेषण भागों को त्याग के द्वारा (करके), **एक आश्रयः**=देवदत्त रूप एक ही आश्रय (एक ही

देवदत्त का स्वरुप), **यथा लक्ष्यते**=जैसे लक्षणा द्वारा समझाया जाता है ॥४७॥

इस प्रकार दृष्टान्त का कथन करके दृष्टान्तिक का कथन करते हैं—

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥४८॥

एवं=उसी प्रकार (सोयं देवदत्तः इत्यादि वाक्य की न्याईं) **परजीवयोः**=परमात्मा और जीवात्मा दोनों की, **उपाधी मायाविद्ये विहाय**=उपाधिरूप माया और अविद्या को परित्याग करके, **अखण्डं सच्चिदानन्दं**=भेद रहित सच्चिदानन्द स्वरूप, **परं ब्रह्मैव लक्ष्यते**=पर ब्रह्म ही महावाक्य से लक्षणा द्वारा समझाया जाता है ॥४८॥

पूर्व श्लोक में अखण्ड सच्चिदानन्द महावाक्य से लक्षणा द्वारा बोध्य कहा है सो लक्ष्य सविकल्प रूप है, अथवा निर्विकल्प रूप है इस प्रकार दो पक्षों की कल्पना करके प्रथम पक्ष में श्लोक के उत्तरार्ध से दोष कहते हैं—

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ।
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ॥४९॥

सविकल्पस्य=नाम जाति आदि विकल्प सहित वस्तु को (ब्रह्म को) **लक्ष्यत्वे**=यदि लक्ष्य मानोगे तो (महावाक्य का अर्थ मानोगे तो), **लक्ष्यस्य अवस्तुतास्यात्**=वह लक्ष्य वस्तु मिथ्या हो जायेगी, **निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं**=नाम जाति आदि विकल्प से रहित पदार्थ तो लक्ष्य (वाक्यार्थ) बनता हुआ, **न दृष्टं न च संभवि**=कहीं पर भी लोक में नहीं देखा गया, और संभव भी नहीं हो सकता ॥४९॥

अब अगले श्लोक से सिद्धान्ती पूर्वपक्षी के कथन में जात्युत्तर रूप दोष अर्थात् असदुत्तर होने से पूर्वोक्त प्रश्न बन नहीं सकता इस प्रकार उत्तर देने के लिये विकल्प पूर्वक अर्थात् दो पक्षों का कथन पूर्वक पूर्वपक्षी के प्रश्न में दोष कहते हैं—

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ।
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥५०॥

निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा = विकल्प रहित, अथवा विकल्प सहित पदार्थ के विषय में, **विकल्पः भवेत्** = आपका किया हुआ विकल्प (जो पूर्व श्लोक में कहा हुआ है) है क्या ?, **आद्ये व्याहतिः** = प्रथम निर्विकल्प पक्ष में व्याघात दोष प्राप्त होता है (अर्थात् निर्विकल्प में विकल्प नहीं हो सकता), **अन्यत्र अनवस्था आत्माश्रयादयः** = और सविकल्प पक्ष में, अनवस्था आत्माश्रयादि अनेक दोष प्राप्त होंगे, इसीलिये पूर्व श्लोक में आपने जो दो पक्षरूप विकल्प किया है वह ठीक नहीं ।

टि०-क्या यह विकल्प निर्विकल्पका है अथवा सविकल्प का ? आद्य पक्ष में व्याघात दोष होता है, और द्वितीय पक्ष में आत्माश्रय, अनवस्थादि दोष होता है ।

द्वितीय पक्ष के उत्तर का अभिप्राय यह है "सविकल्पस्य विकल्पः" इसमें "विकल्पेन सह वर्तत इति सविकल्पः" इस विग्रह के अनुसार "विकल्प से युक्त का विकल्प" ऐसा अर्थ करना होगा, तब तो "विकल्प से युक्त का विकल्प" इस कथन में दो विकल्प पद आये हैं, इनमें प्रथम विकल्प तृतीयान्त है और दूसरा प्रथमान्त, इसमें प्रश्न उठता है-कि तृतीयान्त विकल्प और प्रथमान्त विकल्प ये दोनों एक ही हैं क्या ? अथवा भिन्न-भिन्न है ? इनमें प्रथम पक्ष में तो आत्माश्रय दोष होगा; क्योंकि दोनों में अभेद होता हुआ भी आप तृतीयान्त विकल्प के ऊपर प्रथमान्त विकल्प रखना चाहते हैं, कारण कि तृतीयान्त विकल्पविशिष्ट (सविकल्प) ब्रह्म में प्रथमान्त विकल्प रखने पर ब्रह्म के विशेषणीयभूत तृतीयान्त विकल्प में भी प्रथमान्तविकल्प का रहना अवश्यम्भावी है; क्योंकि विशिष्ट वृत्तिक धर्म विशेषण में भी रहता है-यह नियम है, यदि द्वितीय पक्ष को लेकर दोनों में भेद मानोंगे तो भी ब्रह्म के विशेषणीयभूत तृतीयान्त विकल्प के आश्रय ब्रह्म को पुनः सविकल्प मानना होगा; क्योंकि निर्विकल्प ब्रह्म किसी भी विशेषण का आश्रय नहीं होता, तब तो

जिस तीसरे विकल्प से युक्त ब्रह्म में तृतीयान्त विकल्प है, वह तीसरा विकल्प क्या प्रथमान्त विकल्प ही है, अथवा प्रथमान्त और तृतीयान्त दोनों विकल्पों से भिन्न है ? इनमें प्रथम पक्ष में अन्योन्याश्रय होगा; क्योंकि तीसरे विकल्प से अभिन्न प्रथमान्त विकल्प की ब्रह्म में स्थिति के लिये तृतीयान्त विकल्प की अपेक्षा है, तथा तृतीयान्त विकल्प की ब्रह्म में स्थिति के लिये तीसरे विकल्प से अभिन्न प्रथमान्त विकल्प की अपेक्षा है द्वितीय पक्ष में तो तीसरा विकल्प आश्रयीभूत ब्रह्म पुनः सविकल्प ने के कारण वह चौथा विकल्प क्या प्रथमान्त विकल्प ही है; अथवा प्रथमान्त तृयीयान्त और तीसरा विकल्प से भिन्न है? इनमें आद्य पक्ष में तो चक्रक नामक दोष होगा; क्योंकि चौथा विकल्प से अभिन्न प्रथमान्त विकल्प की ब्रह्म में स्थिति के लिये तृतीयान्त विकल्प की अपेक्षा है; और तृतीयान्त विकल्प की स्थिति के लिये तीसरा विकल्प की अपेक्षा है; तथा तीसरा विकल्प की ब्रह्म में स्थिति के लिये चौथा विकल्प से अभिन्न प्रथमान्त विकल्प की अपेक्षा है, अतः इस प्रकार घूमते रहने के कारण चक्रक दोष है, और द्वितीय पक्ष में भी उस चौथा विकल्प के लिये पञ्चम विकल्प और उसके लिये षष्ठ विकल्प–इस प्रकार अनवस्था रूप दोष आ जाता है ॥५०॥

पूर्व श्लोक में उक्त दूषण समूह केवल प्रकृत स्थल में ही नहीं किन्तु सर्वत्र ही विकल्प पूर्वक यह दूषण प्राप्त होता है, इस वार्ता को कहते हैं और जो सत् उत्तर है उसको इसी श्लोक के 'तेन' इत्यादि से कहते हैं –

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसंबन्धवस्तुषु ।
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतद्वितीर्ष्यताम् ॥५१॥

इदं – पूर्व श्लोक में कहे गये अनवस्था आदि सब ही दोष, गुण-क्रियाजातिद्रव्यसम्बन्धवस्तुषु – गुण, क्रिया, जाति द्रव्य और सबन्ध इन पांचों वस्तुओं मे, समं – समान ही हैं, तेन – इसलिये (इसलिये पूर्वोक्त प्रकार से विकल्प असंगत होने से), एतत् सर्वं स्वरूपस्य

यह गुण आदि सब वस्तु स्वरूप में ही कल्पित है, इति ईष्यताम् = ऐसा जान लेना चाहिए।

(यहां भी गुण क्या निर्गुण में है; या गुणवान् में ? क्रिया भी क्रिया रहित में है, या क्रियावान् में ? इत्यादि विकल्प करके पूछने पर प्रथम पक्ष में व्याघात् और द्वितीय पक्ष में आत्माश्रयादि दोष पूर्ववत् समझना चाहिये) ॥५१॥

ब्रह्मातिरिक्त अन्य वस्तु में पूर्वोक्त वार्ता ठीक है, किन्तु प्रकृत ब्रह्म में विचार का फल क्या निकला ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ।
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसबन्धाद्यास्तु कल्पिताः ॥५२॥

विकल्पतदभावाभ्याम् = विकल्प और विकल्पाभाव दोनों से, **असंस्पृष्टात्मवस्तुनि** = संबन्धरहित परमात्मा वस्तु में, **विकल्पितत्व-लक्ष्यत्वसम्बन्धाद्याः तु** = विकल्पितत्वधर्म, लक्ष्यत्वधर्म, संयोग आदि संबन्ध तथा द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति सब ही, **कल्पिताः** = कल्पित हैं ॥५२॥

पूर्वोक्त इतने ग्रन्थ भाग से क्या कहा गया ऐसी आंकाक्षा होने पर फलितार्थ को कहते हैं

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानु संधानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ॥५३॥

इत्थं वाक्यैः = (चवालीसवें श्लोक से लेकर) पूर्वोक्त प्रकार से तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा, **तदर्थानुसंधानं** उन वाक्यों के अर्थ (जीव ब्रह्म की एकता) का विचार अर्थात् विचार पूर्वक निश्चय, **श्रवणं भवेत्** = श्रवण कहा जाता है, **युक्त्या** = और युक्ति से (तीसरे श्लोक से लेकर तैतालीसवें श्लोक तक कही हुई युक्ति से), **संभावितत्वानुसंधानं** = श्रुति में सुना गया अर्थ (एकत्व) बन सकता

है इस प्रकार का जो ज्ञान है, तत् तु मननं = वह तो मनन कहा जाता है ॥५३॥

निदिध्यासन का स्वरूप कहते हैं

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत् ।

एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥५४॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे = श्रवण और मनन के द्वारा संशय रहित अर्थ में, स्थापितस्य चेतसः = स्थापन किये हुए (लगाये हुए) चित्त का, यत् एकतानत्वं = एकाकार वृत्ति प्रवाह है इसी को, निदिध्यासनम् उच्यते = निदिध्यासन कहते हैं, हि = यह बात योग शास्त्र में प्रसिद्ध है ॥५४॥

उसी निदिध्यासन का परिपक्वदशा रूप समाधि का स्वरूप दृष्टान्त सहित कहते हैं

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।

निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥५५॥

ध्यातृध्याने = (निदिध्यासन में ध्याता, ध्यान और ध्येय यह त्रिपुटि भासती है, किन्तु अभ्यास के बल से जब) ध्याता और ध्यान को क्रमात् परित्यज्य = क्रम से छोड़कर, ध्येयैकगोचरम् चित्तं = केवल ध्येय विषयक एकाग्र चित्त को, समाधिः अभिधीयते समाधि कहते हैं, निवातदीपवत् = वायु रहित प्रदेश में स्थित निश्चल दीपक की न्यांई ॥५५॥

समाधि की अवस्था में वृत्तियों का स्पष्ट अनुभव नहीं होता, इसलिये वृत्ति केवल ध्येयाकार ही रहती है, इसका निश्चय करना कठिन है ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं कि समाधि कालीन वृत्ति अनुमान से जानी जाती है इसलिये ध्येयैकगोचरता का निश्चय संभव है

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ।

स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥५६॥

आत्मगोचराः वृत्तयः तु = आत्मा को विषय करने वाली अन्तः करण की वृत्तियाँ तो, तदानीम् अज्ञाताः अपिः = समाधिकाल में यद्यपि अज्ञात रहती हैं तथापि, व्युत्थितस्य समुत्थितात् = समाधि से उठे हुए पुरुष के उत्पन्न हुए, स्मरणात् = स्मरण ज्ञान से (इतनी देर मैं समाधि में समाहित था इस प्रकार के स्मरण ज्ञान से), अनुमीयन्ते = उत्पन्न अनुमान प्रमाण द्वारा जानी जाती हैं (कि वृत्तियाँ थीं)।

समाधि से उठे हुए पुरुष को उत्पन्न हुए स्मरण ज्ञान से अनुमान किया जाता है कि उस समय वृत्तियाँ ज्ञात तो नहीं होतीं परन्तु वह आत्मा को विषय करती थीं (क्योंकि जो स्मृत है, वह पूर्वानुभूत है ऐसी व्याप्ति है) ॥५६॥

समाधि काल में वृत्तियों का उत्पादक प्रयत्न के अभाव से वृत्तियों की अनुवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार की आशंका का उत्तर कहते हैं कि समाधि में तात्कालिक प्रयत्न न होने पर भी समाधि के पूर्वकाल में अदृष्टादि सहकृत् किये गये प्रयत्न से अनुवृत्ति हो सकती है --

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ।
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कार सचिवाद्भवेत् ॥५७॥

वृत्तीनाम् अनुवृत्तिः तु = ध्येय विषयक वृत्तियों की प्रवाह रूप से उत्पत्ति तो, प्रथमाद् अपि प्रयत्नात् = समाधि से पूर्वकाल में होने वाले प्रयत्न से, अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवात् = पुण्य विशेष तथा पुनः पुनः समाधि के अभ्यास से जन्य संस्कार विशेष द्वारा सहकृत् (सहायता प्राप्त) होने से, भवेत् = होती रहती है ॥५७॥

उस समाधि का पूर्वाचार्यों ने निरूपण नहीं किया इस प्रकार नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जगद्गुरु श्री कृष्ण भगवान ने इस समाधि का निरूपण किया है इस वार्ता को हम अगले श्लोक से कहते हैं --

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा ।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥५८॥

यथा निवातस्थः दीपः=जैसे वायु रहित देश में स्थित दीपक चंचल नहीं होता है, इत्यादिभिः अनेकधा भगवान्=इत्यादि श्लोकों में नाना प्रकार से भगवान् श्री कृष्ण ने, इमम् एव अर्थं=इसी अर्थ का (निर्विकल्प समाधि रूप अर्थ का), अर्जुनाय=अर्जुन के लिए, न्यरूपयत्=निरूपण करके दिखाया ।

'यथादीपो निवातस्थ' इत्यादि श्लोकों के द्वारा अनेक प्रकार से इसी निर्विकल्प समाधि रूप अर्थ का अर्जुन के लिये श्री भगवान् कृष्ण ने निरूपण किया ॥५८॥

इस समाधि के आवान्तर फल अर्थात् गौण प्रयोजन को दिखाते हैं—

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥५९॥

अनादौ इह संसारे संचिताः कर्मकोटयः=परम्परा रूप से अनादि इस संसार में संचित करोड़ों कर्म, अनेन विलयं यान्ति=इस समाधि से विनाश को प्राप्त हो जाते हैं, शुद्धः धर्मः=और कार्य सहित अज्ञान की निवृत्ति का हेतु साक्षात्कार का साधन रूप धर्म, विवर्धते=बढ़ता है ॥५९॥

इसमें क्या प्रमाण है ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक के पूर्वार्द्ध से कहते हुए उसका उपपादन भी उत्तरार्द्ध से कहते हैं—

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥६०॥

योगवित्तमाः इमं=ब्रह्म साक्षात्कार वाले ब्रह्मवेत्ताओं ने इस, समाधिं धर्म मेघं=निर्विकल्प समाधि को धर्म मेघ नाम से, प्राहुः=कहा है, यतः एष=क्योंकि यह समाधि, धर्मामृत धाराः=धर्म रूप

अमृतकी धारओं को, सहस्रशः वर्षति=हजारों प्रकार से वर्षाती है (इसलिये इस समाधि को धर्म मेघ कहते हैं) ॥६०॥

अब समाधि का परम प्रयोजन कहते हैं —

अमुना वासना जाले निःशेषं प्रविलापिते ।

समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥६१॥

अमुना=इस समाधि से, वासनाजाले=संस्कारों का समूह (अहंता, ममता कर्तृता आदि अभिमान का हेतु तथा ज्ञान का विरोधी संस्कार समूह), निःशेषं प्रविलापिते=संपूर्ण रूप से विनष्ट हो जाने पर, पुण्यपापाख्ये कर्म सञ्चये=और पुण्य पाप रूप संचित कर्म समूह, समूलोन्मूलिते=मूल सहित नष्ट हो जाता है ॥६१॥

अब फलितार्थ को कहते हैं—

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ।

करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥६२॥

वाक्यम्=तत्त्वमसि आदि महावाक्य, अप्रतिबद्धं सत् प्राक्=कर्म और वासना रूप प्रतिबन्ध से रहित होकर पूर्वकाल में, परोक्षावभासिते=परोक्ष रूप से प्रकाशित तत्त्व के विषय में, करामलकवत्=हाथ में रखे हुए आँवला फल के दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान की न्यांई, अपरोक्षं बोधं प्रसूयते=तत्त्व का प्रकाशक अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है ॥६२॥

अब अग्रिम श्लोक में परोक्ष ज्ञान का फल कथन करते हैं —

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिक पूर्वकम् ।

बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥६३॥

देशिकपूर्वकं शाब्दं=गुरु मुख से प्राप्त, तत्त्वमसि आदि महावाक्य से जन्य, परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं=परोक्ष ब्रह्म ज्ञान, बुद्धिपूर्वकृतं कृत्स्नं पापं=ज्ञान पूर्वक किये हुए,संपूर्ण, पापों को, वह्निवत् दहति=अग्नि की न्यांई (जैसे अग्नि काष्ठ को दग्ध करती है उसी तरह) जला डालता है ॥६३॥

अब अपरोक्ष ज्ञान का फल कथन करते हैं

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिक पूर्वकम् ।
संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः ॥६४॥

देशिकपूर्वकम् शाब्दं = गुरुमुख से प्राप्त, तत्त्वमसि आदि महावाक्य से उत्पन्न, अपरोक्षात्मविज्ञानं = अपरोक्ष आत्मज्ञान (अपरोक्ष रूप आत्मा का संशय विपर्य रहित ज्ञान), संसारकारणाज्ञानतमसः = संसार के कारण अज्ञान रूपी अन्धकार को चण्डभास्करः = नाश करने के लिये दोपहर के प्रचण्ड सूर्य के समान है । ६४॥

अब इस ग्रन्थ के अभ्यास का फल कहते हैं—

इत्थं तत्त्वविवेकं
विधाय विधिवन्मनः समाधाय ।
विगलित संसृतिबन्धः
प्राप्नोति परं पदं नरो नचिरात् ॥६५॥

नरः = इस ग्रन्थ का अभ्यास करने वाला मनुष्य, इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय = उक्त प्रकार से ब्रह्म और आत्मा का अभेद रूप तत्त्व का पांचों कोशों से विवेचन करके, विधिवत् मनः समाधाय = उस तत्त्व में शास्त्र के अनुसार मन को स्थिर कर, विगलित संसृति बन्धः = अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा संसार बन्धन से मुक्त होता हुआ, परं पदं नचिरात् = निरतिशय आनन्द रूप मोक्ष को, बिना ही विलंब (तत्काल ही), प्राप्नोति = प्राप्त करता है (सच्चिदानन्द रूप ब्रह्म ही हो जाता है) ।

इस ग्रन्थ का अभ्यास करने वाला मनुष्य उक्त प्रकार से ब्रह्म और आत्मा का अभेद रूप तत्त्व का पांचों कोशों से विवेचन करके विधिवत् मन को स्थिर कर अपरोक्ष ज्ञान के द्वारा संसार बन्धन से मुक्त होता हुआ निरतिशय आनन्द रूप मोक्ष को तत्काल ही प्राप्त करता है ॥६५॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारतीतीर्थ विद्यारण्यविरचित पञ्चदश्यां तत्त्वविवेकाख्य प्रथम प्रकरणस्य राष्ट्र भाषाया श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिस्वतन्त्रानन्द-गिरिकृतान्वयव्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ द्वितीयं पञ्चभूत विवेक प्रकरणम्

—❀—

नत्वा श्री भारतीतीर्थं विद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
पञ्चभूत विवेकस्य व्याख्यानं क्रियते मया ॥१॥

पञ्चभूतों का विवेक तत्त्वबोध का उपाय होने से इस प्रकरण में पञ्चभूतों के विवेक की प्रतिज्ञा ग्रन्थकार करते हैं—

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पञ्चभूत विवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपञ्चकं प्रविविच्यते ॥१॥

यत् = जगत् की उत्पत्ति से पहले जो जगत् का कारण, सत् अद्वैतं श्रुतं = सत् स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म श्रुति में सुना गया है, तत् पञ्चभूत विवेकतः = वह ब्रह्म की उपाधि पंचभूतों के विवेक द्वारा, बोद्धुं शक्यं = जाना जा सकता है, ततः भूत पञ्चकं = इसलिये पांच भूतों का, प्रविविच्यते = भली भाँति से विवेक किया जाता है ॥१॥

उन विवेचन में भी सर्व प्रथम आकाशादि पांचों भूतों का गुणों के द्वारा भेद बोधन कराने के लिये उनके गुणों का वर्णन श्लोक के पूर्वार्ध से करते हैं और उक्त सब गुण न तो हर एक भूत के हैं और न ही एक एक गुण एक एक भूत के हैं किन्तु दूसरे ही प्रकार से गुणों का विभाग है, इस अभिप्राय को उत्तरार्ध से प्रकट करते हैं—

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धो भूतगुणा इमे ।
एकद्वित्रिचतुः पञ्चगुणा व्योमादिषु क्रमात् ॥२॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गन्धः = शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, इमे भूतगुणाः = ये पांचों आकाशादि पांचों भूतों के गुण हैं, व्योमादिषु क्रमात् = आकाशादि भूतों में क्रम से, एकद्वित्रिचतुः पञ्च गुणाः =

एक,दो,तीन, चार और पांच गुण विद्यमान है, अर्थात् आकाश में एक शब्द गुण है, वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं, तेज में शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण हैं, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं, और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच गुण हैं ॥२॥

पूर्वोक्त प्रकारान्तर को अब स्पष्ट करते हैं—

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीति शब्दनम् ।
अनुष्णाशीतः संस्पर्शो वह्नौ भुगु भुगु ध्वनिः ॥३॥

प्रतिध्वनिः वियच्छब्दः—प्रति शब्द आकाश का गुण शब्द है, **वायौ बीसीति शब्दनम्**—वायु में बी,सी इस प्रकार शब्द है, **अनुष्णाशीतः स्पर्शः**—और अनुष्ण (जो गरम भी नहीं) तथा अशीत (ठण्डा भी नहीं) ऐसा स्पर्श वायु में हैं, **वह्नौ भुगु भुगु ध्वनिः**—अग्नि में भुग भुग शब्द है ॥३॥

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलु बुलु ध्वनिः ।
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥४॥

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं—और गरम स्पर्श है भास्वर शुक्ल रूप है, **जले बुलु बुलु ध्वनिः शुक्लरूपं**—जल में बुल बुल शब्द है सफेद वर्ण **रसः माधुर्यम् ईरितम्**—और रस मधुर ऐसा कहा गया है ॥४॥

भूमि में शब्द से लेकर गन्ध पर्यन्त जो पांच गुण हैं उनका कथन करते हैं—

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ।
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥५॥

भूमौ कडकडाशब्दः—पृथ्वी में कड़ कड़ शब्द है, **काठिन्यं स्पर्शः इष्यते**—कठिन स्पर्श माना जाता है, **नीलादिकं चित्ररूपं**—नीला लाल पीला आदि अनेक प्रकार के रूप हैं (सात रंग हैं), **मधुराम्लादिकः रसः**—मीठा खट्टा आदि, अनेक प्रकार के रस हैं (छः प्रकार के रस हैं) ॥५॥

पूर्वोक्त प्रकार से गुणों के द्वारा पंचभूतों का भेद कहकर अब छठवें श्लोक के उत्तरार्ध से कार्य द्वारा भी बोधन करने के लिये भूतों के कार्य, ज्ञान-इन्द्रियों को पहले कहते है—

सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ।

श्रोत्रंत्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रिय पञ्चकम् ॥६॥

सुरभीतरगन्धौ द्वौ=पृथ्वी में सुगन्ध दुर्गन्ध के भेद से दो प्रकार का गन्ध भी है **गुणाः**=यहां तक के ग्रन्थ से भूतों के गुणों का, **सम्यग्विवेचिताः**=भलि भाँति विवेचन किया (ताकि गुणों के भेद से गुणी पंच भूतों का भेद सिद्ध हो जायें), **श्रोत्रंत्वक्चक्षुषी जिह्वा**= श्रोत्र-इन्द्रिय, त्वक्-इन्द्रिय, चक्षु-इन्द्रिय, रसना-इन्द्रिय, **घ्राणं च**= और घ्राण-इन्द्रिय, **इन्द्रिय पञ्चकम्**=ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय क्रम से आकाशादि भूतों के कार्य हैं।

(इस प्रकार कार्य के भेद से भी कारण पञ्च भूतों का भेद सिद्ध होता है) ॥६॥

उन ज्ञानेन्द्रियों के गोलक अर्थात् स्थान और उनके व्यापारों को श्लोक के पूर्वार्ध से कहकर उत्तरार्ध से इन्द्रियों के सद्भाव में कार्य लिङ्ग अनुमान प्रमाण और इन्द्रियों के स्वभाव को कहते हैं—

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ।

सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायोधावेद्बहिर्मुखम् ॥७॥

तत् क्रमात्=वह श्रोत्रादि इन्द्रिय पंचक क्रम से, **कर्णादिगोलकस्थं**= कान नेत्र आदि स्थान में स्थित है, **शब्दादिग्राहकम्**=और क्रम से ही शब्द,स्पर्श, रूप, आदि ज्ञान का जनक है, **तत् सौक्ष्म्यात्**=वह इन्द्रिय पंचक सूक्ष्म होने के कारण, **कार्यानुमेयम्**=अपने अपने कार्य से ही अनुमान(१) द्वारा जानने योग्य है, **प्रायः बहिर्मुखम् धावेत्**=और ज्यादा करके बाह्य शब्दादि विषयों में दौड़ती है।

टि० १—अर्थात् अपंचीकृत पंच महाभूतों का कार्य होने से इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं अर्थात् दुर्ज्ञेय हैं; इसलिये उनके कार्य, ज्ञान से अनुमान द्वारा जानने योग्य हैं, प्रत्यक्ष से नहीं ॥७॥

पूर्व श्लोक में प्रायःशब्द से कदाचित् इन्द्रियों का अन्तर्विषय-ग्राहकत्व जो सूचित किया था, उसको अब दिखाते हैं –

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः ।
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्न भक्षणे ॥८॥

कदाचित् कर्णे पिहिते=कभी-कभी कान अँगुली लगाकर बन्द कर लेने पर, **प्राणवायौ जाठराग्नौ**=प्राण वायु में उदराग्नि में स्थित **आन्तरः शब्दः श्रूयते**=भीतर का शब्द सुनने में आता है, **जलपाने अन्नभक्षणे**=जल पीने में (जल पीते समय) और अन्न खाने के समय में ॥८॥

व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः ।
उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः ॥९॥

हि अन्तराः स्पर्शाः व्यज्यन्ते=अवश्य करके भीतर के स्पर्श प्रतीत होते हैं, **मीलने च आन्तरं तमः**=और नेत्र को मीच लेने पर भीतर का अन्धकार दीखता है, **उद्गारे च रसगन्धौ**=और डकार आने पर रस और गन्ध का ज्ञान होता है, **इति अक्षाणां आन्तर ग्रहः**=इस प्रकार इन्द्रियों के द्वारा भीतर के विषयों का ज्ञान होत है ॥९॥

पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानेन्द्रियों के व्यापारों को कहकर कर्मेन्द्रियों के असत्त्ववादि के प्रति कर्मेन्द्रियों के सद्भाव समर्थन के लिये उनके पांच व्यापारों को श्लोक के पूर्वार्ध से कहते हैं और उत्तरार्ध से उन पांचों क्रियाओं में अन्य क्रियाओं का अन्तर्भाव भी दिखाते हैं–

पञ्चोक्त्यादानगमन विसर्गानन्दकाः क्रियाः ।
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पञ्चस्वन्त र्भवन्ति हि ॥१०॥

उक्तिआदानगमनविसर्गानन्दकाः=शब्द उच्चारण, वस्तु का का ग्रहण, गमन (जाना), मलमूत्र त्याग, और आनन्द (विषय भोग) नाम वाली, **पञ्च क्रियाः**=पांच ही क्रियायें हैं, **हि कृषिवाणिज्य-सेवाद्याः**=क्योंकि खेती, व्यापार और सेवा आदि क्रियायें, **पञ्चसु अन्तर्भवन्ति**=पूर्वोक्त पांच क्रियाओं में अन्तर भूत हैं ॥१०॥

वे क्रियाजनक कर्मेन्द्रियां कौन-कौन है, इस आकांक्षा की पूर्त्ती करते हुए उन कर्मेन्द्रियों को और उनके स्थानों को कहते हैं—

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षै स्तत्क्रियाजनिः ।
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेन्द्रिय पञ्चकम् ॥११॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थैः=वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और पायु, अक्षैः तत्क्रियाजनिः=इन इन्द्रियों से पूर्वोक्त पांच प्रकार की क्रियाओं की उत्पत्ति क्रम से होती है, तत्कर्मेन्द्रियपंचकम्=वे पांच कर्मेन्द्रियां है, मुखादिगोलकेषु=और मुख हाथ आदि स्थानों में, आस्ते=रहती हैं ॥११॥

अब उक्त दश इन्द्रियों के प्रेरक मन और उस मन के व्यापार और स्थान दिखाते हुए मन के अन्तर इन्द्रिय होने में निमित्त को भी दिखाते हैं—

मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ।
तच्चान्तः करणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः ॥१२॥

दशेन्द्रियाध्यक्षं मनः=दशों इन्द्रियों का प्रेरक मन है, हृत्पद्मगोलके स्थितं=(वह मन) हृदय कमल रूपी स्थान में रहता है, तत् च अन्तःकरणं=और वह मन अन्तःकरण अर्थात् भीतर की इन्द्रिय है, इन्द्रियैः विना बाह्येषु=क्योंकि बाह्य इन्द्रियों के बिना बाह्य विषयों को, अस्वातन्त्र्यात्=जानने के लिये वह मन परतन्त्र है (अर्थात् बाह्य शब्दादि विषयों का ग्रहण करने के लिये मन को चक्षु आदि इन्द्रियों की अपेक्षा है)॥१२॥

मन दश इन्द्रियों का अध्यक्ष अर्थात् प्रेरक है इस बात का स्पष्टीकरण अगले श्लोक के पूर्वार्ध से करते हैं, और उत्तरार्ध से मन की वैराग्य आदि नाना वृत्ति दिखाने के लिये सत्त्व आदि गुणवान् मन है इस वार्ता का भी प्रदर्शन करते हैं—

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम् ।
सत्त्वं रजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः ॥१३॥

अक्षेषु अर्थार्पितेषु=चक्षु आदि इन्द्रियां विषयों में स्थापित होने पर (अर्थात् इन्द्रियों द्वारा बाह्य रूपादि का ज्ञान हो जाने पर) **एतत् गुणदोषविचारकम्**=यह मन, गुण और दोष का विचार करता है (यह विषय समीचीन है, या असमीचीन है अर्थात् ठीक है या नहीं ठीक है इस प्रकार का विचार करने वाला मन है), **सत्त्व रजः तमः च अस्य गुणाः**=सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इस मन के गुण है, **हि तैः विक्रियते**=क्योंकि उन गुणों से मन विकार को प्राप्त होता है,

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा, परमात्मा का रूप होने से सभी ज्ञान के प्रति समान है; इसलिये गुण दोष का विचार नहीं हो सकता और इन्द्रियां अपने अपने विषयों का ज्ञान उत्पन्न करके चरितार्थ हो जाती हैं; अब उन ज्ञात विषयों का गुण अथवा दोष विचार करने वाला मन के सिवाय कोई दूसरा नहीं है, अतः गुण दोष विचार की अन्यथा अनुपपत्ति से मन की सिद्धि होती है।

यद्यपि मन पंच भूतों द्वारा त्रिगुण का कार्य है,इसलिये त्रिगुण का कार्य मन है, ऐसा कहना चाहिये; मन का गुण सत्त्वादि है ऐसा नहीं कहना चाहिये; तथापि उपादान कारण त्रिगुण कार्य मन में अनुगत है, तथा उन गुणों से मन का कामादि विकार रूप वृत्ति होती है; इस कारण से मन के गुण सत्त्वादि है ऐसा कहा ॥१३॥

सत्त्वादि गुणों से होने वाली मन की विक्रियाओं को विस्तार से कहते हैं—डेड़ श्लोक से

वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः ।
काम क्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः ॥१४॥

वैराग्यं क्षान्तिः औदार्यम्=तृष्णा राहित्यरूप वैराग्य, क्षमा (सहन शीलता), उदारता, **इत्याद्याः सत्त्व संभवाः**=इत्यादि वृत्तियां (अर्थात् विकार) सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाले हैं, **कामक्रोधौ लोभयत्नौ**=काम, क्रोध, लोभ और प्रयत्न, **इत्याद्याः रजसोत्थिताः**=इत्यादि रजोगुण से उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

आगे पन्द्रहवें श्लोक के उत्तरार्ध से लेकर सोलहवें श्लोक के पूर्वार्ध पर्यन्त ग्रन्थ से वैराग्यादि सतोगुण के कार्यों का तथा रजोगुण,

तमोगुण के कहे हुये कार्यों का फल अलग अलग दिखाते हैं—

आलस्य भ्रान्तितन्द्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ।
सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्चराजसैः ॥१५॥

आलस्य भ्रान्तितन्द्राद्याः=आलस्य, भ्रमज्ञान और निद्रा आदि, **विकाराः तमसोत्थिताः**=विकार (परिणाम) तमोगुण से उत्पन्न होते हैं, **सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः**= सतोगुण के कार्य वैराग्यादि से पुण्य की प्राप्ति (उत्पत्ति) होती हैं, **पापोत्पत्तिः च राजसैः**= और पाप की उत्पत्ति रजोगुण के कार्य काम क्रोधादि से होती है ॥१५॥

अब सोलहवें श्लोक के उत्तरार्ध से अन्तःकरणादि सबों का प्रभु को बताते हैं—

तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुः क्षपणं भवेत् ।
अत्राहंप्रत्ययी कर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥१६॥

तामसैः उभयं न=तमो गुण के कार्य निद्रादि से पाप अथवा पुण्य नहीं होते, **किन्तु वृथा आयुः क्षपणं भवेत्**=परन्तु व्यर्थ आयु का क्षय होता है, **अत्र**=यहां वेदान्त शास्त्र में, **अहं प्रत्ययी**=अहं इस प्रकार प्रत्यय वाला (अर्थात् अहं अभिमान वाला), **कर्ता**=कार्य करने वाला प्रभु है, **इत्येवं लोक व्यवस्थितिः**=क्योंकि इसी प्रकार लोक में व्यवस्था देखने में आती हैं ॥१६॥

पूर्वोक्त प्रकार से जगत् की स्थिति का कथन करके अब जगत् की भौतिकता के ज्ञान का उपाय और सूक्ष्म इन्द्रिय आदियों में भूत कार्यता का निश्चय करने के उपाय को भी कहते हैं—

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ।
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥१७॥

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु=स्थूल शब्दादि गुण सहित घटादि वस्तुओं में, **भौतिकत्वम्**=भौतिकता (पंचभूतों की कार्यरूपता), **अतिस्फुटम्**=अत्यन्त स्पष्ट ज्ञात होती हैं, **अक्षादौ अपि तत्**=इन्द्रियादियों में भी वह भौतिकत्व (अर्थात् भूतों की कार्य रूपता), शास्त्र-

युक्तिभ्याम् = शास्त्र (१) और अनुमान (२) आदि रूप युक्ति से, **अवधार्यताम्** = निश्चय कर लेना चाहिए।

टि० १—शास्त्र—"अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक्" इत्यादि शास्त्र से।

२—श्रोत्रादि पञ्चभूतों का कार्य है, भूतों के अन्वय व्यतिरेक अनुसारी होने से, जैसे मृत्तिका के अन्वय व्यतिरेक अनुसारी घट मृत्ति का कार्यलोक में दृष्ट है इस युक्ति रूप अनुमान से भी सब कार्य भौतिक हैं इस प्रकार निश्चय होता है ॥१७॥

इस प्रकार पांचों भूत और उनके कार्य का विवेचन दिखाकर अब "सदेवसौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि अद्वितीय ब्रह्म प्रतिपादक श्रुति का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थकार इस श्रुति वाक्यस्थ 'इदम्' पद के अर्थ को पहले कहते हैं —

एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ।
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदंशब्दोदितं जगत् ॥१८॥

एकादशेन्द्रियैः = चक्षु आदि दश और मन ग्यारह इन्द्रियों के द्वारा (अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से), **युक्त्या** = अनुमान प्रमाण रूप युक्ति से, **शास्त्रेण अपि यावत् किंचित्** = तथा शास्त्ररूप शब्द प्रमाण से भी जो भी कुछ, **जगत् अवगम्यते एतत्** = संसार ज्ञात होते हैं वे सब, **इदं शब्दोदितं भवेत्** = "सदेव सौम्य" इत्यादि श्रुति वाक्य के 'इदं' पद से कहे गये हैं ॥१८॥

पूर्व श्लोक से 'इदं' शब्द का अर्थ संपूर्ण जगत् है यह कहा, अब आगे के श्लोक से श्रुति को ग्रन्थकार स्वयं ही अर्थतः पाठ करते हैं—

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ।
सदेवासीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ॥१९॥

सृष्टेः पुरा इदं सर्वं = सृष्टि से पहले (पूर्वकाल में) यह संपूर्ण जगत्, **एकं एव अद्वितीयकम्** = स्वगतभेदरहित, सजातीय भेद रहित, और विजातीय भेद रहित एक, **सत् एव आसीत्** = सद् ब्रह्म

रूप ही था, नामरूपे न आस्ताम्=नाम रूप दोनों नहीं थे, इति आरुणेः वचः=इस प्रकार अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक का वचन है ॥१९॥

"एकमेवाद्वितीयकम्" इन तीनों विशेषण पदों से सद्वस्तु में स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों का निवारण करने के लिये लोक में उन तीनों भेदों को पहले दिखाते हैं—

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ॥२०॥

वृक्षस्यपत्रपुष्प फलादिभिः=वृक्ष का (अवयवी का) पत्ते फूल फल आदि अवयवों से, स्वगतः भेदः=स्वगत भेद है, वृक्षान्तरात् सजातीयः=एक वृक्ष का दूसरे वृक्ष से सजातीय भेद है, शिलादितः विज़ातीयः=पत्थर आदि से वृक्ष का विजातीय भेद है ॥२०॥

इस प्रकार अनात्म पदार्थ में तीनों भेदों का प्रदर्शन किया, उसी प्रकार सद् वस्तु में भी तीनों भेदों की प्राप्ति की आशंका हो सकती है। उस आशंका का निवारण करने के लिये श्रुति स्वयं ही तीनों पदों के द्वारा भेद त्रय का निषेध करती है, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ।
ऐक्यावधारणद्वैत प्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥२१॥

तथा=(जैसे अनात्म वस्तु में पूर्वोक्त तीन भेद प्राप्त है) उसी प्रकार, सद्वस्तुनः=सद् रूप आत्म वस्तु में, प्राप्तं=प्रसक्त (संभावित) अर्थात् भेदों का प्रसंग प्राप्त होने पर, भेद त्रयं=स्वगतादि तीनों भेदों का, ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैः=एकता अवधारण और द्वैत निषेध को कहने वाले, त्रिभिः=एकं एव अद्वितीयकम् इन तीनों पदों के द्वारा, क्रमात् निवार्यते=क्रम से निवारण किया जाता है ॥२१॥

सद् वस्तु में स्वगत भेद की आशंका नहीं बन सकती क्योंकि यह सद् वस्तु निरवयव है इसको कहते हैं—

सतो नावयवाः शङ्क्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ।
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरद्याप्यनुद्भवात् ॥२२॥

सतः अवयवाः=सद् रूप ब्रह्म के (अंश विभाग होगा) इस प्रकार अवयवों की, **न शङ्क्याः**=आशंका नहीं करनी चाहिये, **तदंशस्य**=क्योंकि सद् ब्रह्म के अंशका (अवयवों का), **अनिरूपणात्**=निरूपण नहीं हो सकता, **नाम रूपे तस्य अंशौ न**=नाम और रूप दोनों सद् ब्रह्म के अंश (अवयव) नहीं बन सकते क्योंकि, **अद्य तयोः अपि**=सृष्टि से पहले नाम रूप दोनों की भी, **अनुद्भवात्**=उत्पत्ति नहीं हुई है इसलिये अभाव है ॥२२॥

नाम रूप उस समय क्यों नहीं हैं ऐसी आशंका का निवारण करते हुए फलितार्थ को कहते हैं—

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ।
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ॥२३॥

नामरुपोद्भवस्य एव=नाम और रूप की उत्पत्ति का नाम ही, **सृष्टित्वात्**=सृष्टि है, इसलिये, **सृष्टितः पुरा**=नाम रूप की उत्पत्ति रूप सृष्टि से पहले, **तयोः उद्भवः न**=नाम रूप दोनों की उत्पत्ति नहीं है, अतः अभाव है, **तस्मात् सत्**=इसलिये (नाम रूप के अभाव से) सद् रूप ब्रह्म, **निरंशं यथा वियत्**=निरवयव सिद्ध हुआ जैसे आकाश (न्यायमत में) निरवयव है ।

(इसलिये ब्रह्म का स्वगत भेद नहीं बन सकता) ॥२३॥

निरवयव होने से स्वगत भेद मत होवे, सजातीय भेद तो क्यों नहीं होगा, ऐसी आशंका का उत्तर सद् का सजातीय दूसरा सत् कहना होगा, परन्तु दूसरा सत् का निरूपण हो नहीं सकता, क्योंकि प्रथम सत् से दूसरे सद् का वैलक्षण्य न होने से, अनेक सत् सिद्ध नहीं हो सकते इस प्रकार पूर्वार्ध से कहते है, और उत्तरार्ध से घट सत्ता पटसत्ता इत्यादिक प्रतीति से सद् का जो भेद भासता है वह भी घटाकाश,मठाकाश के औपाधिक भेद की न्यांई हैं,स्वरूपतः भेद जैसे आकाश का नहीं है, उसकी प्रकार सद् ब्रह्म का भी स्वतः

भेद नहीं हो सकता, किन्तु औपाधिक की ही प्रतीति होती है, इसलिये वास्तव में सदन्तर न होने से सजातीय भेद नहीं हो सकता इस वार्ता को कहते हैं—

सदन्तरं सजातीयं न वैलक्षण्य वर्जनात् ।
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥२४॥

सजातीयं सदन्तरं न=सद् ब्रह्म के सजातीय दूसरे सत् का निरूपण नहीं हो सकता क्योंकि, **वैलक्षण्य वर्जनात्**=सत् से सत् की विलक्षणता नहीं है, **नामरूपोपाधि भेदं विना**=नाम तथा रूप इन दोनों उपाधियों के भेद के बिना, **सतः भिदा न एव**=सत् का प्रतीयमाण औपाधिक भेद से अतिरिक्त स्वरूपतः भेद है ही नहीं (इसलिये ब्रह्म का सजातीय भेद नहीं है) ॥२४॥

सत् का स्वगत अथवा सजातीय भेद मत होवे, पर विजातीय से सत् का भेद अवश्य होगा, इस आशंका का उत्तर कहते हैं कि सत् से विजातीय असत् ही होगा, और असत् का अर्थ है कि जो वस्तुतः नहीं है; ऐसा असत् प्रतियोगी नहीं बन सकता; इसलिये उसकी अपेक्षा करके सद् का भेद असंभव हैं; इस प्रकार कहते हैं—

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ।
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ॥२५॥

विजातीयम् असत्=सत् का विजातीय असत् होगा, **तत्तु न अस्ति**=परन्तु वह असत् तो नहीं है, **इति खलु गम्यते**=इस प्रकार प्रकार निश्चय रूप से ज्ञात होता है, **अतः अस्य**=इसलिये (असत् होने के कारण ही) वह असत्, **प्रतियोगित्वं न**=प्रतियोगी (विरोधी) नहीं बन सकता, **विजातीयात् भिदा**=सुतरां विजातीय असत् से सत् का (ब्रह्म का) भेद, **कुतः**=कैसे सिद्ध हो सकता है (अर्थात् सत् का विजातीय भेद भी नहीं हो सकता) ॥२५॥

फलितार्थ को कहते हुये अब स्थूणानिखनन न्याय से सद्रूप अद्वैत वस्तु को दृढ़ करने के अभिप्राय से पूर्वपक्ष उठाते हैं—

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन ।
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ॥२६॥

एकम् एव अद्वितीयम् सत्सिद्धं = इस प्रकार एक ही अद्वितीय सत् रूप ब्रह्म सिद्ध हुआ; तु अत्र केचन विह्वला = परन्तु उक्त सद् ब्रह्म के विषय में कुछ लोग (असत्वादि माध्यमिक) व्याकुल होकर, पुरा इदं असत् एव आसीत = सृष्टि से पूर्व यह जगत् असत् (अर्थात् शून्य) रूप ही था, इति अवर्णयन् = इस प्रकार कहने लगे ॥२६॥

इस व्याकुलता में दृष्टान्त कहकर दार्ष्टान्तिक में भी प्रयोजन कहते हैं --

मग्नस्याऽब्धौ यथाक्षाणि विह्वलानि तथास्य धीः ।
अखण्डैकरसं श्रुत्वा निःप्रचारा बिभेत्यतः ॥२७॥

अब्धौ मग्नस्य अक्षाणि = समुद्र में डुबे हुइ पुरुष की इन्द्रियां, यथा विह्वलानि = जैसे व्याकुल हो जाती हैं, तथा अस्य धीः = उसी प्रकार असत् वादी की बुद्धि भी, अखण्डैकरसं श्रुत्वा = अखण्ड समरस ब्रह्म को सुनकर, निःप्रचारा अतः बिभेति = प्रचार रहित होकर इस सद् ब्रह्म से डरती हैं ॥२७॥

उक्त अर्थ में आचार्य की संमति दिखाते हैं--

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्य योगिनाम् ।
साकार ब्रह्म निष्ठानामत्यन्तं भयमूचिरे ॥२८॥

गौडाचार्या = गौड़पादाचार्य जी ने, निर्विकल्पे समाधौ = निर्विकल्प समाधि रूप अखण्ड ब्रह्म के विषय में, साकार ब्रह्मनिष्ठानाम् = साकार ब्रह्म के ध्यान निष्ठ, अन्य योगिनां अत्यन्तं भयम् ऊचिरे = द्वैतदर्शी योगियों का अतिशय भय कहा है ॥२८॥

किस वाक्य से कहा, ऐसी आकांक्षा होने पर उनके वार्तिक का पाठ करते हैं, और भय का उपपादन भी करते हैं--

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥२९॥

अस्पर्शयोगो नाम=जो यह अस्पर्श योग नाम वाली निर्विकल्प समाधि है, **एष सर्व योगिभिः**=यह समाधि साकार ध्याननिष्ठ सर्वयोगियों को, **दुर्दशः हि**=दुर्लभ है क्योंकि, **योगिनः अभये**=पूर्वोक्त द्वैतदर्शी योगी लोग भय रहित समाधि में, **भय दर्शिनः**=निर्जन देश में स्थित बालक की न्यांई भय की कारणता कल्पना करते हुए, **अस्मात् बिभ्यति**=इस अस्पर्श योग से भय को प्राप्त होते हैं ॥२९॥

श्रीमद् भगवच्छंकराचार्य जी भी इसी बात को कहते हैं--

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्क पटूनमून् ।
आहुर्माध्यमिकान्भ्रान्तानचिन्त्येऽस्मिन्सदात्मनि ॥३०॥

भगवत्पूज्यपादाः च=भगवत् पूज्यपाद शंकराचार्य ने, **शुष्क तर्क पटून् अमून् माध्यमिकान्**=शुष्क (कोरा) तर्क करने में कुशल इन माध्यमिक नाम वाले शून्य वादियों को, **अचिन्त्ये अस्मिन्**=मन से भी चिन्तन करने अयोग्य इस, **सदात्मनि भ्रान्तान् आहुः**=सद् ब्रह्म रूप आत्मा के विषय में भ्रम युक्त कहा है ॥३०॥

उनके वार्तिक का भी पाठ करते हैं—

अनादृत्यश्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ।
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैक चक्षुषः ॥३१॥

तमस्विनः इमे बौद्धाः=अत्यन्त तमो गुणी ये बौद्ध लोग, **मौर्ख्यात् श्रुतिम् अनादृत्य**=मूढ़ता वश श्रुतिका (वेद का) अनादर करके, **अनुमानैक चक्षुषः**=अनुमान प्रमाण को ही यथार्थ ज्ञान का साधन एक मात्र मानते हुये, **निरात्मत्वम् आपेदिरे**=शून्य को ही तत्त्व रूप करके प्राप्त हुये (ग्रहण किये)॥३१॥

अब असद्वाद का विकल्प पूर्वक दूषण कहते हैं

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ।
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ॥३२॥

शून्यं आसीत् इति सद् योगं=शून्य था इस वाक्य से (शून्य का) सत्ता से सम्बन्ध, वा सदात्मताम् ब्रूषे=अथवा शून्य की सद्-रूपता को कहते हो, तु तत् उभयं=परन्तु (शून्य का) सत्ता संबन्ध तथा सद्रूपता दोनों, शून्यस्य=शून्य के, व्याहतत्वतः न युक्तम्=व्याघात दोष के कारण नहीं बन सकते ॥३२॥

व्याघात दोष को ही दृष्टान्त पूर्वक दृढ़ करते हैं—

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ।

सच्छून्ययो विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ॥३३॥

सूर्यः तमसा युक्तः न=सूर्य अन्धकार से सम्बन्ध वाला नहीं है, च असौ तमोमयः अपि न=और वह सूर्य अन्धकार रूप भी नहीं है उसी प्रकार, सत् शून्ययोः विरोधित्वात्=सत् और शून्य परस्पर विरोधी होने से, शून्यम् आसीत् कथं वद=शून्य था यह वचन कैसे कहते हो ॥३३॥

आपके मत में भी आकाशादियों का निर्विकल्प ब्रह्म में सत्त्व, होना व्याघात दोष से दुष्ट है; ऐसी आशंका माध्यमिक की होने पर उसका उत्तर श्लोक के पूर्वार्ध से कहते हैं; और उत्तरार्ध से बौद्ध का अपसिद्धान्त दोष भी कथन करते हैं--

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ।

शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥३४॥

वियदादेः नामरूपे=आकाशादि के नाम और रूप दोनों, मायया सुविकल्पते=माया के द्वारा सद् ब्रह्म में कल्पित है (अतः सिद्धान्त में दोष नहीं), शून्यस्य नामरूपे च=शून्य के नाम रूप भी, तथा चेत्=सद्वस्तु ब्रह्म में कल्पित है, यदि ऐसा कहते हो तो, चिरं जीव्यताम्=चिरकाल तक जीते रहो ।

(यह आशीर्वाद देते हैं लो) ॥३४॥

तब तो शून्य की न्यांई (शून्य के नाम रूप के समान) सद् ब्रह्म के नाम रूप भी कल्पित ही अंगीकार करना होगा; क्योंकि आपके मत में वास्तव नाम रूप तो कोई है ही नहीं; इस प्रकार

आशंका करते हैं और 'तदा' इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा उस आशंका का इस अभिप्राय से परिहार करते हैं कि विकल्प को नहींसहन करने वाला तुम्हारा ये पक्ष नहीं बन सकता—

सतोऽपिनामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ।

कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥३५॥

सतः अपिनामरूपे द्वे कल्पिते=सद्वस्तु ब्रह्म के भी नाम और रूप दोनों कल्पित ही होंगे, **चेत् तदा कुत्र**=(१)यदि ऐसा कहते हो तब तो कहाँ पर कल्पित हैं, **इति वद निरिधिष्ठानः**=यह कहो क्यों कि अधिष्ठान के बिना, **भ्रमः क्वचित् न ईक्ष्यते**=भ्रम (कल्पना) कहीं पर भी संसार में देखने में नहीं आता।

अभिप्राय यह है कि-क्या १-सत्के नाम और रूप सत् में कल्पित हैं ? अथवा २- असत् में कल्पित है ? अथवा ३- जगत् में कल्पित है ? इन में—

१-प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि भिन्न रजतादि के नाम और रूप उससे भिन्न ही शुक्ति आदि में कल्पित देखने में आता है, रजत में नहीं, अतः सत् के नाम और रूप की कल्पना सत् में नहीं हो सकती।

२-दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि निःस्वरूप असत् किसी का भी अधिष्ठान नहीं बन सकता, अतः सत् के नाम रूप का अधिष्ठान नहीं है। असत्

३-तीसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि पूर्व विद्यमान सत् से उत्पन्न हुआ जगत् पश्चात् भावी है, वह जगत् सत् के नाम रूप की कल्पना का अधिष्ठान बन नहीं सकता।

अतः सत् के नाम रूप की कल्पना का अधिष्ठान जब कोई भी नहीं बन सकता तो सत् के नाम रूप कल्पित नहीं है, और यदि कहो कि कोई अधिष्ठान मत बनो; फिर भी बिना अधिष्ठान सत् के नाम रूप की कल्पना क्यों नहीं होगी अर्थात् अधिष्ठान के बिना

ही भ्रम रूप कल्पना मान लो, ऐसी शंका का उत्तर कहते हैं कि अधिष्ठान के बिना कल्पना नहीं देखने में आती

'असदेवेदमग्र आसीत्' इस में आपने जैसे व्याघात दोष कहा, उसी प्रकार 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' यहां पर भी दोष है, ऐसी अशंका करके 'मैवम्' इत्यादि भाग से उसका परिहार करते हैं—

सदासीदिति शब्दार्थ भेदे द्वैं गुण्यमापतेत् ।
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥३६॥

सत् आसीत् इति=सत् ब्रह्म था इस वाक्य में, **शब्दार्थ भेदे**= सत् और आसीत् इन दोनों शब्दों के अर्थ में भेद होने पर, **द्वैं गुण्यम् आपतेत्**=अद्वैत हानि रूप प्राप्त होगा, **अभेदे**=और यदि शब्दों का भेद होने पर भी अर्थ का भेद नहीं है किन्तु सत् आसीत् इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ मानोगे तो, **पुनरुक्तिः स्यात्**=पुनरुक्ति दोष प्राप्त होगा, **एवं मा लोके**=इस प्रकार शंका मत करो क्योंकि व्यवहार में, **तथा ईक्षणात्**=ऐसा ही देखने में आता है ।

(अर्थ का भेद न होने पर अनेक शब्दों का प्रयोग तथा पुनरुक्ति दोष की प्राप्ति का अभाव देखने में आता है ।) ॥३६॥

लोक व्यवहार में एकार्थ वाचक अनेक शब्दों का प्रयोग करने पर भी पुनरुक्ति दोष नहीं होता, यह कहां देखा गया, ऐसी आशंका का उत्तर पूर्वार्ध से देते हुए उत्तरार्ध से श्रुति में सिद्ध प्रयोजन को कहते हैं —

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम् ।
इत्यादि वासना विष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ॥३७॥

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते=कर्तव्य करता है, वाक्य बोलता है, **धार्यस्य धारणम्**=धारण करने योग्य का धारण करता है, **इत्यादि वासनाविष्टं**=इत्यादि वाक्य आकांक्षा युक्त मनुष्य के, **प्रति**= प्रति जैसे कहे जाते हैं, वैसे ही समझने के लिये, **सत् आसीत्**=सत्

ब्रह्म था यह वाक्य भी काल वासना युक्त पुरुष के प्रति, इरणम्=कथन किया जाता है ॥३७॥

अद्वितीय वस्तु में अतीत काल तो है नहीं इसलिये 'अग्रे आसीत्' इस प्रकार श्रुति वचन अनुपपन्न है, और यदि जगत् की उत्पत्ति से पहले काल का यदि अस्तित्व मानोगे तो ब्रह्म द्वैत सहित होगा, अद्वितीयरूप नहीं होगा, इस प्रकार इन दोनों आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

काला भावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ।
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शंक्यते ॥३८॥

काला भावे=काल नामक कोई द्वैत वस्तु न होने पर भी, पुरा इति उक्तिः=पूर्व काल में (भूत काल में) यह कथन (अर्थात् 'सत् अग्रे आसीत्' यह वचन), काल वासनया युतम्=काल की वासना अर्थात् आकांक्षा से युक्त, शिष्यम् प्रति एव=शिष्य के प्रति ही है (काल नामक कोई द्वैत वस्तु वास्तव में है इस अभिप्राय से नहीं), तेन अत्र=इस कारण से इस श्रुति वाक्य में (अर्थात् सत् आसीत् यहां पर), द्वितीयं न हि शंक्यते=कालादि किसी भी द्वैत वस्तु की आशंका नहीं करनी चाहिये ॥३८॥

अब सिद्धान्त का रहस्य बताते हैं—

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ।
अद्वैत भाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥३९॥

चोद्यं वा परिहारः वा=प्रश्न और उसका उत्तर, द्वैत भाषया क्रियतां=द्वैत भाषा से ही करना चाहिए, अद्वैतभाषया चोद्यं न अस्ति=अद्वैत अवस्था में जहां द्वैत की प्रतीति भी नहीं है वहां अद्वैत भाषा अर्थात अद्वैत बोधक शब्दादि के उच्चारण बिना प्रश्न नहीं है, तद् उत्तरं अपि न=उसका उत्तर भी नहीं है, किन्तु केवल अद्वैत रूप से ही अविस्थत है ॥३९॥

परमार्थ से द्वैत है नहीं इस विषय में स्मृति वाक्य प्रमाण कहते हैं—

तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥४०॥

तदा=उस समय (सृष्टि के पूर्वकाल में अर्थात् परमार्थ दशा में), स्तिमितगम्भीरं=निश्चल तथा अथाह अर्थात् मन का भी अविषय, न तेजः=तेजत्व धर्म का अनधिकरण अर्थात् केवल ज्योति स्वरूप, न तमः ततम्=अज्ञान से विलक्षण (अनावरण स्वभाव) सर्वत्र व्याप्त अनाख्यम्=व्याख्यान करने को अशक्य, अनभिव्यक्तम्=चक्षु आदि इन्द्रियों का अविषय (ऐसे अद्वैत ब्रह्म), सत् किंचित्=शून्य से विलक्षण कुछ अर्थात् अंगुली निर्देश से दिखाने के अयोग्य, अवशिष्यते=द्वैत निषेधकी अवधि अर्थात् अधिष्ठान रूप विद्यमान रहता है ॥४०॥

उत्पत्ति वाले होने से अनित्य भूमी आदि का असत्व भले ही हो परन्तु नित्य आकाश का असत्व आप कैसे अंगीकार करते हैं, इस प्रकार की आशंका पूर्व पक्षी करते हैं ।

ननु भूम्यादिकं मा भूत्परमाण्वन्तनाशतः ।
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीतिचेत् ॥४१॥

ननु भूम्यादिकं मा भूत्=शंका करते हैं कि पृथ्वी आदि चारों भूत सत्य मत होवें, परमाण्वन्त नाशतः=क्योंकि वे परमाणु तक नाशको प्राप्त होते हैं, इसलिये अनित्य होने के कारण असत्; हैं परन्तु, वियतः असत्त्वं ते बुद्धिम्=आकाश का असत् पना तुम्हारी बुद्धि को (अर्थात् बुद्धि में), कथं आरोहति=कैसे चढ़ गया, इतिचेत्=इस प्रकार यदि आशंका है तो (आगे उत्तर, कहते हैं) ॥४१॥

दृष्टान्त का अवलम्बन करके पूर्वोक्त प्रश्न का परिहार करते हैं—

अत्यन्तं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ।
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥४२॥

यथा अत्यन्तं निर्जगत् व्योम=जैसे अतिशय करके जगत्

रहित आकाश, ते बुद्धि आश्रितम्=तुम्हारी बुद्धि को आश्रय किया है, तथा एव निराकाशं=उसी प्रकार ही आकाश रहित, सत् मतिम्=सन्मात्र ब्रह्म मेरी बुद्धि को, कुतः न आश्रयते=क्यों नहीं आश्रय करेगा ॥४२॥

जो साक्षात् अनुभव का विषय है उसके विषय में आक्षेप नहीं बन सकता इस प्रकार आक्षेप अयुक्त है इस न्याय को आश्रय लेकर पूर्व पक्षी पुनः प्रश्न करता है और सिद्धान्ती पूर्व पक्षी का अनुभव रूप दर्शन असिद्ध है इस प्रकार परिहार करते हुए अप सिद्धान्त दोष भी कहते हैं—

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसी विना ।
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥४३॥

निर्जगत् व्योमः दृष्टं चेत्=जगत रहित आकाश देखा गया है यदि ऐसा कहते हो तो, प्रकाशतमसी विना=प्रकाश और अन्धकार के बिना, क्व दृष्टं=कहां पर तुमने आकाश को देखा है? किं च ते पक्षे=और भी दूसरी बात यह है कि तुम्हारे (नैयायिक के) पक्ष में अर्थात् मत में, वियत् खलु=आकाश निश्चय करके, न प्रत्यक्षं=प्रत्यक्ष नहीं है (अतः निर्जगत् आकाश का दर्शन असिद्ध हैं ॥४३॥

दर्शन का अभाव सद्वस्तु में समान ही है ऐसी आशंका करके सद्वस्तु सर्वानुभव सिद्ध होने से ऐसा नहीं कह सकते इस प्रकार उत्तर कहते हुये तुष्णीं भाव अवस्था में शून्य की प्रतीति न होने से शून्य भी सिद्ध नहीं हो सकता इस वार्ता को भी कहते हैं—

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते ।
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥४४॥

शुद्धं सद्वस्तु तु=आकाशादि रहित केवल सद् ब्रह्म तो, निश्चतैः अस्माभिः=निश्चय युक्त हम, अनुभूयते=अनुभव करते हैं, तूष्णीं स्थितौ शून्यत्वं न=तूष्णी अवस्था में उस समय शून्य का स्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि, शून्य बुद्धेः च वर्जनात्=

शून्य बुद्धि का भी अर्थात् शून्य है ऐसी प्रतीति का भी अभाव हैं ॥४४॥

यदि शून्य की प्रतीति होने से शून्य की सिद्धि नहीं हो सकती है तो सद्बुद्धि के अभाव से सद् स्वरूप की सिद्धि भी नहीं होगी ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि सद् वस्तु स्वप्रकाश रूप होने से सद् बुद्धि न होने पर भी कोई हानि नहीं और साक्षी रूप से सद्वस्तु जानना सुगम भी हैं।

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ।
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥४५॥

सद्बुद्धिः अपि न अस्ति=सत् का ज्ञान भी नहीं है (इसीलिये सत् का स्वरूप भी तुम्हारे पक्ष में नहीं सिद्ध हो सकता), **चेत् मा अस्तु**=यदि ऐसा कहते हो तो सद्बुद्धि मत होवे (तथापि सत् स्वरूप की सिद्धि हो सकती) क्योंकि, **अस्य स्वप्रभत्वतः**=यह सद् ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप है, **निर्मनस्कत्व साक्षित्वात्**=अमनीभाव का साक्षी होने से, **सन्मात्रं नृणाम् सुगमं**=सत् स्वरूप केवल ब्रह्म मनुष्य के लिये जानने को सुगम है ॥४५॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्रपंच रहित साक्षी का भान तूष्णी की स्थिति में दिखाकर इसी दृष्टान्त के बल से पूर्वकाल में सद्वस्तु भी उसी प्रकार जानने को शक्य है इसी वार्ता को अब कहते हैं---

मनोजृम्भणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ।
माया जृम्भणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥४६॥

मनोजृम्भणराहित्ये=मन के संकल्प विकल्प रूप व्यापार के अभाव होने पर, **यथा साक्षी**=जैसे उदासीन दृष्टा रूप अथवा साक्षी रूप सत् आत्मा, **निराकुलः**=व्याकुलता रहित शान्त प्रकाशमान् है, **तथा एव**=उसी प्रकार, **मायाजृम्भणतः पूर्वं**=माया के व्यापार अर्थात् सृष्टि से पहले, **सत् निराकुलम्**=सद् वस्तु ब्रह्म भी शान्त तथा शुद्ध रूप से प्रकाश मान् है (ऐसा जान सकते हैं)॥४६॥

अब माया का लक्षण और अतिरिक्त शक्ति की वर्तमानता में दृष्टान्त और कार्य रूप हेतु से शक्ति का ज्ञान इन बातों को दिखाते हैं —

निस्तत्त्वा कार्य गम्यास्य शक्ति र्मायाग्नि शक्तिवत् ।
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा ॥४७॥

निस्तत्त्वा कार्यगम्या=जगत् का कारण सद् वस्तु से पृथक् तत्त्व रहित तथा आकाशादि कार्य रूप लिङ्ग से जानने योग्य, **अस्य शक्तिः माया**=सद्वस्तु की शक्ति अर्थात् कार्य उत्पादन सामर्थ्य को माया कहते; **अग्नि शक्तिवत्**=जैसे अग्नि के स्वरूप से अतिरिक्त जलाना रूप आदि कार्य से जानने योग्य अग्नि निष्ठ शक्ति रूप सामर्थ्य है, **शक्तिः कैश्चित्**=वह शक्ति किसी के द्वारा भी, **क्वचित्**=कहीं पर भी (किसी भी देश अथवा काल में), **कार्यतः पुरा न हि बुध्यते**=कार्य से पहले नहीं जानी जाती ॥४७॥

इस प्रकार पूर्व श्लोक में शक्ति का कार्यरूप लिङ्ग से जानी जाती है उसका उपपादन करने के पश्चात् अब इस श्लोक में उस शक्ति के निस्तत्त्व रूप का उपपादन करते हैं, और वह शक्ति सद्ब्रह्म रूप नहीं है इसमें दृष्टान्त का कथन करते हुये विकल्प पूर्वक प्रश्न करते हैं—

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता ।
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्व मुच्यताम् ॥४८॥

सद्वस्तु सतः शक्तिः न=सद्वस्तु जो ब्रह्म वह सद् की शक्ति माया रूप नहीं, **वह्नेः स्वशक्तिता न हि**=जैसे अग्नि अपनी शक्ति का स्वरूप नहीं, **सद्विलक्षणतायां तु**=सत् से विलक्षणता अर्थात् भिन्नता होने पर तो (अर्थात् शक्ति सद् से विलक्षण सिद्ध होने पर), **शक्तेः किं तत्त्वम् उच्यताम्**=उस माया शक्ति का क्या तत्त्व है अर्थात् क्या स्वरूप है ? कहो ॥४८॥

पूर्व श्लोक में सद्विलक्षण रूप से प्रतिपादित माया शक्ति शशशृङ्ग की न्यांई असत् है, अथवा शुक्ति रजत की न्यांई सत् विलक्षण अर्थात्

मिथ्या है यह विकल्प अभिप्रेत है,उनमें से अब प्रथम पक्ष का अनुवाद करके उसमें दूषण कहते है और उत्तरार्ध से दूसरा पक्ष अवशिष्ट रहता है इस वार्ता को कहते हैं -

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम् ।
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ॥४९॥

शून्यत्वम्=माया शून्य स्वरूप है अर्थात् बन्ध्या पुत्रवत् असत् है, इति चेत्=ऐसा यदि कहते हो तो (नहीं कहना चाहिये क्योंकि), शून्यं मायाकार्यम्=शून्य माया का कार्य है (माया का स्वरूप नहीं), इति ईरितम्=इस प्रकार पूर्व ३४वें श्लोक में कहा है, शून्यं न सत् अपि न=अतः माया शून्य स्वरूप भी नहीं सत् स्वरूप भी नहीं इसलिये, यादृक् तादृक् तत्त्वम्=जैसा तैसा स्वरूप अर्थात् सत् और असत् से विलक्षण माया का अनिर्वचनीय स्वरूप, इह इष्यताम्= वेदान्त शास्त्र में मान लेना चाहिये (क्योंकि माया का स्वरूप सत्रूप से अथवा असत् रूप से निर्वचन करने योग्य नहीं यह अभिप्राय है) ॥४९॥

उक्त अर्थ में श्रुति प्रमाण कहते हैं और 'तमः अभूत्' इस प्रकार तम का अस्तित्व कहने का अभिप्राय सहेतुक वर्णन करते हैं—

नाऽसदासीन्नो सदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः ।
सद्योगात्तमसः सत्त्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ॥५०॥

तदानीं असत् न आसीत्=सृष्टि के पूर्वकाल में असत् नाम की कोई वस्तु नहीं थी, नो सत् आसीत्=और न सत् नाम वाली कोई व्यक्त वस्तु थी, किन्तु तमः अभूत्=परन्तु अन्धकार रूप अज्ञान ही था, सद् योगात् तमसः सत्वम्=सद् ब्रह्म के संबन्ध से अन्धकार रूप अज्ञान की सत्ता (विद्यमानता) कही जाती है, स्वतः न=स्वरूप से उसकी सत्ता नहीं है क्योंकि, तत् निषेधनात्=उसकी स्वरूप से सत्ता का निषेध श्रुति ने किया है ।

अथवा

तदानीं असत् न आसीत्=सृष्टि के पूर्वकाल में वह माया

स्वरूप से असत् भी नहीं थी, नो सत् आसीत् = और न ही सद्रूप थी, किन्तु तमः अभूत = परन्तु अज्ञान रूप अन्धकार स्वरूप थी (शेष अर्थ पूर्ववत्) अज्ञान और माया का स्वरूप एक ही नाम है ॥५०॥

अब फलितार्थ को कहते हुए मिथ्या पदार्थ के द्वैत पने का अनङ्गी कार करने में दृष्टान्त भी कहते है —

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते ।
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥५१॥

अत एव = इसलिये (जिस कारण से माया का स्वरूप से सत्त्व नहीं है इस कारण से), शून्यवत् द्वितीयत्वं = शून्य की न्यांई माया एक पृथक् वस्तु है इस प्रकार द्वैत वस्तु, न गण्यते = नहीं गिनी जाती अर्थात् आदर नहीं किया जाता, हि लोके चैत्र तच्छक्त्योः = क्योंकि लोक में चैत्र और उसकी शक्ति का, जीवितं पृथक् न लिख्यते = जीवन अलग अलग नहीं लिखा जाता ॥५१॥

शक्ति की अधिकता से जीवन की अधिकता देखने में आती है, इसलिए शक्ति का भी एक अलग ही जीवन कहना चाहिये, इस प्रकार की आशंका पूर्वक उसका परिहार करते हैं, और दार्ष्टान्तिक में भी योजना कहते हैं (इस श्लोक के "तथा" शब्द से लेकर अगले श्लोक के 'क्वचित्' शब्द तक के ग्रन्थ से) —

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ।
न शक्तिः किंतु तत्कार्यं युद्ध कृष्यादिकं तथा ॥५२॥

शक्त्याधिक्ये जीवित वर्द्धते = शक्ति की अधिकता होने पर जीवन बढ़ता है, (इसलिये शक्ति का पृथक् जीवन होना चाहिये), चेत् = यदि ऐसा कहते हो तो, तत्र वृद्धिकृत् शक्तिः न = जीवन की वृद्धि में वृद्धि का कारण शक्ति नहीं, किन्तु तत्कार्यं = परन्तु शक्ति का कार्य, युद्ध कृष्यादिकं = युद्ध खेती बारी आदि ही वृद्धि करने वाली है, तथा = उसी प्रकार (दार्ष्टान्तिक में योजना अगले श्लोक के पूर्वार्ध से करते हैं) ॥५२॥

माया रूप शक्ति को लेकर द्वैतापत्ति न होने पर भी सत् ब्रह्म

में शक्ति के कार्य प्रपंच को लेकर द्वैतापत्ति अवश्य होगी, ऐसी आशंका का उत्तर श्लोक के उत्तरार्ध से कहते हैं कि माया शक्ति का कार्य प्रपंच सृष्टि से पूर्वकाल में है नहीं, इसलिये द्वैतापत्ति नहीं हो सकती—

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ।
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शङ्क्यते कथम् ॥५३॥

क्वचित् शक्तिमात्रस्य=कहीं पर भी शक्ति की, **पृथग्गणना सर्वथा न तु**=अलग गिनती किसी भी प्रकार से नहीं है और, **शक्तिकार्यं न एव अस्ति**=शक्ति का कार्य संसार रूप द्वैत भी सृष्टि से पूर्व काल में नहीं है (इसलिये), **द्वितीयं कथम् शङ्क्यते**=द्वैत की आशंका कैसे हो सकती है ॥५३॥

सद् ब्रह्म की शक्ति माया सद् ब्रह्म में सर्वत्र व्याप्त होकर रहती है अथवा एक देश में ? प्रथम पक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि मुक्त पुरुष के द्वारा प्राप्य शुद्ध ब्रह्मके अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा और दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता क्योंकि ब्रह्म निरंश हैं; उसके एक देश में माया को कहना विरुद्ध होगा, ऐसी शंका होने पर द्वितीय पक्ष को ब्रह्म के एक देश में वृत्ति होने में दृष्टान्त भी कहते हैं—

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किं त्वेकदेशभाक् ।
घट शक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥५४॥

सा शक्तिः कृत्स्न ब्रह्मवृत्तिः न=वह माया शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्म में व्याप्त होकर रहने वाली नहीं है (क्योंकि मुक्त पुरुषों के द्वारा प्राप्त करने योग्य शुद्ध ब्रह्म का अभाव हो जायेगा), **किन्तु एक देश भाक्**=परन्तु ब्रह्म के एक देश में रहने वाली है, **यथा घट शक्तिः भूमौ**=जैसे घट उत्पन्न करने की शक्ति पृथ्वी में (अर्थात् पृथ्वी के एक देश में), **स्निग्धमृदि एव वर्तते**=गीली चिकनी मिट्टी में ही रहती है ॥५४॥

माया शक्ति ब्रह्म के एक देश म रहती है इसमें श्रुति प्रमाण कहते हैं—

पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः ।

इत्येकदेश वृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥५५॥

सर्व भूतानि अस्य पादः=सम्पूर्ण भूत प्राणी इस ब्रह्म के चतुर्थांश मात्र हैं (अर्थात् एक चतुर्थ अंश में हैं), **त्रिपाद् स्वयंप्रभः अस्ति**=बाकी तीन भाग स्वयं प्रकाश अपने रूप में विद्यमान है, **इति श्रुतिः मायाया एक देशवृत्तित्वं**=इस प्रकार यह श्रुति माया को ब्रह्म के एक देश में रहने वाली, **वदति**=कहती है ॥५५॥

इस विषय में केवल श्रुति ही प्रमाण नहीं, किन्तु गीता स्मृति भी प्रमाण है इस वार्ता को कहते हैं—

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।

इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेक देशताम् ॥५६॥

अहं इदं कृत्स्नं जगत्=मैं (श्री कृष्ण भगवान्) इस सम्पूर्ण जगत् को, **एकांशेन विष्ठभ्यः स्थितः**=एक अंश मात्र से धारण करके अर्थात् व्याप्त करके स्थित हूँ, **इति कृष्णः अर्जुनाय**=इस प्रकार श्री कृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति, **जगतः तु एक देशताम् आह**=जगत को तो एक देश में स्थित कहा है ॥५६॥

उस ब्रह्म के माया से रहित स्वरूप के सद्भाव में प्रमाण कहते हैं—

स भूमिं विश्वतो वृत्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ।

विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ॥५७॥

सः भूमिं विश्वतो वृत्वा हि=वह परमात्मा पृथ्वी को अर्थात् ब्रह्माण्ड को चारों ओर से व्याप्त होकर ही, **दशाङ्गुलम् अत्यतिष्ठत्**=दशांगुल परिमित स्थान अतिक्रमण करके स्थित हैं, **विकारावर्ति च**=विकार जिसमें विद्यमान नहीं तथा मुक्त पुरुषों के द्वारा प्राप्तव्य माया रहित निर्गुण स्वरूप परमात्मा का विद्यमान है, **श्रुतिसूत्रकृतोः वचः अत्र अस्ति**=इस प्रकार श्रुति और सूत्रकार व्यासजी का वचन भगवान् के माया और तत्क कार्य से रहित स्वरूप में प्रमाण है ॥५७॥

निरंश ब्रह्म में भी अंश का कथन विरुद्ध है इस दोष का क्य

परिहार हुआ अर्थात् कोई भी परिहार नहीं हुआ ऐसी आशंका उठा कर वास्तव में निरंशत्व और कल्पित सांशत्व अंगीकार करने से कुछ भी विरोध नहीं है इस परिहार से पूर्वोक्त श्रुतियों का तात्पर्य कहते हैं –

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ।
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतृहितैषिणी ॥५८॥

निरंशे अपि अंशम् आरोप्य = वास्तव अंश रहित ब्रह्म में भी अंश की कल्पना करके, कृत्स्ने अंशे वा इति पृच्छतः = सम्पूर्ण देश में अथवा एक देश में माया रहती है इस प्रकार पूछने वाले के प्रति, तद् भाषया उत्तरं = उसी की भाषा से एक देश में रहती है इस प्रकार का उत्तर, श्रोतृहितैषिणी श्रुतिः ब्रूते = श्रोताओं का हित चाहने वाली श्रुति भगवती कहती है ॥५८॥

जिस प्रयोजन के लिये ब्रह्म में माया का समर्थन किया, उस प्रयोजन को अब अगले श्लोक में कहते हैं और उत्तरार्ध से अनुकूल दृष्टान्त भी कहते हैं—

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः ।
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं यथा ॥५९॥

सत्तत्त्वम् आश्रिता शक्तिः = सद् ब्रह्म को आश्रय करने वाली माया शक्ति, सति विक्रियाः कल्पयेत् = उसी सद् ब्रह्म में विविध कार्यों की कल्पना करती है, यथा भित्तिगता वर्णा = जैसे भित्ति (दिवाल) में स्थित नील पीतादि वर्ण (रंग), भित्तौ नानाविधं चित्रं = उसी भीत्ति में ही अनेक प्रकार के चित्रों की कल्पना करते हैं ॥५९॥

उन कार्य विशेषों में प्रथम कार्य को अब दिखाते हैं और प्रथम कार्य विशेष आकाश का स्वरूप, तथा आकाश ब्रह्म का कार्य है इसमें हेतु भी कहते हैं –

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान् ।
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेऽप्यनुगच्छति ॥६०॥

आद्यः विकार आकाशः = माया द्वारा कल्पित प्रथम कार्य

आकाश है, सः अवकाशः स्वरूपवान्=वह आकाश अवकाश स्वरूप वाला है, आकाशः अस्ति इति सत्तत्त्वम्=आकाश है इस प्रकार प्रतीति में भासमान ब्रह्म का स्वरूप सद् रूप तत्त्व, आकाशे अपि अनुगच्छति= आकाश में भी अनुगत है।

आकाश ब्रह्म का कार्य है ऐसा कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ इस प्रकार की आशंका का उत्तर कहते हैं—

एकस्वभावं सत्तत्त्वमाकाशो द्वि स्वभावकः।
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोपि द्वयंस्थितम् ॥६१॥

सत्तत्त्वम् एकस्वभावं—सत्स्वरूप ब्रह्म एक स्वभाव वाला है, आकाशः द्विस्वभावकः=और आकाश दो स्वभाव वाला है, सति अवकाशः न=सत्स्वरूप ब्रह्म में तो अवकाश नहीं है (किन्तु एक ही सत् स्वभाव है), व्योम्नि स च=और आकाश में तो सत् स्वभाव तथा, एष अपि=अवकाश स्वभाव भी है, द्वयं स्थितम्=इस प्रकार दोनों स्वरुप विद्यमान हैं ॥६१॥

सद् वस्तु और आकाश के क्रम से एक स्वभाव और दो स्वभाव को प्रकारान्तर से निरुपण करते हैं—

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते।
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकंद्विगुणं वियत् ॥६२॥

यद्वा प्रतिध्वनि व्योम्नः गुणः=अथवा प्रतिशब्द आकाश का गुण है, असौ सति न ईक्ष्यते=वह प्रतिध्वनि रूप शब्द सद्वस्तु में नहीं उपलब्ध (ज्ञात) होता है, व्योम्नि सद्ध्वनी=आकाश में तो सत् और शब्द दोनों उपलब्ध होते हैं, तेन सत् एकं वियत् द्विगुणं= इस कारण से सद्वस्तु तो एक ही स्वभाव वाला है, और आकाश दो स्वभाव वाला हैं ॥६२॥

आकाश यदि सद् ब्रह्म का कार्य है तो, सद्ब्रह्म का धर्म आकाश है, ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा न होकर आकाश की सत्ता इस प्रतीति से आकाश का धर्म सत् है इस प्रकार विपरीत क्यों भासता है, इस आशंका का उत्तर कहते हैं—

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम् ।

आपाद्य धर्मं धर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ॥६३॥

या शक्ति कल्पयेद्व्योम=जो माया शक्ति सद् ब्रह्म में आकाश की कल्पना करती है, **सा सद्व्योम्नोः**=वही माया शक्ति प्रथम सद्-वस्तु और आकाश दोनों के, **अभिन्नताम् आपाद्य धर्मं धर्मित्वं**=अभेद की कल्पना करके पश्चात् उन दोनों के धर्मधर्मि भाव की, **व्यत्ययेन अवकल्पयेत्**=विपरीत क्रम से कल्पना करके दिखा देती है, अतः आकाश की सत्ता यह प्रतीति बन सकती है ॥६३॥

माया ने विपरीत स्वभाव कैसे उत्पन्न किया ऐसी आशंका का उत्तर कहते हुए अन्य वस्तु की अन्य प्रकार से प्रतीति अर्थात् विपरित दर्शन कराना माया के लिये उचित ही है इस वार्ता को कहते हैं-

सतो व्योमत्वमापन्न व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः ।

तार्किकाश्चावगच्छन्ति मायाया उचितं हितत् ॥६४॥

सतः=(जैसे मिट्टी घट रूपता को प्राप्त करती है उसी प्रकार) सद्वस्तु (विचार दृष्टि से), **व्योमत्वम् आपन्नं**=आकाश रूपता को प्राप्त हुई है, **तु लौकिकाः तार्किकाः च**=परन्तु शास्त्र संस्कार रहित लौकिक मनुष्य और शास्त्रज्ञों में नैयायिक लोग (विपरीत भाव से) आकाश रूप धर्मी के, **सत्तां अवगच्छन्ति**=सत्ता रूप धर्म को जाति रूप करके जानते हैं, **तत् मायाया उचितं हि**=वह (अर्थात् विपरित दर्शन का हेतु बनना) माया के लिये युक्त ही है ॥६४॥

माया विपरित प्रतीति का हेतु है इसको लोक प्रसिद्धि से भी स्पष्ट करते हैं—

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ।

अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥६५॥

यत् यथा वर्तते=जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्तिकादि रूप से विद्यमान है, **तस्य तथात्वं मानतः भाति**=उस शुक्तिकादि वस्तु का, शुक्तिकादि वास्तव स्वरूप प्रमाण से भासता है, **अन्यथात्वं**

भ्रमेण=विपरीत स्वभाव रजतादि स्वरूप भ्रान्ति से प्रतीत होता है, **इति अयं न्यायः सार्वलौकिकः**=इस प्रकार का न्याय (नियम) सर्व लोक प्रसिद्ध है ॥६५॥

इस प्रकार भ्रान्ति से विपरित भान दिखाकर उस भ्रान्ति की निवृत्ति का उपाय कहते हैं—

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ।
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिन्त्यतां वियत् ॥६६॥

एवंश्रुति विचारात् प्राक्=पूर्वोक्त प्रकार से श्रुति के अर्थ विचार से पहले, **यद्वस्तु यथा भासते**=जो वस्तु (जो सद्रूप ब्रह्म) भ्रान्ति से जिस प्रकार (अर्थात् आकाशादि रूप से)भासती है, **तत्**= वह स्वरूप (भ्रान्ति से प्रतीत हुआ स्वरूप अर्थात् गगनादि स्वरूप), **विचारेण**=श्रुति के अर्थ का विचार करने से, **विपर्येति**=आकाशादि रूप को परित्याग करके सद्रूप ब्रह्म ही हो जाता है, **ततः**=इसलिये (जिस लिये श्रुति विचार से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का दर्शन संभव है इसलिये) वियत् चिन्त्यतां = आकाश का विचार करना चाहिए ॥६६॥

अब विचार का स्वरूप ही हेतु सहित दिखाते हैं—

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ।
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्न तु व्योमेति भेदधीः ॥६७॥

शब्द भेदात्=वियत् शब्द तथा सत् शब्द के भेद के कारण, **बुद्धेः च भेदतः**=वियत् अर्थात् आकाशबुद्धि तथा सत्बुद्धि के भेद के कारण भी, **वियत् सती भिन्ने**=आकाश और सद् ब्रह्म दोनों भिन्न-भिन्न है, **वाय्वादिषु सत् अनुवृत्तं**=वायु आदि भूतों में सद्ब्रह्म सद्वायु सत्तेज इस प्रकार से अनुगत भासता है, **व्योमः तु न इति भेदधीः**=और आकाश तो अनुगत नहीं भासता यह जो ज्ञान है सो ही भेद बुद्धि है ॥६७॥

पूर्वोक्त प्रकार से सद और आकाश दोनों का भेद सिद्ध करने के पश्चात्, अब आकाश की सत्ता इस प्रकार की भ्रान्ति से प्रतीत धर्म, धर्मिभाव के विचार से वैपरित्य दिखाते हैं, और श्लोक के

उत्तरार्ध से सत् से पृथक हुआ भी आकाश घट से भिन्न हुये रूप की न्याई वास्तव क्यों नहीं होगा इस आशंका का भी निवारण करते हैं—

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता ।
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ॥६८॥

सद्वस्तु अधिक वृत्तित्वात्=सत्स्वरूप ब्रह्म अधिक देश में विद्यमान होने के कारण अर्थात् व्यापक होने के कारण धर्मी है (आश्रय है), **व्योम्नः तु धर्मता**=और आकाश तो धर्म है (क्योंकि अल्पदेश में रहता है,) **धिया सतः पृथक्कारे**=बुद्धि के द्वारा सद्वस्तु से पृथक कर लेने पर, **व्योम किमात्मकम् ब्रूहि**=आकाश का क्या स्वरूप है कहो ॥६८॥

पूर्व श्लोक में कहा था कि आकाश का निरूपण नहीं हो सकता; इस पर पूर्वपक्षी की शंका है कि आकाश का निरूपण अशक्य नहीं इस अभिप्राय से पूर्वपक्षी कहते हैं, और सिद्धान्ति आकाश का असत्त्व प्रतिपादन करते हैं—

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिन्त्यताम् ।
भिन्नं सतोऽसच्च नेति वक्षि चेद्व्याहतिस्तव ॥६९॥

तत् अवकाशात्मकं चेत्=वह आकाश अवकाश स्वरूप है (पोल का नाम अवकाश है) यदि ऐसा कहते हो तो, **तत् असत्**=वह आकाश असत् है (अर्थात् सत् से भिन्न हुआ मिथ्या है), **सतः भिन्नं असत् च न**=आकाश सत् से भिन्न है और असत् भी नहीं है, **इतिवक्षि चेत्**=ऐसा यदि कहोगे तो, **तव व्याहतिः**=तुम्हारे को व्याघात् दोष प्राप्त होगा अर्थात् तुम्हारे वचन विरोध दोष वाला होगा। ६९॥

आकाश असत् हो तो उसका भान नहीं होना चाहिये ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं कि बन्ध्यापुत्रादि वत् अत्यन्त असत् अथवा तुच्छरूप आकाश नहीं है, जिससे अवकाश की प्रतीति न होवे, किन्तु अत्यन्त असत् बन्ध्यापुत्रदि से विलक्षण होने से और अनिर्वचनीय रूप मिथ्या होने के कारण आकाश का भान बन सकता है इस

इति चिन्त्यताम् = इस प्रकार विचार करो अर्थात् निश्चय करो

प्रकार का उत्तर कहने के अभिप्राय से मिथ्या वस्तु का लक्षण दृष्टान्त सहित कहते हैं—

भातीति चेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्न गजादिवत् ॥७०॥

भाति इति चेत्=आकाश भासता है अतः असत् नहीं इस प्रकार यदि कहते हो तो, भातु नाम=वेसक प्रतीत होवे, तत् मायिककस्य भूषणं=असत् होता हुआ प्रतीत होना मायाकृत पदार्थ का गुण ही है, यद् असत् भासमानं=जो वस्तु वास्तव में नहीं होती हुई भी प्रतीत होती है, तत् मिथ्या=वह वस्तु मिथ्या ही होती है, स्वप्न गजादि वत्=स्वपप्न में दृश्य हस्ति आदि की न्यांई, जैसे स्वप्न में भासमान हस्ति आदि न होते हुये भी प्रतीत होते हैं, इसलिये मिथ्या है उसी प्रकार आकाशदि भी वास्तव में नहीं है, परन्तु भाषता है इस लिये मिथ्या है ॥६०॥

जो दो पदार्थ नियम से साथ ही साथ प्रतीति के विषय होते हैं (जैसे सत् और आकाश) उनका भेद लोक में नहीं देखने में आता है ऐसी आशंका समाधान कहते हैं—

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ।
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥७१॥

यथा जातिव्यक्ती=जैसे जाति और व्यक्ति अर्थात् जाति वाला द्रव्यादि पदार्थ, देहीदेहौ गुणद्रव्येपृथक्=देहवान् और देह गुण और द्रव्य (साथ-साथ अनुभव में आने पर भी भिन्न-भिन्न है), तथा एव वियत् सतो पार्थक्यंअस्तु=उसी प्रकार आकाश और सत् का भी भेद होवे, अत्र कः विस्मयः=इस विषय में क्या आश्चर्य है ॥६१॥

भेद यद्यपि ज्ञात तो होता है तथापि निश्चित् (निश्चय) नहीं होता इस प्रकार की आशंका श्लोक के पूर्वार्ध से करके उत्तरार्ध से उसका परिहार करने के लिये निश्चयाभाव में कारण पूछते हैं—

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा ।
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥७२॥

भेद बुद्धः अपि=सत् और आकाश का भेद यद्यपि ज्ञात होता है तथापि. चित्ते निरूढि नो याति=मन में दृढ़ नहीं होता, चेत् तदा= यदि ऐसा सन्देह है तब तो, अस्य रूढ्यभावः=इस भेद का दृढ़ज्ञानाभाव ते अनकाग्र्यात्=तुम्हारे मन की एकाग्रता के न होने से है, संशयाद् वा वद=अथवा संशय के कारण है यह कहो ॥७२॥

अगले श्लोक से दोनों प्रश्नों में परिहार करते हैं—

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ।
कुरु प्रमाण युक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ॥७३॥

आद्ये ध्यानात्=प्रथम पक्ष में तो ध्यानाभ्यास, अप्रमत्तः भव=सावधानमना होवो अर्थात् मन को एकाग्र करो, अन्यस्मिन् प्रमाण युक्तिभ्यां=दूसरे पक्ष में प्रमाण और युक्ति के द्वारा, विवेचनम् कुरु=विवेचन करो अर्थात् अलग-अलग जानो, ततः रूढतमः भवेत्=ऐसा करने से भेद अर्थात् भेदज्ञान अत्यन्त दृढ़ होजायेगा ॥७३॥

भेद निश्चित होने पर भी क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ।
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तु च्छिद्रवन्न च ॥७४॥

ध्यानात् मानात् युक्तितः अपि=एकाग्र रूप ध्यान से प्रमाण से और युक्ति से भी, वियत् सतोः भेदे रूढे=आकाश और सद्ब्रह्म का भेद दृढ़ निश्चित होने पर, वियत् कदाचित् सत्यं न=आकाश कभी भी सत्य नहीं हो सकता, सद्वस्तु च छिद्रवत् न=और सद्वस्तु ब्रह्म भी अवकाश वाला नहीं हो सकता अर्थात् आकाशादि सर्वथा मिथ्या रूप करके और सद्ब्रह्म सदा सत्य रूप करके तथा आकाशादि रहित शुद्ध रूप करके भासता रहेगा ॥७४॥

आकाश और सद्ब्रह्म का विवेचन कर लेने पर जो फल प्राप्त होता है उसको कहते हैं—

ज्ञस्य भाति सदाव्योम निस्तत्त्वोल्लेख पूर्वकम् ।
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरः सरम् ॥७५॥

ज्ञस्य व्योम=आकाश और सत् के भेद जानने वाले विवेकी को आकाश, **निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम्**=तत्व रहित होकर ही (यह आकाश मिथ्या है इस प्रकार ही), **सदा भाति**=सर्वदा प्रतीत होता रहेगा, **अस्य सद्वस्तु अपि**=और इस विवेकी को सद्रूप ब्रह्म भी, **निश्छिद्रत्वपुरःसरम्**=अवकाश रहित होकर ही शुद्ध रूप से (यह सद् वस्तु ब्रह्म आकाशादि प्रपंच रहित असंग शुद्ध रूप से है इस प्रकार), **विभाति**=विशेष रूप से भासता है ॥७५॥

आकाश के मिथ्यात्व और सद्वस्तु के सत्यत्व को सदा चिन्तन करने वाले को क्या होता है ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं—

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ।
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥७६॥

वासनायां प्रवृद्धायां=आकाश के मिथ्यात्व और सद्ब्रह्म के सत्यत्व का संस्कार दृढ़ हो जाने पर, **बुधः**=विवेकी ज्ञानवान् (आकाश और सद्ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप को जानने वाले), **वियत् सत्यत्व वादिनम्**=आकाश को सत्य कहने वाले, **सन्मात्रबोध युक्तं च**=और शुद्ध सद्वस्तु के ज्ञान से रहित मनुष्य को, **दृष्ट्वा विस्मयते**=देखकर आश्चर्य प्राप्त करते हैं ॥७६॥

उक्त न्याय को अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं –

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ।
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ॥७७॥

एवं आकाशमिथ्यात्वे=पूर्वोक्त प्रकार से आकाश का मिथ्या पना, **सत्सत्यत्वे च वासिते**=और सद्ब्रह्म का सत्यपने का दृढ़ निश्चय हो जाने पर, **अनेन न्यायेन**= इस युक्ति अर्थात् वक्ष्यमाण युक्ति से, **वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम्**=वायु आदि भूतों से सद्ब्रह्म का विवेचन करो ॥७७॥

आकाश का कार्य वायु की अकारण सदवस्तु के साथ तादात्म्यप्रतीति नहीं बन सकती अतः सत् का विवेचन युक्ति युक्त नहीं, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं, कि साक्षत् कार्यकारणभाव सम्बन्ध न होने पर भी परम्परा से सत् और वायु का संबन्ध है, इसलिए विवेचन हो सकता है —

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैक देशगम् ।
वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ॥७८॥

सद्वस्तुनि एकदेशस्था माया=सद्ब्रह्म के एक देश में स्थित माया है, तत्र एक देशगम् वियत्=उस माया के एक देश में स्थित आकाश है, तत्र अपि एक देशगतः=और उस आकाश के भी एक देश में स्थित, वायुः प्रकल्पितः=वायु कल्पित है (आरोपित है) ॥७८॥

इस प्रकार सत् और वायु का संबन्ध दिखाकर उन दोनों के धर्मों से भेद, ज्ञान के लिये, वायु में प्रतीत होने वाले धर्मों को पूर्वार्द्ध से बताकर, उत्तरार्ध से कारण से आये हुये धर्मों को भी कहते हैं—

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ।
त्रयः स्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपिवायुगाः ॥७९॥

शोषस्पर्शौ गतिवेगः=शोषण करना और अनुष्णाशीत स्पर्श, गमन क्रिया और वेग, इमे वायुधर्मामताः=यह चारों वायु धर्म माने गये हैं, सन्मायाव्योम्नां ये त्रयः स्वभावाः=सद्ब्रह्म, माया और आकाश इन तीनों के जो तीन धर्म है, ते अपि वायुगाः=वे तीनों धर्म भी वायु में विद्यमान है ॥७९॥

वे परकीय धर्म कौन कौन है ऐसी आकांक्षा होने पर उनको दिखाते हैं—

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक् कृतं ।
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ॥८०॥

वायुः अस्ति इति=वायु है इस प्रकार व्यवहार के हेतु, सद्भावः=जो सत् स्वरूप है, वह सद्ब्रह्म का धर्म वायु में आया

हुआ जानना, सतः वायौ पृथक् कृते=सद्ब्रह्म से वायु को अलग कर लेने पर, निस्तत्त्वरूपता=जो अतात्त्विक पना (मिथ्यात्व) वायु में प्रतीत होता है, माया स्वभावः=वह माया का स्वभाव वायु में आया हुआ जानना, व्योमगः ध्वनिः=आकाश का धर्म शब्द जो वायु में प्रतीत होता है वह शब्द वायु में आकाश से आया हुआ जानना ॥८०॥

आकाश के विवेचन के प्रसंग में ६७ वें श्लोक से वायु आदि में आकाश की अनुवृत्ति का निषेध किया और८०वें श्लोक में आकाश की अनुवृत्ति आपने कहीं, अतः पूर्व उत्तर का विरोध हुआ ऐसी आशंका कहते हैं—

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ।
व्योमानु वृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥८१॥

सतः अनुवृत्तिः सर्वत्र=सद्ब्रह्म की अनुगति सब भूतों में तथा माया में (आपने पूर्व कही), व्योम्नः न=और आकाश की अनुवृत्ति वायु आदि में नहीं है, इति पुरा ईरितम्=इस प्रकार आपने पूर्व कहा (६७वें श्लोक में), अधुना व्योमानुवृत्तिः=अब आकाश की अनुवृत्ति वायु में कहते हो इसलिये, वचः कथं न व्याहतम्=आपका पूर्वापर वचन क्यों नहीं व्याघात दोष वाला होगा ? ॥८१॥

पूर्व अवकाश स्वरूप आकाश की अनुवृत्ति का निषेध किया, पश्चात् आकाश के धर्म की अनुवृत्ति वायु आदि में कहीं है; अवकाश स्वरूप आकाश की अनुवृत्ति नहीं। अतः पूर्वापर वचन का विरोध नहीं इस प्रकार विरोध का परिहार करते हैं—

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम् ।
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥८२॥

छिद्रानुवृत्तिः न इति=अवकाश रूप आकाश की अनुगति नहीं है अर्थात् वायु आदि भूतों में नहीं है, इति=इस प्रकार आकाश के स्वरूप की अनुवृत्ति का निषेध करने वाला, पूर्वोक्तिः=पूर्व वचन था, अधुना तु इयम् शब्दानुवृत्तिः एव=और अब यह आकाश के धर्म शब्द की अनुगति ही, उक्ता=कहीं जा रही है (आकाश स्वरूप की नहीं)

वचसः व्याहतिः=इसलिये पूर्वापर वचन का विरोध, कुतः=कैसे हुआ (अर्थात् पूर्वापर वचन का विरोध नहीं है ॥८२॥

सद्ब्रह्म से विलक्षण होने के कारण वायु असद्रूप होने से मायामय है यदि आप ऐसा कहते हैं; तो अव्यक्त रूप माया से विलक्षण व्यक्त वायु है; इस प्रकार माया से विलक्षण होने के कारण अमायामय वायु क्यों नहीं होगा। इस प्रकार प्रश्न करते हैं--

ननु सद्वस्तु पार्थक्यादसत्त्वं चेत्तदा कथम् ।

अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥८३॥

ननु सद्वस्तु पार्थक्यात्=शंका करते हैं कि सत् स्वरूप ब्रह्म से अलग होने के कारण, असत्वं चेत्=यदि वायु असत् है,तदा अव्यक्त माया वैषम्यात्=तब अव्यक्त रूप माया से विलक्षण (अर्थात् पृथक्) होने के कारण वह व्यक्त वायु, अमायामयता अपि कथं नो=अमायामय भी अर्थात् अमिथ्या (सत्य) क्यों नहीं है ॥८३॥

अव्यक्त रूपता मायामय होने में प्रयोजक नहीं किन्तु निस्तत्त्व रूपता मायामय अर्थात् मिथ्या होने में कारण है । वह निस्तत्त्व रूपता जैसे माया में है, वैसे वायु आदि में है, इसलिये वायु की मायामयता अर्थात् मिथ्यात्व की कोई हानि नहीं इस प्रकार परिहार करते हैं --

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ।

सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्व भेदिनोः ॥८४॥

अत्र=किसी भी वस्तु के मायामय होने में अर्थात् मिथ्या होने में, निस्तत्त्वरूपता एव मायात्वस्य=वास्तवतत्त्व रहित होना ही मिथ्यापने का, प्रयोजिका= प्रयोजक है अर्थात् निमित्त कारण है (अव्यक्तपना नहीं),सा=मिथ्यात्व का प्रयोजक वह निस्तत्व रूपता, व्यक्ताव्यक्तत्व भेदिनोः=व्यक्त धर्म और अव्यक्त धर्म के कारण भेद वाले, शक्तिकार्ययोः=माया शक्ति और उसके कार्य आकाश वायु आदिकों में, तुल्या=समान ही है (अतएव माया और तत्कार्य आकाशादि यद्यपि व्यक्त और अव्यक्त है, तथापि निस्तत्त्वरूपता दोनों

में समान होने के कारण वायु अमायामय अर्थात् तात्त्विकस्वरूप वाला नहीं हो सकता) ॥८४॥

माया शक्ति और कार्य वायु आदि दोनों में ही निस्तत्त्व रूपता यदि समान ही है, तो शक्ति अव्यक्त है वायु व्यक्त है इस प्रकार का भेद किस कारण से प्रतीत होता है, ऐसी आशंका करके, ये विचार प्रसंग में उपयोगी नहीं ऐसा परिहार करते हैं—

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिन्त्यताम् ।
असतोऽवान्तरो भेद आस्तां तच्चिन्तयात्र किम् ॥८५॥

सदसत्त्वविवेकस्य=सद्रूप और असद्रूप का पार्थक्य ज्ञान (भेद ज्ञान), **प्रस्तुत्वात् स चिन्त्यताम्**=प्रकरण से प्राप्त होने के कारण, उसी विवेक का,विचार करो, **असतः अवान्तरः भेदःआस्तां**= असद् पदार्थ का, अप्रासंगिक भेद विचार रहने दो (वेशक रहे), **तत् चिन्तया अत्र**=उस अवान्तर भेद की चिन्ता से अर्थात् विचार से,इस प्रसंग में, **किम्**=क्या प्रयोजन है, अर्थात् असत् के अवान्तर भेद के विचार का कुछ प्रयोजन नहीं ॥८५॥

अब अगले श्लोक से फलितार्थ को कहते हैं—

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ।
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥८६॥

सद्वस्तु ब्रह्म=वायु में जो सत् अंश है वह ब्रह्मरूप है, **शिष्टः अंशः वायुः**=अवशिष्ट अंश निस्तत्त्वादिरूप, वायु का स्वरूप है, **मिथ्या यथा वियत्**=वह वायु निस्तत्त्व होने से मिथ्या है, जैसे आकाश मिथ्या है, **वायोः मिथ्यात्वं**=इस प्रकार वायु के मिथ्यापने को, **चिरं वासयित्वा**=चिरकाल अभ्यास द्वारा दृढ़ निश्चय करके, **मरुतं त्यजेत्**=वायु का त्याग करे अर्थात् वायु सत्य है ऐसी बुद्धि का त्याग करें ॥८६॥

वायु में उक्त विचार का अब तेज में भी अतिदेश करते हैं और इनके न्यूनाधिक भाव को भी कहते हैं—

चिन्तयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ।
ब्रह्माण्डावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥८७॥

एवं वह्निम् अपि=उपरोक्त प्रकार से अग्नि अर्थात् तेज की भी, **मरुतः न्यूनवर्तिनम्**=वायु की अपेक्षा अर्थात् वायु के ही अल्पदेश में विद्यमान रहने वाला करके, **चिन्तयेत्**=चिन्ता करें, अर्थात् विचार करे, **ब्रह्माण्डावरणेषु**=ब्रह्माण्ड के चारों ओर से व्याप्त करके स्थित होने से ब्रह्माण्ड के आवरण रूप पंच भूतों में, **एषा न्यूनाधिक विचारणा**=यह अल्पता और अधिकता का विचार है ॥८७॥

वायु से कितनी छोटि अग्नि है,इस आकांक्षा का उत्तर कहते हैं, और उसकी तेज की वास्तविकता की आशंका का निवारण भी करते हुये न्यूनाधिक भाव स्वकपोल कल्पित नहीं किन्तु पुराणोक्त है इस बार्ता को भी कहते हैं—

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः ।
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशै भूतपञ्चके ॥८८॥

वायोः दशांशतः न्यूनः वह्निः=वायु से दश गुणा छोटा तेज है, **वायौ प्रकल्पितः**=और वायु में ही कल्पित है, **भूत पञ्चके दशांशैः तारतम्यं**=आकाशादि पांचों भूतों में दस दस गुणा छोटे-बड़े न्यूनाधिक भाव, **पुराणोक्तं**=पुराणों में कहा गया है ॥८८॥

अब तेज के स्वरूप को उस तेज में भी कारण के धर्मों की अनुगति को तथा उन धर्मों को कहते हैं—

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ।
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान्स्पर्शवानपि ॥८९॥

वह्निः उष्णः प्रकाशात्मा=तेज उष्णस्पर्श वाला, और प्रकाश रूप है, **अत्र च पूर्वानुगतिः**=और इस तेज में, सत्, माया आकाश और वायु की अर्थात् कारण के धर्मों की अनुगति भी है (उसी को दिखाते हैं), **वह्निः अस्ति**=तेज है (इस प्रतीति से सिद्ध सत्ब्रह्म की सत्ता तेज में प्रतीत होती है), **स निस्तत्त्वः**=वह तेज वास्तव स्वरूप

से रहित है अर्थात् मिथ्या है इस प्रकार माया की निस्तत्त्व रूपता तेज में प्रतीत होती है, शब्दवान् = और वह तेज शब्द वाला है, इससे आकाश का गुण शब्द तेज में प्रतीत होता है, स्पर्शवान् अपि = और वह तेज स्पर्श वाला भी है इस प्रतीति से वायु का गुण स्पर्श तेज में आया हुआ ज्ञात होता है ॥८९॥

इस प्रकार तेज में कारण के धर्मों की अनुगति का अनुवाद करके तेज का अपना धर्म दिखाते हैं

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ।
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्ध्या विविच्यताम् ॥९०॥

सन्मायाव्योमवाय्वंशैः = सत् ब्रह्म, माया, आकाश और वायु के धर्मों से, युक्तस्य अग्नेः निजःगुणः रूपं = युक्त तेज का अपना गुण रूप है, तत्र सतः अन्यत् सर्वम् = उनमें सत्ब्रह्म से भिन्न सब धर्मों को, बुद्ध्या विविच्यताम् = यह सब धर्म मिथ्या हैं, इस बुद्धि से पृथक् करके जानना चाहिये ॥९०॥

इस प्रकार तेज के मिथ्यात्व निश्चय के अनन्तर जल के मिथ्यात्व का विचार करना चाहिये इस वार्ता को कहते हैं —

सतो विवेचिते ब्रह्मौ मिथ्यात्वे सति वासिते ।
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिन्तयेत् ॥९१॥

सतः ब्रह्मौ विवेचिते = सद्ब्रह्म से तेज का विवेचन कर लेने पर, मिथ्यात्वे वासिते सति = और उस तेज का मिथ्यापना, निश्चित हो जाने पर, दशांशतः आपः कल्पिता = तेज से दश गुणा छोटा, जल तेज में कल्पित है, इति चिन्तयेत् = इस प्रकार चिन्तन करो, अर्थात् विचार करो ॥९१॥

अब जल में भी कारण के धर्मों को और अपने धर्मों को अलग अलग करके दिखाते हैं —

सन्त्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ।
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ॥९२॥

आपः सन्ति अमूः=जल है वह जल, शून्यतत्त्वाः=तत्त्व रहित अर्थात् निस्तत्त्वरूप, मिथ्या है, सशब्दस्पर्शं संयुताः रूपवत्यः=शब्द सहित स्पर्श वाला है,और रूप वाला भी है, अन्यधर्मानुवृत्या=सत्ता, निस्तत्त्वरूपता, शब्द, स्पर्श और रूप इन सबको, कारण के धर्मों की अनुगति जल में जानना, स्वीयः गुणः रसः=और जल का अपना गुण रस है ॥९२॥

विवेक और ध्यान के द्वारा जल के मिथ्यात्व निश्चय के अनन्तर अब भूमि का मिथ्यात्व विचार करना चाहिए इस वार्ता को कहते हैं—

सतोविवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते ।

भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताऽप्स्विति चिन्तयेत् ॥९३॥

सतः अप्सु विवेचितासु=सत्ब्रह्म से जल का विवेचन कर लेने पर,च तत् मिथ्यात्वे वासिते=और उस जल का मिथ्यापना निश्चित हो जाने पर, दशांशतः न्यूना भूमिः=उस जल से दश गुणी छोटी पृथ्वी, अप्सु कल्पिता इति चिन्तयेत्=जल में कल्पित है, इस प्रकार विचार करना चाहिये ॥९३॥

भूमि का मिथ्यात्व चिन्तन करने के लिये भूमि के धर्मों का विभाग करते हैं,और उनसे सत्तामात्र को पृथक् कर लेना चाहिये इस वार्ता को भी कहते हैं –

अस्ति भूस्तत्त्व शून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ।

रसश्च परतो गन्धो नैजः सत्ता विविच्यताम् ॥९४॥

भूः अस्ति तत्त्व शून्याः=पृथ्वी है, वह पृथ्वी निस्तत्त्व रूप है, अस्यां सरूपकौ शब्दस्पर्शौ=इस पृथ्वी में, रूप सहित, शब्द, स्पर्श, रसः च परतः=और रस कारणों से आये हुये धर्म हैं, नैजः गन्धः=पृथ्वी का अपना गुण गन्ध है, सत्ता विविच्यताम्=इनसे सत्ता को पृथक् कर लेना चाहिये ॥९४॥

सत्ता को पृथक कर लेने से जो फल उत्पन्न होता है उसको कहते हैं और भौतिक ब्रह्माण्डादियों से आत्म के विवेचन करने के लिये ब्रह्माण्ड का अवस्थान प्रकार को दिखाते हैं—

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते ।
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्माण्डं भूमिमध्यगम् ॥९५॥

सत्तायां पृथक्कृतायां=सत्ता स्वरूप ब्रह्म को भूमि से पृथक् कर लेने पर, भूमि मिथ्या अवशिष्यते=पृथ्वी मिथ्या रूप करके शेष रह जाती है, भूमेः दशांशतः न्यूनं=पृथ्वी से दश गुना छोटा, ब्रह्माण्डं भूमि मध्यगम्=ब्रह्माण्ड भूमि के अन्तर्गत स्थित है ॥९५॥

अब ब्रह्माण्ड में स्थित लोक और प्राणियों को बताते हैं -

ब्रह्माण्डमध्ये तिष्ठन्ति भुवनानि चतुर्दश ।
भुवनेषु वसन्त्येषु प्राणि देहा यथायथम् ॥९६॥

ब्रह्माण्डमध्ये चतुर्दश भुवनानि=ब्रह्माण्ड के भीतर चौदह(१) लोक, तिष्ठन्ति एषु भुवनेषु=स्थित हैं, इस चौदह लोकों में, प्राणि देहा यथायथं वसन्ति=जीवों के शरीर यथा योग्य बसते है अर्थात् स्थित है ।

टि० (१) भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं ये सात ऊपर के और अतल, वितल सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ये सात नीचे के लोक हैं ॥९६॥

ब्रह्माण्ड, चौदहभुवन और शरीरों से सत् का विवेचन कर लेने पर निष्पन्न फल को कहते हैं –

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते ।
असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥९७॥

ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तुनि=ब्रह्माण्ड, चौदह भुवन और शरीरों में से, सद्ब्रह्म को, पृथक् कृते=अलग कर लेने पर अर्थात् भिन्न करके ज्ञान लेने पर, अण्डादयः असन्तः भान्तु=ब्रह्माण्ड चौदह लोक तथा शरीर असत् रूप करके (मिथ्या रूप करके) बेशक भासे, तद् भाने अपि=असत् रूप से उनका भान होने पर भी, इह का क्षतिः =अद्वितीय सद्ब्रह्म के ज्ञान में, क्या हानि है (अर्थात् कुछ भी हानि

पूर्व श्लोक के उक्त अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं--

भूतभौतिक मायानामसत्त्वेऽत्यन्त वासिते ।
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥९८॥

भूत भौतिक मायानां=आकाशादि पांच भूत, उनके कार्य भौतिक ब्रह्माण्ड आदि तथा उन सबके कारण माया, **असत्त्वे अत्यन्त वासिते**=मिथ्यात्व (विवेक और ध्यान के द्वारा चित्त में) दृढ़तर निश्चित हो जाने पर, **सद्वस्तु अद्वैतं इति**=सद्रूप ब्रह्म एक अद्वितीय रूप है, इस प्रकार की, **एषा धीः क्वचित् न विपर्येति**=यह बुद्धि, कदाचित् भी, नहीं नष्ट होती ॥९८॥

भूमि आदि असत् हो जाने पर (स्वरूप से नष्ट हो जाने पर) विद्वान् के व्यवहार का लोप हो जायेगा ऐसी आशंका करके परिहार करते हैं कि विवेक से मिथ्यात्व का निश्चय होने पर भी भूमि आदि का स्वरूप उपमर्दन अर्थात् नाश न होने से व्यवहार का लोप नहीं होगा इस वार्ता को कहते हैं—

सदद्वैतात्पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि ।
तत्तदर्थक्रिया लोके यथा दृष्टा तथैव सा ॥९९॥

सद् अद्वैतात् पृथक् भूते=सत्रूप अद्वैत ब्रह्म से अलग हुये भी, **भूम्यादिरूपिणि द्वैते**=पृथ्वी जलादि रूप द्वैत प्रपंच मिथ्या रूप से विद्यमान होने पर (स्वरूप से उनका लोप न होने पर), **तत्तदर्थ क्रिया लोके**=तिस तिस भूमि आदि द्वैत पदार्थों की कार्य साधकता संसार में, **यथा दृष्टा सा तथा एव**=जिस जिस प्रकार दिखाई गई है, वह अर्थ क्रिया उसी प्रकार बनी रहेगी (अतः विद्वान् का व्यवहार लोप नहीं होगा)॥९९॥

सद् ब्रह्म यदि अद्वैत रूप है तो सांख्यादि के द्वारा माने हुये भेद का क्यों नहीं खण्डन किया जाता है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि व्यवहारिक भेद को हम भी स्वीकार करते हैं। इसलिये (भेद पारमार्थिक न होने से) उसके खण्डन के लिये हम प्रयत्न नहीं करते इस वार्ता को कहते हैं—

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ।
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ॥१००॥

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैः=सांख्य, काणाद और बौद्ध आदि भेद वादियों ने, **जगद्भेदः अनेक युक्त्या**=जगत् के भेद की नाना युक्तियों से, **यथा यथा उत्प्रेक्ष्यते**=जैसे जैसे कल्पना की है, **एष तथा तथा भवतु**=सो भेद उसी प्रकार रहे (उन मिथ्या भेदों का खण्डन करने के लिये हम वेदान्ती प्रयत्न नहीं करते क्योंकि उन मिथ्या व्यवहारिक भेदों से अद्वैत सिद्धान्त की कोई हानि नहीं हैं) ॥१००॥

प्रमाण सिद्ध द्वैत भेद की अवज्ञा (अनादर) नहीं करना चाहिये ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशङ्कैरन्यवादिभिः ।
एवं का क्षतिरस्माकं तद्द्वैतमवजानताम् ॥१०१॥

अन्यवादिभिः निःशङ्कैः=सांख्यादि द्वैतवादियों ने निःशंक होकर **सद् अद्वैतं अवज्ञातं**=श्रुति प्रमाण सिद्ध सत् रूप अद्वैत ब्रह्म की भी अवज्ञा अर्थात् उपेक्षा की है, **एवं**=ऐसा होने पर भी, **तद् द्वैतं अवजानताम्**=उनके माने हुये भेद रूप द्वैत का श्रुति युक्ति अनुभव प्रमाणों से अनादर करने वाले, **अस्माकं का क्षतिः**=हम सिद्धान्तियों को क्या हानि है ? ॥१०१॥

यह द्वैत मिथ्यात्व निश्चय पूर्वक अनादर अनर्थक है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि जीवनमुक्तिरूप प्रयोजन के विद्यमान होने से निष्प्रयोजनत्व की आशंका नहीं बन सकती इस बार्ता को कहते हैं—

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ।
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥१०२॥

चेत् द्वैतावज्ञा सुस्थिता=यदि द्वैत का निरादर अर्थात् मिथ्यात्व निश्चय दृढ़ हो जाये तो, **अद्वैते धीः स्थिरा भवेत्**=अद्वितीय ब्रह्म में बुद्धि निश्चल हो सकती है, **तस्याः स्थैर्ये**=उस अद्वैत में बुद्धि अर्थात् ज्ञान की स्थिरता होने पर, **एष पुमान् जीवन्मुक्त इति ईर्यते**=यह ज्ञानवान् पुरुष जीवन्मुक्त इस नाम से कहा जाता है ॥१०२॥

न केवल जीवन्मुक्ति ही प्रयोजन है, अपितु विदेह मुक्ति भी, इस अभिप्राय से श्री कृष्ण वाक्य का उदाहरण देते हैं—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थनैनां प्राप्य विमुह्यति ।

स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥१०३॥

पार्थ एषा (१) ब्राह्मी स्थितिः = हे पार्थ ! यही ब्रह्म संबन्धि स्थिति है अर्थात् ब्रह्म निष्ठा है, एनां प्राप्य न विमुह्यति = इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त होकर पुनः मोह को नहीं प्राप्त करता, अन्तकाले = आत्मा अनात्मा के अध्यास के नाश रूप अन्तकाल में, अस्याम् स्थित्वा = इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर, ब्रह्म निर्वाणं अपि ऋच्छति = ब्रह्म रूप निर्वाण मुक्ति को भी प्राप्त करता है ।

टि० (१) (द्वैत मिथ्यात्व निश्चय पूर्वक अद्वैत ब्रह्म विषयक स्थित बुद्धि) ॥१०३॥

अन्तकाल शब्द से वर्तमान देह का पतन कहा जाता हैं इस आशंका का निवारण करने के लिये विवक्षित अर्थ को कहते हैं—

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम् ।

तस्यान्तकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥१०४॥

सत् अद्वैते अनृतद्वैते = सत्रूप अद्वैतब्रह्म के विषय में, और मिथ्यारूप द्वैत के विषय में, यद् अन्योन्यैक्य वीक्षणम् = जो परस्पर अध्यास रूप अभेद ज्ञान है, तस्य अन्तकालः = उस भ्रम का अन्तकाल तद् भेद बुद्धिः एव = उनका विवेक ज्ञान ही है (अद्वैत सत्य है, द्वैत मिथ्या है इस प्रकार भेद ज्ञान ही है), इतरः न च = वर्तमान देह पात अन्तकाल शब्द का अर्थ नहीं ॥१०४॥

अब लोक प्रसिद्ध देह पात रूप अर्थ स्वीकार करने पर भी कोई दोष नहीं इस अभिप्राय से कहते हैं—

यद्वाऽन्तकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः ।

तस्मिन्नकालेऽपि न प्रान्तेर्गतायाः पुनरागमः ॥१०५॥

यद्वा प्रसिद्धितः प्राणस्य वियोगः = अथवा लोक प्रसिद्धि के

अनुसार प्राण का वियोग ही, अन्तकालः अस्तु = अन्तकाल शब्द का अर्थ होवे, क्योंकि, तस्मिन् काले अपि = उस अन्तकाल में भी, मतायाः भ्रान्तेः पुनरागमः न = नष्ट हुए भ्रम ज्ञान की पुनः प्राप्ति नहीं होती है ॥१०५॥

उक्त अर्थ का विस्तार करते हैं —

निरोग उपविष्टो वा रुग्णो वा विलुठन्भुवि ।

मूर्च्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान्भ्रान्तिर्न सर्वथा ॥१०६॥

निरोगः वा उपविष्टः = रोग रहित अवस्था से युक्त हुए, अथवा आसन पर बैठे हुए, रुग्णो वा भुवि विलुठन् = अथवा रोग पीड़ित होकर जमीन पर लोट पोट करते हुए, मूर्च्छितो वा एष प्राणान् त्यजतु = अथवा बेहोश होकर यह ज्ञानवान् प्राणों को बेशक त्यागे तो भी, सर्वथा भ्रान्तिः न = किसी भी प्रकार से भ्रमज्ञान तत्त्ववेत्ता को कभी नहीं हो सकता ॥१०६॥

प्राण वियोग काल में मूर्छा आदि के द्वारा ज्ञान का नाश हो जाने पर भ्रान्ति अवश्य होगी ऐसी आशका के उत्तर में ज्ञान का नाश कदापि नहीं होता इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं —

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ।

परेद्युरनधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ॥१०७॥

दिने दिने अधीते = प्रतिदिन अध्ययन किये हुए वेद को, स्वप्नसुप्त्योः विस्मृते अपि = स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में भूल जाने पर भी, अयम् परेद्युः = वेद अथवा वेद पाठी दूसरे दिन, अनधीतः न स्यात् = नहीं पढ़ा हुआ (अपठित) नहीं कहा जाता, तद्वद् = उसी प्रकार मरणकाल में तत्त्व का स्मरण यदि नहीं भी हुआ तथापि, विद्या न नश्यति = तत्त्व ज्ञान का नाश नहीं होता ॥१०७॥

ज्ञान का नाश नहीं होता, उसका ही उपपादन करते हैं —

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ।

न नश्यति न वेदान्तात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ॥१०८॥

प्रमाणोत्पादिता विद्या = उपनिषद् वाक्य रूप प्रमाण से उत्पन्न

हुई ब्रह्म विद्या अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान, प्रबलं प्रमाणं बिना = उससे भी बलवान् प्रमाण के बिना, न नश्यति = नहीं नष्ट हो सकता, क्योंकि वेदान्तात् प्रबलंमानं = उपनिषद् वाक्यरूप वेदान्त से अधिक बलवान् कोई प्रमाण, न ईक्ष्यते = नहीं देखने में आता ॥१०८॥

इस अध्याय में उपपादन किये हुए अर्थ को अब उपसहार करते हैं—

तस्माद्वेदान्त संसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ।

अन्तकालेऽप्यतो भूत विवेकान्निर्वृतिः स्थिता ॥१०९॥

तस्माद् वेदान्त संसिद्धं = इस कारण से सबसे बलवान् वेदान्त वाक्य रूप प्रमाण से भली भांति निश्चय किया हुआ, सद् अद्वैतं न बाध्यते = सत् रूप अद्वितीय ब्रह्म बाधित नहीं होता, अर्थात् ब्रह्म का अभाव अथवा असत्त्व सिद्ध नहीं होता, अतः = इसी कारण से (जिस कारण से सद् ब्रह्म का बाध नहीं होता इस कारण से), अन्तकाले अपि भूत विवेकात् = मरण काल में भी पंचभूतों के विवेक से, निर्वृत्तिः स्थिता = निरतिशय सुख रूप मुक्ति स्थित है ॥१०९॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि विरचित पञ्चदश्यां पंचभूत विवेकाख्यद्वितीय प्रकरणस्य राष्ट्र भाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिस्वतन्त्रानन्द गिरि जी महाराजकथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

अथ तृतीयं पञ्चकोश विवेक प्रकरणम्

—❀—

नत्वा श्रीभारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिश्वरौ ।
पञ्चकोश विवेकस्य कुर्वे व्याख्यां समासतः ॥

तैत्तिरीय उपनिषद् के तात्पर्य का व्याख्यान रूप पंचकोश विवेक नामक प्रकरण का आरम्भ करते हुए आचार्य उस पंचकोश विवेक में श्रोताओं की प्रवृत्ति की सिद्धि के लिये प्रयोजन सहित प्रतिपाद्य विषय का सूचन करते हुए कण्ठ से चिकिर्षित ग्रन्थ की प्रतिज्ञा करते हैं —

गुहाहितं ब्रह्मयत्तत्पञ्चकोशविवेकतः ।
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपञ्चकं प्रविविच्यते ॥१॥

गुहाहितं = तैत्तिरीय उपनिषद् में उक्त गुहा में निहित अर्थात् छिपा हुआ, यत् ब्रह्म = जो सत्य ज्ञान अनन्त रूप ब्रह्म है, तत् = वह ब्रह्म, पञ्चकोशविवेकतः = गुहा शब्द के अर्थ अन्नमय आदि पंचकोशों के विवेक से, बोद्धुं शक्यं = जाना जा सकता है, ततः कोशपञ्चकं = इसीलिये पांचों कोश, प्रविविच्यते = प्रत्यग् आत्मा से पृथक् करके दिखलाये जा रहे हैं ॥१॥

पूर्व श्लोक में कही हुई गुहा कौन सी है, जिसमें छिपा हुआ ब्रह्म पञ्चकोशों के विवेक द्वारा जाना जाता है, ऐसी आशका उठा कर श्रुति के द्वारा 'गुहा' शब्द से कहने को इष्ट अर्थ को अब वर्णन करते हैं ।

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः ।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥२॥

देहात् = स्थूल शरीर रूप अन्नमय कोश से, प्राणः अभ्यन्तरः

=प्राण मय कोश आन्तर है, प्राणात्: मनः अन्यन्तरम् = प्राणमय कोश से मनोमय कोश आन्तर है, ततः कर्ता = मनोमय कोश से विज्ञानमय कोश आन्तर है, ततः भोक्ता = विज्ञानमय कोश से आनन्दमय कोश आन्तर है, सा इयं = इस प्रकार अन्नमय से आदि लेकर आनन्दमय प्रर्यन्त कोशों का यह समूह, परम्परागुहा = परम्परा से गुहा शब्द से कहा जाता है ॥२॥

अब अन्नमय का स्वरूप और हेतु सहित उसकी अनात्म रूपता को दिखाते हैं,

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥३॥

पितृभुक्तान्नजात् = पिता माता के द्वारा खाये हुए अन्न से उत्पन्न वीर्यात् जातः = वीर्य से, जो देह उत्पन्न होता है, अन्नेन एव वर्धते = और अन्न से ही (क्षीर आदि सेवन से ही) बढ़ता है, सः देहः अन्नमयः = वह स्थूल शरीर अन्नमय कोश है (क्योंकि अन्न का विकार है), आत्मा न = वह अन्नमय कोश आत्मा नहीं, प्राक् च ऊर्ध्वं = क्योंकि जन्म से पहले और मरण के बाद, तदभावतः = वह स्थूल शरीर (अन्नमय कोश) होता नहीं ॥३॥

देह आत्मा नहीं, कार्य होने से, घटादि की न्यांई ऐसा अनुमान प्रमाण पूर्व श्लोक से अर्थतः सूचित हुआ था; इसमें आशंका है कि देह कार्य रूप भले ही हो, फिर भी वह आत्मा ही है, इसका परिहार अकृताभ्यागम और कृतनाश रूप दोष के प्रसग दिखा कर करते हैं।

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म सम्पादयेत्कथम् ।
भावि जन्मन्यसत्कर्म न भुञ्जीतेह संचितम् ॥४॥

पूर्व जन्मनि = पहले जन्म में, असन् = यह देह रूप आत्मा अविद्यमान है इसलिए, एतत् जन्म = इस जन्म को, कथं सम्पादयेत् = कैसे सम्पादन करेगा, भावि जन्मनि = और भविष्यत् जन्म में भी असन् = नहीं रहने वाला यह देह रूप आत्मा, इह = इस जन्म में,

संचितं कर्म = किये हुए पुण्य पाप रूप संचित कर्म को, न भुञ्जीत = नहीं भोगेगा ।

इस प्रकार कृत नाश (किये हुए कर्म का फल भोग के बिना ही नाश) तथा अकृत का अभ्यागम (नहीं किए हुए कर्म फल की प्राप्ति) रूप दोष के कारण अन्नमय स्थूल शरीर को जो जन्म मरण वाला है तथा कार्य है आत्मा नहीं मानना चाहिए ॥४॥

इस प्रकार अन्नमय कोश की अनात्म रूपता दिखाकर अब प्राणमय कोश का स्वरूप और उसकी अनात्म रूपता को सहेतुक प्रदर्शन करते हैं ।

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्त्तकः

वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥५॥

यः वायुः देहे पूर्णः = जो वायु पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त देह में व्याप्त होकर, बलं यच्छन् = शक्ति प्रदान करता हुआ, अक्षाणां प्रवर्त्तकः = चक्षु आदि इन्द्रियों का प्रेरक बनता है, असौ प्राणमयः = वह वायु प्राणमय कोश कहा जाता है, चैतन्य वर्जनात् = वह प्राणमय कोश चैतन्य रहित होने से अर्थात् जड़ होने से, आत्मा न = आत्मा नहीं है ॥५॥

अब प्राण मय कोश के पश्चात् मनोमय कोश का स्वरूप प्रदर्शन करते हुए उसकी अनात्म रूपता को हेतु सहित कहते हैं—

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ।

कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नात्मा चात्मा मनोमयः ॥६॥

देहे गेहादौ च = स्थूल शरीर और गृहादि में, अहन्तां ममतां = अहं और मम (मैं और मेरा) इस प्रकार के अभिमान, यः करोति = जो करता है, असौ मनोमयः = वह मनोमय कोश, कामाद्यवस्थया = काम क्रोधादि अवस्था वाला होने से, भ्रान्तः = तथा भ्रान्ति युक्त होने से, आत्मा न = आत्मा नहीं है ॥६॥

मनोमय कोश कथन के अनन्तर 'कर्तृ' शब्द वाच्य

विज्ञानमय कोश का स्वरूप प्रदर्शन करते हुये उसकी अनात्मरूपता को भी दिखाते हैं –

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्द भाक् ॥७॥

चिच्छायोपेत धीः=चिदाभासयुक्त जो बुद्धि, **सुप्तौ लीना**= सुषुप्ति काल में, लय अवस्था को प्राप्त होती हुई, **बोधे**=जाग्रत् अवस्था में, **आनखाग्रगा**=मस्तक से नखाग्र पर्यन्त विद्यमान होकर, **वपुः व्याप्नुयात्**=शरीर को व्याप्त करके स्थित होती हैं, **विज्ञानमय शब्दभाक्**=वह (चिदाभास युक्त बुद्धि) विज्ञानमय शब्द से कही जाती है, **आत्मा न**=और वह विज्ञानमय भी आत्मा नहीं है ॥७॥

मन और बुद्धि दोनों अन्तःकरण रूप हैं, इस लिये मनोमय और विज्ञानमय रूप से दो कोशों की कल्पना युक्ति युक्त नहीं ऐसी आशंका होने पर उत्तर कहते हैं कि कर्तृत्वभाव और करण भाव से (अर्थात् विज्ञानमय कर्ता है और मनोमय करण है, इस प्रकार से) दोनों का भेद विद्यमान होने के कारण मनोमय और विज्ञानमय का भेद बन सकता है, इस अभिप्राय से कहते हैं –

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतान्तरिन्द्रियम् ।
विज्ञानमनसी अन्तर्बहिश्चैते परस्परम् ॥८॥

अन्तः इन्द्रियम्=अन्तः करण, **कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां**=कर्ता रूप से और करण रूप से, **विक्रियेत**=परिणाम को प्राप्त होता है, **एते**= यह कर्ता और करण दोनों ही, **विज्ञान मनसी**=क्रम से विज्ञान और मन शब्द से कहे जाते हैं, **परस्परम्**=और आपस में, **अन्तर्बहिश्च**= अन्दर और बाहर हैं (अतः विज्ञानमय, मनोमय दो कोश बन सकते हैं) ॥८॥

अब भोक्ता शब्द का अर्थ आनन्दमय अनात्मा है, इस वार्ता को दसवें श्लोक में दिखाने के लिये नवें श्लोक में आनन्दमय का स्वरूप दिखाते हैं –

काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्ब भाक् ।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते ॥९॥

पुण्य भोगे=पुण्य कर्म फल के अनुभव काल में, काचित् वृत्तिः=कोई बुद्धि वृत्ति, अन्तर्मुखा=अन्तर्मुख होकर, आनन्द प्रतिबिम्बभाक्=आत्म स्वरूप आनन्द का प्रीतिबिम्ब युक्त होती है, भोग शान्तौ=और वही वृत्ति पुण्यकर्म का फल भोगसमाप्तहोने पर, निद्रारूपेणलीयते=निद्रा रूपसे लीन हो जाती है, वही वृत्ति आनन्दमय कोश कही जाती है ॥९॥

अब उस आनन्दमय कोश की अनात्म रूपता को कहते हैं श्लोक के पूर्वार्ध से और उत्तरार्ध से आनन्द आदि सर्व कोशों की आत्म रूपता का निषेध करने पर जो शून्य रूपता का प्रसंग प्राप्त होता है, उसका निवारण हेतु सहित कहते हैं—

कादाचित्कत्वतोनात्मा स्यादानन्दमयोऽप्ययम् ।
बिम्बभूतो य आनन्द आत्माऽसौ सर्वदास्थितेः ॥१०॥

अयम् आनन्दमयः अपि=यह आनन्दमय भी, कादाचित् कत्वतः=कभी-कभी होने वाला होने से (क्षणिक होने से) आत्मा न स्यात्=आत्मा नहीं है, बिम्बभूतः यः आनन्दः=आनन्दमय का भी कारण रूप, जो बिम्ब रूप, आनन्द है, असौ सर्वदास्थितेः आत्मा=वह नित्य होने के कारण आत्मा है ॥१०॥

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानन्दान्तवस्तुषु ।
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥११॥

ननु देहम् उपक्रम्य=प्रश्न करते हैं, स्थूल शरीर रूप अन्नमय से आरम्भ करके, निद्रानन्दान्तवस्तुषु=निद्राकाल में होने वाले आनन्दमय पर्यन्त पांचों कोश, आत्मत्वम्=आत्म का स्वरूप पूर्वोक्त युक्तियों से यदि नहीं बनते हैं तो, मा भूत्=मत बने, अन्यः तु कश्चित्=परन्तु पञ्चकोशों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ,

अर्थात् आत्मा, न अनुभूयते = अनुभव में नहीं आता (इस लिये आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है) ॥११॥

अब पूर्वोक्त प्रश्न का परिहार करते हुए पञ्चकोश के अतिरिक्त आत्मा का अंगीकार करने में हेतु बताते हैं—

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयन्ते न चेतरः ।

तथाप्येतेऽनुभूयन्ते येन तं को निवारयेत् ॥१२॥

बाढं निद्रादयः सर्वे = तुमने सत्य कहा है कि, निद्रादि आनन्दमय से लेकर अन्नमय तक सब, अनुभूयन्ते = अनुभव के विषय होते हैं, इतरः न च = उस सब से भिन्न दूसरा कोई अनुभव में नहीं आता, तथापि एते = फिर भी यह पांचों कोश, येन अनुभूयन्ते = जिस चैतन्य से अनुभव किये जाते हैं, तं कः = उस अनुभव स्वरूप साक्षी के चैतन्य को कौन, निवारयेत् = निषेध करेगा, (अर्थात् कोई भी निषेध नहीं कर सकता) ॥१२॥

उक्त पञ्चकोशों से भिन्न आत्मा यदि विद्यमान है तो पञ्च कोशों की न्याईं उसका भी अनुभव होना चाहिये, परन्तु होता नहीं, अतः आत्मा नहीं है, ऐसी आशंका का उत्तर श्लोक के पूर्वार्ध से कहते हैं, और उत्तरार्ध से अनुभव रूप आत्मा की भी अनुभव विषयता क्यों नहीं होगी इस आशंका का भी निवारण करते हैं —

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ।

ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥१३॥

स्वयम् एव = आनन्दमय आदि का साक्षी चैतन्य रूप आत्मा खुद ही, अनुभूति त्वात् = अनुभव रूप होने से, अनुभाव्यता न विद्यते = अनुभव का विषय नहीं होता, ज्ञातृज्ञानान्तराभावात् = और आत्मा से भिन्न दूसरा ज्ञाता अथवा दूसरा ज्ञान न होने के कारण, अज्ञेयः = आत्मा ज्ञान का विषय नहीं होता, न तु असत् तया = और असत् होने से आत्मा ज्ञेय नहीं होता यह बात नहीं (निद्रा आनन्दादि के साक्षी रूप से विद्यमान होने के कारण

आत्मा आभास रूप नहीं हो सकती यह बात तो पहले भी कही गई है)) ॥१३॥

अनुभव स्वरूप आत्मा अनुभव का विषय नहीं होता इस में दृष्टान्त कहते हैं।

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ।

स्वस्मिंस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥१४॥

अन्यत्र = गुड़ आदि के सम्बन्ध जाने चावल आदि अन्य पदार्थों में, स्वगुणार्पिणाम् = अपनी मधुरता गुण को देने वाले, माधुर्यादिस्वभावानां = मधुर स्वभाव वाले गुड़ आदि को, स्वस्मिन् = अपने में, तदर्पणापेक्षा नो = मधुरता को दूसरे से सम्पादन करने की (लेने की) अपेक्षा नहीं होती, अन्यत् = और उस से भिन्न मधुरता को, अर्पकं न अस्ति = अर्पण करने वाला (देने वाला) है भी नहीं ॥१४॥

अब दृष्टान्त सहित फलितार्थ को कहते हैं—

अर्पकान्तरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ।

मा भूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥१५॥

अर्पकान्तर राहित्ये अपि = मधुरता आदि का सम्पादक दूसरी वस्तु न होने पर भी, एषां = इन गुड़ादिकों का, तत्स्वभावता अस्ति = मधुरता आदि स्वभाव विद्यमान है ही, तथा अनुभाव्यत्वम् = उसी प्रकार आत्मा अनुभव का विषय, मा भूत् = मत होवे, बोधात्मा तु = अनुभव स्वरूप आत्मा की अनुभव रूपता तो, न हीयते = नष्ट नहीं होती किन्तु बनी रहती है ॥१५॥

पूर्वोक्त अर्थ में प्रमाण कहते हैं—

स्वयं ज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्मात् भासतेऽखिलात् ।

तमेव भान्तमन्येति तद्भासा भास्यते जगत् ॥१६॥

एषः = यह आत्मा स्वप्न अवस्था में, स्वयं ज्योतिः भवति = स्वयं प्रकाश रूप होता है, अस्मात् अखिलात् = इनसे अर्थात् सम्पूर्ण

जगत् से, पुरः भासते=पूर्व आत्मा प्रकाशित होता है, तमेव भान्तम् अनु=उस आत्मा के प्रकाश होने के पश्चात्, एति=सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, तद् भासा=उस आत्मा के प्रकाश से, जगत् भास्यते=सम्पूर्ण जगत् भासित होता है ॥१६॥

और भी श्रुति वाक्य रूप प्रमाण दिखाते हैं—

येनेदं जानते सर्वं तं केनान्येन जानताम् ।

विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥१७॥

येन=जिस साक्षी चैतन्यरूप आत्मा से, इदं सर्वं जानते=इन सब दृश्य समूह को, सब प्राणी जानते हैं, तम् अन्येन=उस साक्षिस्वरूप आत्मा को दूसरे (अर्थात् साक्षी चैतन्य से भिन्न), केन जानताम् =किस दृश्य जड साधन से जानेंगे, विज्ञातारं केन=दृश्य जड़ पदार्थ के द्रष्टा को, किस जड़ दृश्य से, विद्यात्=जानेगा अर्थात् किसी भी जड़ पदार्थ से नहीं जानेगा, साधनं तु वेद्ये=ज्ञान का साधन मन तो, ज्ञेय अनात्मा में, शक्तं=समर्थ है (ज्ञाता आत्मा में नहीं)

स्वयं अपने आपको जानेगा अर्थात् स्वयं ही ज्ञाता स्वयं ही ज्ञेय बन जायेगा यह बात भी नहीं बन सकती क्योंकि कर्ता और कर्म कदापि एक नहीं होता किन्तु भिन्न-भिन्न ही होता है। अतः आत्मा स्वयं प्रकाश रूप है ॥१७॥

उसी अर्थ में प्रमाण रूप अन्य श्रुतिवाक्यों का अर्थतः पाठ करते हैं—

स वेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ।

विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥१८॥

सः तत्सर्वं वेद्यं वेत्ति=वह आत्मा जो जो ज्ञेय पदार्थ हैं उन सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों को जानती हैं, तस्य वेदिता=उस स्वयं प्रकाशरूप आत्मा का ज्ञाता, अन्यः न अस्ति=दूसरा नहीं है, तत् बोधस्वरूपकम् =वह ज्ञान स्वरूप ब्रह्म, विदिताविदिताभ्यां=विदित अर्थात् जो ज्ञान के द्वारा प्रकाशित हुआ है ऐसे ज्ञातों से तथा अविदित अर्थात् अज्ञान के द्वारा आच्छादित अज्ञातों से, पृथक्=भिन्न है ॥१८॥

विदित और अविदित से अतिरिक्त बोध स्वरूप आत्मा अनुभव में नहीं आती ऐसी आशंका होने पर विदित का विशेषण वेदन ही बोधस्वरूप होने से वेदन के अनुभव न होने पर विदित का भी अनुभव नहीं हो सकता, इसलिये विदित का अनुभव स्वीकार कर लेने पर वेदन का भी अनुभव अवश्य स्वीकार करना होगा इस प्रकार का उत्तर उपहास पूर्वक कहते हैं —

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ।

तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥१९॥

यस्य बोधे अपि = जिस मूढ़ पुरुष को, घटादिक का स्फुरण रूप बोध होने पर भी, अनुभव = साक्षात्कार, कथंचन न जायते = किसी प्रकार से नहीं उत्पन्न होता है, तम् नर समाकृतिम् = उस मनुष्य के समान आकार वाले, लोष्टं = डेले को (अर्थात् मिट्टी के डेले के समान जड़ बुद्धि मनुष्य को), शास्त्रं कथं बोधयेत् = शास्त्र भी कैसे समझायेगा ॥१९॥

बोध का अनुभव नहीं होता ऐसा कथन ही व्याघात दोष से युक्त है इस वार्ता को दृष्टान्त सहित कहते हैं —

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ।

न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥२०॥

मे जिह्वा अस्ति न वा = मेरी जीभ है अथवा नहीं, इति उक्तिः = इस प्रकार का भाषण, यथा केवलं लज्जायै = जैसे केवल लज्जा का ही कारण है, उसी प्रकार, मया बोधः न बुध्यते = मैं बोध को (अनुभव को) नहीं जानता हूँ, बोधव्यः = किन्तु मुझे जानना है (मेरे लिये अनुभव जानने को बाकी है), इति = ऐसा वचन भी, तादृशी = उसी प्रकार लज्जा का हेतु है (बोध के बिना पूर्वोक्त व्यवहार) नहीं बन सकता और व्यवहार का कर्त्ता है इस वास्ते बोध का ज्ञान पूर्व पक्षी को अवश्य हुआ है ऐसा मानना होगा ॥२०॥

इस प्रकार बोध भले ही होवे, तथापि प्रकृत ब्रह्म ज्ञान में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ।
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवं धीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥२१॥

लोके यस्मिन् यस्मिन् बोधः अस्ति=संसार में जिस जिस घटादि विषय का ज्ञान है, तत् तत् उपक्षेगे=तिस तिस घटादिविषय का अनादर करने पर, यद् बोधमात्रं=घटादि सर्व विषयों में अनुगत जो स्फुरण रूप ज्ञान है, तद् ब्रह्म=वही ब्रह्म है, इत्येवं धीः=इस प्रकार की बुद्धि, ब्रह्म निश्चयः=ब्रह्मानुभव है ॥२१॥

घटादि विषयों की उपेक्षा द्वारा तिस तिस घटादि अर्थ के अनुभव रूप ब्रह्म यदि ज्ञात होता होवे, तब फिर से पञ्चकोशों का विवेक निष्प्रयोजन है ऐसी आशंका का उत्तर कहते है, कि ब्रह्म प्रत्यागात्म रूप है इस ज्ञान के बिना संसार की निवृत्ति नहीं हो सकती; इसलिये ब्रह्म की प्रत्यगात्मा रूपता के ज्ञान में उपयोगी होने के कारण पञ्चकोश विवेक व्यर्थ नहीं और अनुभव सिद्ध अन्नमय आदि का त्याग करने पर परिशिष्ट वस्तु शून्य रूप होगी इस आशंका का भी परिहार करते हैं—

पञ्चकोश परित्यागे साक्षि बोधावशेषतः ।
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥२२॥

पञ्चकोश परित्यागे=अन्नमयादि पांच कोशों का परित्याग करने पर (अर्थात् बुद्धि के द्वारा यह पांच कोश अनात्मा हैं इस प्रकार निश्चय करने पर), साक्षि बोधावशेषतः=पंच कोशों के साक्षिरूप बोध अर्थात् चैतन्य के अवशेष रहने के कारण, स एव=वह साक्षिरूप बोध ही, स्वस्वरूपम् स्यात्=निज स्वरूप ब्रह्म ही है, तस्य शून्यत्वम्=उस साक्षिरूप चैतन्य का शून्य रूप होना, दुर्घटम्=असम्भव है (अर्थात् नहीं हो सकता) ॥२२॥

साक्षिरूप बोध का शून्यरूप होना दुर्घट है इसी का उपपादन हेतु के सहित कहते हुए उत्तरार्ध से विपक्ष में बाधक हेतु भी कहते हैं-

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ।
त्वस्मिन्नपि विवादश्चेत् प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥२३॥

स्वयं नाम=स्वयं शब्द का अर्थ अपना ही स्वरूप, तावत् अस्ति=लोक में अथवा वेद में प्रसिद्ध हैं, क्योंकि, विवादाविषयत्वतः =अपना स्वरूप कभी विवाद का (विरुद्ध ज्ञान का) विषय नहीं होता, स्वस्मिन् अपि=अपने स्वरूप में भी, चेत् विवादः=यदि विसंवाद हो तो, अत्र=इस विवाद में, प्रतिवादी कः भवेत्=विपक्षी कौन होगा (अर्थात् कोई नहीं हो सकता) ॥२३॥

अपने स्वरूप का असत्त्वादी ही प्रतिवादी बनेगा ऐसी आशंका करके उत्तर देते है कि अपना असत्त्ववादी तो कोई विद्यमान हो ही नहीं सकता और अविद्यमान हुआ कोई प्रतिवादी बन नहीं सकता और इसमें श्रुति प्रमाण भी कहते हैं

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना।
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥२४॥

विभ्रमं विना=भ्रान्ति के बिना किसी भी दशा में, स्वासत्त्वं तु=अपना अभाव तो, कस्मैचित् न रोचते=किसी के लिये भी रुचिकर नहीं होता अर्थात् कोई भी अंगीकार नहीं करता, अतः एव=इस लिये (जिस लिये अपने स्वरूप का अभाव कोई भी अंगीकार नहीं करता, इसलिये), श्रुतिः च=श्रुति स्वयं भी, असत्त्व वादिनः= अपने आपको शून्य मानने वाले वादी का, बाधं ब्रूते=अभाव को कहती है ॥२४॥

असत्त्ववादी का बाध करने वाली यह श्रुति कौन सी है ऐसी आशंका होने पर उस श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं और फलितार्थ को भी कहते हैं—

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ।
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ॥२५॥

चेत् ब्रह्म असत्=यदि सच्चिदानन्द रूप पर ब्रह्म नहीं है अर्थात् असत् है, इति वेद=इस प्रकार कोई जानता है तो, स्वयम् एवं असत्= ब्रह्म को असत् जानने वाला खुद ही असत् रूप, भवेत्=हो जायेगा (क्योंकि जानने वाले का स्वरूप ब्रह्म ही है), अतः अस्य वेद्यत्वं=

इसलिये ब्रह्म स्वरूप आत्मा की ज्ञेयता, मा भूत्=मत होवे अर्थात् आत्मा घटादिक की न्यांई ज्ञेय नहीं होवे, स्वसत्त्वं तु अभ्युपेयताम्= तथापि आत्मा का अपना अस्तित्त्व तो अंगीकार करना ही चाहिए।

अतः आत्मा असत् नहीं किन्तु सत् है और वह अनुभव का विषय होवे नहीं किन्तु अनुभव अपना स्वरूप ही है ॥२५॥

अब आत्मा के स्वप्रकाशत्व को कहने की इच्छा वाला ग्रन्थ-कार आत्मा का वेद्यत्व न होने पर भी कैसा स्वरूप उसका है इस प्रकार का प्रश्न उठाते हैं और ईदृक् अथवा तादृक् स्वरूप आत्मा का स्वीकार करने पर वेद्यत्व भी अवश्य होगा इसलिये ईदृक् आदि स्व-रूप का अनङ्गीकार करते हुए उभयाभाव को कहते हैं—

कीदृक्तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि।
यदनीदृगतादृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥२६॥

तर्हि=तब तो, कीदृक् इति चेत्=वह आत्मतत्त्व कैसे स्वरूप वाला है, इस प्रकार यदि, पृच्छेत्=पूछता है तो, ईदृक्ता हि तत्र न अस्ति=ईदृक्पना उस आत्मा में नहीं है, यद् अनीदृक् अतादृक् च= जो तत्व इदृक् नहीं है और तादृक् भी नहीं है, तत् स्वरूपं=वहीं अपना स्वरूप है इस प्रकार, विनिश्चिनु=भली भांति निश्चय करो ॥२६॥

अब प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि के लिये ईदृक् और तादृक् शब्द के अर्थ को कथन करते हुए उन शब्दों का वाच्यार्थ आत्मा नहीं है इसका उपपादन करते हैं—

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते।
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥२७॥

अक्षाणांविषयः तु=इन्द्रियों का विषय ही अर्थात् प्रत्यक्ष घटादि हो, ईदृक्=ईदृक् शब्द का वाच्यार्थ है, परोक्षः तादृक् उच्यते =और परोक्ष धर्म, अधर्म आदि अदृष्ट पदार्थ तादृक् शब्द से कहा जाता है, विषयी=द्रष्टा आत्मा तो,अक्षविषयः न=इन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय नहीं (अतः उसको ईदृक नहीं कह सकते). स्वत्वात्=

और अपना ही स्वरूप होने से, अस्य परोक्षता न=यह आत्मा परोक्ष भी नहीं (इस कारण से आत्मा को तादृक् भी नहीं कह सकते)॥२७॥

तब तो आत्मा शून्य होगा इस पक्ष का अपरोक्षत्वेन स्वयं प्रकाशरूप फल प्रदर्शन के व्याज (बहाने) से परिहार करते हैं और आत्मा स्वयं प्रकाश रुप से सिद्ध होने पर भी वह ब्रह्म स्वरुप नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म का लक्षण इसमें घटता नहीं इस आशंका का भी परिहार करने के लिये ब्रह्म के लक्षण को आत्मा में घटाते हैं –

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥२८॥

अयम् अवेद्य अपि=यह आत्मा इन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय न होते हुए भी, अपरोक्षः=सदा अपरोक्ष रुप है, अतः स्वप्रकाशः भवति=इसलिये यह आत्मा स्वयं प्रकाशरूप है, सत्यं ज्ञानं अनन्तं च =सत्स्वरुप ज्ञान स्वरुप और अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न आनन्द स्वरुप ब्रह्म है, इति ब्रह्म लक्षणं=इस श्रुति ने जो ब्रह्म का लक्षण बताया, वह ब्रह्म लक्षण, इह अस्ति=इस आत्मा में, विद्यमान है, इसलिये आत्मा की ब्रह्म रूपता सिद्ध हो सकती है॥२८॥

अब अग्रिम श्लोक में आत्मा की सत्य रूपता के उपपादन के लिये प्रथम सत्य का लक्षण कहते हैं –

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ।
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ॥२९॥

बाध राहित्यं सत्यत्वं=जो बाध रहित तत्त्व है वो ही सत्य है, जगत् बाधैक साक्षिणः=जगत् का (स्थूल सूक्ष्म शरीरादि रूप सम्पूर्ण संसार का) जो बाध (अर्थात् सुषुप्ति मूर्छा समाधि में अविद्यमानता उसका एक मात्र साक्षी) आत्मा का, बाधः=जो अभाव है, किं साक्षिकः ब्रूहि=उसका साक्षी कौन है, कहो (अर्थात् आत्मा के बाध का साक्षी कोई नहीं है, इसलिये आत्मा बाध रहित होने से सत्य है, असाक्षिकः तु=साक्षी से रहित बाध तो, न ईष्यते=नहीं अंगीकार किया जा सकता ॥२९॥

उक्त अर्थ को अब दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं –

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ।
शक्येषु बाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥३०॥

मूर्तेषु=गृह स्थित घटादि पदार्थों को, **अपनीतेषु**=गृह से बाहर निकाल देने पर, **अमूर्तं वियत्**=हटाने अयोग्य क्रिया रहित आकाश, **शिष्यते हि**=अवशिष्ट रह ही जाता है, **शक्येषु**=उसी प्रकार आत्मा से अतिरिक्त मूर्त अथवा अमूर्त निषेध करने को शक्य (निषेध योग्य) देह इन्द्रियादि पदार्थों के, **बाधितेषु**=नेति नेति श्रुति से निषेध कर देने पर, **अन्ते यत्**=अन्त में जो वस्तु अर्थात् अनुभव रूप आत्मा, **शिष्यते**=सर्व निषेध का साक्षिरूप से अवशिष्ट रहता है, **तदेव**=वह ही (आत्मा) वस्तु, **तत्**=बाध रहित अधिष्ठान रूप सत्य आत्मा है ॥३०॥

प्रतीयमाण सर्व वस्तु का निषेध कर देने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है अतः अवशिष्ट पदार्थ की आत्म रूपता किसे कहते है, इस प्रकार की आशंका करते हैं 'चेत्' तक ग्रन्थ से और 'यन्न' इत्यादि ग्रन्थ से उसका परिहार करते हैं –

सर्वबाधे न किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ।
भाषा एवात्र भिद्यन्ते निर्बाधं तावदस्ति हि ॥३१॥

सर्व बाधे=सब का निषेध कर देने पर भी अवशिष्ट, **न किंचित्**=कुछ नहीं रहता, **चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **यत् न किंचित्**=जो कुछ नहीं अर्थात् न किंचित् शब्द से जो चैतन्य कहा जाता है, **तदेव**=वो ही, **तत्**=ब्रह्म है (अभिप्राय यह है कि कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है इस प्रकार कहने के लिये सबके अभाव को विषय करने वाला ज्ञान अर्थात् चैतन्य अवश्य स्वीकार करना होगा, इस वास्ते न किंचित् शब्द से ज्ञान रूप चैतन्य साक्षिरूप से कहा गया), **अत्र भाषा एव**=सर्व बाध का साक्षिरूप प्रत्यग् आत्मा में शब्द ही, **भिद्यन्ते**=भिन्न भिन्न है (अर्थात् न किंचित् शब्द अथवा साक्षी शब्द इत्यादि शब्दों का ही भेद है, अर्थ चैतन्य का भेद नहीं, इस वास्ते), **निर्बाधं तावत्**=बाध रहित साक्षी चैतन्य तो, **अस्ति हि**=विद्यमान है ही ॥३१॥

उक्त अर्थ को श्रुति प्रमाण से दृढ़ करते हैं—

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः ।
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥३२॥

अतः एव=इसलिये (जिस कारण से साक्षी चैतन्य बाध रहित है इसलिये), स एष न इति न इति आत्मा=वह (श्रुति प्रसिद्ध) यह (प्रत्यक्ष सिद्ध) आत्मा आरोपित अनात्मा के निषेध अर्थात् यह आत्मा नहीं इस प्रकार बाध द्वारा अधिष्ठान रूप से स्थित है, इति श्रुतिः=यह श्रुति वचन, अतद्व्यावृत्तिरूपतः=अनात्मा पदार्थ का निराकरण द्वारा, बाध्यं बाधित्वा=निषेध योग्य सम्पूर्ण अनात्म वस्तु का बाध करके (अर्थात् निषेध करके), अदः=निषेध करने को अशक्य प्रत्यग् स्वरूप आत्मा को, शेषयति=अवशेष रखती हैं ॥३२॥

पूर्व श्लोक में नेति नेति इत्यादि श्रुति निषेध करने योग्य पदार्थों का निषेध करके जिसका निषेध नहीं हो सकता, ऐसी आत्मा वस्तु को अवशेष रखती है यह कहा गया, उनमें बाध अर्थात् निषेध करने को शक्य किस प्रकार की वस्तु है इस वार्ता को कहने की इच्छा उत्पन्न होने पर उन दोनों पदार्थों को विभाग करके दिखाते हैं—

इदंरूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ।
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाध वर्जितः ॥३३॥

इदं रूपं तु=दृश्य रूप से अनुभव का विषय होने वाले स्वरूप जिसका ऐसे देह आदि रूप, यद् यावद् तत् अखिलम्=जो भी कुछ और जितनी भी कुछ अनात्म वस्तु है, वे सब, त्यक्तुं शक्यते=त्यागने को शक्य हैं, अनिदं रूपः=प्रत्यक् स्वरूप होने से इदं रूप करके जानने अयोग्य साक्षी चैतन्य, अशक्यः=त्यागने को शक्य नहीं, हि=क्योंकि त्याग करने वाले का स्वरूप होने से साक्षी का त्याग असम्भव है, बाध वर्जितः स आत्मा=जो बाध रहित साक्षी है, वही आत्मा है ॥३३॥

आत्मा अबाध्य भले ही हो, प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आशंका का उत्तर देते हुए ब्रह्म की ज्ञान रूपता कैसे सिद्ध हुई इस आकांक्षा की भी निवृत्ति करते हैं—

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ।

स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥३४॥

ब्रह्मणि सत्यत्वं=ब्रह्म के लक्षण में, जो सत्यत्व कहा गया है, **सिद्धं**=वह सत्यत्व आत्मा में सिद्ध हुआ, **ज्ञानत्वंतु पुरा**=और ज्ञान स्वरूपता तो, पहले (तेरहवें श्लोक में), **स्वयम् एव अनु भूतित्वात्**= स्वयम् एव अनुभूतित्वात्, **इत्यादि वचनैः**=इत्यादि वचनों के द्वारा, **स्फुटम् ईरितम्**=स्पष्ट ही कहा गया है ॥३४॥

सत्यत्व और ज्ञानत्व आत्मा में सिद्ध होने पर भी अनन्तता आत्मा में नहीं घट सकती, क्योंकि ब्रह्म में भी अनन्तता असिद्ध है ऐसी आशंका करके ब्रह्म में पहले अनन्तता को सिद्ध करते हैं—

न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः ।

न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥३५॥

व्यापित्वात् देशतः अन्तः न=सर्व व्यापक होने से, देशकृत परिच्छेद भी ब्रह्म में नहीं है, **नित्यत्वात् कालतः अपि न**=और नित्य होने से, कालकृत् परिच्छेद भी ब्रह्म में नहीं है, **सार्वात्म्यात्**=सर्वात्मक होने से, **वस्तुतः अपि न**=वस्तु कृत परिच्छेद भी ब्रह्म का नहीं है, **ब्रह्मणि त्रिधा**=इस प्रकार ब्रह्म में तीनों प्रकार का, **आनन्त्यं**= देश-काल-वस्तु-परिच्छेद से राहित्य स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्म का व्यापित्व, नित्यंत्व सर्वात्मत्व का प्रतिपादन निम्नलिखित श्रुतियों में किया गया है, इस लिये ग्रन्थकार ने व्यापित्व आदि को सिद्ध मानकर उनका पृथक् प्रतिपादन नहीं किया, वे श्रुतियां इस प्रकार हैं 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं' 'आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यः' नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानां 'इदं सर्वं यदयमात्मा' "सर्वं हि एतद् ब्रह्म' 'ब्रह्म वेदं सर्वम्" इत्यादि ॥३५॥

केवल श्रुति से ही ब्रह्म की अनन्तता सिद्ध नहीं है किन्तु युक्ति से भी है इस वार्ता को कहते हैं

देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया ।

न देशादिकृतोऽन्तोऽस्ति ब्रह्मानन्त्यं स्फुटं ततः ॥३६॥

देशकालान्य वस्तूनां=परिच्छेद का हेतु देशकाल तथा अन्य अनात्म सब वस्तु, मायया कल्पितत्वात् च=माया के द्वारा ब्रह्म में कल्पित होने से, देशादि कृतः=(जैसे गन्धर्व नगर आदि से आकाश का परिच्छेद नहीं हो सकता उसी प्रकार) कल्पित देश काल आदि का किया हुआ, अन्तः न अस्ति=परिच्छेद ब्रह्म का नहीं हो सकता, ततः=इसलिये (जिस लिये 'आत्मा ब्रह्म' 'ब्रह्म आत्मैव' 'अयम् आत्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों ने ब्रह्म और आत्मा का अभेद प्रतिपादन किया है, इसलिये), ब्रह्मानन्त्यम्=ब्रह्म की अनन्तता अर्थात् परिच्छेद-राहित्य, स्फुटम्=आत्मा में भी स्पष्ट ही हैं ॥३६॥

इस प्रकार शंका करते हैं कि जड़ जगत् ब्रह्म में आरोपित होने के कारण वह जगत् ब्रह्म का परिच्छेद यद्यपि नहीं बन सकता, तथापि चेतन जो जीव और ईश्वर वे आरोपित न होने के कारण उनके द्वारा किया हुआ परिच्छेद वाला ब्रह्म हो सकता है, इस कारण से ब्रह्म की अनन्तता असिद्ध है। इस आशंका का समाधान जीव और ईश्वर का स्वरूप उपाधिकृत होने से पारमार्थिक नहीं हैं; अतः परिच्छेद का हेतु वे दोनों नहीं बन सकते इस अभिप्राय से कहते हैं –

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ॥३७॥

यत् सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म=जो सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म है, तद् वस्तु=वही पारमार्थिक है, तस्य=उस ब्रह्म का (जो लोक प्रसिद्ध ईश्वर भाव और जीव भाव है), तत् ईश्वरत्वम् च जीवत्वम्=उसका ईश्वर भाव और जीव भाव, उपाधि द्वय कल्पितम्=आगे श्लोक में कहीं जाने वाली दो उपाधियों से कल्पित है (इस लिये कल्पित होने के कारण जड़ जगत् की न्यांई जीव और ईश्वर भी ब्रह्म का परिच्छेदक नहीं बन सकते ॥३७॥

वे दोनों उपाधि कौन २ हैं ऐसी आकांक्षा होने पर दोनों उपाधियों को क्रम से दिखाने की इच्छा वाले ग्रन्थकार पहले ईश्वर की उपाधि रूप शक्ति का निरूपण करते हैं—

शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तुनियामिका ।

आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥३८॥

ऐश्वरी=(ईश्वर की उपाधि होने से) ईश्वर सम्बन्धिनी, **काचित्**=अनिर्वचनीय कोई, **सर्व वस्तु नियामिका**=सम्पूर्ण पृथ्वी आदि वस्तुओं का नियमन करने वाली, **शक्तिः अस्ति**=माया शक्ति है, **आनन्दमयं आरभ्य**=आनन्द मय से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त, **सर्वेषु वस्तुषु**=सभी वस्तुओं में अर्थात् संसार में, **गूढा**=वह शक्ति छुपी हुई विद्यमान है (इसलिये स्पष्ट प्रतीत नहीं होती) ॥३८॥

नियम से अनुपलभ्यमान उस शक्ति का असत्व क्यों नहीं मान लिया जाये ऐसी आकांक्षा होने पर जगत् के नियमन की अन्यथा अनुपपत्ति से वह शक्ति अवश्य अंगीकार करने योग्य है इस प्रकार का उत्तर कहते हैं—

वस्तुधर्मा नियम्येरञ्शक्त्या नैव यदा तदा ।

अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत् खलु ॥३९॥

वस्तु धर्माः=पृथ्वी जल आदि वस्तुओं के कठिनता द्रवता (पिघल जाना) आदि धर्म, **यदा शक्त्या**=जब पूर्वोक्त माया शक्ति के द्वारा, **न एव नियम्येरन्**=नहीं व्यवस्थित होंगे, **तदा अन्योन्य धर्म सांकर्यात्**=तब उन धर्मों के परस्पर मिलाबट के कारण एकत्र स्थित होने से, **जगत्**=यह संसार, **विप्लवेत**=अनियत व्यवहार का विषय हो जायेगा अर्थात् कोई व्यवस्था नहीं बनेगी, **खलु**=यह बात प्रसिद्ध ही हैं ॥३९॥

जड़ होने से यह माया शक्ति जगत् की नियामिका नहीं बन सकती ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं और उत्तरार्ध से फलितार्थ को कहते हैं—

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ।

तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥४०॥

सा शक्तिः=वह माया शक्ति, **चिच्छायावेशतः**=चैतन्य के आभास का प्रवेश अर्थात् ग्रहण करने से, **चेतना एव विभाति**=चेतन

जैसी प्रतीत होती है (इसलिये माया शक्ति नियामक बन सकती है), तच्छक्त्युपाधिसंयोगात्=और उस माया शक्ति रूप उपाधि के सम्बन्ध से, ब्रह्म एव ईश्वरताम्=सत्य ज्ञान आदि रूप ब्रह्म ही सर्वज्ञत्व आदि धर्म युक्त ईश्वर भाव को, व्रजेत्=प्राप्त होता है ॥४०॥

जीव भाव की उपाधि रूप जो पांच कोश हैं, उनका कथन पहले ही किया गया, इसलिये कोश रूप उपाधि के निमित्त से जीव भाव को अब कहते हैं और एक ही वस्तु एक ही काल में विरुद्ध दो धर्मों से सम्बन्ध वाली लोक में कहीं पर भी दृष्ट नहीं होती, ऐसी आशंका का समाधान उत्तरार्ध से दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं—

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ।
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥४१॥

कोशोपाधिविवक्षायां=पूर्वोक्त कोश रूप उपाधि की पर्यालोचना करने पर (विचार करके ध्यान में ले आने पर), ब्रह्म एव जीवताम् याति=यह सत्य ज्ञान आदि स्वरूप ब्रह्म ही, जीव व्यवहार की विषयता को प्राप्त होता है (अर्थात् जीव कहा जाता है), यथा एकः=जैसे एक ही देवदत्त नामक पुरुष एक ही काल में, पुत्रपौत्रौ-प्रति=पुत्र और पौत्र की दृष्टि से, पिता पितामहश्च=पिता और पितामह अर्थात् दादा होता है।

(इसी प्रकार ब्रह्म भी कोश रूप उपाधि की दृष्टि से जीव नाम से कहा जाता है) ॥४१॥

वस्तुतस्तु (उपाधि दृष्टि निरपेक्षतया) जीवत्व अथवा ईश्वरत्व ब्रह्म का है ही नहीं इस वार्ता को दृष्टान्त सहित कहते हैं—

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ।
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाऽविवक्षणे ॥४२॥

पुत्रादेः अविवक्षायां=पुत्र पौत्रादि की विवक्षा अर्थात् अपेक्षा न करने पर वह देवदत्त नाम का पुरुष, न पिता न पितामहः=न किसी का पिता है और न ही किसी का पितामह ही है, किन्तु शुद्ध देवदत्त ही है, तद्वत्=उसी प्रकार, शक्तिकोशाविवक्षणे=ईश्वर की

उपाधि माया शक्ति, जीव की उपाधि पंचकोश इन दोनों उपाधियों की विवक्षा न करने पर, न ईशः=न ईश्वर है, नापि जीवः=और न जीव ही है, किन्तु एक अद्वितीय सच्चिदानन्द रूप ब्रह्माभिन्न प्रत्यग् आत्मा ही हैं ॥४२॥

अब उक्त ज्ञान का फल सप्रयोजन कहते हैं—

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ।
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥४३॥

यः=जो साधन चतुष्टय सम्पन्न अधिकारी, एवं=उक्त प्रकार से पंचकोशों का विवेक पूर्वक, ब्रह्म=प्रत्यग् आत्मा से अभिन्न सत्य ज्ञान आदि रूप ब्रह्म को, वेद=साक्षात्कार कर लेता है, एष=यह ब्रह्मसाक्षात्कारवान् ब्रह्मवेत्ता, स्वयं ब्रह्म एव भवति=खुद ब्रह्म ही हो जाता है, ब्रह्मणः जन्म न अस्ति=ब्रह्म का जन्म नहीं है, अतः=इसलिये, एष पुनः=यह ब्रह्मवेत्ता भी अपनी आत्मा को ब्रह्मरूप जानने के कारण फिर, न जायते=नहीं जन्म ग्रहण करता ।

इस अर्थ को कहने वाली श्रुतियां इस प्रकार है 'स यो ह वै तत्परं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' 'न स पुनरावर्तते' इत्यादि ॥४३॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि विरचित पञ्चदश्यां पंञ्चकोशविवेकाख्यतृतीय प्रकरणस्य राष्ट्र भाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिस्वतन्त्रानन्द गिरि जी महाराजकथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ चतुर्थं द्वैत विवेक प्रकरणम्

—❀—

नत्वा श्री भारती तीर्थं विद्यारण्य मुनीश्वरौ ।
मया द्वैतविवेकस्य क्रियते पदयोजना ॥१॥

चिकीर्षित ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये तत्त्वानुस्मरण रूप मंगल का आचरण करते हुये ग्रन्थारम्भकी प्रतिज्ञा पूर्वार्ध से करते हैं और उत्तरार्ध से इस द्वैत विवेचन की काक दन्त परीक्षा की न्यांई निष्प्रयोजनता का निवारण भी करते हैं—

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ।
विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटी भवेत् ॥१॥

ईश्वरेण=माया उपाधि धारी अन्तर्यामी ईश्वर के द्वारा, जीवेन अपि=तथा अन्तः कारण उपाधि वाले जीव के द्वारा भी, सृष्टं=उत्पन्न किया हुआ, द्वैतं विविच्यते=जगत् अलग-अलग दिखाया जाता है, विवेके सति=जीव सृष्ट और ईश्वर सृष्ट द्वैत का विवेचन कर लेने पर, जीवेन हेयः=जीव के द्वारा परित्याग करने योग्य बन्धः=बन्धन का हेतु द्वैत जगत्, स्फुटी भवेत्=स्पष्ट हो जायेगा, अर्थात् जीव के द्वारा त्यागने योग्य द्वैत का निश्चय हो जायेगा ॥१॥

शुभाशुभ कर्म के द्वारा जीव ही जगत् का हेतु हैं इस प्रकार वादी लोग कहते हैं इस लिये ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि आप ने कैसे कही, ऐसी आशंका करके बहुत श्रुतियों के विरोध से इस प्रकार का प्रश्न उठाने योग्य ही नहीं है इस अभिप्राय से श्वेताश्वतर उपनिषद् के वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतर शाखिनः ॥२॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यात्=माया को जगत् का उपादान कारण जानना, मायिनं तु महेश्वरम्=और मायाधीश को तो ईश्वर जानना, स मायी सृजति=वह मायाधीश परमेश्वर जगत् को रचते हैं, इति श्वेताश्वतरशाखिनः=इस प्रकार श्वेताश्वतर शाखा के अध्ययन करने वालों ने, आहुः=कहा है ॥२॥

ईश्वर रचित सृष्टि में ऐतरेय उपनिषद् के वाक्य का भी अर्थतः पाठ करते हैं—

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ।
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ॥३॥

इदं अग्रे आत्मा वै अभूत्=यह जगत् सृष्टि से पहले आत्मारूप ही था अर्थात्, परमात्म रूपही था, सःईक्षत=इस परमात्मा ने ईक्षण रूप संकल्प किया कि, सृजै=मैं सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करूं, इति=इस प्रकार, सःएतान् लोकान्=उस परमात्मा ने इन चतुर्दश लोकों की, संकल्पेन असृजत्=संकल्प द्वारा रचना की, इति बह्वृचाः=ऐसा ऋग्वेद के ऐतरेय शाखा का अध्ययन करने वालों ने कहा है ॥३॥

ईश्वर जगत् का कारण है इस विषय में तैत्तिरीय श्रुति भी प्रमाण है, इस अभिप्राय से उस श्रुति के वाक्य का अर्थतः पाठ दो श्लोकों से करते हैं

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ।
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥४॥
बहु स्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ।
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥५॥

तस्मात् एतस्मात्=उस श्रुति प्रसिद्ध अपरोक्ष रूप इस, आत्मनः ब्रह्मणः=आत्मा से अभिन्न ब्रह्म अर्थात् परमात्मा से, अमि खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः=ये, आकाश, वायु, अग्नि, जल पृथ्वी, औषधि (वृक्षादि) अन्न और देह, अखिलाःक्रमात् संभूता=सम्पूर्ण पदार्थ

क्रम से उत्पन्न हुए अहम् एव बहुस्याम् अतःप्रजायेय=मैं ही बहुत हो जाऊं इसलिए उत्पन्न हो जाऊं, इति कामतः=इस प्रकार इच्छा से, तपस्तप्त्वा=तप अर्थात् सृष्टि की पर्यालोचना करके (ज्ञान रूप तप करके) उस परमात्मा ने, सर्वं जगत् असृजत्=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न किया, इति तित्तिरिःआह=इस प्रकार तैत्तिरीय शाखा वालों ने कहा है ॥४,५॥

छान्दोग्य उपनिषद् में भी ब्रह्म का ही जगत् कर्तृत्व सुना गया इस वार्ता को अब कहते हैं—

इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ।

तेजोऽबन्नाण्डजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥६॥

इदं अग्रे= यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में, सत् एव आसीत्=एक अद्वितीय सद् रूप ब्रह्म ही था, तत् बहुत्वाय= उस ब्रह्म ने बहुत रूप होने के लिये, ऐक्षत=ईक्षण रूप संकल्प किया, तेजोऽबन्नाण्डजादिनि=और ईक्षण के अनन्तर तेज, जल, अन्न, अर्थात् पृथ्वी तथा अण्डज आदि चार प्रकार के शरीरों को,ससर्ज= उत्पन्न किया, इति च=इस प्रकार, सामगाः=साम वेद के अध्ययन करने वालों ने (छान्दोग्य उपनिषद् में) कहा है ॥६॥

मुण्डक उपनिषद् में भी अक्षर शब्द का वाच्य ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति सुनी गई है इस वार्ता को कहते हैं—

विस्फुलिङ्गा यथा वह्नेर्जायन्तेऽक्षरतस्तथा ।

विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिकी श्रुतिः ॥७॥

यथा वह्नेः=जैसे अग्नि से, विस्फुलिङ्गा जायन्ते=चिनगारियां निकलती हैं, तथा अक्षरतः=उसी तरह अक्षर परमात्म से, विविधाःचिज्जडाः= अनेक प्रकार के चेतन और जड़, भावाः इति=पदार्थ उत्पन्न होते हैं इस प्रकार, आथर्वणिकी श्रुतिः= अथर्ववेद की मुण्डक उपनिषत् रूप श्रुति कहती है ॥७॥

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में भी अव्याकृत शब्द के वाच्यार्थ ब्रह्म से नाम रूपत्मक जगत् उत्पन्न हुआ इस प्रकार सुना

गया इस वार्ता को अब दो श्लोकों से कहते हैं—

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना ।

दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यांविराडादिषु ते स्फुटे ॥८॥

विराण्मनु र्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ।

पिपीलिकावधि द्वन्द्वमिति वाजसनेयिनः ॥९॥

जगत् पूर्वं = यह प्रपंच सृष्टि से पहले, अव्याकृतम् आसीत् = अव्याकृत का वाच्य ईशवर रूप ही था, अधुना = अब सृष्टि काल में, दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां = दृश्य नाम रूप के आकार से, व्याक्रियत = वह प्रगट हुआ, ते = वे नाम रूप, विराडादिषु स्फुटे = विराट् आदि स्थूल कार्यों में स्पष्ट ही है, विराट् = वैश्वानर (समष्टि स्थूल शरीर अभिमानी), मनुः = विराट् पुत्र मनु, नराः गावः = मनुष्य, गौएं, खराश्वाजावयः = गदहे, घोड़े, बकरी, भेड़, तथा पिपीलिका वधि = और चींटी तक, द्वन्द्वम् = स्त्री पुरुषों के जोड़े ईश्वर ने उत्पन्न किये, इति वाजसनेयिनः = इस प्रकार वाजसनेयि शाखा वालों ने कहा है ८,९॥

उदाहृत श्रुतियों से द्वैत सृष्टि कहने के अनन्तर ब्रह्म का जीव रूप से द्वैत शरीरादियों में प्रवेश भी श्रुति ने ही कहा है, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

कृत्वा रूपान्तरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ।

इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥१०॥

ईश्वरः जैवं = मायोपाधिक ईश्वर जीव सम्बन्धी अर्थात् जीव नाम वाले, रूपान्तरं कृत्वा = अविक्रिय ब्रह्म से विलक्षण विकारी स्वरूप बनकर, देहे प्राविशत् = सम्पूर्ण देहे में प्रविष्ट हुए, इति ताः श्रुतयः प्राहुः = इस प्रकार वे श्रुतियां कहती है, प्राणधारणात् = प्राणों को धारण करने से अर्थात् प्रेरक होने से, जीवत्वं = उस परमात्मा का जीव भाव अर्थात् जीव नाम हुआ ॥१०॥

वह जीव का स्वरूप क्या है ऐसी आकांक्षा होने पर जीव का वरूप कथन करते हैं—

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिङ्गदेहश्चयः पुनः ।
चिच्छाया लिङ्गदेहस्था तत्सङ्घो जीव उच्यते ॥११॥

यत् अधिष्ठानं चैतन्यं=जो कल्पित लिङ्गदेह का आधार रूप चैतन्य है, **यः च लिङ्गदेहः**=और जो सूक्ष्म शरीर है, **पुन लिङ्गदेहस्था चिच्छाया**=और जो सूक्ष्म शरीर में वर्तमान चिदाभास है, **तत्संघः जीव उच्यते**=उन तीनों के समूह को जीव कहते हैं ॥११॥

ईश्वर ही यदि जीव रूप से प्रविष्ट हुए तो, उस ईश्वर से अभिन्न जीव का अज्ञत्व, दुःखित्व आदि विरुद्ध धर्म कैसे बनेगा ऐसी आशंका उठाकर उत्तर कहते हैं

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ।
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥१२॥

माहेश्वरी तु=महेश्वर सम्बन्धी (महेश्वर की), **या माया**=जो माया श्रुतियों में कही गई है, **तस्याः**=उस माया का, **निर्माण शक्तिवत्**=जगत् के उत्पादन करने के सामर्थ्य की न्यांई अर्थात् माया में, जैसे जगत् को उत्पन्न करने की शक्ति है उसी प्रकार, **मोहशक्तिः च विद्यते**=मोहन करने का सामर्थ्य भी है, **असौ तं जीवं**=वह मोहन शक्ति पूर्वोक्त जीव को, **मोहयति**=मोहित करती है अर्थात् चिदानन्दादि स्वरूप ज्ञान से रहित कर देती है, इसलिए जीव में परमात्मा से विरुद्ध अज्ञत्व, दुःखित्व आदि धर्म की प्रतीति हो सकती है ॥१२॥

स्वरूप ज्ञान से रहित होने पर भी आगे क्या फल हुआ ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं, और उत्तरार्ध से जीव सृष्टि का पार्थक्य ज्ञान के लिये ईश्वर सृष्ट पदार्थ का उपसंहार करते हैं—

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ।
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥१३॥

मोहात्=पूर्वोक्त मोह से, अनीशतां=इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करने की सामर्थ्याभाव को, प्राप्य=प्राप्त होकर, वपुषिमग्नः=शरीर में मिथ्या तादात्म्य का अभिमान करता हुआ वह जीव, शोचति=मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ इत्यादि अभिमान करने लगता है, ईश सृष्टं=ईश्वर का बनाया हुआ, इदं सर्वं द्वैतं=यह सब द्वैत जगत्, समासतः उक्तं=संक्षेप से कहा गया है ॥१३॥

जीव द्वैत पदार्थ का स्रष्टा है, इसमें क्या प्रमाण है ऐसी आशंका का उत्तर पूर्वार्द्ध से कहते हैं, और उत्तरार्द्ध से द्वैत सृष्टि प्रतिपादक श्रुति वाक्य का संक्षेप से अर्थ कहते हैं –

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपञ्चितम् ।
अन्नानि सप्त ज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ॥१४॥

सप्तान्नब्राह्मणे=बृहदारण्यक उपनिषद् के सप्तान्न नामक ब्राह्मण में, जीव सृष्टं द्वैतं=जीव के द्वारा उत्पन्न किया हुआ द्वैत जगत्, प्रपञ्चितम्=विस्तार से कहा गया है, पिता=(अपने अदृष्ट द्वारा जगत् का उत्पादन करने से) सर्व लोक पालक जीव, ज्ञानेन कर्मणा=ध्यान अथवा चिंतन रूप ज्ञान द्वारा, तथा यज्ञादिरूप कर्म के द्वारा, सप्तअन्नानि अजनयत्=सात अन्नों को उत्पन्न किया ॥१४॥

सात अन्नों की रचना किस लिये है, ऐसी आशंका होने पर उन अन्नों की श्रुति वाक्योक्त विनियोग को दिखाते हैं--

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम् ।
अन्यत्त्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ॥१५॥

मर्त्यान्नम्=मर्त्यलोक अर्थात् मनुष्य लोक का साधारण अन्न, एकम्=एक व्रीहि जवादिक है, देवान्ने=और देवताओं के लिये अन्न, द्वे=दर्शपूर्णमासयाग रूप दो हैं, पश्वन्नं चतुर्थकं=और पशुओं के अन्न क्षीर, अर्थात् दूध चौथा अन्न है, अन्यत् त्रितयम्=इनसे भिन्न तीन प्रकार का अन्न मन् वाक् और प्राण, आत्मार्थं=आत्मा के लिये हैं (जीव के लिये है), अन्नानाम्=इस प्रकार अन्नों का, विनियोजनम्=विनियोग अर्थात् उपयोग जानना ॥१५॥

उन सप्त अन्न का भी श्रुति मन्त्रों ने ही प्रदर्शन किया इस वार्ता को अब कहते हैं —

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ।
वाक्प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ॥१६॥

व्रीह्यादिकं=व्रीहि जव आदिक एक (मर्त्यान्न है), **दर्शपूर्णमासौ**=दर्श और पूर्णमास याग यह दो (देवतान्न है), **क्षीरं**=दूध (यह पशुओं का अन्न चौथा है), **तथा**=और, **मनः वाक् प्राणः च**=मन वाणी और प्राण ये तीनों अन्न आत्मा के अपने हैं, **इति अन्नानाम् सप्तत्वम् अवगम्यताम्**=इस प्रकार अन्नों की सात संख्या जाननी चाहिये ॥१६॥

यह कहे हुए सात अन्न जगत् के अन्तर्गत होने से ईश्वर निर्मित है, इसलिये इनका जीव निर्मित कहना अयुक्त है, ऐसी आशंका करके सप्तान्नों का स्वरूप ईश्वर निर्मित होने पर भी उनका भोग्यत्व आकार जीव निर्मित होने के कारण उनको जीव निर्मित कहना अयुक्त नहीं, इस प्रकार का उत्तर कहते हैं —

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ।
तथापि ज्ञानकर्माभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ॥१७॥

यद्यपि एतानि ईशेन=यद्यपि ये सातों अन्न ईश्वर के द्वारा, **स्वरूपतः**=स्वरूप से, **निर्मितानि**=बनाए हुए हैं, (इसलिये ईश्वर निर्मित कहना चाहिये), **तथापि जीवः**=फिर भी जीव ने ही, **ज्ञानकर्माभ्यां**=ज्ञान और कर्म के द्वारा (विहित अथवा निषिद्ध ध्यान और कर्मों के द्वारा), **तदन्नताम्**=उन व्रीहि आदि अन्नों को अपने भोग का उपकरण (साधन), **अकार्षीत्**=बनाया है, इसलिये भोग्यत्व संपादन के कर्ता होने से ये सातों अन्न जीव निर्मित कहे जाते हैं ॥१७॥

सतरहवें श्लोक में कही हुई बात किस अभिप्राय से है ऐसी आकांक्षा होने पर अभिप्रेत अर्थ को कहते हुए, एक के उभय सम्बन्ध

में अर्थात् एक ही अर्थ कर्तृत्व तथा भोग्यत्व दोनों से सम्बन्ध में दृष्टान्त भी कहते हैं—

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्द्वाभ्यां समन्वितम् ।
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥१८॥

जगत् = (व्रीहि आदि अन्नरूप से कहा गया) सम्पूर्ण जगत्, **ईशकार्यं** = ईश्वर का कार्य होने से, **जीवभोग्यं** = और जीव का भोग्य होने से, **द्वाभ्यां** = कार्यत्व और भोग्यत्व से, **समन्वितम्** = युक्त है, **यथा योषित्** = जैसे एक ही स्त्री शरीर, **पितृजन्या** = पिता से उत्पन्न होने वाला कार्य है, **भर्तृभोग्या** = और पति का भोग्य है, इस प्रकार कार्यत्व और भोग्यत्व दोनों से युक्त है, **तथा** = उसी प्रकार यहां भी, **इष्यताम्** = जानो, अर्थात् व्रीहि आदि रूप एक ही जगत् ईश्वर का कार्य और जीव का भोग्य दोनों प्रकार का बन सकता है ॥१८॥

ईश्वर और जीव दोनों के द्वारा जगत् की सृष्टि में क्या साधन है, ऐसी आकांक्षा का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ।
मनोवृत्त्यात्मको जीवसङ्कल्पो भोगसाधनम् ॥१९॥

मायावृत्त्यात्मकः ही ईशसङ्कल्पः = माया का परिणाम रूप ही ईश्वर का संकल्प, **जनौ साधनं** = कार्य जगत् की उत्पत्ति में साधन है, **मनोवृत्त्यात्मकः जीवसङ्कल्पः** = और मन का परिणाम रूप जीव का सङ्कल्प ही, **भोग साधनं** = भोग का साधन है ।

तात्पर्य यह है कि जगत् में कार्यत्व सम्पादन का हेतु ईश्वर की उपाधि माया का परिणाम रूप सङ्कल्प ही है, और जगत् में भोग्यत्व संपादन का हेतु जीव की उपाधि अन्तःकरण का परिणाम रूप संकल्प है ॥१९॥

ईश्वर सृष्ट वस्तु स्वरूप से अतिरिक्त भोग्यत्व आकार ही नहीं है, तो जीव किसकी सृष्टि करता है, ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं—

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ।
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ॥२०॥

ईशनिर्मितमण्यादौ=ईश्वर की बनाई हुई मणि आदि, **वस्तुनि एकविधे**=वस्तु एक ही प्रकार से, **स्थिते**=स्थित होने पर भी, **भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्**=भोक्ता जीव की बुद्धिवृत्ति की अनेकता के कारण, **तद्भोग बहुधा**=उनका भोग नाना प्रकार का, **ईष्यते**=सम्मत है, अर्थात् उपलब्ध होता है ।

(वह भिन्न भिन्न नाना प्रकार के भोग भोग्य वस्तु में नाना भोग्यत्वाकार के बिना नहीं बन सकते, इसलिये वस्तु में भोग्यत्व का आकार जीवसृष्ट सिद्ध होता है) ॥२०॥

भोग का भेद होने पर भोग्य के भेद की कल्पना हो सकती हैं, परन्तु जीव का नाना प्रकार भोग ही नहीं है, अतः भोग्य का भेद नहीं सिद्ध होगा ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि जीव का नाना प्रकार भोग देखने में आता है, इस वास्ते उक्त शंका नहीं बन सकती—

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ।
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥२१॥

एकः मणिं लब्ध्वा हृष्यति=मणि का अर्थी एक मनुष्य तो मणि को प्राप्त करके हर्षित होता है, **अन्यः हि अलाभतः**=दूसरा मण्यार्थी पुरुष तो मणि की अप्राप्ति से, **क्रुध्यति**=क्रोधित होता है, **अत्र**=इस मणि में, **विरक्तः**=उदासीन वैराग्यवान् मनुष्य, **पश्यति एव**=मणि को केवल देखता ही है, **न हृष्यति**=न हर्ष को, **न कुप्यति**=न क्रोध को प्राप्त होता है ॥२१॥

भोग के भेद से सम्बद्ध (कल्पनीय) भोग्यत्व के आकार के भेद कौन-कौन से हैं ऐसी आकांक्षा का उत्तर देते हैं—

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ।
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥२२॥

मणिगाः प्रियः अप्रियः उपेक्ष्यः च=मणि में स्थित प्रियत्व

अप्रियत्व और उपेक्ष्यत्व रूप, इति त्रयः आकाराः जीवैः सृष्टाः = इस प्रकार तीनों आकार जीव के द्वारा उत्पन्न किये हुए हैं, त्रिषु साधारणं रूपं = उन तीनों आकारों में अनुगत जो मणि का स्वरूप है वह, ईश-सृष्टं = ईश्वर द्वारा निर्मित है ॥२२॥

पूर्व श्लोक में उक्त जीवसृष्ट आकारभेद को दूसरे उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

भार्या स्नुषा ननान्दा च माता मातेत्यनेकधा ।
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ॥२३॥

योषित् = एक ही स्त्री, प्रतियोगिधिया = पति श्वसुर आदिरूप प्रतियोगियों की बुद्धि से अर्थात् अपेक्षा से, भार्या स्नुषा ननान्दा च माता माता इति = पत्नी, पुत्रवधू, ननद और देवरानी, मां इस प्रकार अनेकधा भिद्यते = अनेक प्रकार से भेद वाली होती है, स्वरूपतः न = स्वभाव से वह स्त्री भिन्न नहीं, यहां भार्यात्व आदि भोग्यत्व आकार जीवसृष्ट होने से नाना है और सब में अनुगत एक स्त्री शरीर ईश्वर सृष्ट है ॥२३॥

स्त्री शरीर विषयक यह भार्या, स्नुषा है, इत्यादि ज्ञान ही भिन्न भिन्न उपलब्ध होते हैं, परन्तु उन ज्ञानों का विषय स्त्री शरीर का भेद नहीं देखने में आता है, अतः प्रतियोगी की अपेक्षा से स्त्री शरीर भिन्न भिन्न है यह जो आपने कहा वह युक्तियुक्त नहीं इस प्रकार आशंका करते हैं –

ननु ज्ञानानि भिद्यन्तामाकारस्तु न भिद्यते ।
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥२४॥

ननु = पूर्वपक्षी शंका करते हैं कि, ज्ञानानि भिद्यन्ताम् = यह भार्या है, यह पुत्रवधू है, इत्यादि ज्ञान ही भिन्न भिन्न प्रतीत होता है आकारः तु = जीव निर्मित आकार तो, न भिद्यते = भिन्न भिन्न नहीं देखा जाता है क्योंकि, योषित् वपुषि = स्त्री शरीर में, जीवनिर्मितः = जीव की बनाई हुई, अतिशयः न दृष्टः = विलक्षणता कुछ भी देखने में नहीं आती ॥२४॥

ज्ञान का वैलक्षण्य ज्ञेय की विलक्षणता का अव्यभिचरित है, इसलिये ज्ञेय का आकार भेद का अंगीकार करना ही होगा, इस आशय से पूर्वोक्त शंका का परिहार करते हैं—

मैवं मांसमयी योषित् काचिदन्या मनोमयी ।

मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते ही मनोमयी ॥२५॥

एवं मा=ऐसा मत कहो (ज्ञान भिन्न भिन्न है किन्तु आकार भिन्न नहीं ऐसा मत हो) क्योंकि, मांसमयी योषित्=मांस का बना हुआ स्त्री शरीर, काचित् अन्या=कोई और ही है, मनोमयी=और मनोमय अर्थात् मन का बनाया हुआ मन में स्त्री शरीर का आकार (अन्या)=मांसमयी शरीर से भिन्न ही है, मांसमय्याः अभेदे अपि=मांसमय स्त्री शरीर के एक होने पर भी, मनोमयी भिद्यते हि=मनोमय स्त्री शरीर भिन्न भिन्न ही है।

(इसलिये भिन्न भिन्न ज्ञान का भिन्न भिन्न विषय होना आवश्यक होने से, मनोमयशरीररूप विषय भिन्न सिद्ध होता है) ॥२५॥

भ्रान्ति, स्वप्नादि स्थल में बाह्य विषय के न होने से वहां की वस्तु मनोमय हो सकती है, परन्तु यथार्थ अनुभव स्थल में बाह्य वस्तु के विद्यमान होने के कारण मनोमय वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती, इस प्रकार की आशंका करते हैं—

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ।

जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥२६॥

भ्रान्तिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिषु=भ्रमज्ञान, स्वप्न, मनोराज्य और स्मरण ज्ञान में, मनोमयं अस्तु=प्रतीयमान वस्तु मनोमय भले ही होवे, परन्तु, जाग्रन्मानेन=जाग्रत् अवस्था में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से, मेयस्य=उत्पन्न होने वाले ज्ञान का विषय प्रमेय वस्तु (घट आदि) विद्यमान है, न मनोमयता=अतः मनोमयरूप नहीं हो सकती, इति चेत्=यदि ऐसी आशंका हो तो ॥२६॥

समाधान में यथार्थ अनुभव स्थल में बाह्य विषय की सत्ता

अंगीकार करते हैं, और उसमें विषय की मनोमयता कैसे कहते हैं इस आशंका का निवारण करते हुए स्वकपोलकल्पितत्व दोष का निवारण भी उत्तरार्द्ध से कहते हैं—

बाढ़ं माने तु मेयेन योगात् स्याद् विषयाकृतिः ।
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः ॥२७॥

बाढ़ं=सत्य है कि प्रमा स्थल में बाह्य विषय की सत्ता होती है, परन्तु, **माने**=प्रमाण जन्य ज्ञान में (अन्तः करण वृत्ति में), **विषयाकृतिः तु**=घट आदि विषय का आकार तो (मनोमय घटादि विषय तो), **मेयेन योगात् स्यात्**=घट आदि प्रमेय वस्तु के साथ सम्बन्ध से होता ही है, **अयम् अर्थः**=यह अर्थ, **भाष्यवार्तिककाराभ्याम्**=भगवान् भाष्यकार शंकराचार्यों ने तथा वार्तिककार सुरेश्वराचार्यों ने, **उदीरितः**=कहा है ॥२७॥

उसमें भगवान् भाष्यकारों के वचन का उदाहरण देते हैं —

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ।
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥२८॥

यथा ताम्रं मूषासिक्तं=जैसे गलाया हुआ तांबा सांचे में ढला हुआ, **तन्निभं जायते तथा**=सांचे के समान आकार वाला बन जाता है, उसी प्रकार, **रूपादीन् व्याप्नुवत् चित्तं ध्रुवम्**=रूप रस आदि विषयों को व्याप्त अर्थात् विषय करता हुआ अन्तःकरण अवश्य ही, **तन्निभं दृश्यतेः**=विषय के समान आकार वाला होता हुआ देखने में आता है ॥२८॥

अग्नि के सम्बन्ध से पिघला हुआ और सांचे में ढाला हुआ तांबा आदि कठिन मूषा के सम्बन्ध से शीतल हो जाने पर सांचे के आकार को प्राप्त हो सकता, तथापि तांबा आदि से विलक्षण अमूर्त बुद्धि, विषय को व्याप्त कर लेने पर भी कैसे विषय के आकार को प्राप्त कर लेगी ऐसी आशंका कर के, दूसरा दृष्टान्त कह कर समाधान करते हैं—

व्यञ्जको वा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियात् ।
सर्वार्थव्यञ्जकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥२९॥

यथा वा व्यंञ्जकः आलोकः=अथवा जैसे प्रकाशक धूप आदि (रोशनी), व्यंग्यस्य आकारतामियात्=प्रकाश्य घटादि विषयों के आकार वाली बन जाती है उसी प्रकार, धीः=बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति भी, सर्वार्थव्यञ्जकत्वात् अर्थाकारा=समस्त पदार्थों का प्रकाशक, होने से, घटादि विषय पदार्थ के समान आकार वाली होती हुई, प्रदृश्यते=स्पष्ट प्रतीत होती है ॥२९॥

अब वार्तिककार का वचन भी इसी अर्थ में संवादरूप से कथन करते हैं—

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ।
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥३०॥

मातुः=प्रमाता से (अधिष्ठान सहित बुद्धिस्थ चिदाभासरूप प्रमाता से), मानाभिनिष्पत्तिः=आभास सहित अन्तःकरण की वृत्ति रूप प्रमाण की उत्पत्ति होती है, निष्पन्नं तत् मेयम् एति=उत्पन्न हुआ वह प्रमाण घटादि विषयों को प्राप्त करता है, तत् च=और वह अन्तःकरण वृत्तिरूप प्रमाण, मेयाभिसङ्गतम्=घट आदि विषयों से सम्बन्ध प्राप्त होकर, मेयाभत्वं=घटादि विषयों के समान आकार को, प्रपद्यते=धारण कर लेता है ॥३०॥

ऐसा भले ही हो किन्तु प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, इस प्रश्न का उत्तर पूर्वार्ध से कहते हुए और उत्तरार्ध से मिट्टी का घट जैसे मन से गृहीत होता है, उसी प्रकार मनोमय घट उसी मन से गृहीत नहीं हो सकता तथा दूसरा कोई ग्राहक न होने से मनोमय घट की सिद्धि नहीं हो सकती इस आशंका का भी निवारण करते हैं—

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ।
मृन्मयो मानमेयः स्यात्साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥३१॥

एवं सति=ऐसा होने पर, विषयौ द्वौ स्तः=विषय घट आदि दो प्रकार का सिद्ध हुआ, मृन्मयधीमयौ घटौ=एक मिट्टी का घट दूसरा मनोमय घट; मृन्मयः मानमेयः स्यात्=उन दोनों में मिट्टी का घट प्रमाण का विषय होता है, धीमयःतु=और मनोमय तो साक्षीभास्यः=साक्षी द्वारा प्रकाश्य है, अतः मनोममय वस्तु की सिद्धि हो सकती ॥३१॥

पूर्वोक्त प्रकार से द्विविध द्वैत (ईश्वरसृष्ट और जीवसृष्ट द्वैत) सिद्ध होने पर भी इनमें कौन सा हेय है, कौन सा नहीं है, उसका ज्ञान नहीं होता ऐसी आशंका करके जीवसृष्ट द्वैत ही हेय है, ईश्वर सृष्ट नहीं, इस अभिप्राय से जीव सृष्ट द्वैत बन्धन का हेतु है, यह दिखाते हैं—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबन्धकृत् ।

सत्यस्मिन् सुखदुःखेस्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥३२॥

अन्वयतिरेकाभ्यां=अन्वय और व्यतिरेक रूप युक्ति से, धीमयः जीवबन्धकृत्=जीवसृष्ट मनोमय द्वैत ही जीव के बन्धन का कारण सिद्ध होता है, अस्मिन्सति=जीवसृष्ट मानस प्रपञ्च के विद्यमान होने पर, सुखदुःखे स्तः=सुख और दुःख दोनों होते हैं, तस्मिन् असित द्वयम् न=और वह मनोमय द्वैत न होने पर सुख दुःख दोनों नहीं होते ॥३२॥

उक्त अन्वयव्यतिरेक बाह्यार्थ विषय में क्यों नहीं होंगे ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ।

समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥३३॥

स्वप्नादौ=स्वप्न स्मृति आदि स्थल में, बाह्यार्थे असति अपि च=अनुकूल अथवा प्रतिकूल बाह्य विषय विद्यमान न होने पर भी, नरः=मनुष्य, बध्यते=सुख दुःख से युक्त होता है (सुखी दुःखी होता रहता है), समाधिसुप्तिमूर्च्छासु=समाधि, सुषुप्ति और मूर्च्छा अवस्था में, अस्मिन् सति अपि=इस बाह्य

विषय के विद्यमान होने पर भी, न बध्यते=सुखी दुःखी नहीं होता इसलिए वाह्य विषयों के साथ सुख दुःख का अन्वय व्यतिरेक नहीं बनता। ३३॥

मनोमय प्रपञ्च बन्धन का कारण है इस बात को दिखाने के लिये उसको अन्वयव्यतिरेक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता।
विप्रलम्भकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥३४॥

दूरदेशं गते पुत्रे जीवति एव=दूरदेश को गये हुये पुत्र के वहां पर जीवित रहने पर भी, अत्र तत्पिता=अपने गृह में स्थित उसका पिता, विप्रलम्भक वाक्येन=ठग के तुम्हारा पुत्र मर गया इस प्रकार के मिथ्या बचन से, मृतं मत्वा प्ररोदिति=अपने पुत्र को मरा हुआ मानकर बहुत रोदन करता है ॥३४॥

उसी पुत्र के विदेश में मरण हो जाने पर भी उसका मरण समाचार पिता ने यदि नहीं सुना तो रोदन नहीं करता, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक दिखाते हुये फलितार्थ को कहते हैं—

मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायामश्रुतायां न रोदिति।
अतःसर्वस्य जीवस्य बन्धकृन्मानसं जगत् ॥३५॥

तस्मिन् मृते अपि=उस पुत्र के दूरदेश में मरण प्राप्त होने पर भी, वार्तायां अश्रुतायां न रोदिति=उसके मरण समाचार न सुनने पर पिता रोदन नहीं करता, अतः=(इस अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति से) इस लिए, सर्वस्य जीवस्य=संपूर्ण जीवों के लिये, बन्धकृत् मानसं जगत्=बन्धन करने वाला, अर्थात् बन्धन का हेतु मनोमय द्वैत ही है ॥३५॥

मनोमय जगत् को ही बन्धन का हेतु अङ्गीकार करने पर, बाह्य पदार्थों का अपलाप हो जाने पर अपसिद्धान्त की प्राप्ति होगी इस प्रकार आशंका पूर्वार्ध से कहते हैं, और उत्तरार्ध से उसका परिहार भी करते हैं—

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात् स्यादिहेति चेत् ।
न हृद्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्वतः ॥३६॥

बाह्यार्थवैयर्थ्यात्=बाह्य जगत् निरर्थक होने के कारण (यदि मनोमय जगत् ही बन्धन का कारण स्वीकार करोगे तो बाह्य जगत् को मानना व्यर्थ हो जायेगा इसलिए), **विज्ञानवादः**=बौद्धों का क्षणिक विज्ञान वाद, **इह स्यात्**=प्रकृत में अर्थात् वेदान्त वाद में प्राप्त होगा, **इति चेत् न**=ऐसी आशंका हो तो विज्ञानवाद नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि, **हृदि आकारम् आधातुं**=मन में आकार धारण करने के लिये, **बाह्यस्य अपेक्षितत्वतः**=बाह्य प्रपंच की अपेक्षा है, (इसलिए बाह्य जगत् अंगीकार करने पर पूर्वोक्त बिज्ञानवाद का प्रसंग प्राप्त नहीं हो सकता) ॥३६॥

हृदय में आकार समर्पण के लिये बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं, क्योंकि पूर्व पूर्व मानस प्रपंच का संस्कार उत्तर-उत्तर मानस प्रपंच का हेतु बन सकता है, ऐसी आशंका करके प्रौढ़िवाद से उसका अंगीकार करते हुए, विज्ञानवाद से आप के सिद्धान्त का क्या भेद है, इस आशंका का भी निवारण पूर्वार्ध से करते हैं, और उत्तरार्ध से प्रयोजन शून्य होने से बाह्य पदार्थ का अंगीकार भी अयुक्त ही है, ऐसी आशंका का निवारण करते हैं—

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे ।
प्रयोजनमपेक्षन्ते न मानानीति हि स्थितिः ॥३७॥

वैयर्थ्यम् वा अस्तु=अथवा, बाह्य वस्तु व्यर्थ भले ही होवे, तथापि, **बाह्यं वारयितुं न ईश्महे**=बाह्य जगत् को निवारण करने में हम समर्थ नहीं, क्योंकि, **मानानि प्रयोजनम् न अपेक्षन्ते**=प्रमाण (ज्ञान उत्पन्न करने के लिये) प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रखते (किन्तु प्रमेय वस्तु के साथ संबन्ध मात्र से ज्ञान उत्पन्न कर देता है), **इति हि स्थितिः**=यह ही वस्तु गति है,

टि० १-विज्ञानवादी बाह्य वस्तु को निरर्थक भी मानते हैं, और बाह्य वस्तु का निषेध भी करते हैं कि है नहीं परन्तु वेदान्तवाद

में बाह्य वस्तु का अंगीकार है, इसलिये विज्ञानवाद से वेदान्त का भेद सिद्ध होता है ॥३७॥

मानस द्वैत प्रपंच ही यदि बन्ध का हेतु है तो बन्ध हेतु मानस द्वैत की मनोनिरोधरूप योग से ही निवृत्ति संभव होने से ब्रह्मज्ञान को बन्ध का निवर्तक मानना विरुद्ध है ऐसी आशंका करते हैं –

बन्धश्चेन्मानसं द्वैतं तद्धीरोधेन शाम्यति ।
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥३८॥

मानसं द्वैतं चेत् बन्धः=मानस प्रपंच ही यदि बन्धन का हेतु है तो, तत्=वह मानस द्वैत, धीरोधेन शाम्यति=चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग अर्थात् समाधि से निवृत्त हो सकता है; अतः योगम् एव अभ्यसेत्=इसलिये योग का ही अभ्यास करना चाहिये, ब्रह्मज्ञानेन किं वद=ब्रह्मज्ञान से क्या प्रयोजन है, कहो ॥३८॥

योग से द्वैत का उपशम क्या तात्कालिक कहते हों अथवा आत्यन्तिक इस प्रकार विकल्प करके प्रथम विकल्प को अंगीकार करके द्वितीय विकल्प में दूषण करते है –

तात्कालिकद्वैतशान्तावप्यागामिजनिक्षयः ।
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादितिवेदान्तडिण्डिमः ॥३९॥

तात्कालिकद्वैत शान्तौ अपि=योग के द्वारा क्षणिक द्वैत निवृत्ति (जब तक समाधि है तब तक द्वैत निवृत्ति) होने पर भी, आगामिजनिक्षयः=भविष्य जन्म का अभाव, ब्रह्मज्ञानं विना न स्यात्=ब्रह्मज्ञान के बिना अर्थात् ब्रह्मज्ञान से भिन्न अन्य किसी भी उपाय से नहीं हो सकता, इति वेदान्तडिण्डिमः=इस प्रकार वेदान्त का ढ़ंढ़ोरा है "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः" 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति' 'यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्तिमानवाः तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तोभविष्यति' इत्यादि श्रुतिरूप वेदान्त वाक्यों ने अन्वयव्यतिरेक द्वारा ब्रह्मज्ञान से ही बन्ध निवृत्ति कही है ॥३९॥

बाह्यद्वैत निवारण के बिना अद्वितीय ब्रह्मज्ञान ही उत्पन्न नहीं होगा ऐसी आशंका करके ईशसृष्ट बाह्य द्वैत का निवारण न होने पर

भी उसके मिथ्यात्व ज्ञान से ही पारमार्थिक अद्वैत ब्रह्म जाना जा सकता है इस प्रकार का परिहार करते हैं—

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ।
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥४०॥

ईशसृष्टे द्वैते अनिवृत्ते अपि=ईश्वर द्वारा रचित द्वैत जगत् निवृत्त न होने पर भी, तस्य मृषात्मताम् बुद्ध्वा=उस द्वैत के मिथ्यापने को निश्चय करने के अनन्तर, वस्त्वैक्यवादिनः=अभेदवादी वेदान्ति का, अद्वयं ब्रह्म बोद्धुं शक्यं=पारमार्थिक अद्वैत ब्रह्म जाना जा सकता है।

(अतः ईशसृष्ट द्वैत की स्वरूप से निवृत्ति अद्वैत ब्रह्मज्ञान के लिये आवश्यक नहीं) ॥४०॥

द्वैत के मिथ्यापने का ज्ञान, अद्वैत ब्रह्मज्ञान के प्रति प्रयोजक नहीं है, अपितु द्वैत का निवारण ही प्रयोजक है, ऐसे हठ करने वाले के प्रति कहते हैं—

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ।
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥४१॥

प्रलये तन्निवृत्तौ तु=प्रलय अवस्था में द्वैत की निवृत्ति होने पर तो, विरोधिद्वैताभावेऽपि=पूर्वपक्षी के मत में अद्वैत ज्ञान के विरोधी द्वैतज्ञान का निवारण हो जाने पर भी, गुरुशास्त्राद्यभावतः=ज्ञान के साधन गुरु शास्त्रादि न होने से, अद्वयम् बोद्धुम् न शक्यं=अद्वितीय ब्रह्म जानने को शक्य नहीं, अर्थात् जाना नहीं जा सकता (इसलिये बाह्य द्वैत का निवारण अद्वैत ज्ञान का कारण नहीं) ॥४१॥

फिर भी द्वैत के विद्यमान होने पर अद्वैत ज्ञान कैसा अर्थात् द्वैत अद्वैत का बाधक है, इसलिये विरोधी द्वैत के रहते हुए अद्वैत का ज्ञान कैसे होगा (नहीं हो सकता) ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं—

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ।
अपनेतुमशंक्यं चेत्यास्तां तद् द्विष्यते कुतः ॥४२॥

ईश्वरनिर्मितं द्वैतं=ईश्वर रचित द्वैत जगत् मिथ्यारूप से निश्चित हुआ, अबाधकम्=अद्वैतज्ञान का बाधक नहीं, साधकं च=उल्टागुरुशास्त्रादि रूप द्वैत जगत् ज्ञान का साधक है, अपनेतुम् अशक्यं च=और वह द्वैत निवारण करने को शक्य भी नहीं (क्योंकि ईश्वर सृष्ट है), इति आस्ताम्=इस कारण से वह द्वैत बना रहे, कुतः तत् द्विष्यते=किस कारण से उस द्वैत से द्वेष करते हो ॥४२॥

अब जीव सृष्ट द्वैत का विभाग करते हैं और द्विधा विभक्त सभी जीव सृष्ट सदा हेय हैं, ऐसी आशंका होने पर द्वितीयार्द्ध से उसका निषेध करते हैं—

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ।
उपाददीत शास्त्रीयमाऽऽतत्त्वस्यावबोधनात् ॥४३॥

जीवद्वैतं तु=जीव सृष्ट मानस द्वैत तो, शास्त्रीयम् अशास्त्रीयम्=शास्त्रीय अर्थात् शास्त्र विहित अशास्त्रीय अर्थात् शास्त्र निषिद्ध इति=इस भेद से, द्विधा=दो प्रकार का हैं, शास्त्रीयम्=उनमें शास्त्रीय जीव द्वैत को, आतत्त्वस्यावबोधनात्=तत्त्व ज्ञान पर्यन्त, उपाददीत=ग्रहण करना चाहिए ॥४३॥

वह शास्त्रीय द्वैत क्या है ऐसी आकांक्षा का पूर्ण पूर्वार्द्ध से करते हुए उत्तरार्द्ध से तत्त्वज्ञान पर्यन्त शास्त्रीय द्वैत का ग्रहण करना चाहिए, यह आपका कहा हुआ विरुद्ध है क्योंकि 'आ सुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' यह वार्ता शास्त्रों में कही है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ।
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥४४॥

आत्म ब्रह्म विचाराख्यं=प्रत्यक् आत्मस्वरूप ब्रह्म का जो श्रवणादिरूप विचार, वह,शास्त्रीयम्=शास्त्रीय,मानसं जगत्=मानस प्रपञ्च है, तत्त्वे बुद्धे=ब्रह्मात्मैक्यरूप तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने पर, तत् च=वह मानस द्वैत, हेयम्=परित्याग करने योग्य है, इति=इस प्रकार, श्रुत्यनुशासनम्=वेद का आदेश है, (और 'आसुप्तेः'

इत्यादि वाक्य का 'दद्यान्नावसरं किंचित्कामादीनां मनागपि' इस प्रकार पूर्वार्द्ध से कथित कामादि अवसर प्रदान करने का निषेध में तात्पर्य है, मरण पर्यन्त श्रवणादि में तात्पर्य नहीं, इसलिये विरोध नहीं है) ॥४४॥

तत्त्व बोध के पश्चात् शास्त्रीय मानस द्वंत के परित्याग की प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का उदाहरण देते हैं –

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥४५॥

मेधावी शास्त्राणि अधीत्य=बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रों का अध्ययन करके, **पुनः पुनः च अभ्यस्य**=और बार बार अभ्यास करके, **परमं ब्रह्मविज्ञाय**=पर ब्रह्म को अपरोक्ष रूप से जानकर, **अथ तानि**=अनन्तर उन शास्त्रों को, **उल्कावत्**=जले हुए काष्ठ की न्याईं, **उत्सृजेत्**=त्याग दे ॥४५॥

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥४६॥

मेधावी=कोई बुद्धिमान् मनुष्य, **ग्रन्थम् अभ्यस्य**=शास्त्र को अभ्यास करके, **ज्ञान विज्ञान तत्परः**=परोक्षज्ञान यथा अपरोक्ष ज्ञाननिष्ठ होकर, **ग्रन्थं अशेषतः त्यजेत्**=शास्त्रों का सम्पूर्ण रूप से त्याग करे, **धान्यार्थी पलालम् इव**—जैसे धान को चाहने वाला मनुष्य पराल को त्याग देता हैं ॥४६॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥४७॥

धीरः ब्राह्मणः=बुद्धिमान् ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञान की इच्छा रखने वाले अधिकारी, **तम् एव विज्ञाय**=उस परब्रह्म को जानकर, **प्रज्ञां कुर्वीत**=निदिध्यासन करे, **बहून् शब्दान्**=बहुत अनात्म शास्त्रों का, **न अनुध्यायात्**=चिन्तन न करें अर्थात् न पढ़ें, **हि तत्**=क्योंकि, वह अनात्म शास्त्र चिन्तन, **वाचो**=वाणी का तथा वाणी के द्वारा मन का, **विग्लापनं**=श्रम कारक है ॥४७॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
यच्छेद्वाङ् मनसी प्राज्ञ-इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ॥४८॥

तम् एव एकं=उसी एक अद्वितीय आत्मा को, विजानीथ =तुम सब जानो, हि अन्यावाचः=और अनात्म प्रतिपादक वाणी को विमुञ्चथ=छोड़ दो, प्राज्ञः=बुद्धिमान् मनुष्य, वाङ्मनसी=वाणी को मन में, मन को बुद्धि में इसी प्रकार सब को शान्त आत्मा में, यच्छेत्=निग्रह करके लय करे, इत्याद्याः श्रुतयः=इत्यादि श्रुति वचन, स्फुटाः=स्पष्ट ही हैं (यह सब श्रुति प्रणाम ही तत्त्व ज्ञान के अनन्तर साधन रूप शास्त्रीय जीव द्वैत का त्याग बताते है) । ४८॥

अशास्त्रीय भी द्वैत का आवान्तर भेद कहते हुए क्रम से उनका उदाहरण देते हैं—

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मन्दमिति द्विधा ।
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥४९॥

अशास्त्रीयम्=शास्त्र निषिद्ध, द्वैतम् अपि=जीव सृष्ट मानम द्वैत भी, तीव्रं मन्दम् इति=तीव्र और मन्द इस भेद से, द्विधा=दो प्रकार का है । कामक्रोधादिकं=उन दोनों में काम क्रोध लोभादि, तीव्रं=तीव्र हैं, तथा मनोराज्यं इतरत्=और मनोरथ दूसरा मन्द है ॥४९॥

शास्त्रीय द्वैत की न्यांई अशास्त्रीय द्विविध द्वैत का भी क्या तत्त्व बोध के अनन्तर काल में त्याग करना चाहिये ऐसी आकांक्षाके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, तत्त्व बोध से पूर्व ही उनका त्याग आवश्यक है, और त्याग का प्रयोजन वताते हुए उसमें हेतु भी कहते हैं—

उभयं तत्त्वबोधात्प्राङ् निवार्यं बोधसिद्धये ।
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥५०॥

उभयं=दोनों प्रकार का अशास्त्रीय द्वैत तीव्र तथा मन्द, तत्त्वबोधात् प्राक्=तत्त्व ज्ञान से पहले, बोधसिद्धये=तत्त्व ज्ञान को

उत्पत्ति के लिये, निवार्यम्=निवारण अर्थात् त्यागने योग्य है, यतःशमः=क्योंकि मन का निग्रह, समाहितत्वं च=और समाधान अर्थात् एकाग्रता, साधनेषु=ब्रह्मज्ञान के साधनों में, श्रुतं=दोनों सुने गये हैं ॥५०॥

तत्त्व बोध से पहले अशास्त्रीय द्वैत निवारणीय है, ऐसे कथन से यह मालुम पड़ता है कि तत्त्वबोध के उत्तर काल में वह अशास्त्रीय द्वैत ग्राह्य होगा, ऐसी आशंका का उत्तर पूर्वार्ध से कहते हुए उत्तरार्द्ध से व्यतिरेक द्वारा उक्त अर्थ को दृढ़ करते हैं –

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्ति प्रसिद्धये ।
कामादिक्लेशबन्धेन युक्तस्य नहि मुक्तता ॥५१॥

बोधात् ऊर्ध्वं च=तत्त्व ज्ञान के अनन्तर भी, जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये=जीवन मुक्ति की सिद्धि के लिये, तत् हेयम्=वह द्विविध अशास्त्रीय द्वैत त्यागने योग्य ही है क्यों कि, कामादि क्लेश बन्धेन=काम क्रोधादि क्लेश रूप बन्धन से, युक्तस्य=युक्त अर्थात् बद्ध मनुष्य की मुक्तता=जीवन्मुक्ति (जीवन मुक्त अवस्था में विलक्षण आनन्द का आविर्भाव), न हि=नहीं बन सकती ॥५१॥

जन्मादि संसार से व्याकुल अधिकारी के लिये आत्यन्तिक पुरुषार्थ रूप विदेह मुक्ति ही पर्याप्त है और इस मध्यवर्ती जीवन्मुक्ति से क्या प्रयोजन है इस प्रकार की आशंका पूर्वार्ध्द करके उत्तरार्द्ध से इस लोक के भोगों की निवृत्ति के भय से जीवन्मुक्ति का त्याग करने वाला पारलौकिक भोग निवृत्ति के भय से विदेह मुक्ति का त्याग भी कर ही देगा इस प्रकार प्रतिवन्दी उत्तर के द्वारा आशंका का परिहार करते हैं

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहं कृती ।
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान् ॥५२॥

इयं जीवन्मुक्तिः=यह जीवन मुक्ति अवस्था, मा भूत्=मुझे मत प्राप्त होवे, अहं तु जन्माभावे=मैं तो पुनर्जन्म के अभाव मात्र होने पर, कृती=कृतकृत्य हो जाऊंगा यदि ऐसा कहते हो,

तर्हि ते जन्म अपि=तब तो तुम्हारा जन्म भी, अस्तु एव=होगा ही क्यों कि, भवान् स्वर्गमात्रात्=आप स्वर्ग सुख मात्र से, कृति=कृतकृत्य हो सकते हैं !

(तात्पर्य यह है कि इस लोक के भोग निवृत्ति के भय से यदि तुम जीवन्मुक्ति का त्याग, करने को तैयार हो तो स्वर्ग आदि जो परलोक का भोग है उसकी निवृत्ति के भय से विदेह मुक्ति का भी त्याग करोगे उसमें क्या कहना है) ॥५२॥

पूर्वोक्त प्रतिबन्दी उत्तर के मोचन की आशंका पूर्वक अशास्त्रीय द्वैत की सुतरां हेयता को कहते हैं—

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ।
स्वयं दोषतमात्मायं कामादिः किं न हीयते ॥५३॥

यदा क्षयातिशयदोषेण=जब नाश तथा सातिशयता आदि दोष युक्त होने के कारण, स्वर्गः हेयः=स्वर्ग तुम्हारे लिये त्याज्य हो सकता है, तदा स्वयं=तब स्वभाव से, दोषतमात्मा=सकल पुरुषार्थ नाशक होने के कारण अत्यन्त दोष रूप, अयं कामादिः=यह कामादि किं न हीयते=क्यों नहीं तुम्हारे से त्यागा जाता है ॥५३॥

वैराग्य आदि साधन सम्पादन द्वारा अत्यन्त अनर्थ हेतु कामादि का त्याग कर देने पर इस लोक के भोग मात्र के उपयोगी स्वल्प कामादि स्वीकार करने में क्या दोष है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

तत्त्वं बुद्ध्वापि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ।
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः ॥५४॥

तत्त्वं बुद्ध्वाअपि=जीव ब्रह्म की एकता रूप अखण्ड परमात्मा तत्त्व को जानकर भी, कामादीन्=कामादि दोषों का, चेत्निःशेषं=यदि पूर्ण रूप से, न जहासि=त्याग नहीं करोगे तो, कर्मशास्त्रातिलङ्घिनः=तत्त्व ज्ञान को अभिमान से विधि निषेध शास्त्र का अति क्रमण कर के कामादि के अधीन होकर वर्तमान, ते यथेष्टाचरणं=तुम्हारी मन मानी पशु वत् प्रवृति, स्यात्=होगी ॥५४॥

यथेष्टाचरण होवे तो क्या दोष है ऐसी आशंका करके यथेष्टाचरण से अनिष्ट की प्राप्ति प्रतिपादन करने वाला सुरेश्वराचार्य के वचन को उदाहरण रूप से कहते हैं—

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥५५॥

बुद्धाद्वैत स्वतत्त्वस्य=जान लिया है, अद्वैत ब्रह्म रूप अपना स्वरूप जिसने ऐसे ज्ञानवान् की, **यथेष्टाचरणं यदि**=मन मानी प्रवृत्ति यदि होगी तो, **अशुचि भक्षणे**=अपवित्र पदार्थ का भक्षण भी प्राप्त होगा और ऐसा होने पर, **शुनां तत्त्वदृशां च एव**=कुत्तों का और तत्त्ववेताओं का, **कः भेदः**=क्या भेद रह जायेगा, अर्थात् कोई भी विलक्षणता नहीं रहेगी ॥५५॥

इतना कहने मात्र से क्या अनिष्ट प्रतिपादित हुआ, ऐसी आशंका करके उपहास सहित उत्तर कहते हैं

बोधात्पुरा मनोदोष मात्रात्क्लिश्नास्यथा धुना ।
अशेष लोकनिन्दा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥५६॥

बोधात् पुरा=तत्त्वज्ञान की उपत्पति से पहले, **मनोदोषमात्रात्**=काम क्रोधादि चित्त के दोषों से, **क्लिश्नासि**=तुमको क्लेशों का अनुभव होता था, **अथ अधुना**=और अब तो, **अशेषलोकनिन्दा च**=सब लोगों के द्वारा की हुई निन्दा भी (सहन करना पड़ेगा), **इति अहो ते**=इस लिए, वाह रे तुम्हारे, **बोधवैभवम्**=ज्ञान का प्रभाव (जिससे अब द्विगुण क्लेश तुम को भोगना पड़ रहा है) ॥५६॥

तब क्या करना चाहिये, इस आकांक्षा का उत्तर कहते हैं

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद्भवान् ।
सर्वधीदोषसन्त्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥५७॥

तत्त्वविद् भवान्=सबसे श्रेष्ठता का हेतु तत्त्वज्ञानवान् आप **विड्वराहादितुल्यत्वं**=(कामादि दोष त्यागने में असमर्थ होने के

कारण) सब से अधम विड् वराहादि की समानता की, मा कांक्षीः = इच्छा मत करो, किन्तु, सर्वधीदोषसन्त्यागात् = कामादि रूप संपूर्ण मनोदोषों के त्याग द्वारा, लोकैः = सब मनुष्यों के, देववत् पूज्यस्व = पूज्य देवता की न्याईं पूजनीय बनो ॥५७॥

अब कामादि के त्याग का उपाय बताते हैं, और उनके त्याग में प्रमाण कहते हुए उसका फल भी कथन करते हैं—

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः ।
प्रसिद्धो मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥५८॥

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः = कामना के विषय स्रक्-चन्दनादि तथा द्वेष के विषय, सर्पादि पदार्थों की अनित्यता, सातिशयता आदि जो दोष हैं, उनके दर्शन तथा विचारादि, कामादित्यागहेतवः = कामना, द्वेष आदि के त्यागने का उपाय हैं, मोक्षशास्त्रेषु प्रसिद्धः = वे उपाय अध्यात्म शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं, तान् अन्विष्य = उन उपायों का अनुसन्धान करके, सुखी भव = कामना त्याग पूर्वक सुखी होवो ॥५८॥

काम आदि अनर्थ का हेतु होने से त्यागने योग्य भले ही हो, परन्तु मनोराज्य अनर्थ का हेतु नहीं है, इस लिये उसका त्याग अपेक्षित नहीं ऐसी आशंका पूर्वार्द्ध से करते हैं और यद्यपिमनोराज्य साक्षात् अनर्थ का हेतु नहीं है, तथापि परम्परा से अनर्थ का हेतु होने से मनोराज्य भी त्याज्य ही है इस अभिप्राय को लेकर उत्तरार्द्ध से उक्त शंका का परिहार करते हैं

त्यज्यतामेव कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः ।
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥५९॥

कामादिः = इन कामना आदि का, त्यज्यताम् एव = त्याग करना ही चाहिए क्यों कि यह अनर्थ के हेतु हैं (यह जो आप ने कहा सो ठीक है), मनोराज्ये तु = परन्तु मनोरथ करने में अर्थात् मनोराज्य का त्याग न करने से), का क्षतिः = क्या हानि है, (क्यों कि मनोराज्य तो अनर्थ का हेतु नहीं है) यदि ऐसा कहते हो तो,

अशेषदोषबीजत्वात्=यह मनोराज्य परम्परा से निखिल दोषों का कारण होने से, **क्षतिः**=इस से बड़ी हानि है, **भगवताईरिता**= यह वार्ता भगवान् श्री कृष्ण ने कही है ॥५९॥

मनोराज्य परम्परा से अनर्थ का हेतु है, इस वार्ता का प्रदर्शन करने वाला जो भगवद् वाक्य है, उसका उदाहरण देते हैं —

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६०॥

विषयान्=संसार के विषयों का, **ध्यायतः**=ध्यान करने वाले **पुंसः तेषु संगः**=पुरुष का उन विषयों में अनुराग, **उपजायते**= उत्पन्न होता है, **संगात्**=और संग से, अर्थात् अनुराग से, **कामः**= उन विषयों में इच्छा, **संजायते**=उत्पन्न होती है, **कामात्**=और इच्छा से अर्थात् कामना का व्याघात होने से, **क्रोधः**=ज्वलन रूप क्रोध, **अभिजायते**—उत्पन्न होता है (और क्रोध से सम्मोह, उस से स्मृति भ्रंश और उससे बुद्धिनाश, तथा बुद्धि नाश से महान् पतन रूप प्राणनाश उत्पन्न होता है, इस प्रकार यह मनोराज्य परम्परा से सम्पूर्ण अनर्थ का हेतु है, (अतः सर्वथा त्याज्य कहा गया है) ॥६०॥

तब इस मनोराज्य को हटाने का क्या उपाय है ? ऐसी आशंका का परिहार निर्विकल्प समाधिसे करते हैं, और वह उपाय रूप निर्विकल्प समाधि भी किस उपाय से सिद्ध होगी, इस प्रश्न का उत्तर भी श्लोक के द्वितीयार्द्ध में कहते हैं —

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ।

सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥६१॥

मनोराज्यं=मनोरथ रूप मनोदोष, **निर्विकल्प समाधितः**= निर्विकल्प समाधि से (चित्तवृत्ति का निरोध रूप योग निर्विकल्प समाधि से), **जेतुं शक्यं**=जीता अर्थात् त्यागा जा सकता है, **सः अपि**=वह निर्विकल्प समाधि भी, **सविकल्प समाधिना**=सविकल्पसमाधि के द्वारा (जिस समाधि में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों की त्रिपुटी भासती है, उसको सविकल्प समाधि कहते हैं) **क्रमात् सुसंपादः**=क्रम से अनायास संपादन करने योग्य है ॥६१॥

ष्टांगयोग युक्त पुरुष को वैसा उपाय हो सकता है, परन्तु उससे रहित पुरुष की क्या गति होगी अर्थात् वह मनोराज्य को कैसे जीतेगा ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

बुद्धतत्त्वेन धीदोष शून्येनैकान्तवासिना ।
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥६२॥

बुद्धतत्त्वेन=जिसने ब्रह्म और प्रत्यग् आत्मा की एकता जान ली है, वह तत्त्ववेत्ता, **धीदोष शून्येन**=काम क्रोधादि बुद्धि के दोष से रहित और, **एकान्तवासिना**=निर्जन देश में निवास करने वाला पुरुष **दीर्घं**=छः से लेकर बारह मात्रा युक्त, **प्रणवं उच्चार्य**=ॐ कार का उच्चारण करके, **मनोराज्यं**=मनोराज्य के ऊपर, **विजीयते**=विजय पा सकता है, अर्थात् मनोराज्य का निवारण कर सकता है ॥६२॥

मनोराज्य पर विजय होने पर क्या फल होता है, इस आशंका का उत्तर श्लोक के पूर्वार्द्ध से कहते हुए उत्तरार्द्ध से वृत्तिशून्य मन की अवस्थिति पुरुषार्थ रूप है, इसमें प्रमाण कहते हैं –

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ।
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥६३॥

तस्मिन् जिते=वह मनोराज्य निवृत्त होने पर, **मनः**=मन, **मूकवत्**=मूक अर्थात् गूंगे की न्यांई (जैसे गूंगा मनुष्य सम्पूर्ण वाग्व्यवहार से रहित होकर स्थित होता है, उसी प्रकार), **वृत्ति शून्यं**=सर्व वृत्तियों से रहित अर्थात् सर्व व्यापारों से रहित होकर, **तिष्ठति**=स्थित होता है, **एतत् पदं**=यह (वृत्ति शून्य मन का अवस्थान रूप) दशा, **वसिष्ठेन**=वसिष्ट जी ने, **रामाय बहुधा ईरितम्**=राम के प्रति अनेक प्रकार से कही है ॥६३॥

वसिष्ठ के दो श्लोक रूप वाक्य का उदाहरण उक्त विषय में देते हैं –

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥६४॥

दृश्यं नास्ति=अद्वितीय ब्रह्म अतिरिक्त दृश्य रूप जगत् है नहीं

इति बोधेन=इस प्रकार के ज्ञान द्वारा, मनसः दृश्यमार्जनम्=मन से दृश्य का निवारण, संपन्नं चेत् तद्=यदि हो गया हो तब तो, परा निर्वाण निर्वृत्तिः=निरतिशय मोक्ष सुख, उत्पन्ना=उत्पन्न अर्थात् सिद्ध हो गया जानना ॥६४॥

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ।

संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥६५॥

शास्त्रं=अद्वैत शास्त्र का, अलं=अतिशय करके, विचारितं=विचार किया, मिथः=और परस्पर शिष्य गुरु संवाद द्वारा, चिरं=बहुत कालपर्यन्त, उद्ग्राहितं=(एक दूसरे को समझा समझाया) बोधन, किया और इससे यह निश्चय हुआ कि, संत्यक्तवासनात्=सम्यक् प्रकार से कामादि वासना का त्याग रूप, मौनात् ऋते=तूष्णीं भाव रूप मौन से परे, उत्तमं पदं=दूसरा कोई श्रेष्ठ पुरुषार्थ, न अस्ति=नहीं है ॥६५॥

पूर्वोक्त प्रकार से वृत्ति शून्य चित्त का प्रारब्ध कर्म द्वारा विक्षेप होने पर उसके प्रतिकार का उपाय क्या है ऐसी आकांक्षा होने पर उत्तर कहते हैं—

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ।

पुनः समाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥६६॥

भोगदायिना=सुख, दुःख आदि भोग देने वाले, कर्मणा=प्रारब्ध कर्म से, धीः कदाचित्=बुद्धि किसी काल में, विक्षिप्यते सा=यदि विक्षिप्त होती होवे तो वह बुद्धि, अभ्यासपाटवात् तदा एव=अभ्यास की दृढ़ता से उसी समय, पुनः समाहिता स्यात्=फिर से एकाग्र हो सकती है ॥६६॥

सदा चित्त विक्षेप रहित पुरुष को वास्तव में ब्रह्म रूप ही कहना चाहिए, परन्तु उपचार से उनको ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है इस वार्ता को कहते हैं—

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ।

ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥६७॥

यस्य = जिसको (जिस ब्रह्मवेत्ता को), विक्षेपः न अस्ति = चित्त की चंचलता नहीं है, अस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते = उसी को केवल ब्रह्मवेत्ता ही नहीं मानते किन्तु, अयं ब्रह्म एव = यह चित्त विक्षेप रहित ब्रह्मवेत्ता साक्षात् ब्रह्म ही है, इति पारदर्शिनः = इस प्रकार वेदान्त पारङ्गत, मुनयः प्राहुः = मुनियों ने कहा है ॥६७॥

इस विषय में भी वासिष्ठ वाक्य का उदाहरण देते हैं —

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।

यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥६८॥

यः = जो ज्ञानवान्, दर्शनादर्शने = मैं ब्रह्म को जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ, इस प्रकार व्यवहार को, हित्वा स्वयं = परित्याग करके खुद, केवलरूपतः = अद्वितीय चैतन्य मात्र रूप से, तिष्ठति = स्थित होता है, स तु ब्रह्मन् = वह तो हे ब्रह्मन्, स्वयं ब्रह्म = खुद ब्रह्म ही है, न ब्रह्मवित् = ब्रह्मवेत्ता नहीं अर्थात् उसको ब्रह्मवेत्ता न कहकर ब्रह्म ही कहना चाहिए। क्योंकि 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति में ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्मस्वरूप ही कहा है ॥६८॥

सम्पूर्ण द्वैत विवेचन का उपसंहार करते हैं —

जीवन्मुक्तेः पराकाष्ठा जीवद्द्वैतविवर्जनात् ।

लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥६९॥

असौ जीवन्मुक्तेः पराकाष्ठा = उक्त प्रकार से जीवन्मुक्ति की निरतिशय अवधि, जीवद्द्वैतविवर्जनात् = मनोमय प्रपञ्च के परित्याग से, लभ्यते = प्राप्त होती है, अतः = इस कारण से, इदम् अत्र = इस जीवद्द्वैत को इस प्रकरण में, ईशद्वैतात् = ईश्वरसृष्ट द्वैत से, विवेचितम् = पृथक् करके दिखाया है ॥६९॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि विरचित पञ्चदश्यां द्वैतविवेकाख्यचतुर्थ प्रकरणस्य राष्ट्र भाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिस्वतन्त्रानन्द गिरि जी महाराजकथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ पञ्चमं महावाक्य विवेक प्रकरणम्

नत्वा श्री भारती तीर्थं विद्यारण्य मुनीश्वरौ ।
महावाक्यविवेकस्य कुर्वे व्याख्यां समासतः ॥१॥

मुमुक्षु पुरुष की मोक्ष साधन ब्रह्मात्मा के अभेद ज्ञान की प्राप्ति के लिये प्रसिद्ध चार महावाक्यों के अर्थ का क्रम से निरूपण करते हुए परम कृपालु आचार्य आरम्भ में ऐतरेय आरण्यक में स्थित 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य में जो प्रज्ञान शब्द है, उसका अर्थ कहते हैं—

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च ।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥१॥

येन=चक्षु इन्द्रिय द्वारा निकली हुई अन्तःकरण वृत्ति से उपहित जिस साक्षी चैतन्य से, इदम् ईक्षते=दर्शन करने योग्य रूपादि वस्तु को पुरुष देखता है, शृणोति=तथा श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा निकली हुई अन्तःकरण की वृत्तिरूप उपाधि सहित जिस कूटस्थ चैतन्यसे शब्द को पुरुष सुनता है, जिघ्रति=घ्राणेन्द्रिय द्वारा निर्गत अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधि वाला जिस चैतन्य से मनुष्य गन्धों को सूंघता है, व्याकरोति=तथा यह पुरुष जिस वाक् इन्द्रिय से अवच्छिन्न साक्षी चैतन्य से शब्दों का उच्चारण करता है, स्वाद्वस्वादू=और जिस रसना इन्द्रिय द्वारा बहिर्गत अन्तःकरण वृत्ति उपहित चैतन्य से स्वादु अस्वादु रस का, विजानाति च=अनुभव करता है (और च शब्द से इसी प्रकार उक्त अनुक्त सकल इन्द्रियों के द्वारा निर्गत अन्तःकरण वृत्तियों से उपलक्षित जो चैतन्य है), तत् प्रज्ञानं=वह चैतन्य ही 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य में प्रज्ञान, उदीरितम्=कहा गया है, अर्थात् प्रज्ञान शब्द से कहा है ॥१॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्रज्ञान शब्द के अर्थ को कहकर, अब ब्रह्म शब्द के अर्थ को कहते हैं, और पदार्थ कहने के अनन्तर पदों के समुदाय रूप जो वाक्य हैं उस वाक्य के अर्थ को भी कहते हैं—

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु ।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥२॥

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु=ब्रह्मा, इन्द्र आदि उत्तम देवादि शरीरियों में, **मनुष्याश्वगवादिषु**=मध्यम मनुष्य शरीरियों में तथा अधम अश्व, गौ आदि देहधारियों में तथा आकाशादि भूतों में, **एकं चैतन्यं**=जगत् में जन्म, स्थिति, प्रलय का कारण जो एक चैतन्य है, **ब्रह्म**=वह ब्रह्म है, अर्थात् इस वाक्य में ब्रह्म शब्द का अर्थ है, **अतः**=(जिस कारण से सर्वत्र स्थित प्रज्ञानरूप चैतन्य ही ब्रह्म है) इसलिये, **मयि अपि**=मेरे अन्दर भी स्थित, **प्रज्ञानं**=प्रज्ञानरूप साक्षी चैतन्य, **ब्रह्म**=ब्रह्म ही हैं, अर्थात् साक्षी रूप असंग चैतन्य मैं ब्रह्मात्मक अखण्ड चैतन्य ही हूँ, क्योंकि एक चैतन्य ही दोनों का स्वरूप है ॥२॥

उक्त प्रकार से ऋग्वेद के अन्तर्गत ऐतरेय आरण्यक में स्थित महावाक्य का निरूपण करके, यजुर्वेद के बृहदारण्यक उपनिषद में स्थित 'अहंब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का अर्थ प्रकट करने के लिये उस महावाक्यस्थ 'अहं' शब्द का अर्थ कहते हैं—

परिपूर्णः परात्माऽस्मिन्देहे विद्याधिकारिणि ।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥३॥

परिपूर्णः=स्वभाव से देशकाल वस्तु त्रिविध परिच्छेद रहित, **परात्मा**=परमात्मा, **अस्मिन्**=इस कल्पित जगत् में, **विद्याधिकारिणि**=शमादि साधन सम्पन्न होने से ज्ञान-सम्पादन के योग्य श्रवणादि साधन युक्त, **देहे बुद्धेः**=मनुष्य शरीर में बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म शरीर के, **साक्षितया स्थित्वा**=अविकारी प्रकाश रूप अर्थात् चैतन्य-रूप से स्थित होकर, **स्फुरन्**=प्रकाशमान होता हुआ, **अहम् इति ईर्यते**='अहंब्रह्मास्मि' इस महावाक्य में स्थित 'अहम्' पद के द्वारा लक्षणा से कहा जाता है ॥३॥

अब उसी महावाक्यस्थ 'ब्रह्म' शब्द के अर्थ को पूर्वार्ध से कहते हैं, और उत्तरार्ध से उसी महावाक्य के अन्तर्गत 'अस्मि' इस पद से जीव ब्रह्म की एकता का परामर्श दिखाते हुए, वाक्यार्थ रूप फलितार्थ को कहते हैं —

स्वतः पूर्णः परात्माऽत्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः ।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥४॥

स्वतः पूर्णः परात्मा=स्वभाव से देश कालादि परिच्छेद से रहित पूर्वोक्त परमात्मा, **अत्र**=इस महावाक्य में, **ब्रह्म शब्देन**=ब्रह्म इस पद से, **वर्णितः**=लक्षणा द्वारा कहा गया है, **अस्मि इति**=इसी महावाक्य में स्थित 'अस्मि' इस पद से, **ऐक्य परामर्श**=अहं और ब्रह्म दोनों पदों की सामानाधिकरण्य(१) के कारण लभ्य जीव और ब्रह्म की एकता का बोध होता है, **तेन अहं ब्रह्म भवामि**=इसलिये मैं ब्रह्म हूँ।

टि० (१) भिन्न भिन्न प्रवृत्ति के निमित्त जिनके ऐसे अपर्याय अनेक शब्दों का जो एक ही अर्थ में प्रवृत्ति है, उसको सामानाधिकरण्य कहते हैं ॥४॥

अब सामवेद की छान्दोग्य उपनिषद् के अन्तर्गत 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के अर्थ प्रकाशन के लिये तत् पद के लक्ष्यार्थ को कहते हैं —

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम् ।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥५॥

सृष्टेः पुरा=सृष्टि से पहले, **एकं एव अद्वितीयम्**=स्वगत, सजातीय और विजातीय भेद से रहित, **नामरूपविवर्जितम्**=तथा नाम और रूप से रहित, **सत्**=जो सत् स्वरूप ब्रह्म श्रुति में (सदेव सौम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयम् इस श्रुति वाक्य में) प्रतिपादित है, **अस्य**=यह सद् वस्तु, **अधुना अपि**=अब भी अर्थात् सृष्टि के उत्तर काल में भी, **तादृक्त्वं**=विचार दृष्टि से उसी प्रकार स्वगतादि भेद तथा नामरूप से रहित है, वह ही सद वस्तु, **तत् इति**='तत्त्वमसि'

महावाक्य में स्थित 'तत्' इस पद के द्वारा लक्षणा से कही जाती हैं ॥५॥

अब 'त्वम्' पद के लक्ष्यार्थ को पूर्वार्ध से कहते हैं और उत्तरार्ध से 'तत् त्वं' पदार्थ की एकता को 'असि' पद के द्वारा शिष्यों के प्रति उपदेश करते हैं, इस बात को कहते हुए वाक्य से सिद्धार्थ को कहते हैं—

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥६॥

श्रोतुः=श्रवणादि साधन अनुष्ठान के द्वारा महावाक्य के अर्थ जानने वाले अधिकारी के, **देहेन्द्रियातीतं**=स्थूल आदि तीन शरीर तथा इन्द्रियों के साक्षी रूप होने से उनसे विलक्षण, **वस्तु**=सद् रूप ब्रह्म ही, **अत्र**=इस महावाक्य में, **त्वं पदा**='त्वम्' इस पद के द्वारा **इरितम्**=लक्षणा से बोधित हुआ है, **असि इति**=और इस महावाक्य स्थ 'असि' इस पद से, **एकता**='तत् और त्वं' पद के सामानाधिकरण्य से प्राप्त पदार्थों की एकता (जीव ब्रह्म की एकता), **ग्राह्यते**=समझायी जाती है, इसलिये, **तदैक्यम्**='तत् त्वम्' पदार्थ के एकत्व रूप जो प्रमाण सिद्ध अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म है, उसका **अनुभूयताम्**=अनुभव, मुमुक्षु करे ॥६॥

क्रम प्राप्त अथर्ववेद के अन्तर्गत माण्डूक्य उपनिषद् के अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य का अर्थ प्रगट करने की इच्छा वाले ग्रन्थकार प्रथम 'अयम्' तथा 'आत्मा' इन दोनों पदों के विवक्षित अर्थ को क्रम से पूर्वार्द्ध द्वारा दिखाते हैं, और उत्तरार्द्ध से देहादिकों में भी आत्म शब्द का प्रयोग देखा जाता है, इसलिये इस महावाक्य में आत्म शब्द द्वारा क्या विवक्षित है, इस आकांक्षा का उत्तर भी कहते हैं—

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितोमतम् ।
अहंकारादिदेहान्तात् प्रत्यगात्मेति गीयते ॥७॥

अयम् इति='अयमात्मा' ब्रह्म इस महावाक्य में स्थित **अयम्** इस, **उक्तितः**=शब्द से, **स्वप्रकाशापरोक्षत्वं**=स्वयं प्रकाश होने के

कारण आत्मा का नित्य अपरोक्षत्व, मतम्=अभिमत है, अहंकारादि-देहान्तात्=अहंकार से आदि लेके स्थूल शरीर पर्यन्त संघात से, प्रत्यक्=अधिष्ठान होने के कारण तथा सबका साक्षी होने के कारण जो सर्वान्तर चैतन्य हैं वह, आत्मा इति=महावाक्यस्थ आत्मा इस पद से, गीयते=कहा जाता है ॥७॥

ब्राह्मणादियों में भी ब्रह्म शब्द का प्रयोग दृष्ट होता है, उसके निषेध के लिये इस महावाक्य में ब्रह्म शब्द का विवक्षित अर्थ कहते हुए वाक्य के अर्थ को भी कहते हैं—

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ।
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥८॥

दृश्यमानस्य=दृश्यरूप करके प्रतीयमान (होने से) मिथ्या रूप, सर्वस्य जगतः=सम्पूर्ण जगत् का, तत्त्वम्=अधिष्ठान पारमार्थिक सच्चिदानन्द रूप जो चैतन्य है, वह, ब्रह्म शब्देन=महावाक्यस्थ ब्रह्म पद से, ईर्यते=कहा जाता है, तद् ब्रह्म=वह ब्रह्म, स्वप्रकाशात्म रूपकम्=स्वयं प्रकाश आत्म स्वरूप ही है ॥८॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि विरचित पञ्चदश्यां महावाक्यविवेकाख्य पंचमप्रकरणस्य राष्ट्र भाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिस्वतन्त्रानन्द गिरि जी महाराजकथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ षष्ठं चित्रदीप प्रकरणम्

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥१॥

यस्य स्मरणमात्रेण विघ्ना दूरं प्रयान्ति हि ।
वन्देऽहं दन्तिवक्त्रं तं वाञ्छितार्थ प्रदायकम् ॥२।

नत्वा श्री भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
क्रियते चित्रदीपस्य व्याख्या तात्पर्यबोधिनी ॥३॥

अध्यारोप और अपवाद प्रक्रिया से प्रपंच रहित अद्वैत ब्रह्म का उपदेश किया जाता है, इस प्राचीन उक्तिरूप न्याय का अनुसरण करके परमात्मा में अरोपित जगत् की स्थिति के प्रकार को दृष्टान्त सहित कथन करते हैं—

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥१॥

चित्रपटे यथा=चित्र वस्त्र में, जैसे, अवस्थानां चतुष्टयम् दृष्टम्=चार अवस्थाएं देखी जाती हैं, तथा परमात्मनि=उसी प्रकार परमात्मा में भी, अवस्था चतुष्टयम्=चार अवस्थाएं, विज्ञेयं=जानने योग्य हैं ॥१॥

वह अवस्था चतुष्टय क्या है ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों के चार चार अवस्थाओं का क्रम से नाममात्र संकीर्तन द्वारा कथन करते हैं—

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितःपटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥२॥

यथा धौतः=जैसे (चित्रपट में) धोया हुआ शुद्ध, घट्टितः=

अन्न के लेपन से घट्टित, लाञ्छितः च=स्याही के लकीरों से युक्त और, रञ्जितः=रंग से भरे हुए इस प्रकार, पटः=चार अवस्था वाला पट होता है, तथा आत्मा=उसी प्रकार परमात्मा भी, चित्=शुद्ध चैतन्य, अन्तर्यामी=माया विशिष्ट चैतन्य, सूत्रात्मा=समष्टि सूक्ष्म शरीर उपहित चैतन्य हिरण्यगर्भ, विराट् च=और विराट् इस प्रकार चार अवस्था वाला, ईर्यते=कहा जाता है।

(जैसे पट में धौतादि चार अवस्थाएं हैं उसी प्रकार परमात्मा में भी चैतन्य, अन्तर्यामी आदि चार अवस्थाएं जाननी चाहिये) ॥२॥

दृष्टान्त में स्थित अवस्थाओं का स्वरूप क्रम से उत्पादन करते हैं—

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितःस्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥

अत्र=इन चार अवस्थाओं के मध्य में, स्वतः=स्वरूप से अर्थात् किसी दूसरे द्रव्य के सम्बन्ध बिना, शुभ्रःधौतःस्यात्=स्वच्छ पट धौत (कहा जाता) है, अन्नविलेपनात्=अन्न से लिपा हुआ अर्थात् लगाया हुआ, घट्टितः=घट्टित कहा जाता है, मष्याकारैः लाञ्छितः=स्याही के आकारों से युक्त लाञ्छित, वर्ण पूरणात् और रंग के भर देने से, रञ्जितःस्यात्=रञ्जित (रंगा हुआ) कहा जाता है ॥३॥

दार्ष्टान्तिक में उन अवस्थाओं का उपपादन करते हैं—

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्म सृष्टितः ।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥४॥

परः=परमात्मा, स्वतः=स्वरूप से माया और माया कार्य रहित हुआ, चित्=शुद्ध चैतन्य रूप कहा जाता है, तु मायावी=और माया उपाधि वाला होकर, अन्तर्यामी=अन्तर्यामी कहा जाता है, सूक्ष्मसृष्टितः=अपंचीकृत पंचमहाभूत का कार्य समष्टि सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से, सूत्रात्मा=सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) कहा

जाता है, स्थूलसृष्ट्याएव = और पंचीकृत पंचमहाभूत का कार्य समष्टि स्थूल शरीररूप उपाधि सम्बन्ध से, विराट् इति उच्यते = विराट् शब्द से कहा जाता है ॥४॥

चित्रपटस्थानीय परमात्मा के आश्रित चित्रस्थानापन्न पदार्थों को कहना चाहिए ऐसी आकांक्षा की निवृत्ति के लिए अगले श्लोक में उत्तर कहते हैं –

ब्रह्माद्याः स्तम्बपर्यन्ताःप्राणिनोऽत्र जडा अपि ।

उत्तमाधमभावेन वर्तन्ते पटचित्रवत् ॥५॥

अत्र ब्रह्माद्याः इस परमात्मा में ब्रह्मा से आदि लेकर, स्तम्बपर्यन्ताः = अति सूक्ष्म कीट तक, = प्राणिनः = प्राण धारण करने वाले चेतन जीव, जडा अपि = तथा अचेतन पहाड़ नदी आदि भी, उत्तमाधमभावेन = उत्तम भाव से और अधम भाव से, पटचित्रवत्वर्तन्ते = पट में स्थितचित्र की न्यांई विद्यमान हैं ॥५॥

ब्रह्मा से आदि लेकर प्राणी जगत् चेतन क्यों है, इस में कारण कहने के लिये दृष्टान्त कहते हैं –

चित्रार्पित मनुष्याणां वस्त्राभासाःपृथक्पृथक् ।

चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥६॥

चित्रार्पितमनुष्याणां = चित्रपट में अंकित मनुष्यों का, चित्राधारेण चित्र आश्रय, वस्त्रेण सदृशा पृथक्-पृथक् वस्त्र के समान अलग-अलग वस्त्राभासाः कल्पिता अनेक वर्णयुक्त वस्त्राभास, अंकित किये जाते हैं, इव जैसे यह दृष्टान्त में है उसी प्रकार हैं ।

टि० चित्र में मनुष्य के लिये अंकित जो वर्णात्मक वस्त्र है वह शीत निवारक न होने से असल में वस्त्र नहीं किन्तु वस्त्र की न्यांई दीखता है इस लिये वस्त्राभास है ॥६॥

दार्ष्टान्तिक को कहते हुए जीवकीकल्पना में कारण भी बताते हैं –

पृथक् पृथक्चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ।

कल्प्यन्ते जीवनामानो बहुधा संसरन्त्यमी ॥७॥

चैतन्याध्यस्तदेहिनाम्=परमात्मा में कल्पित देवादि शरीरों का ही,जीवनामानः पृथक् पृथक् चिदाभासाः=जीव नाम वाले अलग अलग चिदाभास, कल्प्यन्ते=आरोप किये जाते हैं (पर्वतादिकों के लिये चिदाभास की कल्पना नहीं होती), अमी=ये जीव, बहुधा = देवता, तिर्यक्,मनुष्यादि शरीर प्राप्त करके अनेक प्रकार से, संसरन्ति =जन्म मरणादि संसार गति को प्राप्त करते हैं।

(परमात्मा निर्विकार होने से संसार गति को नहीं प्राप्त करते और संसार गति को प्राप्त करने से वे चिदाभास जीव कहे जाते हैं) ॥७॥

सभी वादी लोग तथा शास्त्रसंस्कार रहित लौकिक पुरुष आत्मा का ही यह संसार है इस प्रकार कहते हैं, इसमें क्या कारण है ऐसी आशंका उठाकर अज्ञान ही कारण है इस प्रकार उत्तर दृष्टान्त सहित कहते हैं—

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधार वस्त्रगान् ।
वदन्त्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥८॥

अज्ञाः=अविवेकी मनुष्य, वस्त्राभासस्थितान्=वस्त्राभास में स्थित, वर्णान् यद्वत्=रंगों को जैसे, आधारवस्त्रगान् वदन्ति=सबका आधार भूत धौत वस्त्र में स्थित कहते हैं, तथा=उसी प्रकार अविवेकी जन चिदाभास रूप जीव में स्थित, जीवसंसारं चिदगतं विदुः= संसार को, परमात्मा में जानते हैं ॥८॥

पर्वत नदी आदि में चिदाभास की कल्पना प्रयोजनाभाव से नहीं होती इस बात को दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं—

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ।
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ॥९॥

चित्रस्थपर्वतादीनां=चित्र में स्थित पर्वतादियों के लिये,वस्त्राभासः=कल्पित वस्त्र, न लिख्यते तथा=नहीं, बनाये जाते हैं, उसी प्रकार, सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां=सृष्टि के अन्तर्गत मिट्टी आदिकों के

लिये, **चिदाभासः न हि**=चिदाभास की कल्पना नहीं होती (क्योंकि अनावश्यक है) ॥९॥

पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा में आरोपित संसार ज्ञान के द्वारा निर्वृत्य है इसकी सिद्धि के लिये संसार का मूल अविद्या का कथन करते हैं -

संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि ।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥१०॥

अयं संसारः परमार्थः=यह द्वैत रूप संसार सत्य है, **स्वात्मवस्तुनि संलग्नः**=अपने स्वरूप आत्मा में आश्रित, **इति भ्रान्ति अविद्या स्यात्**=ऐसा यह भ्रम ही अविद्या है, **एषा**=यह भ्रान्ति रूप अविद्या, **विद्यया निवर्तते**=विद्या अर्थात् ज्ञान से निवृत्त हो जाती है ॥१०॥

यह विद्या क्या है उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है ? ऐसी आकांक्षा होने पर विद्या का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय कथन करते हैं -

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ।
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥११॥

आत्माभासस्य जीवस्य=आत्मा का आभास अर्थात् चिदाभास रूप जीव का, **संसारः**=यह संसार है, **आत्मवस्तुनः न**=आत्मरूप सत्य वस्तु का यह संसार नहीं, **इति बोधः विद्या भवेत्**=ऐसा ज्ञान ही विद्या का स्वरूप है, **असौ विचारणात्**=वह विद्या विचार से, **लभ्यते**=प्राप्त होती है ॥११॥

विचार से विद्या प्राप्त होती है इस प्रकार पूर्व श्लोक में कहा परन्तु किसके विचार से विद्या का लाभ होता है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हुए, उत्तरार्द्ध से परमात्मा का विचार तो सफल हो सकता है, क्योंकि मोक्षदशा में परमात्मा फलरूप से स्थित होता है, परन्तु जीव और जगत् के विचार का कहां उपयोग है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि जीवजगत् का निषेध द्वारा परमात्मा को अवशेष रखने में, जीवजगत् के विचार का उपयोग है—

सदा विचारयेत्तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः ।

जीवभावजगद्भाव बाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥१२॥

तस्मात् जगत् जीव परात्मनः=इसलिये जगत् जीव और परमात्मा का, **सदा विचारयेत्**=सर्वदा विचार करना चाहिये, **जीव भाव जगद्भावबाधे**=जीवपने और जगत्पने का बाध हो जाने पर, **स्वात्मा एव**=अपना स्वरूप परमात्मा ही, **शिष्यते**=अवशेष रहता है ॥१२॥

विचार द्वारा जीवभाव, जगत्भाव का बाध होने पर स्वस्वरूप आत्मा ही परिशेष से विद्यमान रहता है एतदर्थक पूर्वश्लोक में उक्त विचार से जीव और जगत् की अप्रतीति के कारण व्यवहार लोप प्राप्त होगा ऐसी आशंका करके बाध शब्द का विवक्षित अर्थ तथा उस अर्थ को न मानने पर दण्ड कहते हैं

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ।

नो चेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतोजनः ॥१३॥

अप्रतीतिः तयोः बाधः न=द्वैत प्रतीति का अभाव जीव और जगत् के बाध का अर्थ नहीं है, **किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः**=परन्तु जीव जगत् मिथ्या है इस प्रकार मिथ्यात्व का निश्चय ही बाध शब्द का अर्थ है, **नो चेत्**=यदि ऐसा नहीं मानोगे तो, **जनः सुषुप्तिमूर्छादौ** मनुष्य सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि अवस्थाओं में, **अयत्नतः**=बिना ही प्रयास अर्थात् ज्ञान के बिना ही, **मुच्यते**=मुक्त हो जायेगा ॥१३॥

अपना स्वरूप आत्मा ही परिशेष से विद्यमान रहता है, इस वाक्य से भी परमात्मा का सत्यत्वज्ञान ही विवक्षित है, तद् अतिरिक्त जगत् की विस्मृति विवक्षित नहीं, अन्यथा जीवन्मुक्ति के अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा इस वार्ता को अब कहते हैं—

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ।

न जगद्विस्मृतिर्नो चेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥१४॥

परमात्मावशेषः अपि=परमात्मा का परिशेष भी, **तत्सत्यत्व-विनिश्चयः**=एक अद्वितीय परमात्मा का निश्चय सत्यत्वरूप ही है,

जगद्विस्मृतिः न = द्वैत जगत् का भूल जाना मात्र नहीं है, (परमात्मा अवशेष का स्वरूप नहीं), नो चेत् = यदि द्वैत जगत् का विस्मरण अवशेष का अर्थ मानोगे तो, जीवन्मुक्तिः = जीवन्मुक्ति अवस्था, न संभवेत् = नहीं बनेगी (क्योंकि द्वैत का विस्मरण होने से जीवन्मुक्त का कोई भी व्यवहार सिद्ध नहीं होगा) ॥१४॥

बारहवें श्लोक में 'सदाविचारयेत्' इस उक्ति से देहपात पर्यन्त विचार को प्रशक्ति (प्रसंग प्राप्ति) होने पर विचार की अवधि कहते हैं---

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधाविचारजा ।
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥१५॥

विचारजा विद्या = विचार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान (यहां विचार शब्द से पूर्वोक्त बारहवें श्लोक के जगत् जीव और परमात्मा का विचार समझना), परोक्षा च अपरोक्षा = परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान, इति द्वेधा = इस भेद से दो प्रकार का है, तत्र अपरोक्षविद्याप्तौ = अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही, अयं विचारः समाप्यते = यह साधनरूप विचार समाप्त हो जाता है ॥१५॥

विचारजन्य ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष भेद से दो प्रकार का कहा गया, उन दोनों का स्वरूप क्रम से दिखाते हैं—

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥१६॥

ब्रह्म अस्ति इति चेत् = सत्य, ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है इस प्रकार यदि, वेद तत् परोक्षज्ञानम् एव = पुरुष जानता है तब वह परोक्षज्ञान ही है (ऐसा समझना), अहं ब्रह्म इति चेत् वेद = मैं वही ब्रह्म हूँ इस प्रकार यदि जानता है तो, सः साक्षात्कारः उच्यते = वह ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है ॥१६॥

इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार का असाधारण कारण जो आत्म तत्त्वविवेचन है, उसकी प्रतिज्ञा करते हैं—

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते ।
येनायंसर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥१७॥

येन अयं=जिस साक्षात्कार से यह अधिकारी मनुष्य, **सर्वसंसारात्**=संपूर्ण जन्ममरणादि संसार से, **सद्य एव विमुच्यते**=ज्ञान समकाल ही मुक्त हो जाता है, **तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थं**=उस आत्मतत्त्व साक्षात्कार की सिद्धि के लिये, **आत्मतत्त्वं**=आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अर्थात् असंग कूटस्थ आत्मा का, **विविच्यते**=विवेचन किया जाता है ॥१७॥

चिदात्मा का पारमार्थिक एकत्व को निश्चय करने के लिये व्यवहार दशा में प्रतीयमान चैतन्यभेद का कीर्तन नाममात्र से करते हैं क ही चैतन्य का चतुर्विध होने में दृष्टान्त कहते हैं—

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥१८॥

कूटस्थः=निर्विकार तथा देह द्वय का अधिष्ठान रूप चैतन्य, **ब्रह्म**=सर्व व्यापक सर्वाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य, **जीवेशौ इत्येवं**=तथा जीव और ईश्वर इस प्रकार, **चित् चतुर्विधा**=एक ही चैन्यय चार प्रकार का है, **यथा घटकाशमहाकाशौ**=जैसे एक ही आकाश घटाकाश और महाकाश, **जलाकाशाभ्रखे**=तथा जलाकाश और मेघाकाश रूप चार भेद वाला है ॥१८॥

घटावच्छिन्न घटाकाश और घट अनवच्छिन्न महाकाश प्रसिद्ध होने से उन दोनों का परित्याग करके अप्रसिद्ध जलाकाश प्रतिपादन करते हैं—

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बतः ।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥१९॥

घटावच्छिन्नखे यत् नीरं=घट के भीतर आये हुए आकाश में जो जल है, **तत्र प्रतिबिम्बतः**=उस जल में प्रतिबिम्ब रुप से स्थित, **साभ्रनक्षत्र आकाशः जलाकाशः**=मेघ और नक्षत्र सहित जो आकाश

है, वह जलाकाश, उदीर्यते=कहा जाता है (घट मध्यस्थ आकाश उसमें जल और जल में जो आकाश का प्रतिबिम्ब ये तीनो मिलकर जलाकाश का स्वरूप है) ॥१९॥

मेघाकाश का व्युत्पादन करते हैं--

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते ।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०॥

महाकाशस्य मध्ये=महाकाश के अन्दर, यत् मेघमण्डलं ईक्ष्यते=जो मेघ का समूह दिखाता है, तत्र जले=उस मेघमण्डल में जो जल है उसमें, प्रतिबिम्बतया स्थितः=प्रतिबिम्बरूप से स्थित हुआ आकाश, मेघाकाशः=मेघाकाश कहा जाता है अर्थात् महाकाश और मेघ और उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब ये तीनों मिलकर मेघाकाश का स्वरूप है ॥२०॥

मेघस्थ जल स्पष्ट प्रतीयमान न होने से उसमें आकाश का प्रतिबिम्ब का ज्ञान कैसे होगा ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं --

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१॥

मेघांशरूपम् उदकं=मेघ का सूक्ष्म अवयव रूप सूक्ष्म जल, तुषाराकारसंस्थितम्=वाष्पाकार से स्थित है, तत्र अयं खप्रतिबिम्बः=उससूक्ष्म जल में यह आकाश का प्रतिबिम्ब, नीरत्वात् अनुमीयते=जलत्वरूप हेतु से अनुमान द्वारा जाना जाता है।

(मेघ में स्थित जल यद्यपि प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं हो सकता, तथापि वर्षारूप कार्य से बादल में वर्षा का उपादान कारण सूक्ष्म अवयवरूप जल है, ऐसा अनुमान किया जाता है, और जलत्वरूप हेतु से वह सूक्ष्म जल आकाश का प्रतिबिम्ब वाला भी है, ऐसा अनुमान बन सकता है इसलिये मेघ के अंश जल में आकाश का प्रतिबिम्ब है ऐसा ज्ञात होता है) ॥२१॥

इस प्रकार दृष्टान्त रूप आकाश के चार भेद का प्रतिपादन करके दार्ष्टान्तिक में प्रथम उपदिष्ट कूटस्थ का व्युत्पादन करते हैं,

और उत्तरार्ध से उस अधिष्ठान चैतन्य में कूटस्थ शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बताते हैं—

अधिष्ठानतया देह द्वयावच्छिन्नचेतनः ।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥२२॥

अधिष्ठानतया—पंचीकृत पंच महाभूतों के कार्य जो स्थूलदेह हैं, और अपंचीकृत पंचमहाभूतों के कार्य जो सूक्ष्म शरीर हैं, उन दोनों के अधिष्ठानरूप से स्थित होने के कारण, **देहद्वयावच्छिन्न चेतनः**= उन दोनों देह के अन्दर आया हुआ चैतन्य, **कूटवत्**=लोहार के ऐरन की तरह, **निर्विकारेण स्थितः**=विकार रहित होकर स्थित हुआ, **कूटस्थः उच्यते**=कूटस्थ (१) चैतन्य कहा जाता है ।

टि० (१) अथवा कूट नाम अविद्या और चिदाभास का है जो मिथ्या है, उनके अधिष्ठान रूप से स्थित जो असंग चैतन्य है उसको कूटस्थ कहते हैं ॥२२॥

इस प्रकार कूटस्थ का व्युत्पादन करने के अनन्तर, जीव का स्वरूप कूटस्थ में कल्पित बुद्धि में प्रतिबिम्बरूप होने से उपाधि के पक्षपाती होने के कारण उस जीवस्वरूप का उपपादन करते हैं, और उसका जीव शब्द के अर्थ होने में निमित्त बताते हुये कूटस्थ से अतिरिक्त जीव की कल्पना निष्प्रयोजन है, इस आशंका का भी निवारण करते हैं कि अविकारी कूटस्थ का संसार असंभव है, इसलिये संसारित्व निर्वाहार्थ जीव को अंगीकार करना चाहिये—

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रति बिम्बकः ।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥२३॥

कूटस्थेकल्पिता=उस कूटस्थ चैतन्य में कल्पित, **बुद्धिः तत्र**= जो बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण है, उस बुद्धि में, **चित्प्रतिबिम्बकः**= चैतन्य का प्रतिबिम्ब अर्थात् आभास है वही चिदाभास, **प्राणानांधारणात् जीवः**=प्राणों का धारण करने से जीव नाम से कहा जाता है, **सः संसारेण युज्यते**=वही जीव जन्ममरणादि संसार से युक्त होता है (कूटस्थ नहीं) ॥२३॥

जीव से अतिरिक्त कूटस्थ यदि है तो वह प्रतीत क्यों नहीं होता इस आशंका का उत्तर दृष्टान्त सहित कहते हैं, कि जीव के द्वारा तिरोहित होने के कारण कूटस्थ का भान नहीं होता और जीवकृत ये कूटस्थ का तिरोधान शास्त्र में अन्योन्याध्यास शब्द से कहा गया है-

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः ।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥२४॥

यथा जलव्योम्ना सर्वः=जैसे जलाकाश से सम्पूर्ण, **घटाकाशः तिरोहितः**=घटाकाश छिप जाता है, **तथा जीवेन कूटस्थः**=उसी प्रकार जीव के द्वारा कूटस्थ चैतन्य भी तिरोहित हो जाता है, **सः अन्योन्याध्यासः**=वह कूटस्थ का तिरोधान ही परस्पर अध्यास (शब्द से), **उच्यते**=भाष्य आदियों में कहा गया है ॥२४॥

पूर्वोक्त अध्यास का कारणरूप अविद्या का स्वरूप भी कहना चाहिये ऐसी आशंका करके, संसार दशा में जीव और कूटस्थ के भेद की अप्रतीति ही अविद्या है, इस प्रकार समाधान करते हैं—

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ।
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ॥२५॥

अयं जीवः कूटस्थं कदाचन=यह जीव कूटस्थ चैतन्य को कभी भी **न विविनक्ति**=विवेक द्वारा पृथक् करके नहीं जानता है, **अयं अनादिः अविवेकः**=यह अनादि काल का अविवेक ही, **मूला अविद्या**=मूल अज्ञान है अर्थात् संपूर्ण अध्यासों का कारण है, **इति गम्यताम्**=इस प्रकार अविद्या का स्वरूप जानो ॥२५॥

पूर्वोक्त जीव अविद्याकल्पित है, इसके स्पष्टीकरण के लिये अविद्या का विभाग करते हैं और उत्तरार्ध से विक्षेपरूप कार्य का हेतु होने से आवरणरूप अविद्या को प्रथम दिखाते हैं—

विक्षेपावृतिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यापादनमावृतिः ॥२६॥

अविद्या=मूल अज्ञान, **विक्षेपावृतिरूपाभ्यां**=विक्षेप और आवरणरूप करके, **द्विधा व्यवस्थिता**=दो प्रकार से स्थित है, **कूटस्थः**

न भाति न अस्ति=कूटस्थ चैतन्य भासता नहीं है, और वह है भी नहीं, इति आपादनम्=इस प्रकार व्यवहार का हेतु, आवृतिः=आवरण है (आवरणरूप अविद्या है) ॥२६॥

अविद्या और अविद्याकृत आवरण के सद्भाव में क्या प्रमाण है, ऐसी आशंका उठाकर लोकानुभव ही प्रमाण है ऐसा समाधान करते हैं—

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ।
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्ध्वा वदत्यपि ॥२७॥

विदुषा पृष्टः=विद्वान् के द्वारा कूटस्थ को जानते हो क्या ? इस प्रकार पूछा हुआ, अज्ञानी कूटस्थं न प्रबुध्यते=अज्ञानी मनुष्य कूटस्थ चैतन्य को मैं नहीं जानता हूँ, कूटस्थः न भाति न अस्ति=कूटस्थ चैतन्य नहीं भासता है, और है भी नहीं, इति बुद्ध्वा वदति अपि=इस प्रकार अनुभव करके कहता भी है।

(कूटस्थ को मैं नहीं जानता हूं यह तो अज्ञान का अनुभव है, और कूटस्थ भासता नहीं है और है भी नहीं यह आवरण का अनुभव है, इस प्रकार अज्ञान और आवरण लोकानुभव सिद्ध है) इसलिये दोनों में अनुभव ही प्रमाण है ॥२७॥

शंका:—आपके मत में आत्मा स्वयं प्रकाशरूप होने से उसमें अविद्या नहीं हो सकती, क्योंकि वे दोनों प्रकाश और अंधकार की न्यांई विरुद्ध स्वभाव वाले होने से उन दोनों का सम्बन्ध नहीं बन सकता। अविद्या के अभाव सिद्ध होने पर अविद्याकृत आवरण का भी निरूपण कठिन है, और आवरण के अभाव होने पर आवरण मूलक विक्षेप भी संभव नहीं, और विक्षेप के अभाव होने पर ज्ञान के द्वारा नाश्य अनर्थ के अभाव होने से ज्ञान की व्यर्थता होगी और उसके प्रतिपादक शास्त्र अप्रमाण होगा।

समाधानः—ये सब तर्क पूर्वोक्त अनुभव से बाधित है, इस अर्थ को अब कहते हैं—

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ।
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥२८॥

स्वप्रकाशे=स्वयं प्रकाश कूटस्थ चैतन्य में, अविद्या कुतः= तमोरूप अज्ञान कैसे सिद्ध हो सकता है क्योंकि ये दोनों प्रकाश और अन्धकार की तरह विरोधी है, तां विना=और अविद्या के बिना, आवृतिः कथम्=आवरण कैसे सिद्ध होगा (आवरण का अभाव होने पर उसका कार्य विक्षेप भी असंभव है, और विक्षेप न होने पर इस अनर्थ को ज्ञान कैसे निवृत्त करेगा, तब ज्ञान निरर्थक होगा, और निरर्थक ज्ञान के प्रतिपादक शास्त्र अप्रमाण होवेगा), इत्यादितर्क जालानि=इससे आदि लेकर तर्कों के समूह को, असौ स्वानुभूतिः= अज्ञान और आवरण का साधक वह पूर्वोक्त अपना अनुभव, ग्रसति= निगल लेता है अर्थात् निवृत्त कर देता हैं ॥२८॥

उक्त तर्क का विरोध होने से अनुभव आभास रूप (अप्रमाण रूप) होने के कारण उस अनुभव से तत्त्व का निश्चय नहीं हो सकता, ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि केवल तर्क, तत्त्वनिश्चय का हेतु नहीं होता, इस बात को पूर्वपक्षी ने खुद ही अंगीकार किया, इसलिये अनुभव को प्रमाण न मानने पर तार्किक को तत्त्वनिश्चय कहीं पर भी नहीं हो सकेगा —

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ।
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥२९॥

स्वानुभूतौ अविश्वासे=अपने अनुभव में, विश्वास न करने पर (अपने अनुभव को प्रमाण रूप अंगीकार नहीं करोगे तो), तर्कस्य अनवस्थिते अपि=और केवल तर्क की अनवस्था रूप दोष, स्वयं स्वीकार करने पर भी, तार्किकंमन्यः=अपने आपको तर्क कुशल मानने वाला वादी, तत्त्वनिश्चयम्=तत्त्व अर्थात् यथार्थ स्वरूप के निश्चय को, कथं वा आप्नुयात्=किस प्रकार से प्राप्त करेगा अर्थात् निश्चय को नहीं प्राप्त कर सकता ॥२९॥

अनुभव तत्त्वनिश्चायक अवश्य ही है, तथापि अनुभव का विषय संभव है, इस प्रकार ज्ञान के लिये तर्क का भी अंगीकार करना चाहिये, इस आशंका का अनुवाद करके तब तो अनुभव के अनुसार ही तर्क करना चाहिए अनुभव के विरोधी तर्क नहीं वर्णन करना चाहिये इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

बुद्ध्यारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ।
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥३०॥

बुद्ध्यारोहाय=अनुभूत वस्तु को बुद्धि में आरूढ़ (दृढ़) करने के लिये, तर्कः चेत्=तर्क की (अनुमानादि युक्ति की) यदि, अपेक्षेत तथा सति=अपेक्षा है, तब तो, स्वानुभूत्यनुसारेण=अपने अनुभव के अनुकूल ही, तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्=तर्क करो, प्रतिकूल तर्क मत करो ॥३०॥

वह अनुभव कौन सा है, जिसके अनुसार तर्क करना चाहिये, ऐसी आशंका होने पर पूर्वोक्त अविद्या, आवरण विषयक अनुभव का स्मरण करवाते हैं

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ।
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीतितर्क्यताम् ॥३१॥

अविद्यायां च आवृतौ=अज्ञान के विषय में और आवरण के विषय में, स्वानुभूतिः प्रदर्शिता=अपना अनुभव दिखाया है (२७वें श्लोक में), अतः कूटस्थ चैतन्यं अविरोधी=इसलिये अधिष्टान रूप निर्विकार चैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं, इति तर्क्यताम्=इस प्रकार अनुकूल तर्क करो ॥३१॥

उसी तर्क को अंगुली निर्देश से दिखाते हैं, और अविद्या का विरोधी कौन है, और विवेक का अविद्या से विरोध है ये कहां देखा गया, इन आशंकाओं का उत्तर कहते हैं --

तच्चेद्विरोधि केनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ।
विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥३२॥

तत् चेत्=अविद्या और आवरण का साधक वह चैतन्य यदि, विरोधि इयं आवृतिः हि=अज्ञान का विरोधी होता तो, यह अज्ञान और आवरण, केन अनुभूयताम्=किसके द्वारा अनुभव करते, विवेकः तु=परन्तु विवेक ही (उपनिषद् विचार जन्य ज्ञान ही), अस्याः विरोध्यः=इस अविद्या का विरोधी अर्थात् बाधक है, (साक्षी चैतन्य

नहीं), तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम्=(यह वार्ता) तत्त्वज्ञानवान् में देख लो ॥३२॥

इस प्रकार अविद्या और आवरण का स्वरूप दिखाकर विक्षेपाध्यास का स्वरूप दिखाते हैं—

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३॥

अविद्यावृतकूटस्थे=पूर्वोक्त अज्ञान और आवरण से युक्त कूटस्थ प्रत्यगात्मा में, **देह द्वययुता चितिः**=स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास, **शुक्तौरूप्यवत् अध्यस्तां**=सीपि में चांदी की तरह भ्रान्ति से कल्पित है, **विक्षेपाध्यासः एव हि**=ये ही विक्षेपाध्यास अर्थात् कार्याध्यास है ॥३३॥

यह विक्षेपाध्यास है इसकी सिद्धि के लिये शुक्ति में रजताध्यास की समता दिखाते हैं—

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते ।
स्वयंत्वं वस्तुता चैव विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥३४॥

शुक्तिगं इदम् अंशः=सिपि में स्थितत्व रूप सामान्य इदं अंश, **च सत्यत्वं**=तथा अबाधितपनारूप सत्यता, **रूप्ये ईक्ष्यते**=जैसे आरोपित रजत में भासते है,**एवं स्वयंत्वं च वस्तुता**=उसी प्रकार स्वरूपता और पारमार्थिकपनारूप अधिष्ठान का सामान्य अंश, **अन्यगम् विक्षेपे वीक्ष्यते**=जो कूटस्थ में है, किन्तु कल्पित चिदाभास में प्रतीत होता है ॥३४॥

इस प्रकार सामान्य अंश की प्रतीति दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में दिखाकर विशेषांश की अप्रतीतिरूप समता अब दिखाते हैं—

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ।
असङ्गानन्दताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥३५॥

यथा शुक्तौ=जैसे सीपि में स्थित, **नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं**=सीपि का स्वरूप विशेष अंश नीली पीठ और त्रिकोण आकार, **तिरोहितम्**

=दोनों भ्रमकाल में छिप जाते हैं, एवं कूटस्थे=उसी प्रकार कूटस्थ चैतन्य में स्थित, असङ्गानन्दतादि अपि=असंगता, आनन्दरूपता, ब्रह्म से अभिन्नता आदि अधिष्ठान का विशेष अंश भी, तिरोहितम्=छिप जाता हैं ॥३५॥

अन्य समता भी दिखाते हैं --

आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यं नाम यथा तथा ।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६॥

दृष्टान्ते आरोपितस्य=शुक्ति रजत स्थल में, कल्पित पदार्थ का, रूप्यं नाम यथा=रूप्य यह नाम जैसे है, तथा कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहम्=उसी प्रकार कूटस्थ में कल्पित चिदभास रूप विक्षेप का अहम् यह नाम है, इतिनिश्चयः=इस प्रकार का निश्चय है ॥३६॥

दृष्टान्त में पूर्वोक्त पुरोवर्ती शुक्ति खण्ड में इन्द्रिय संनिकर्ष होने पर यह रूपा है इस प्रकार अभिमान बन सकता, परन्तु दार्ष्टान्तिक में आत्मा से अतिरिक्त वस्तु का अभिमान नहीं बन सकता, इस वास्ते दृष्टान्त विषम है, ऐसी आशंका उठाकर दार्ष्टान्तिक में स्वयं प्रकाशरूप से भासमान चिदात्मा में उससे अतिरिक्त अहं अभिमान का अनुभव होता है, अतः वैषम्य नहीं इस अभिप्राय से उत्तर कहते हैं --

इदमंशंस्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥३७॥

स्वतः इदम् अंशं पश्यन्=स्वरूप से अधिष्ठान शुक्ति का सामान्य अंश इदम् को देखता हुआ, रूप्यम् इति अभिमन्यते=यह रूपा है, इस प्रकार अभिमान करता है,तथा स्वतः स्वं च=उसी प्रकार स्वरूप से कूटस्थ के सामान्य स्वरूप को, पश्यन् अहम्=अनुभव करता हुआ उससे भिन्न चिदाभास यह मैं हूँ, इति अभिमन्यते=इस प्रकार अभिमान करता है ॥३७॥

स्वयं और अहं दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है, इसलिये दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों की समता कैसे होगी, ऐसी आशंका

करके इदं और रूपा इन दोनों शब्दों के अर्थों का, और स्वयं, अहं इन दोनों शब्दों के अर्थों का सामान्य विशेष भाव दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों में समान ही है, इस वास्ते उक्त आशंका नहीं बन सकती इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

इदंत्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम् ।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥३८॥

इदंत्व रूप्यते=जैसे दृष्टान्त में इदंता और रूप्यता अर्थात् इदं अंश, तथा रूपा अंश क्रम से अधिष्ठान का सामान्य अंश तथा कल्पित का विशेष अंश, **भिन्ने**=दोनों भिन्न भिन्न समझे जाते हैं, तथा **स्वत्वाहन्ते**=उसी प्रकार, अधिष्ठान कूटस्थ का स्वसामान्य अंश, और आरोपित चिदाभास रूप कल्पित विशेष अंश अहम् को भी, **इष्यताम्**=भिन्न भिन्न मानना चाहिये, क्योंकि **उभयत्र अपि**=दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक उभय स्थल में भी, **सामान्यं च**=सामान्य अंश और **विशेषः च गम्यते**=विशेष अंश अलग अलग ही प्रतीत होता है ॥३८॥

स्वयं शब्दार्थ की सामान्यरूपता को स्पष्ट करने के लिये लौकिक प्रयोग दिखाते हैं—

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥३९॥

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्=देवदत्त नाम वाला मनुष्य खुद जावें, **त्वं स्वयं वीक्षस्व**=तुम खुद देखो, तथा **अहं स्वयं न शक्नोमि**=और मैं खुद नहीं समर्थ हूँ, **इति एवं लोके**=इस प्रकार लोक व्यवहार में, **प्रयुज्यते**=प्रयोग किया जाता है अर्थात् स्वयं शब्द का प्रयोग हर एक के साथ अनुगत रूप से किया जाता है ॥३९॥

लोक में इस प्रकार का प्रयोग भले ही हो, तथापि उक्त प्रयोग मात्र से स्वयं शब्दार्थ की सामान्य अंशरूपता कैसे सिद्ध हुई, ऐसी आशंका उठाकर इदं शब्दार्थ की न्यांई जानना ऐसा उत्तर कहते हैं—

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ।
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते ॥४०॥

इदं रूप्यम् इदं वस्त्रं=यह रूपा है, यह वस्त्र है, **इति यद्वद्**= इत्यादि सर्वत्र व्यवहार में जैसे, **इदं**=इदं शब्द का प्रयोग होने से उसका सामान्य अंश माना जाता है, **तथा असौ त्वं अहं इति एषु**= उसी प्रकार वह, तुम और मैं इत्यादि सर्वत्र, **स्वयं इति अभिमन्यते**= स्वयं शब्द का प्रयोग होने से उसका अर्थ भी, सामान्य अंशरूप ज्ञात होता है ॥४०॥

स्वयंशब्द और अहंशब्द का लोक में भेद भले ही होवे, परन्तु इससे कूटस्थ आत्मा में क्या आया, इस प्रकार प्रश्न पूर्वार्ध से करते हैं और उत्तरार्ध सामान्य अंशरूप स्वयं शब्द का अर्थ ही कूटस्थ है, ये प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसा उत्तर कहते हैं—

अहन्त्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ।
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥४१॥

अहन्त्वात् स्वत्वं=अहम् शब्द के अर्थ से स्वयं शब्द का अर्थ, **भिद्यतां**=भले ही भिन्न सिद्ध होवे, **तेन कूटस्थे**=परन्तु उससे कूटस्थ चैतन्य में, **तव किं**=तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? **स्वयंशब्दार्थ एव एष कूटस्थः**=स्वयं शब्द का अर्थ ही यह कूटस्थ चैतन्य है, **इति मे भवेत्**=इस प्रकार मेरा प्रयोजन सिद्ध हुआ ॥४१॥

स्वत्वरूप धर्म अन्यत्व धर्म का निषेध करता है, कूटस्थत्व धर्मको नहीं बोधन करता ऐसी आशंका करके स्वयं शब्दार्थ कूटस्थ ही आत्म स्वरूप है इसलिये स्वत्व धर्म से अन्य का वारण हमको भी इष्ट है, इस प्रकार परिहार करते हैं –

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ।
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ॥४२॥

स्वत्वम् अन्यत्ववारकं=स्वयं का धर्म जो स्वत्व है, वह अन्यत्व धर्म वाले अन्य का निषेध करने वाला है, **इति चेत्**=

इसलिये कूटस्थ का बोधक नहीं यदि ऐसा कहते हो तो, कूटस्थस्य आत्मतां=कूटस्थ ही आत्मा होने के कारण, उसकी आत्म रूपता को, वक्तुः तत्=कहने वाले के लिये वह, अन्यवारणम्=स्वयं शब्द से अन्य का निषेध रूप अर्थ, इष्टम् एव हि भवेत्=अभिलषित ही है ॥४२॥

गौ अश्वादि शब्द की न्यांई स्वयं तथा आत्म शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त भिन्न भिन्न होने से, स्वयं और आत्म शब्द का अर्थ एक नहीं हो सकता, इसलिये स्वयं शब्दार्थ कूटस्थ की आत्मरूपता कैसे होगी, ऐसी आशंका करके हस्त कर आदि शब्द की न्यांई उन दोनों की एकार्थता (स्वयं और आत्मा दोनों शब्दों की एकार्थता) बन सकती इस प्रकार परिहार हेतु सहित करते हैं —

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥४३॥

स्वयम् आत्मा=स्वयं शब्द और आत्म शब्द, इति पर्यायौ=ये दोनों, एकार्थवाचक शब्द है, तेन लोके तयोः=इसलिये, लोक में, उन दो शब्दों का, सह प्रयोगः न अस्ति=एक साथ प्रयोग नहीं होता है, अतः स्वत्वं=इसलिये स्वयं शब्द (स्वयं का धर्म), आत्मत्वं च=और आत्म शब्द (आत्मा का धर्म), अन्यवारकम्=दूसरे का (अपने से अतिरिक्त का) निषेधक है ॥४३॥

घटादि अचेतन पदार्थों में भी स्वयं शब्द का प्रयोग दृष्ट होता है, इसलिये स्वयं और आत्म शब्द की एकार्थता नहीं घटती, ऐसी आशंका उठाकर, घटादि अचेतन पदार्थों में भी स्फुरण रूप से आत्म चैतन्य विद्यमान है, इसलिये उनमें भी स्वयं शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ।
अचेतनेषु दृष्टं चेद्दृश्यतामात्मसत्त्वतः ॥४४॥

घटः स्वयं न जानाति=घट खुद किसी को भी नहीं जानता है इति एवं स्वत्वं=इस प्रकार के प्रयोग से स्वत्वरूप (स्वयं का) धर्म,

घटादिषु अचेतनेषु=घटादि अचेतन पदार्थों में भी, दृष्टम्=देखागया है (इसलिये घटादि अनात्म पदार्थों में स्वत्व रहने पर भी आत्मत्व नहीं रह सकता फिर स्वत्व और आत्मत्व एक कैसे ?), चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, आत्मसत्त्वतः=घटादियों में स्फुरण रूप चैतन्य विद्यमान होने के कारण आत्मा भी है ही, इसलिये स्वयं शब्द का प्रयोग घटादियों में विरुद्ध नहीं है, दृश्यताम्=इस प्रकार देखो अर्थात् समझो ॥४४॥

घटादियों में आत्म चैतन्यादि विद्यमान है, तो चेतन और अचेतन का विभाग के प्रति निमित्त क्या होगा, ऐसी आशंका उठाकर चेतन अचेतन विभाग के प्रति चिदाभास की विद्यमानता और अविद्यमानता रूप कारण वर्तमान है, इसलिये तुम्हारी शंका नहीं बनती इस प्रकार परिहार करते हैं—

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि ।
किंतु बुद्धिकृताऽऽभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥४५॥

चेतनाचेतनभिदा=चेतन और अचेतन (जड) का विभाग, कूटस्थात्मकृता न हि=कूटस्थ चैतन्य रूप आत्मा की विद्यमानता अथवा अविद्यमानता के कारण नहीं है, किंतु बुद्धिकृताऽऽभासकृता एव=परन्तु बुद्धि में स्थित चिदाभास के सत्व और असत्व के कारण ही है, इति अवगम्यताम्=इस प्रकार जानो ॥४५॥

चेतन और अचेतन का विभाग चिदाभास का सत्व और असत्व निमित्तक अंगीकार करोगे तो अचेतन घटादिकों में आत्म सत्त्व को मानना निष्प्रयोजन हो जायेगा ऐसी आशंका उठाकर चेतन और अचेतन के विभाग के हेतुरूप से कूटस्थात्मा का अंगीकार अनात्म पदार्थों में निष्प्रयोजन होने पर भी अचेतन की कल्पना के अधिष्ठान रूप से कूटस्थ का अंगीकार करना ही चाहिये,इस अभिप्राय से घटादि का कूटस्थ में कल्पितत्व दृष्टान्त सहित कहते हैं—

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः ।
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥४६॥

यथा चेतन आभासः=जैसे चेतन चिदाभास (चैतन्य का प्रतिबिम्ब), **कूटस्थे भ्रान्तिकल्पितः**=कूटस्थ रूप आत्मचैतन्य में भ्रम से आरोपित है, **तथा अचेतनः घटादिः च**=उसी प्रकार जड़ घट आदि पदार्थ भी, **तत्र एव कल्पितः**=उसी निर्विकार चैतन्य में ही आरोपित है; तात्पर्य यह है कि कल्पित जड़ अथवा चेतन के अधिष्ठान रूप से आत्मचैतन्य को सर्वत्र मानना आवश्यक है ॥४६॥

स्वत्व और आत्मत्व की एकता मानने पर अति प्रसंग की आशंका करते हैं—

तत्तेदन्ते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ।
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥४७॥

त्वम् अहमादिषु=तुम मैं तथा इससे आदि लेकर सर्वत्र, **स्वत्वम् इव**=स्वत्व की न्यांई (जैसे स्वत्व अनुगत है उसी तरह), **तत्तेदन्ते अपि**=तत्ता और इदंता भी, **सर्वत्र अनुगते**=सब जगह अनुगत है, **तेन तयोः अपि**=तिस कारण से तत्ता और इदन्ता दोनों की भी, **आत्मता**=आत्मरूपता क्यों नहीं होगी, **इति चेत्**=इस प्रकार यदि आशंका है तो (उत्तर यह है कि) ॥४७॥

तत्ता तथा इदंता ये दोनों आत्मत्व की अपेक्षा अधिक देश में विद्यमान हैं इसलिये वे दोनों आत्मत्वस्वरूप नहीं हो सकते इस प्रकार उत्तर कहते हुए उसमें दृष्टान्त भी कथन करते हैं

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदन्ते ततस्तयोः ।
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥४८॥

ते तत्तेदन्ते=वे तत्ता और इदंता दोनों (स्वत्व की तरह यद्यपि त्वं अहम् आदियों में अनुगत है तथापि), **आत्मत्वे अपि अनुगते**=उनमें अनुगत जो आत्मत्व है, उस आत्मत्व में भी अनुगत है, **ततः तयोः**=इसलिये वह तत्ता और इदंता, **आत्मत्वम् न एव संभाव्यं**=आत्मा का स्वरुप नहीं हो सकता, **यथा सम्यक्त्वादेः**=जैसे सम्यक्त्व, असम्यक्त्व आदि आत्मा में अनुगत होने के कारण, उनकी आत्मरूपता नहीं है, **तथा**=उसी प्रकार प्रकृत में भी जानना ॥४८॥

इस प्रकार प्रसंग में प्राप्त की परिसमाप्ति करके फलितार्थ को दिखाने के लिये लोक व्यवहार सिद्ध अर्थ का अनुवाद करते हैं --

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे त्वन्ताहन्ते परस्परम् ।

प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥४९॥

तत्तेदन्ते स्वतान्यत्वे=तत्ता और इदंता दोनों धर्म, स्वत्वधर्म और अन्यत्व धर्म दोनों, त्वन्ताहन्ते परस्परम्=उसी प्रकार त्वन्ता और अहन्ता दोनों धर्म आपस में एक दूसरे के, प्रतिद्वन्द्वितया लोके प्रसिद्धे=विरोधी रूप से संसार में प्रसिद्ध है, संशयः नास्ति=इस विषय में सन्देह नहीं है।

(तात्पर्य यह है कि तत्ता का विरोधी रूप करके इदंता का प्रयोग लोक में होता है, और उसी प्रकार स्वत्व का विरोधी रूप से अन्यत्व का प्रयोग, और त्वन्ता धर्म के विरोधी रूप से अहंता का प्रयोग देखने में आता, इसलिये इनका विरोध प्रसिद्ध ही हैं) ॥४९॥

लोक में वैसा ही हो, परन्तु प्रकृत में क्या आया, इस आशंका का उत्तर कहते हैं—

अन्यतायाःप्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ।

त्वन्तायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥५०॥

अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी=अन्यत्व धर्मका प्रतियोगी अर्थात् विरोधी, स्वयं कूटस्थइष्यताम्=स्वयं शब्द का अर्थ कूटस्थ चैतन्य मानो, त्वन्तायाः प्रतियोगी=और त्वं शब्द के अर्थ का विरोधी,एषः अहम् इति=यह अहं शब्द का अर्थ चिदाभास हैं, आत्मनि कल्पितः=वह चिदाभास कूटस्थरूप आत्मा में भ्रान्ति से कल्पित है ॥५०॥

उक्त प्रकार से जीव और कूटस्थ का भेद होने पर भी सब लोग इस प्रकार क्यों नहीं जानते हैं ऐसी आशंका उठाकर उत्तर कहते हैं—

अहन्तास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदन्तयोरिव ।

स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥५१॥

रूप्यतेदन्तयोः इव=रूपा और शुक्ति के इदम् अंश की तरह

(जैसे अधिष्ठान शुक्ति का सामान्य अंश इदम् और आरोपित का विशेष अंश रूपा इन दोनों का भेद होने पर भी एकता की प्रतीति "इदं राजतं" इस प्रकार से होती है उसी प्रकार), अहन्तास्वत्वयोः भेदे = चिदाभास और कूटस्थ का भेद, स्पष्टे अपि मोहम् आपन्ना = स्पष्ट होने पर भी अविवेक को प्राप्त हुए मनुष्य, एकत्वं प्रतिपेदिरे = दोनों के अभेद को भ्रान्ति से जानने लगे (क्योंकि बुद्धि के साक्षी-कूटस्थ बुद्धि के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकते) ॥५१॥

जीव और कूटस्थ के अभेद भ्रम का कारण क्या है ? ऐसी अपेक्षा होने पर उसका उत्तर कहते हुए तादात्म्याध्यास अविद्या का कार्य है, इसलिये अविद्यानिवर्त्तक ज्ञान के द्वारा ही अध्यास की भी निवृत्ति हो जायेगी इस अर्थ को कहते हैं

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ।
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥५२॥

अत्र = इस प्रकरण में ("अनादिरविवेकोयं" इस श्लोक में), पूर्वोक्तऽविद्यया एव = पहले कही हुई मूल अविद्या (अज्ञान) से ही, तादात्म्याध्यासः कृतः = जीव और कूटस्थ का अभेद भ्रम उत्पन्न हुआ है, अविद्यायां निवृत्तायां = उस मूल अज्ञान की ज्ञान के द्वारा निवृत्ति होने पर, तत्कार्यं = अज्ञान का कार्य (यह तादात्म्याध्यास रूप अभेद भ्रम), विनिवर्तते = निवृत्त हो जाता है ॥५२॥

अध्यास अविद्या का कार्य होने से अविद्या निवृत्ति द्वारा अध्यास की निवृत्ति होगी, यह वार्ता संभव नहीं, क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्वविद्या उत्पन्न होने पर भी अविद्या का कार्य घटादि उपलब्ध होता है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

अविद्याऽऽवृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ।
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥५३॥

अविद्यावृतितादात्म्ये = अज्ञान ही है एक मात्र कारण जिसके ऐसे आवरण और तादात्म्याध्यास दोनों, विद्यया एव विनश्यतः = ज्ञान से ही (अविद्या नाश के अनन्तर) नष्ट हो जाते हैं, तु विक्षेपस्य

स्वरूपं=परन्तु कर्म सहित अज्ञान से उत्पन्न विक्षेप का स्वरूप देहादि प्रारब्धक्षयम् ईक्षते=प्रारब्ध कर्म के नाश की अपेक्षा रखता है।

(इसलिये प्रारब्धकर्म के नाश तक देहादि विक्षेप का अवस्थान बन सकता है) ॥५३॥

प्रारब्धकर्म निमित्त मात्र ही है, इसलिये प्रारब्धकर्म के सद्भाव मात्र से उपादान के नाश होने पर भी कार्य कैसे बना रह सकता है, ऐसी आशंका उठाकर दूसरे शास्त्र में प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा कार्य की अनुवृत्ति (बना रहने) की संभावना दिखाते हैं –

उपादाने विनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ।
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किं न संभवेत् ॥५४॥

उपादाने विनष्टे अपि=उपादान कारण के नष्ट हो जाने पर भी, कार्यं क्षणं प्रतीक्षते=कार्य एक क्षण तक ठहरता है, इति तार्किकाः आहुः=इस प्रकार नैयायिकों ने कहा है, तद्वद् अस्माकं=उसी प्रकार हमारे वेदान्त मत में भी, किं न संभवेत्=क्यों नहीं संभव होगा ॥५४॥

तार्किकों ने कार्य का क्षण मात्र अवस्थान अंगीकार किया है, चिरकाल तक नहीं, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं –

तन्तूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ।
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥५५॥

दिनसंख्यानां तन्तूनां=दिनों से जिनकी आयु की गणना हो सकती है ऐसे सूत्रों का, तैः तादृक् क्षण ईरितः=उन नैयायिकों ने उसी के योग्य अल्प समय रूप क्षण पट के नाश के प्रति कहा है, असंख्यकल्पस्य भ्रमस्य=असंख्यात कल्पों की, विक्षेप भ्रान्ति का, योग्यः क्षणः=उपयुक्त क्षण, इह इष्यतां=इस प्रसंग में वेदान्तशास्त्र के अन्दर मानना चाहिये।

टि०–कुलालचक्र के भ्रमण की न्यांई अनादि काल से अनुवृत्त संसार की अज्ञान नाश के अनन्तर भी चिरकाल अनुवृत्ति संस्कारवश विरुद्ध नहीं है ॥५५॥

तार्किकों ने जैसा अयुक्त कथन किया उसी प्रकार आपने भी, ऐसी आशंका करके अपनी उक्ति में सिद्धान्ती उससे विषमता दिखाते हैं—

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किंनु दुःशकम् ॥५६॥

क्षोद क्षमं मानं विना=विचार को सहन करने वाले प्रमाण के बिना ही, तैः वृथा परिकल्प्यते=उन तार्किकों ने व्यर्थ ही कल्पना की है, परन्तु, श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः='तस्य तावदेव चिरं' इत्यादि श्रुति, चक्र भ्रमादि दृष्टान्त रूप युक्ति, और विद्वानों का अनुभव रूप प्रमाणों से, वदतां किंनु दुःशकम्=बोलने वाले हम वेदान्तियों के लिये क्या, कहना अशक्य है ? ॥५६॥

प्रकृत का अनुसरण करते हैं—

आस्तां कुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ।

स्वाऽहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥५७॥

कुस्तार्किकैः साकं विवादः आस्तां=कुतार्किकों के साथ वाद-प्रतिवाद रहने दो, प्रकृतं ब्रुवे=अब प्रसंग में प्राप्त विषयोंकोकहता हूँ, स्वाहमोः=स्वयं शब्द और अहं शब्द के अर्थ, कूटस्थ परिणामिनोः=निर्विकार कूटस्थ चैतन्य और विकारी चिदाभास दोनों की, एकत्वं सिद्धम्=एकता अर्थात् अभेद, भ्रान्ति से सिद्ध हुई ॥५७॥

कूटस्थ और जीव की एकता यदि भ्रान्ति से सिद्ध है तो वह भ्रम सिद्ध है इस बात को कुछ शास्त्रवेत्ता भी क्यों नहीं जानते ? ऐसी आशंका उठाकर श्रुतितात्पर्यपर्यालोचना रहित होने से नहीं जानते हैं ऐसा उत्तर कहते हैं :

भ्राम्यन्ते पण्डितंमन्याः सर्वे लौकिकतार्किकाः ।

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥५८॥

पण्डितंमन्याः=(विवेकी अर्थात् पण्डित न होते हुए भी) अपने आपको पण्डित मानने वाले, सर्वे लौकिकतार्किकाः=सब शास्त्र संस्कार रहित तथा शास्त्र संस्कारयुक्त लोगों ने, श्रुतिं मौर्ख्यात् अना-

दृत्य=श्रुति का मूर्खता वश अनादर करके, केवलां युक्तिं आश्रिताः= और इसलिये केवल युक्ति का (तर्क का) आश्रय लेते हुये, भ्राम्यन्ते= भ्रान्ति को प्राप्त होते हैं; (इसी कारण से कूटस्थ और चिदाभास की एकता को भ्रान्ति सिद्ध नहीं जानते) ॥५८॥

श्रुति के अर्थ के अच्छे वक्ता कुछ लोग भी इस प्रकार क्यों नहीं जानते हैं, ऐसी आशंका उठाकर उनको भी पूर्णतया श्रुत्यर्थ पर्यालोचना का अभाव है, इसलिये नहीं जानते ऐसा उत्तर कहते हैं-

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ।
वाक्याभासान्स्वस्वपक्षे योजयन्त्यप्यलज्जया ॥५९॥

तत्र केचन=पूर्वोक्त विषय में श्रुति के अर्थ विचार करने वाले भी कुछ लोग, पूर्वापरपरामर्शविकलाः=पूर्व कहे हुए तथा बाद में कहे हुए अर्थ के अनुसंधान रहित होने के कारण अर्थात् संपूर्ण वेदार्थ के विवेचन रहित होने से (उक्त प्रकार से नहीं जानते हैं किन्तु), स्वस्वपक्षे वाक्याभासान्=अपने अपने पक्ष में वाक्याभासों को, अलज्जया योजयन्ति अपि=लज्जा रहित होकर जोड़ते भी रहते हैं, (अर्थात् जिस वाक्य का जिस अर्थ में तात्पर्य नहीं, उस अर्थ में तात्पर्य रहित वाक्य को वाक्याभास कहते हैं, ऐसे वाक्याभास को अपने अपने पक्ष की सिद्धि के लिये प्रमाण रूप से कहते हैं)॥५९॥

न जानने वालों में एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण का अंगीकार करने से अति स्थूल (लोकायत) चार्वाकादि के पक्ष का अनुवाद पहले करते हैं—

कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्यात्मतां जगुः ।
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥६०॥

लोकायताः च पामराः=चार्वाक मतवाले नास्तिकों ने तथा पामरों ने, प्रत्यक्षाभासम् आश्रिताः=भ्रम रूप प्रत्यक्ष को आश्रय करके, कूटस्थादिशरीरान्तसंघातस्य=कूटस्थ चैतन्य से आदि लेकर स्थूल शरीर पर्यन्त समूह को, आत्मतां जगुः=आत्मा का स्वरूप कहा है ॥६०॥

वे यद्यपि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते है, तथापि दूसरे के व्यामोह के लिये अपने मत को श्रुति सिद्ध दिखाने के लिए श्रुति वाक्य का उदाहरण भी देते हैं --

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा ।
विरोचनस्य सिद्धान्तं प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे ॥६१॥

ते स्वपक्षं=वे चार्वाक तथा पामर लोग अपने पक्ष को (देहादि संघात ही आत्मा है, इस पक्ष को), **श्रौतीकर्तुं**=श्रुतिप्रमाण से सिद्ध दिखाने के लिये, **अन्नमयं कोशम्**=अन्नमय कोश के प्रतिपादक श्रुति वाक्य को, तथा **विरोचनस्य सिद्धान्तं**=और विरोचन के सिद्धान्त को (स्थूल देह ही आत्मा है इस सिद्धान्त को अर्थात् इस सिद्धान्त के प्रतिपादक वाक्य को), **प्रमाणं प्रतिजज्ञिरे**=प्रमाण रूप से कथन करते हैं, किन्तु प्रतिपादन नहीं कर सकते ॥६१॥

इस मत में दोष प्रदर्शन पूर्वक मतान्तर को दिखाते हैं --

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात् ।
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥६२॥

अत्र=इस मत में (दोष दिखाकर मतान्तर कहते हैं), **जीवात्मनिर्गमे**=जीवात्मा के देह से बाहर निकल जाने पर, **देहमरणस्य दर्शनात्**=स्थूल शरीर का मरण अर्थात् नाश देखा गया है, इस कारण से, **देहातिरिक्त एव आत्मा**=स्थूल देह से भिन्न ही आत्मा का स्वरूप है, **इति परे लोकायताः आहुः**=इस प्रकार दूसरे चार्वाकों ने कहा है ॥६२॥

देहातिरिक्त आत्मा कीदृश है और किस प्रमाण से अवगत हो सकता है, ऐसी आशंका होने पर समाधान कहते हैं

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधीर्देहातिरेकिणम् ।
गम्येदिन्द्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥६३॥

वच्मि इत्यादि प्रयोगतः=मैं बोलता हूँ, इत्यादि प्रयोग के देखने से, **प्रत्यक्षत्वे न अभिमताहंधीः**=प्रत्यक्ष प्रमाण रूप से संमत

अहं बुद्धि अर्थात् अनुभव, देहातिरेकिणम् इन्द्रियात्मानं गमयेत्=स्थूल देह से भिन्न इन्द्रिय रूप आत्मा को बोधन करता है ॥६३॥

इन्द्रिय सब अचेतन है, फिर उनकी आत्मता कैसे सिद्ध हो सकती है, ऐसी आशंका करके श्रुतियों में इन्द्रियों का आपस में संवाद सुना गया है, इसलिये उनकी अचेतनता असिद्ध है, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

वागादीनामिन्द्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ।
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्वं तत एव हि ॥६४॥

वागादीनां इन्द्रियाणां=वाक् चक्षु आदि इन्द्रियों का, कलहः श्रुतिषु श्रुतः=आपस में विवाद श्रुतियों में सुना गया है, तेन=(जिस कारण से चेतनता विना विवाद नहीं बन सकता) तिस कारण से, एतेषाम् चैतन्यम्=इन इन्द्रियों की चेतना सिद्ध होती है, ततः एव हि आत्मत्वं=और चेतन होने के कारण ही ये इन्द्रियां आत्म रूप हैं (क्योंकि चेतन को ही आत्मा कहते हैं) ॥६४॥

अब मतान्तर को उठाते हैं—

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ।
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ॥६५॥

प्राणात्मवादिनः=प्राणों को आत्मा मानने वाले वादी, हैरण्यगर्भाः तु=हिरण्यगर्भ के उपासकों ने तो, एवम् ऊचिरे=इस प्रकार कहा है कि, चक्षुराद्यक्षलोपे अपि=चक्षु वाक् आदि इन्द्रियों के अभाव होने पर भी, प्राणसत्त्वे तु=प्राण के विद्यमान होने पर तो, जीवति=यह शरीर जीवित रहता है (इसलिये प्राण ही आत्मा है) ॥६५॥

प्राण आत्मा है इस विषय में श्रुति उक्त लिंगों को दिखाते हैं—

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रेष्ठयादिकं श्रुतम् ।
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपञ्चितः ॥६६॥

प्राणः सुप्ते अपि जागर्ति=प्राण ही सुषुप्ति अवस्था में भी जागता रहता है, प्राणश्रेष्ठयादिकं=प्राण की श्रेष्ठता और शरीर

में प्रवेश तथा प्राणों की संवाद ये सब, श्रुतम्=श्रुतियों में सुने गये हैं, प्राणमयः कोशः विस्तरेण=प्राणमय कोश विस्तार से, सम्यक् प्रपञ्चितः=भली भाँति कहा गया है (इसलिये प्राण ही आत्मा है) ॥६६॥

प्राण के भीतर मन आत्मा है इस प्रकार मानने वाले वादी का मत दिखाते हुए प्राण आत्मा नहीं इसमें युक्ति को कहते हैं—

मन आत्मेति मन्यन्त उपासनपरा जनाः ।
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ॥६७॥

मनः आत्मा इति=मन ही आत्मा है, इस प्रकार, उपासन पराः जनाः मन्यन्ते=उपासना में तत्पर उपासक लोग मानते हैं,प्राणस्य अभोक्तृता स्पष्टा=प्राण का अभोक्तापन (प्राण भोक्ता नहीं यह वार्ता) स्पष्ट ही हैं, ततः मनसः भोक्तृत्वं=इसलिये मन ही भोक्ता हैं ॥६७॥

मन की आत्मा स्वरूपता में युक्ति प्रतिपादक श्रुतिप्रमाण कहते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ॥६८॥

मनः एव मनुष्याणाम्=मन ही मनुष्यों का, बन्धमोक्षयोः कारणं=बन्ध और मोक्ष दोनों के प्रति कारण है, मनोमयः कोशः श्रुतः=मनोमयः कोश श्रुतियों में आत्म रूप कहा गया है, तेन मनः आत्मा इति ईरितं=तिस कारण से मन ही आत्मा है, इस प्रकार कहा गया हैं ॥६८॥

मन का भी आन्तर विज्ञान आत्मा है ऐसे मतवाले वादी बौद्ध का मत दिखाते हैं, और विज्ञान की आन्तरता में युक्ति भी कहते हैं—

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ।
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥६९॥

परे क्षणिकवादिनः=दूसरे क्षणिकविज्ञान वादियों ने, विज्ञानं

आत्मा=प्रतिक्षण उत्पत्ति विनाश वाली बुद्धि ही आत्मा है, इति आहुः=इस प्रकार कहा है, यतः मनसः विज्ञान मूलत्वं=क्योंकि मन का विज्ञान अर्थात् बुद्धि ही कारण है, यह वार्ता, स्फुटम् गम्यते= स्पष्ट ही ज्ञात होती है ॥६९॥

विज्ञान और मन इन दोनों शब्दों का वाच्यार्थ अन्तःकरण एक ही हैं, इसलिये मन और विज्ञान का कार्यकारण भाव कैसे सिद्ध हो सकता है, ऐसी आशंका उठाकर कार्यकारण भाव का उपपादन करने के लिये मन तथा विज्ञान दोनों का भेद प्रथम दिखाते हैं—

अहवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यन्तः करणं द्विधा ।
विज्ञानं स्यादहं वृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥७०॥

अहं वृत्तिः इदंवृत्तिः=मैं हूँ इस प्रकार अन्तःकरण वृत्ति, और यह है इस प्रकार अन्तःकरणवृत्ति, इति अन्तःकरणं द्विधा=इस भेद से अन्तःकरण दो प्रकार का है उन दोनों में, अहंवृत्तिः विज्ञानं स्यात् =अहमाकार अन्तःकरण परिणामरूप वृत्ति ही विज्ञान है, इदंवृत्तिः मनो भवेत्=और इदं आकार अन्तःकरण परिणामरूप वृत्ति का नाम मन है ॥७०॥

अब मन और विज्ञान इन दोनों का कार्यकारणभाव दिखाते हैं और उसका उपपादन भी करते हैं—

अहं प्रत्यय बीजत्वमिदं वृत्तेरिति स्फुटम् ।
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित् ॥७१॥

इदंवृत्तेः अहं प्रत्ययबीजत्वं=इदं आकार वृत्ति का अहं आकार वृत्ति ही कारण है, इति स्फुटम्=यह स्पष्ट ही है, क्योंकि स्वमात्मानं अविदित्वा=अपने स्वरूप को जाने बिना, बाह्यं क्वचित्= बाह्य घटादि पदार्थों को कहीं पर भी किसी काल में, भी (कोई भी) न तु वेत्ति=नहीं जानता हैं (इसलिये मन का कारण क्षणिक रूप बुद्धि है, और वही आत्मा है) ॥७१॥ * विज्ञान

विज्ञान क्षणिक है, इसमें अनुभव प्रमाण देते हैं, और क्षणिकत्व का उपपादन करके स्वप्रकाशत्व का भी उपपादन करते हैं—

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मितौ यतः ।

विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ॥७२॥

यतः अहंवृत्तेः=जिस कारण से अहंवृत्ति रूप विज्ञान के, जन्म नाशौ क्षणेक्षणे मितौ=उत्पत्ति और नाश प्रतिक्षण ज्ञात होता है, तेन विज्ञानं क्षणिकं=तिस कारण, विज्ञान अर्थात् बुद्धि क्षणिक है अर्थात् प्रतिक्षण परिणामी है, स्वतः मितेः=और स्वभाव से आप ही आप ज्ञात होने के कारण (अन्य की अपेक्षा बिना ही अपने आपको जानता है इसलिए), स्वप्रकाशं=वह विज्ञान स्वयंप्रकाशरूप है ॥७२॥

विज्ञान की आत्मस्वरूपता में आगम प्रमाण है, इस वार्ता को कहते हैं—

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ।

सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥७३॥

अयं विज्ञानमयकोशः जीवः=यह विज्ञानमय कोश जीवात्मा है, इति आगमा जगुः=इस प्रकार वेदों ने कहा है (तैत्तरीय उपनिषद् में "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" इस वाक्य ने विज्ञानमय को आत्मा कहा है), जन्मनाशसुखादिकः=जन्मजरण सुखदुःखादि, सर्वसंसारः एतस्य=संपूर्ण संसार इस जीव का ही है ॥७३॥

बौद्ध का ही दूसरा संप्रदाय शून्यवादी का मत दिखाते हैं—

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ।

अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥७४॥

विज्ञानं क्षणिकं=वह बुद्धिरूप विज्ञान प्रतिक्षण उत्पत्ति विनाशशील है, आत्मा न=इसलिये आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता, विद्युदभ्रनिमेषवत्=जैसे प्रतिक्षण परिणामी बिजली, मेघ और चक्षु का उन्मेष निमेष क्षणिक होने से आत्मा नहीं है, उसी प्रकार विज्ञान भी क्षणिक होने से आत्मा नहीं है अन्यस्य अनुपलब्धत्वात्=विज्ञान से अतिरिक्त दूसरी वस्तु के अनुभव न होने से, शून्यं=शून्य ही तत्त्व है, माध्यमिका जगुः=इस प्रकार शून्यवादी (सर्व असत्त्ववादी) माध्यमिकों ने कहा है ॥७४॥

उक्त मत में श्रुति प्रमाण कहते हैं शून्य ही यदि अपना स्वरूप है तो प्रतीयमान जगत् की क्या गति होगी ऐसी आशंका सिद्धान्ती की तरफ से होने पर पूर्वपक्षी समाधान करते हैं —

'असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः' ।

ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद्भ्रान्तिप्रकल्पितम् ॥७५॥

इदम् असत् एव=यह जगत् सृष्टि से पहले असत् अर्थात् शून्य ही था, इत्यादौ=इत्यादि श्रुति में, इदम् एव श्रुतं=यह असत् रूप शून्य ही सुना अर्थात् कहा गया है, ततः ज्ञानज्ञेयात्मकं=इसलिये ज्ञान और ज्ञान का विषय ज्ञेयस्वरूप द्वैत प्रपंचरूप, सर्वं जगत् भ्रान्ति-प्रकल्पितम्=संपूर्ण जगत् भ्रम से कल्पित हुआ है (अतः श्रुति प्रमाण सिद्ध शून्य ही तत्व है) ॥७५॥

(सिद्धान्ती) पूर्वोक्त मत को दोषदुष्ट दिखाते हैं—

निरधिष्ठानविभ्रान्तेरभावादात्मनोऽस्तिता ।

शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥७६॥

निरधिष्ठानविभ्रान्तेः अभावात्=(क्योंकि निःस्वरूप शून्य अधिष्ठान नहीं बन सकता और) अधिष्टान के बिना भ्रम नहीं बन सकता, इस कारण से, आत्मनः=जगत्कल्पना का अधिष्ठान आत्मा की, अस्तिता=सत्ता स्वीकार करना चाहिये, शून्यस्य अपि=और शून्यवादी के मत में शून्य के भी, ससाक्षित्वात्=शून्य के साक्षी रूप से आत्मा अवश्य स्वीकरणीय है, अन्यथा अस्य=शून्य के साक्षी को नहीं अंगीकार करने पर, शून्य का, उक्तिः ते न=कथन भी (शून्य है इस प्रकार कथन भी), तुम्हारे बौद्धमत में नहीं संभव होगा, अतएव शून्य का साक्षी आत्मा ही तत्त्व है, शून्य नहीं ॥७६॥

तब आत्मा कौन है, ऐसी आशंका होने पर उत्तर कहते हैं—

अन्यो विज्ञानमयत आनन्दमय आन्तरः ।

अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥७७॥

विज्ञानमयतः अन्यः=विज्ञानमय से भिन्न, आन्तरः आनन्दमयः

=विज्ञानमय के भी भीतर होने वाला आनन्दमय आत्मा है, अस्ति इति एव=और आत्मा है, इस प्रकार अस्ति रूप करके (सत्रूप करके) ही, उपलब्धव्यः=आत्मा का अनुभव अर्थात् अंगीकार करना चाहिये, असत् शून्यरूप करके नहीं (इस प्रकार श्रुति वाक्य रूप प्रमाण सद्भाव से आत्मा सद्रूप है ऐसा मानना चाहिये), इति वैदिकदर्शनम्=यही वैदिक सिद्धान्त है ॥७७॥

पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा के स्वरूप में संशय, और तत्प्रतिपादक वाक्यों का प्रदर्शन करके, अब अगले श्लोक से आत्मा के परिमाण विशेष में भी वादियों की विप्रतिपत्ति (संशय और तत्जनक विरुद्ध वचन) को दिखाते हैं –

अणुर्महान् मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः ।

बहुधा विवदन्ते हि श्रुतियुक्ति समाश्रयात् ॥७८॥

तत्रापि=सद्रूप आत्मा के स्वरूप में भी, वादिनः अणुः=वादी लोग, आत्मा, अणु परिमाण वाला है, मध्यमः=मध्यम परिमाण वाला है, अणु नहीं, महान् वा=महत् परिमाण वाला विभु है, मध्यम परिमाण वाला नहीं, इति एवं बहुधा=इस प्रकार, अनेक प्रकार से, श्रुतियुक्ति समाश्रयात्=श्रुति और युक्तिरूप अनुमान का आश्रय करके, विवदन्ते हि=कलह करते हैं (निर्णय को नहीं प्राप्त होते है) ॥७८॥

अब इनमें अणुत्व वादी का मत प्रदर्शन करते हुए, आत्मा का अणुपरिमाण कहने में हेतु कथनपूर्वक उसका उपपादन करते हैं –

अणुं वदन्त्यान्तरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ।

रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥७९॥

आन्तरालाः=कुछ वैष्णव लोग, सूक्ष्मनाडीप्रचारतः=अति सूक्ष्म नाड़ियों में आत्मा का गमन आगमन रूप हेतु से, अणुं वदन्ति=आत्मा को अणु अर्थात् परमाणु परिमाण वाला कहते हैं, अयम् रोम्णः=यह आत्मा एक बाल के, सहस्रभागेन तुल्यासु=सहस्र भाग के समान सूक्ष्म नाड़ियों में, प्रचरति=प्रचार अर्थात् गमन आगमन करता है ॥७९॥

आत्मा के अणुत्व में क्या प्रमाण है, ऐसी आकांक्षा होने पर श्रुति प्रमाण कहते हैं—

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति ।

अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥८०॥

अणोरणीयान्=आत्मा अणु से भी अणुतर है, **एष अणुः**=यह आत्मा परमाणु परिमाण वाला है, **सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं तु**=और सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, **इति शतशः अथ सहस्रशः**=इस प्रकार सैकड़ों, और हजारों, **श्रुतयः अणुत्वम् आहुः**=श्रुतियों ने, आत्मा को अणु कहा है ॥८०॥

और भी श्रुति प्रमाणों का उदाहरण आत्मा के अणु परिमाण में देते हैं—

बालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहाऽपरा श्रुतिः ॥८१॥

बालाग्रशतभागस्य=एक केश के अग्रभाग के शतांश का, **च शतधाकल्पितस्य भागः**=पुनः सौ अंश करने पर, एक अंश (के समान सूक्ष्म), **सः जीवः विज्ञेयः**=परिमाण वाला वह जीव जानने योग्य है, **इति च अपरा श्रुतिः आह**=इस प्रकार दूसरी श्रुति ने कहा है, अत एव जीव अणु है ॥८१॥

आगे के श्लोक से मध्यम परिमाण वादी का मत दिखाते हुये उसमें युक्ति और श्रुति को भी प्रमाण रूप से कहते हैं—

दिगम्बरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ।

चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरानखाग्रश्रुतेरपि ॥८२॥

दिगम्बराः=दिगम्बर जैनमतवादियों ने, **आपादमस्तकम्**=पैर से लेकर सिर तक, **चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेः**=चैतन्य आत्मा की व्यापकता के दर्शन से, **आनखाग्रश्रुतेः अपि**=और आनखाग्र श्रुति वचन से भी (वह आत्मा नख से लेकर शिखा तक प्रविष्ट हुए इस श्रुति प्रमाण से भी), **मध्यमत्वम् आहुः**=आत्मा का मध्यम परिमाण कथन करते हैं ॥८२॥

आत्मा का मध्यमपरिमाणत्व मानने पर श्रुति सिद्ध नाड़ी प्रचार नहीं बन सकता, ऐसी आशंका का उत्तर पूर्वपक्षी दिगम्बर लोग कहते हैं—

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ।
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कञ्चुकप्रतिमोकवत् ॥८३॥

हस्ताभ्याम्=देह के अवयव हाथों के चोले में प्रवेश द्वारा, **स्थूलदेहस्य**=स्थूल शरीर का, **कञ्चुक प्रतिमोकवत्**=जैसे चोले में प्रवेश माना जाता है, उसी प्रकार, **सूक्ष्मैः अवयवैः**=आत्मा के सूक्ष्म अवयवों के नाड़ियों में प्रचार द्वारा, **सूक्ष्म नाड़ी प्रचारः तु भवेत्**=आत्मा का उन सूक्ष्म नाड़ियों में प्रचार गौण रूप से हो सकता हैं, अर्थात् माना जाता हैं ॥८३॥

आत्मा यदि नियम से मध्यम परिमाण वाला है तो कर्मवश न्यूनाधिक शरीर में प्रवेश नहीं बनेगा, ऐसी आशंका उठाकर पूर्वपक्षी दिगम्बर लोग उत्तर देते हैं कि अवयवों की वृद्धि और ह्रास से आत्मा के नियम से मध्यम परिमाण सिद्ध होता है अतः देह की न्यांई आत्मा का भी न्यूनाधिक शरीर में प्रवेश और निर्गमन विरुद्ध नहीं—

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ।
आत्मांशानां भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥८४॥

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशः अपि=छोटे बड़े शरीरों में आत्मा का प्रवेश भी, **आत्मांशानाम् गमागमैः**=आत्मा के अवयवों के गमन आगमन अर्थात् प्रवेश अप्रवेश से, **भवेत्**=बन जायेगा, **तेन**=इसलिये (आत्मा के मध्यम परिमाण मानने पर भी प्रचार तथा प्रवेशादि विरुद्ध न होने से), **मध्यमत्वं विनिश्चतम्**=निर्णीत हुआ, अर्थात् आत्मा मध्यम परिमाण वाला है यह निश्चय हुआ ॥८४॥

आत्मा को सावयव मानने पर घटादि की न्यांई आत्मा का अनित्यत्व प्रसंग प्राप्त होगा, इस हेतु से पूर्वोक्त मत को दूषित करते हैं, और उसमें इष्टापत्ति करने पर दोष कथन करते हैं—

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ।
कृतनाशाऽकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥८५॥

सांशस्य घटवत्=सावयव आत्मा का सावयव घट की न्यांई, नाशः भवति एव=विनाश अवश्य ही होगा, तथा सति=आत्मा का विनाश अर्थात् अनित्यत्व मानने पर, कृतनाशाऽकृताभ्यागमयोः= किये हुए पुण्य पापों के फल भोग के बिना नाशरूप कृतनाश, और नहीं किये हुए पुण्य पापों के द्वारा अकस्मात् फल दानरूप अकृतभ्यागम इन दोनों दोषों का, वारकः=निवारण करने वाला, कः भवेत्= कौन होगा अर्थात् कोई भी निवारण नहीं कर सकता ॥८५॥

इसलिये परिशेष रूप हेतु से आत्मा का विभुत्व सिद्ध होता है, इस वार्ता को कहते हुए आत्मा के विभुपरिमाण में प्रमाण सिद्धान्ती अगले श्लोक से कहते हैं—

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ।
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥८६॥

तस्मात् आत्मा=इसलिये अर्थात् परिशेष से आत्मा, महान् एव=महत् परिमाण वाला अर्थात् विभु है, अणुः न एव=अणु परिमाण वाला नहीं है, मध्यमः अपि न=मध्यम परिमाण वाला भी नहीं है, किन्तु, आकाशवत् सर्वगतः निरंशः=आकाश की न्यांई सर्व व्यापक निरवयव है, श्रुतिसंमतः=आत्मा का यही स्वरूप श्रुति को अभिमत है ॥८६॥

इस प्रकार आत्मा के विभुत्व का प्रतिपादन करने के अनन्तर आत्मा की चैतन्यरूपता का निश्चय करने के लिये प्रथम वादी लोगों की विप्रतिपत्ति दिखाते हैं—

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ।
अचिद्रूपोऽचिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥८७॥

इति उक्त्वा=पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा विभु है, ऐसा सिद्ध करने के बाद अब, तद्विशेषे तु=आत्मा की चिद्रूपता, जड़ता अथवा

जड़ चिद् उभय रूपता के विषय में तो, बहुधा कलहं ययुः=अनेक प्रकार से वाद विवाद को वादी लोग प्राप्त हुए, अचिद्रूपः=कोई वादी आत्मा को जड़ स्वरूप, अथ चिद्रूपः=और दूसरा कोई वादी आत्मा को चैतन्य स्वरूप, चिद् अचिद्रूपः=और कोई वादी आत्मा को जड़ चेतन उभय रूप, इति अपि=इस प्रकार भी कहते हैं ॥८७॥

आत्मा को अचित्रूप मानने वाले वादी का मत दिखाते हुए, उनकी प्रक्रिया का अनुवाद करते हैं, और पृथिव्यादियों से आत्मा का भेद साधक विशेषगुण भी बताते हैं –

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ।
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥८८॥

प्राभाकराः तार्किकाः च=प्रभाकर के मतानुयायियों ने, और नैयायिकों ने, अस्य अचिदात्मताम् प्राहुः=इस आत्मा को अचैतन्य जड़ स्वरूप कहा है, आत्मा आकाशवत् द्रव्यम्=यह आत्मा आकाश की नांई एक द्रव्य है, शब्दवत्=जैसे शब्द आकाश का गुण है, उसी प्रकार, चितिः तद् गुणः=ज्ञान आत्मा का गुण है ॥८८॥

उसी आत्मा के ही दुसरे विशेष गुणों का कथन करते हैं

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ।
तत्संकाराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥८९॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च=इच्छा (अनुकूल पदार्थ में), द्वेष (प्रतिकूल पदार्थ में) और प्रयत्न, धर्माधर्मौ=शुभ कर्म जन्य अदृष्ट पुण्य और अशुभ कर्म जन्य अदृष्ट पाप, सुखासुखे तत्संकाराः च=सुख दुःख और भावनाख्य संस्कार, तस्य चितिवत्=उस आत्मा के ज्ञान गुण की तरह, एते गुणाः ईरिताः=ये पूर्वोक्त गुण कहे गये हैं ॥८९॥

इन गुणों की उत्पत्ति और विनाश का कारण कहते हैं—

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतोगुणाः ।
जायन्तेऽथ प्रलीयन्ते सुषुप्तेऽदृष्टसंक्षयात् ॥९०॥

स्वादृष्टव शतः=अपने धर्माधर्मरूप अदृष्ट के अधीन, आत्मनः =आत्मा का, मनसायोगे गुणाः जायन्ते=मन से सम्बन्ध होने पर पूर्वोक्त गुण आत्मा में उत्पन्न होते हैं, अथ अदृष्टसंक्षयात्=और धर्माधर्म रूप अदृष्ट के नाश होने पर, सुषुप्ते=सुषुप्ति अवस्था में, प्रलीयन्ते=वे गुण निवृत्त हो जाते हैं ॥९०॥

आत्मा यदि अचिद्रूप है, तो आत्मा का चेतनत्व अंगीकार कैसे करते हो इस प्रकार आशंका उठाकर ज्ञान गुण वाला होने से आत्मा चेतन है, इस प्रकार समाधान पूर्वपक्षी करते हैं –

चितिमत्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ।
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥९१॥

अयम्=यह आत्मा (स्वरूप से जड़ होने पर भी), चितिमत्वात् चेतनः=ज्ञान गुण वाला होने के कारण चेतन कहा जाता है, इच्छाद्वेष प्रयत्नवान्=और इच्छा द्वेष प्रयत्न वाला भी है, अतः चेतन है, धर्माऽधर्मयोः कर्ता=और शुभ अशुभ कर्म तथा तज्जन्य पाप पुण्य रूप अदृष्ट का करने वाला, दुःखादिमत्त्वतः=और दुःख सुखादि वाला होने से, भोक्ता स्यात्=भोक्ता भी कहा जाता है, इसलिए यह जीव ईश्वर से विलक्षण है ॥९१॥

आत्मा यदि विभु है तो आत्मा का लोकान्तर में गमनादिक कैसे घट सकता, ऐसी आशंका सिद्धान्ती के तरफ से होने पर, पूर्वपक्षी इस देह में कर्मवशात् इच्छादिक उत्पन्न होने पर, इस शरीर में आत्मा का अवस्थान आदि व्यवहार की न्यांई, कर्मवशात् लोकान्तर में देहान्तर की उत्पत्ति होने पर, उस देह द्वारा अवच्छिन्न आत्म प्रदेश में सुखादि उत्पत्तिवसातु उस देह में आत्मा का गमनादि व्यवहार होता है, इस प्रकार आत्मा का गमनादिक औपचारिक (गौण) है इस अभिप्राय से उत्तर कहते हैं –

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ।
तथा लोकान्तरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥९२॥

यथाऽत्र=जैसे इस देह में, कर्मवशतः कादाचित्कं=कर्म के

अधीन कदाचित् होने वाला, सुखादिकम्=सुख दुःखादि उत्पन्न होते हैं, और इसलिये इस शरीर मे आत्मा हैं इस प्रकार व्यवहार होता है तथा कर्मणा लोकान्तरे=उसी प्रकार कर्मवशात् दूसरे लोक में, देहे=शरीर उत्पन्न होने पर उस शरीर करके अवच्छिन्न आत्म प्रदेश में, इच्छादि जन्यते=इच्छा द्वेष सुख दुःखादि उत्पन्न होता है, तब आत्मा का गमनादिक गौण व्यवहार हो सकता है ॥९२॥

आत्मा कर्तृत्व आदिक धर्मवान् है, इसमें क्या प्रमाण है, इस आशंका का उत्तर नैयायिक कहते हैं कर्मकाण्ड इत्यादि शब्दों से—

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ।

कर्मकाण्डः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥९३॥

एवं च सर्वगस्य अपि=पूर्वोक्त प्रकार से विभु आत्मा का भी, गमागमौ संभवेतां=परलोक गमन, इस लोक में आगमनरूप व्यवहार संभव हो सकता है, अत्र=आत्मा कर्ता भोक्ता रूप हैं इस विषय में, समग्रः कर्मकाण्डः प्रमाणं=सम्पूर्ण कर्मकाण्डात्मक वेद प्रमाण है, इति ते अवदन्=इस प्रकार प्राभाकर और नैयायिकों ने कहा है ॥९३॥

पूर्व ७७वें श्लोक में (अन्योविज्ञानमयात् इत्यादि श्लोक में) आनन्दमय को आत्मा कहा, और अब इच्छादिमान् दूसरे रूप को आत्मरूप करके प्रतिपादन करते हो, इसलिये पूर्वोत्तर का विरोध प्राप्त हुआ, ऐसी आशंका सिद्धान्ती की तरफ से उठाकर समाधान कहते हैं—

आनन्दमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ।

अस्पष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥९४॥

सुषुप्तौ अस्पष्टचित्=सुषुप्ति अवस्था में अस्पष्ट चेतन्यरूप, यः आनन्दमयः कोशः=जो आनन्दमय कोश, परिशिष्यते=अवशिष्ट रहता है, सः पूर्वकोशः=वह श्रुत्युक्त पाँच कोशों में प्रथम कोश, एषाम् आत्मा=प्राभाकार तथा नैयायिकों का आत्मा है, अस्य=इस आत्मा के, ते गुणाः=वे पूर्वोक्त ज्ञान सुख आदि गुण हैं ॥९४॥

इसी आत्मा की चिद्अचिद्रूपता को कुमारिल भट्ट के अनुयायी लोग वर्णन करते हैं इस वार्ता को सिद्धान्ती अगले श्लोक से कहते हैं और चैतन्यरूपता की कल्पना में कारण बताते हैं --

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ।

आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥९५॥

आत्मनः गूढं चैत्यन्यं=आत्मा के अस्पष्ट चैतन्य की, **उत्प्रेक्ष्य**=उत्प्रेक्षा करके अर्थात् युक्ति द्वारा निश्चय करके, **जडबोधस्वरूपताम्**=आत्मा की चित् जड़ उभयरूपता, **भाट्टाः ब्रुवते**=कुमारिल भट्ट के अनुयायी लोग कथन करते हैं, **उत्थितस्मृतेः**=सुषुप्ति से जगे हुए पुरुष के स्मरण से, **चिदुत्प्रेक्षा**=सुषुप्ति कालीन चैतन्य की कल्पना होती है (अर्थात् सुषुप्ति से उठे हुए पुरुष को मैं सुख से सोया कुछ भी नहीं जानता था, इस प्रकार की स्मृति होती है, वह स्मरण सुषुप्ति काल में अनुभव के बिना बन नहीं सकता, इसलिये सुषुप्ति में अनुभव विद्यमान होने के कारण आत्मा चैतन्य स्वरूप भी है इस प्रकार कल्पना होती है)॥९५॥

अब अगले श्लोक से चैतन्य की उत्प्रेक्षा के प्रकार को स्पष्ट करते हैं -

जडो भूत्वा तदाऽस्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ।

विना जाड्यानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते ॥९६॥

तदा जडो भूत्वाअस्वाप्सम्=सुषुप्ति काल में मैं जड़ होकर सो गया था, **इति**=(सुषुप्ति से जगे पुरुष को) इस प्रकार का, **जाड्यस्मृतिः तदा**:=जडता स्मरण, सुषुप्ति काल में, **जाड्यानुभूतिं विना कथंचित्**=जडता के अनुभव बिना किसी प्रकार से भी, **न उपपद्यते**=नहीं बन सकता इसलिये जडता के अनुभव की कल्पना होती है ॥९६॥

सुषुप्ति अवस्था में चैतन्य का लोप नहीं होता इसमें प्रमाण कहते हैं—

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ।

अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः ॥९७॥

सुप्तौ दृष्टुः=सुषुप्ति में दृष्टा आत्मा की, दृष्टेः=स्वरूपभूत दृष्टि का (चैतन्य का), अलोपः श्रुतः=विनाश अभाव भी श्रुतियों में कहा गया है, ततः तु=इस कारण से भी, अयम् आत्मा=यह आत्मा, खद्योतवत्=जुगनू की तरह, अप्रकाशप्रकाशाभ्याम् युतः=स्फुरण और अस्फुरण करके युक्त होता है ॥९७॥

इस भाट्टमत का दूषण कथन पूर्वक सांख्य मत का उत्थापन करते हैं—

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद्घटिष्यते ।
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥९८॥

निरंशस्य उभयात्मत्वं=निरवयव आत्मा जड़ चेतन उभयरूप, कथंचित् न घटिष्यते=किसी प्रकार से भी नहीं बन सकता है, तेन-चिद्रूपः एवआत्मा=इसलिये चैतन्य स्वरूप ही आत्मा है, इति सांख्य विवेकिनः=इस प्रकार विवेकी सांख्य मत वालों ने, आहुः=कहा हैं ॥९८॥

जड़ता के स्मरण की तब क्या गति होगी, ऐसी आशंका भाट्ट मत की तरफ से होने पर, सांख्य मत वाले उत्तर कहते हैं, और प्रकृति कल्पना का प्रयोजन भी बताते हैं—

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ।
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥९९॥

जाड्यांशः=सुषुप्तिकालीन अनुभव का विषय जड़ता अंश, प्रकृतेः रूपं=प्रकृति का स्वरूप है, तत् विकारि=वह प्रकृति का स्वरूप विकारी है, च त्रिगुणं=और त्रिगुणात्मक है, सा प्रकृतिः चितः=वह त्रिगुणात्मक प्रकृति चैतन्य आत्मा के, भोगापवर्गार्थं=भोग और मोक्ष के लिये, प्रवर्तते=प्रवृत्त होती है ॥९९॥

चिदात्मा असंग है इसलिये प्रकृति और पुरुष दोनों का अत्यन्त भेद सिद्ध होता है, इस कारण से प्रकृति की प्रवृत्ति से पुरुष के भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) दोनों कैसे सिद्ध होंगे, ऐसी आशंका उठाकर उन प्रकृति पुरुष दोनों के विवेक का ग्रहण न होने से पुरुष में भोग

और अपवर्ग का व्यवहार होता है, इस प्रकार उत्तर कहते हैं, और नैयायिकों की न्यांई सांख्य वाले भी आत्मा का भेद अंगीकार करते हैं, इस बात को भी कहते हैं—

असङ्गायाश्चितेर्बन्धमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ।
बन्धमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥१००॥

असङ्गायाः चितेः=असग अर्थात् निर्लेपस्वरूप चैतन्यरूप आत्मा के, **बन्धमोक्षौ**=बन्ध और मोक्ष दोनों, **भेदाग्रहात् मतौ**= प्रकृति पुरुष के भेद के अज्ञान से माने गये हैं, **बन्धमुक्ति व्यवस्थार्थं**= बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था (१) के लिये, **पूर्वेषाम् इव**=नैयायिक आदि की न्यांई, **चिद्भिदा**=चैतन्यरूप पुरुष का भेद सांख्यमत वालों ने भी अंगीकार किया है।

टि० (१) शुकदेव वामदेव आदि मुक्त हो गये, बाकी हम सब बद्ध है, इस प्रकार कोई बद्ध कोई मुक्त इस नियम के लिये चैतन्य स्वरूप पुरुष का भेद स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा पुरुष आत्मा को सर्व शरीरों में एक मानने पर एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति प्राप्त होगी तो पूर्वोक्त व्यवस्था नहीं बनेगी अतः प्रति शरीर आत्मा का भेद हैं ॥१००॥

प्रकृति के सद्भाव में तथा पुरुष की असंगता में श्रुति वाक्य का उदाहरण देते हैं—

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते ।
श्रुतावसङ्गता तद्वदसङ्गो हीत्यतः स्फुटा ॥१०१॥

महतः परम् अव्यक्तम्=महतत्त्व का कारण अव्यक्त अर्थात् प्रधान है, **इति श्रुतौ प्रकृतिः उच्यते**=इस श्रुति में सत्व रज तम की साम्यावस्था रूप प्रकृति कही गई है, **तद्वत् असङ्गः हि (अयं पुरुषः)**=उसी प्रकार यह चैतन्य रूप पुरुष (आत्मा) असङ्ग है, **इति अतः असङ्गता स्फुटा**=इस श्रुति से आत्मा की असङ्गता स्पष्ट ही कही गई ॥१०१॥

पूर्वोक्त प्रकार से जीव के विषय में पूर्वपक्षियों की विप्रतिपत्तियों को (विरुद्ध बुद्धि को) दिखलाया। अब ईश्वर के विषय में

वादियों के विवाद को दिखाने के लिये योग मत के अनुसार प्रथम ईश्वर स्वरूप को दिखाते हैं —

चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।

ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥१०२॥

योगाः चित्संनिधौ=योग मत वाले, चैतन्य स्वरूप पुरुष के समीप, **प्रवृत्तायाः प्रकृतेः हि**=प्रवृत्त हुई प्रकृति का ही, **नियामकम् ईश्वरं ब्रुवते**=प्रेरक को ईश्वर कहते है, **सः जीवेभ्यः परः श्रुतः**=वह ईश्वर जीवों से भिन्न ही, श्रुतियों में कहा गया है ॥१०२॥

अगले श्लोक में ईश्वर के प्रतिपादक श्रुति वचन को कहते हैं-

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ।

आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यन्तर्याम्युपपादितः ॥१०३॥

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः=त्रिगुण की साम्यावस्थारूप प्रकृति तथा जीवों के जो पति है अर्थात् पालक है, **गुणेशः**=और सत्वादि गुणों का जो नियामक है वही ईश्वर है, **इति हि श्रुतिः**=यह श्रुति वचन ईश्वर में प्रमाण है, **आरण्यके**=वृहदारण्यक उपनिषद् में, **असंभ्रमेण**(१) **हि**=संशयविपर्यय रहित होकर ही, **अन्तर्यामी**=सब के अन्दर रह कर नियमन करने वाले ईश्वर का, **उपपादितः**=उपपादन किया है ।

टि० (१) संभ्रमेण ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ 'आदर के साथ' समझना ॥१०३॥

वादियों के विवाद को दिखाते हैं

अत्रापि कलहायन्ते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ।

वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरन्ति हि ॥१०४॥

अत्र अपि वादिनः=इस ईश्वर के स्वरूप में भी वादी लोग, **स्वस्वयुक्तिभिः कलहायन्ते**=अपनी अपनी युक्तियों के द्वारा विवाद करते हैं, **यथाप्रज्ञं वाक्यानि अपि**=और अपनी बुद्धि के अनुसार श्रुति वचनों को भी, **दार्ढ्याय उदाहरन्ति हि**=अपने मत की दृढ़ता के लिये, प्रमाण रूप से कथन करते हैं ॥१०४॥

अब पतञ्जलि ऋषि ने योगशास्त्र में ईश्वर का स्वरूप जैसा प्रतिपादन किया, वैसा बताते हैं—

क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसंयुतः ।

पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोऽप्यसङ्गचित् ॥१०५॥

क्लेशकर्मविपाकैः=अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, अभिनिवेश इन पांचों क्लेशों से, तथा शुक्ल, कृष्ण, शुक्लकृष्ण उभयरूप इन तीन प्रकार के कर्मों से जन्म,आयु, भोगरूप कर्म फलों से, **तदाशयैः अपि**= और उनके संस्कारों से भी, **असयुतः पुंविशेष ईशो भवेत्**=स्पर्श रहित पुरुष विशेष ईश्वर है, **सः अपि जीववत्**=वह ईश्वर भी जीव की न्यांई, **असङ्गचित्**=असंग चैतन्य स्वरूप है ॥१०५॥

असंगचैतन्यरूप पुरुष नियन्ता ईश्वर कैसे बनेगा, ऐसी शंका का उत्तर देते हैं —

तथापि पुंविशेषत्वाद्घटतेऽस्य नियन्तृता ।

अव्यवस्थौ बन्धमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥१०६॥

तथापि=(यद्यपि असङ्ग चैतन्यरूप होने के कारण ईश्वर का नियमन कर्तृत्व नहीं बनता) फिर भी, **पुंविशेषत्वात्**=पुरुष विशेष अर्थात् जीवों से विलक्षण पुरुष होने के कारण, **अस्य नियन्तृता**= ईश्वर का नियमन कर्तृत्व, **घटते**=बन सकता है, अर्थात् ईश्वर नियमनकर्ता बन सकता है, **अन्यथा**=ईश्वर को नियमन कर्ता न मानो तो, **इह बन्धमोक्षौ अव्यवस्थौ**=इस संसार में बन्ध और मोक्ष की अव्यवस्था, **आपतेताम्**=प्राप्त होगी, अर्थात् यदि ईश्वर को प्रकृति का नियामक नहीं मानेगें तो, वह प्रकृति मुक्त पुरुष को भी बद्ध बना देगी ॥१०६॥

असंग ईश्वर नियामक है इसमें श्रुति प्रमाण बताते हैं —

भीषाऽस्मादित्येवमादावसङ्गस्य परात्मनः ।

श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥१०७॥

भीषास्मात्="अस्मात्" इस परमात्मा से अर्थात् परमात्मा के

(भीषा) भय से ही वायु, सूर्यादिक अपने अपने कार्य को करते हैं, इति एवं आदौ = इत्यादि श्रुति वचनों में, असङ्गस्य परात्मनः = असंग परमेश्वर का, तत् श्रुतं = नियमनकर्तृत्व सुना गया है अर्थात् कहा गया है, युक्तम् अपि = और वह युक्ति युक्त भी है, क्योंकि, अस्य क्लेश कर्माद्यसंगमात् = वह ईश्वर जीव के धर्म क्लेश कर्मादि के संबन्ध से रहित है ॥१०७॥

यद्यपि जीव भी असंग चैतन्यरूप होने के कारण स्वरूप से क्लेशादि रहित है, और ईश्वर भी ऐसे ही है, फिर ईश्वर में जीव से क्या विलक्षणता है ऐसी शंका का उत्तर देते हैं —

जीवानामप्यसङ्गत्वात्क्लेशादिर्न ह्यथापि च ।
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥१०८॥

जीवानाम् अपि असङ्गत्वात् = जीव भी असङ्ग चैतन्यरूप होने के कारण, क्लेशादिः न हि = उनमें स्वभाव से क्लेश कर्मादि नहीं हैं, अथ अपि च विवेकाग्रहतः = परन्तु फिर भी विवेक ज्ञान न होने से (अर्थात् बुद्धि के साथ विवेक ज्ञान न होने से), क्लेशकर्मादि = क्लेश कर्म विपाक आदि अविवेक से हैं, प्राग्उदीरितम् = यह वार्ता पूर्व सौवें श्लोक में कही गई है ॥१०८॥

अब असंग चैतन्य रूप ईश्वर का नियामकपना नहीं मानने वाले जीव से विलक्षण नित्य ज्ञान इच्छा और प्रयत्न वाला ईश्वर नियामक बन सकता है, ऐसा मानते हैं उनका मत कहते हैं —

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ।
असङ्गस्य नियन्तृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ॥१०९॥

असङ्गस्य = असंग चैतन्य रूप ईश्वर का, नियन्तृत्वम् अयुक्तम् = नियामकपना नहीं बन सकता, इति तार्किकाः इस कारण से नैयायिक आदि तार्किक लोग नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा = नित्यज्ञान नित्य-प्रयत्न और नित्य इच्छा, गुणान् ईशस्य मन्वते = इन गुणों को, ईश्वर के अर्थात् ईश्वर में मानते हैं ॥१०९॥

ईश्वर तथा जीव दोनों ही इच्छादि गुण वाले हैं, फिर ईश्वर

और जीव का भेद कैसे सिद्ध होगा, ऐसी शंका का उत्तर कहते हैं, कि ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्र... नित्य है, इसलिये जीव ईश्वर का भेद बन सकता है—

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ।
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादिश्रुतिर्जगौ ॥११०॥

अस्य अपि गुणैः एव = यह ईश्वर नित्य गुण ज्ञानादि के कारण ही, पुंविशेषत्वं = जीव से विलक्षण पुरुष विशेष है, अन्यथा च न = और किसी प्रकार से नहीं, सत्यकामः = वह ईश्वर सत्यकाम (अर्थात् नित्य इच्छा वाला), सत्य संकल्पः = और सत्य संकल्प वाला है, इत्यादि श्रुतिः जगौ = इत्यादि श्रुतियों ने ईश्वर के गुणों को नित्य कहा है ॥११०॥

इस पक्ष में भी दोष प्रदर्शन पूर्वक अन्य पक्ष को कहते हैं—

नित्यज्ञानादिमत्त्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ।
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिङ्गदेहेन संयुतः ॥१११॥

अस्य नित्यज्ञानादिमत्त्वे = यह ईश्वर यदि नित्यज्ञानादि गुण वाला है तो, सदा सृष्टिः एव भवेत् = सर्वदा सृष्टि ही होती रहेगी, अतः लिङ्गदेहेन संयुतः = इस दोष के कारण समष्टि लिङ्गशरीर वाला, हिरण्यगर्भः = हिरण्यगर्भ अर्थात् समष्टि लिङ्गशरीर अभिमानी मायोपाधिक परमात्मा ही, ईशः = ईश्वर है (इस प्रकार हिरण्यगर्भ के उपासक लोग कहते हैं) ॥१११॥

हिरण्यगर्भ ईश्वर है, इसमें प्रमाण बताते हैं—

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ।
लिङ्गसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥११२॥

उद्गीथब्राह्मणे तस्य = उद्गीथ नामक ब्राह्मण में, हिरण्यगर्भ रूप ईश्वर का, माहात्म्यम् अतिविस्तृतम् = महत्त्व बहुत विस्तार से कहा है, अस्य लिङ्गसत्त्वे अपि = इस हिरण्यगर्भ के सूक्ष्म शरीर विद्यमान होने पर भी, कर्माद्यभावतः = अविद्या काम कर्म के न होने से

जीवत्वं न = वह जीव नहीं है, किन्तु जीव से विलक्षण ईश्वर ही है ॥११२॥

अब समष्टि स्थूल शरीर अभिमानी विराट् को ईश्वर मानने वाले का मत कहते हैं—

स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहो न क्वापि दृश्यते ।
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥११३॥

स्थूलदेहं विना लिङ्गदेहः = स्थूल शरीर को छोड़कर केवल, सूक्ष्म शरीर, **क्वापि न दृश्यते** = कहीं पर भी, देखने में नहीं आता, **अतः सर्वतो मस्तकादिमान्** = इसलिये सब ओर से सिर हाथ पैर आदि अवयव वाला, **वैराजः देहः ईशः** = विराट् शरीर ही ईश्वर है ॥११३॥

विराट् भगवान् है इसमें प्रमाण बताते हैं—

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ।
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिन्तकाः ॥११४॥

सहस्रशीर्षा इति एवं च = हजारों मस्तक वाले, इस प्रकार श्रुति में और, **विश्वतः चक्षुः इति अपि** = संपूर्ण चक्षु आदि इन्द्रिय श्रुतियों मे भी, **श्रुतं** = विराट् रूप ईश्वर का प्रतिपादक वचन ही सुना गया है, (इसलिये विराट् ही ईश्वर है), **इति विश्वरूपस्य चिन्तकाः** = इस प्रकार विराट् के उपासकों ने, **अनिशम् आहुः** = हमेशा कहा है ॥११४॥

विराट् ईश्वर है, इस पक्ष में भी दोष दर्शन करने वाले, तथा अन्य देवता को ईश्वर मानने वाले का मत कहते हैं—

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ।
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥११५॥

सर्वतः पाणिपादत्वे = सब ओर से असंख्य हाथ पैर वाले होने से यदि विराट् ईश्वर है तब तो, **कृम्यादेः अपिः** = उसी प्रकार असंख्य हाथ पैर वाले कीड़े आदि भी, **च ईशता** = ईश्वर हो जायेंगे, **ततः** =

इस दोष के कारण विराट् को छोड़कर, **चतुर्मुखः देवः एव ईशः** = चार मुख वाले ब्रह्मा अर्थात् प्रजापति देवता ही ईश्वर है, **इतरः पुमान् न** = दूसरा देवता ईश्वर नहीं ॥११५॥

इस प्रकार कौन कहते हैं ऐसी आकांक्षा का उत्तर देते हैं

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ।
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरन्त्यमी ॥११६॥

पुत्रार्थम् = प्रजा के लिये (संतान के लिये), **तम् उपासीना** = उस प्रजापति ब्रह्मा की उपासना करने वाले ने, **एवम् आहुः** = पूर्व श्लोक में उक्त वचन कहा है, इत्यादि श्रुति अमी = इत्यादि श्रुतियों को वे उपासक लोग, **प्रजापतिः प्रजाअसृजत** = और प्रजापति ब्रह्मा ने प्रजाओं का सृजन किया, **उदाहरन्ति च** अपने मत में प्रमाण रूप से उदाहरण भी कहते हैं ॥११६॥

अब भागवत भक्तों का मत कहते हैं—

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः ।
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥११७॥

विष्णोः नाभेः वेधाः समुद्भूतः = विष्णु की नाभि कमल से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए, **कमलजः** = इसलिये ब्रह्मा जी का नाम कमलज है, **ततः विष्णुः एव ईशः** = इस कारण से ब्रह्मा जी को उत्पन्न करने वाले नारायण ही ईश्वर है, **इति लोके** = इस प्रकार संसार में, **भागवताः जनाः आहुः** = भगवान् के भक्त जनों ने कहा है ॥११७॥

अब शैव मत को कहते हैं –

शिवस्यपादावन्वेष्टुं शार्ङ्गी शक्तस्ततः शिवः ।
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥११८॥

शिवस्य पादौ = शिवजी के चरणों को अर्थात् ज्योतिर्मय स्वरूप के अवधि को, **अन्वेष्टुम्** = अन्वेषण करने में (ढूंढ़ कर जानने में), **शार्ङ्गी अशक्तः** = विष्णु भगवान् भी समर्थ नहीं हुए, **ततः शिवः ईश** = इस कारण से शिवजी ही ईश्वर है, **विष्णुः न** = विष्णु (नारायण

ईश्वर नहीं, इति आगममानिनः = इस प्रकार शिवागम को मानने वाले शैवाः आहुः = शिव के उपासकों ने कहा हैं ॥११८॥

अब गणेश के उपासकों का मत कहते हैं --

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ।
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥११९॥

सः अपि पुरत्रयं सादयितुं = शिवजी ने भी त्रिपुर को नाश करने के लिये, **विघ्नेशं अपूजयत्** = गणेश जी का पूजन किया इसलिये **गाणपत्यमते रताः** = गणेश जी की उपासना करने वालों ने, **विनायकम् ईशं प्राहुः** = गणेश जी को ही ईश्वर कहा है ॥११९॥

उक्त न्याय का अन्यत्र भी उपदेश करते हैं

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथान्यथा ।
मन्त्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥१२०॥

एवम् अन्ये = इस प्रकार दूसरे (शक्ति सूर्य भैरव मैराल आदि के) उपासकों ने, **स्वस्वपक्षाभिमानेन** = अपने अपने पक्ष के अभिनिवेश से, **मन्त्रार्थवाद कल्पादीन्** = मन्त्र अर्थवाद और कल्प शास्त्र आदि को **आश्रित्य** = आश्रय करके (प्रमाण मानकर के), **अन्यथा अन्यथा** = भिन्न भिन्न प्रकार से ईश्वर स्वरूप को, **प्रतिपेदिरे** = प्राप्त हुए (वर्णन करते हैं) ॥१२०॥

इस प्रकार कितने मत है, ऐसी आशंका उठाकर असंख्यात है, ऐसा उत्तर कहते हैं --

अन्तर्यामिणमारभ्य स्थावरान्तेश वादिनः ।
सन्त्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥१२१॥

अन्तर्यामिणम् = अन्तर्यामी मायाधीश परमेश्वर से, **आरभ्य** = आरम्भ करके, **स्थावरान्तेश वादिनः** = वृक्षादि स्थावरपर्यन्त पदार्थ को भी ईश्वर मानने वाले, **सन्ति** = वादी लोग असंख्य हैं क्योंकि, **अश्वत्थार्कवंशादेः** = पीपल, आक, बाँस आदि भी, **कुलदैवतदर्शनात्** = कुल के देवता देखे गये हैं। ॥१२१॥

इतने भिन्न-भिन्न मत प्रसिद्ध होने पर कौन सा मत ग्रहण करने योग्य है, और कौन सा त्यागने योग्य है, ऐसी आशंका होने पर उत्तर कहते हैं -

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ।
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात्साप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥१२२॥

तत्त्वनिश्चयकामेन=तत्त्वनिश्चय की इच्छा से, **न्यायागम-विचारिणाम्**=युक्ति सहित शास्त्र के विचार करने वाले मनुष्य को, **प्रतिपत्तिः एका एव स्यात्**=ईश्वर विषयक निश्चय एक ही होता है, **सः अपि अत्र**=वह निश्चय भी यह अगले श्लोक में, **स्फुटम् उच्यते**=स्पष्ट कहा जा रहा है। ॥१२२॥

पूर्वोक्त प्रतिपत्ति को दिखाने के लिये तदनुकूल श्रुति का पाठ करते हैं —

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१२३॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यात्=माया को ही जगत् का उपादान कारण जानो, **तु मायिनम्**=और माया उपाधि धारी अन्तर्यामी को ही, **महेश्वरम्**=ईश्वर (जगत् का निमित्त कारण जानना), **तस्य-अवयव भूतैः तु**=उस मायावी महेश्वर के अवयव अर्थात् अंग स्वरूप जीवों से, **इदं सर्वं जगत् व्याप्तम्**=यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हुआ हैं ॥१२३॥

इस श्रुति के अनुसार ईश्वर विषयक निर्णय युक्ति युक्त है, इस वार्ता को हेतु प्रदर्शन पूर्वक कहते हैं —

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ।
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरान्तेश वादिनाम् ॥१२४॥

इति श्रुत्यनुसारेण=इस पूर्वोक्त श्रुति वचन के अनुसार, **ईश्वरे**=ईश्वर के विषय में, **निर्णयः**=निर्णय अर्थात् सिद्धान्त, **न्याय्यः**=युक्ति युक्त है, क्योंकि, **तथासति**=ईश्वर का पूर्वोक्त स्व-

रूप मान लेने पर, स्थावरान्तेश वादिनाम् = वृक्षादि स्थावर तक ईश्वर मानने वाले सब के साथ, अविरोधः स्यात् = अविरोध होगा (अर्थात् किसी के साथ भी विरोध नहीं रहेगा), ॥१२४॥

जगत् की प्रकृतिरूप माया का क्या स्वरूप है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं –

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥१२५॥

इयं च माया तमोरूपा = यह माया तम स्वरूप है, तापनीये-तदीरणात् = क्योंकि तापनीय उपनिषद् में माया का तम स्वरूप ही कहा गया है, तत्र अनुभूतिं मानं = उस माया स्वरूप में अनुभव प्रमाण है इस प्रकार, श्रुतिः स्वयं प्रतिजज्ञे = श्रुति ने स्वयं कहा है, ॥१२५॥

माया तमरूप है इस में अनुभव प्रमाण पहले श्लोक में बतलाया था, अब उस अनुभव को श्रुति प्रमाण से स्पष्ट करते हैं –

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।
आबालगोपं स्पष्टत्वादानन्त्यं तस्य साऽब्रवीत् ॥१२६॥

तत् च जडम् = वह माया का स्वरूप जड़ (अचेतन) और, मोहात्मकम् = मोह रूप (आवरण रूप) है, इति श्रुतिः अनुभावयति: इस प्रकार वेद अनुभव करवाता है (अनुभव को कहता है), आबालगोपं स्पष्टत्वात् = (जड़ और मोह माया का कार्य है इस प्रकार का अनुभव) बालक से लेकर गौ चराने वाले गोपाल तक सब को स्पष्ट ही है इसलिये, तस्य आनन्त्यम् = उस माया स्वरूप की सर्व-लोक प्रसिद्धि को, सा अब्रवीत् = श्रुति कहती है ॥१२६॥

जड़ और मोह के स्वरूप को कहते हैं—

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।
यत्र कुण्ठी भवेदबुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥१२७॥

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं = अचेतन घटादिकों का जो स्व-रूप है, तत् ही जडम् = वही जड़ स्वरूप है, यत्र बुद्धिः = जिस विषय

में बुद्धि, **कुण्ठीभवेत् सः मोहः**=कुण्ठित हो जाती है (निर्णय नहीं कर सकती)—वह मोह है, **इति लौकिकाः**=इस प्रकार साधारण लोग कहा करते हैं ॥१२७॥

उक्त प्रकार से सर्वानुभव सिद्धत्वलक्षण अनन्तत्व सिद्ध हुआ इस वार्ता को कहते हुए, माया को सर्वानुभव सिद्ध मानने पर घटादि की न्यांई ज्ञान के द्वारा उसकी निवृत्ति नहीं होगी, ऐसी आशंका का उत्तर सप्रमाण कहते हैं—

इत्थं लौकिक दृष्टयैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्ति दृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः॥१२८॥

एतत्=यह जडता और मोह लक्षण तमोरूप अज्ञान, **इत्थं लौकिक दृष्टया**=पूर्वोक्त प्रकार से लोक प्रसिद्धि के अनुसार, **सर्वैः अपि**=सब के द्वारा ही, **अनुभूयते**=अनुभूत होता है इसलिये अज्ञान को अनन्त कहा था, **तु युक्तिदृष्ट्या**=परन्तु विचार दृष्टि से, **अनिर्वाच्यम्**=वह अज्ञान अनिर्वचनीय है, अर्थात् सत् अथवा असत् किसी भी प्रकार से निरूपण नहीं किया जा सकता क्योंकि, **न असत् आसीत् इति**=वह अज्ञान असत् भी नही था इत्यादि, **श्रुतेः**=श्रुति वचन ही अज्ञान की अनिर्वचनीयता में प्रमाण है, ॥१२८॥

अब श्रुति का तात्पर्य बतलाते हैं—

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्टया श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ॥१२९॥

असत् न आसीत्=वह अज्ञान असद् भी नहीं है, **विभातत्वात्**=क्योंकि वह प्रतीत होता है, **न सत् नो आसीद्**=और वह अज्ञान सद् भी नहीं है, **बाधनात्**=क्योंकि ज्ञान द्वारा ही उसका बाध (नाश) हो जाता है, **विद्यादृष्ट्या**=और ज्ञानदृष्टि से अथवा शास्त्र दृष्टि से, **तुच्छम् श्रुतं**=वह अज्ञान तुच्छ अर्थात् तीन काल में नहीं है, इस प्रकार श्रुति में सुना गया है क्योंकि, **तस्य नित्यनिवृत्तितः**=वह अज्ञान नित्य ही (सदा ही) निवृत्त है किसी काल में भी नहीं है ॥१२९॥

उपपादन किये हुए अर्थ का उपसंहार करते हैं—

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिक लौकिकैः ॥१३०॥

असौ माया श्रौतयौक्तिक लौकिकैः=वह माया श्रुति जन्य, और युक्ति जन्य, तथा लोकदृष्टि जन्य, **त्रिभिर्बोधैः**=तीन प्रकार के ज्ञान अर्थात् दृष्टि से, **तुच्छा अनिवर्चनीया च**=तुच्छ और अनिवर्चनीय, **वास्तवी च**=तथा वास्तव अर्थात् सत्य, **इति त्रिधा ज्ञेया**=तीन प्रकार से जानने योग्य है (श्रौत बोध से तुच्छ, यौक्तिक बोध से अनिवर्चनीय, और लोक प्रसिद्धि से सत्य जानना चाहिये)॥१३०॥

इस माया का कर्तव्य दृष्टान्त से दिखाते हैं—

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ।
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥१३१॥

यथाचित्र पटः प्रसारणात्=जैसे चित्र पट फैल कर उसके अन्दर के चित्रों को दिखला देता है, **च संकोचात्**=और संकुचित हो कर चित्रों को छिपा लेता है, **तथा असौ**=उसी प्रकार वह अज्ञानरूपी माया भी फैल कर, **अस्य जगतः सत्त्वं**=इस जगत् की विद्यमानता को, **दर्शयति**=दिखाती है, और संकुचित होकर, **असत्त्वं च**=इस जगत् की अविद्यमानता को दिखाती है ॥१३१॥

पूर्व प्रदर्शित माया की स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रता में उपपत्ति कहते हैं—

अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम्।
स्वतन्त्राऽपि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः ॥१३२॥

चितिविना अप्रतीतेः=माया के भासक चैतन्य के विना माया की प्रतीति न होने से, **माया ही अस्वतन्त्रा स्यात्**=यह माया परतन्त्र भी है, तथा **असङ्गस्य अन्यथाकृते**=असङ्ग कूटस्थ आत्मा को ससङ्ग और विकारी जैसा बना देने के कारण वह माया, **स्वतन्त्रा अपि स्यात् एव**=स्वतन्त्र भी है ही ॥१३२॥

अन्यथा करण का स्पष्टीकरण कहते हैं—

कूटस्थासङ्गमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥१३३॥

सा कूटस्थासंगमात्मानं=वह माया निर्विकार असंग चैतन्य स्वरूप आत्मा को भी, **जगत्त्वेन करोति**=जगत्रूप बना देती है, यह माया द्वाराअन्यथा करण है, **चिदाभासस्वरूपेण**=और चैतन्य के आभास से, **जीवेशौ अपि निर्ममे**=जीव और ईश्वर को भी पृथक्-पृथक् बना देती है, शुद्ध सत्त्व प्रधान माया में आभास स्वरूप ईश्वर और मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या में अर्थात् अन्तः करण में आभास रूप जीव को निर्माण करती है ॥१३३॥

आत्मा को अन्यथा कर देने से, आत्मा के कूटस्थ पने की हानि हो जायेगी इस आशंका का उत्तर कहते हैं, और कूटस्थपने का नाश नहीं करती हुई भी जगत् स्वरूपता का आपादन करना दुर्घटकारिणी माया के लिये कोई आश्चर्य का कारण नहीं, इस वार्ता को उत्तरार्ध से कहते हैं—

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥१३४॥

कूटस्थम् अनुपद्रुत्य=कूटस्थ की हानि नहीं करती हुई भी यह माया, **जगदादिकम् करोति**=जगत्, जीव, ईश्वर आदि विभाग को कर देती है, **दुर्घटैकविधायिन्यां**=असंभव को भी संभव करके दिखाना ऐसे मुख्य कार्य करने का स्वभाववाली, **मायायां का चमत्कृतिः**=उस माया में क्या आश्चर्य का कारण है (अर्थात् कुछ भी नहीं) ॥१३४॥

माया के इस दुर्घटकारित्व को अगले श्लोक में दिखाते हैं—

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥१३५॥

उदके द्रवत्वं=जैसे जल में द्रवता (द्रवीभूत रहना), **वह्नौ औष्ण्यं**=और अग्नि में उष्णता, **अश्मनि काठिन्यं**=और पत्थर में,

कठिनता स्वभाव से ही सिद्ध है उसी प्रकार, **मायायादुर्घटत्वं च** = माया का दुर्घटकारित्व भी, **स्वतः सिध्यति**=स्वभाव से ही सिद्ध है, **अन्यतः न**=किसी और निमित्त से नहीं ॥१३५॥

अब इस माया के दुर्घटकारित्व में आश्चर्य का कारण वास्तव में नहीं है इस बात को कहते हैं--

न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ।

धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥१३६॥

लोकः यावत् ताम् (१) = मनुष्य जब तक उस माया को, **साक्षात् न वेत्ति**=साक्षात् नहीं जान लेता, **तावत् चमत्कृतिम्**=तब तक आश्चर्य को, **मनसि धत्ते**=मन में धारण करता है, **पश्चात् तु**=पीछे से तो, **एषा माया इति**=यह माया है इस प्रकार साक्षात् जान लेने पर, **उपशाम्यति**=माया की आश्चर्यकारणता शान्त हो जाती है।

(१) कहीं 'तम्' ऐसा भी पाठ है इस पक्ष में 'तम्' का अर्थ माया के प्रयोग कर्त्ता को (प्रेरक को) समझ लेना ॥१३६॥

और भी जगत् सत्यवादी नैयायिकादि के प्रति, इस प्रकार के प्रश्न करना चाहिये, मायावादी के प्रति नहीं, इस वार्ता को अब कहते हैं—

प्रसरन्ति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ।

न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥१३७॥

जगद्वस्तुत्ववादिषु=जगत् को सच मानने वाले नैयायिक आदियों के प्रति, **चोद्यानि प्रसरन्ति**=माया के विषय में प्रश्न प्राप्त होते हैं और, **मायायां हि**=माया को मिथ्या मानने वाले वेदान्तियों के प्रति माया के विषय में, **चोदनीयं न**=प्रश्न नहीं करना चाहिये, **तस्याः चोद्यैकरूपतः**=क्योंकि वह माया स्वयं प्रश्न रूप ही हैं॥१३७॥

मायावादी के प्रति प्रश्न करने में अतिप्रसंग दोष कहते हैं पूर्वार्ध से, और उत्तरार्ध से क्या कर्तव्य है, उसका निर्देश भी करते हैं-

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात्त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ।

परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥१३८॥

चोद्येऽपि=इस प्रश्न रूप माया के विषय में भी, यदि चोद्यं-स्यात्=अगर प्रश्न बन सकता होवे तो, त्वच्चोद्ये=तुम्हारे प्रश्न के विषय में भी, मया चोद्यते=मेरे द्वारा प्रश्न के ऊपर प्रश्न बन सकता है, ततः चोद्यं परिहार्यं=इसलिये प्रश्न का त्याग करना ही उचित है पुनः न प्रतिचोद्यतां=बार बार प्रश्न नहीं करना चाहिये ॥१३८॥

उक्तार्थ का ही विस्तार करते हैं—

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ।

अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥१३९॥

विस्मयैक शरीरायाः मायायाः=चमत्कार स्वरूप वह माया, चोद्यरूपतः=प्रश्न रूप होने से, अस्याः परिहारः=उस माया को त्यागने का उपाय ही, बुद्धिमद्भिः=बुद्धिमान् मनुष्यों के द्वारा, प्रयत्नतः अन्वेष्यः=यत्न से ढूंढने योग्य है ॥१३९॥

माया के स्वरूप का पहिले निश्चय होने पर ही, उसके त्याग का उपाय ढूंढ़ना चाहिये, अभी तक तो माया के स्वरूप का ही निश्चय नहीं हुआ ऐसी आशंका करके उसका उत्तर कहते हैं—

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ।

लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥१४०॥

मायात्वम् एव=माया के स्वरूप का ही, निश्चेयम्=निश्चय पहले कर लेना चाहिये, इति चेत् तर्हि=यदि ऐसी आशंका हो तो, निश्चिनु=माया का स्वरूप निश्चय करो, लोक प्रसिद्ध मायायाः=लोक में प्रसिद्ध माया के स्वरूप का, यत् लक्षणं तत् इक्ष्यतां=जो लक्षण है उसे देखो अर्थात् जानो ॥१४०॥

माया का लोक प्रसिद्ध लक्षण इस श्लोक में कहते हैं—

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टंभासते च या ।

सा मायेतीन्द्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥१४१॥

या निरूपयितुम् न शक्या=जो (माया) निरूपण करने को शक्य नहीं, विस्पष्टं च भासते=किन्तु स्पष्ट प्रतीत होती है, सा माया

इति = वह माया है इस प्रकार इन्द्रजालादौ = मायावी पुरुष के बनाये हुए इन्द्र जाल आदि में, लोकाः सम्प्रति पेदिरे = मनुष्यों ने माया के स्वरूप को तथा लक्षण को जाना है ॥१४१॥

उसी लक्षण को अब जगत् में घटाते हैं

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ।
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥१४२॥

इदं जगत् स्पष्ट भाति = यह जगत् स्पष्ट भासता है, तन्निरूपणम् च अशक्यं = उसका निरूपण करना असंभव है, तस्मात् = इसलिये (पूर्वोक्त लक्षण घटने से), जगत् मायामयम् = जगत् मायिक है, अपक्षपाततः ईक्षस्व = इस प्रकार पक्षपात से रहित होकर देखो ॥१४२॥

जगत् का निरूपण नहीं हो सकता, इस बात को इस श्लोक में दिखाते हैं

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥१४३॥

निखिलैः पण्डितैः अपि = संसार के सब विद्वानों ने मिलकर भी, निरूपयितुम् आरब्धे = जगत् का निरूपण आरम्भ करने पर, तेषां पुरतः कासुचित्कक्षासु = उनके सामने कुछ कोटि तक पहुँच कर, अज्ञानं भाति = अज्ञान ही भासता है ॥१४३॥

उसको अब दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं—

देहेन्द्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ।
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥१४४॥

देहेन्द्रियादयः भावाः = देह इन्द्रिय आदि ये भाव पदार्थ, वीर्येण कथं उत्पादिताः = वीर्य से कैसे उत्पन्न हुए, तत्र चैतन्यं वा कथं = और उनमें चैतन्य भी कैसे आया है, इति उक्तेः ते = ऐसा पूछने पर तुम्हारे पास, उत्तरं किं = उत्तर क्या है, अर्थात् कुछ भी उत्तर नहीं ॥१४४॥

स्वभाव वादी 'चेत्' तक ग्रन्थ से शंका करते हैं, 'कथम्' आदि ग्रन्थ से सिद्धान्ती पूछते है, अर्थात् सिद्धान्ती का प्रश्न है, और अन्वय

व्यतिरेक से वीर्य के स्वभाव को जानता हूँ, ऐसी आशंका का व्याप्ति के अभाव से, उक्त आशंका नहीं बन सकती, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

वीर्यस्यैव स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया ।
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवीर्यतः ॥१४५॥

वीर्यस्य एव स्वभावः चेत्=वीर्य का ही यह स्वभाव है, कि देह इन्द्रिय आदि उत्पन्न करके उसमें चेतनता संपादन कर देना, यदि ऐसी आशंका हो तो (सिद्धान्ती पूछता है), **त्वया तत्**=तुमने उस बात को अर्थात् वीर्य के स्वभाव को, **कथं विदितं**=कैसे जाना, **यौ अन्वयव्यतिरेकौ**=और जो अन्वय व्यतिरेक रूप युक्ति है, (उससे यह स्वभाव नहीं जाना जा सकता क्योंकि), **तौ**= वे अन्वय और व्यतिरेक दोनों, **बन्ध्यवीर्यतः**=बन्ध्या स्त्री में व्यर्थ वीर्य होने से नहीं बनते (अर्थात् अन्वय व्यतिरेक नियम का), **भग्नौ**=भंग हो जाता है ॥१४५॥

पुनः प्रश्न करने पर कुछ भी नहीं जानता हूँ यही उत्तर देना ऐसे फलितार्थ को कहते हैं—

न जानामि किमप्येतदित्यन्ते शरणं तव ।
अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम् ॥१४६॥

एतत् किं अपि न जानामि=यह कुछ भी मैं नहीं जानता हूँ, **इति अन्ते तव शरणं**=इस प्रकार अज्ञान ही अन्त में तुम्हारी शरण है, **अतः एव महान्तः**=इसलिये महान् पुरुषों ने, **अस्य इन्द्रजालतां वदन्ति**=इस माया स्वरूप को इन्द्रजाल कहा है ॥१४६॥

उक्त अनिर्वचनीय स्वरूप में वृद्धों की संमति दिखाते हैं—

एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं,
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम् ।
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरादेषैरनेकैर्वृतं,
पश्यत्यत्तिशृणोति जिघ्रतितथा गच्छत्यथागच्छति ।१४७।

एतस्मात् अपरं इन्द्रजालं किं इव = इससे बढ़कर दूसरा इन्द्रजाल और क्या होगा, यत् गर्भवासस्थितं = जो कि गर्भ का स्थान जरायु में स्थित, रेतः चेतति = वीर्य चेतनता प्राप्त होकर, हस्त मस्तक पद = हाथ मस्तक पैर आदि रूप में, प्रोद्भूतनानाङ्कुरं = उत्पन्न अनेक अंकुर वाला होकर, पर्यायेणशिशुत्व यौवनजरावेषैः = क्रम से बाल्यावस्थायौवनावस्था जरावस्था आदि, अनेकैः वृतं = नाना प्रकार के विकारों से उत्पन्न होता है, पश्यति अत्तिभृणोति जिघ्रति = देखता खाता सुनता है सूंघता है, तथा गच्छति अथ आगच्छति = और जाता है और आता है ॥१४७॥

केवल देह ही दुर्निरूप्य नहीं किन्तु वट वृक्षादि का भी निरूपण दुःसाध्य है इस वार्ता को कहते हैं –

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ।
क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेतिनिश्चिनु ॥१४८॥

देहवत् वटधानादौ = शरीर की न्यांई वट वृक्ष के बीजादि में भी, सुविचार्य विलोक्यताम् = अच्छी तरह विचार कर देखिये, क्व धाना कुत्र वा वृक्षः = कहाँ तो छोटा बीज है, और कहाँ महान् बड़ का वृक्ष, तस्मात् = इसलिये (इन्द्रजाल के समान अनिवर्चनीय होने से), मायाइति निश्चिनु = यह सब माया है ऐसा निश्चय करिये ॥१४८॥

इस मायिक प्रपञ्च का निर्वचन कोई भी नहीं कर सकता, इस बात को इस श्लोक में कहते हैं –

निरूक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ।
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खण्डनादौ सुशिक्षिताः ॥१४९॥

ये तार्किकादयः निरूक्तौ = जो नैयायिक आदि वादी लोग प्रपंच के निर्वचन में, अभिमानम् दधते = अभिमान धारण करते हैं (अर्थात् कहते हैं हम जगत् का निरूपण कर सकते हैं), ते तु हर्षमिश्रादिभिः = वे वादी लोग हर्ष मिश्र आदि बुद्धिमानों के द्वारा, खण्डनादौ = खण्डन आदि ग्रन्थों में, सुशिक्षिताः = अच्छी तरह शिक्षा

प्राप्त करे हुये हैं (अर्थात् हर्षमिश्रादि विद्वानों ने खण्डनादि ग्रन्थों में उनकी अच्छी तरह खबर ली है) ॥१४९॥

उक्त अर्थ में साम्प्रदायिकों का वाक्य संवादरूप से कहते हैं —

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ।
अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत्खलु ॥१५०॥

ये भावाः खलु अचिन्त्याः=जो पदार्थ निश्चय करके मन से भी चिन्तन करने योग्य नहीं, **तान् तर्केषु नयोजयेत्**=उनको तर्कों में नहीं जोड़ना चाहिये (अर्थात् तर्क द्वारा उनका निरूपण करने का यत्न नहीं करना चाहिये), **जगत् खलु**=यह जगत् भी निश्चय करके **मनसापि अचिन्त्यरचनारूपम्**=मन से भी चिन्तन करने अयोग्य स्वरूप वाला है (इसलिये जगत् निरूपण भी तर्क से नहीं हो सकता, अतः अनिवर्चनीय है) ॥१५०॥

अब माया स्वरूप का भी अचिन्त्य रचना शक्ति रूप है, इस बात को कहते हैं—

अचिन्त्यरचना शक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ।
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥१५१॥

अचिन्त्यरचना शक्तिबीजं=अचिन्त्य सृष्टि शक्ति वाला जो बीज (अर्थात् कारण है सो ही), **माया इति निश्चिनु**=माया है, ऐसा निश्चय करो, **तत् एव एकम् मायाबीजं**=वही एक मायारूप बीज कारण, **सुषुप्तौ अनुभूयते**=सुषुप्ति अवस्था में अनुभव में आता है ॥१५१॥

माया जगत् का कारण है, इस बात को कहते हैं

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ।
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥१५२॥

बीजे द्रुमः इव तत्र=बीज में वृक्ष की न्यांई, उस सुषुप्ति रूप माया में, **जाग्रत्स्वप्न जगत्**=जाग्रत् और स्वप्न अवस्था के स्थूल सूक्ष्म कार्य रूप जगत्, **लीनं**=लय प्राप्त हुआ छिपा है, **तस्मात् अशेष**

जगतः=इस कारण से सम्पूर्ण जगत् का, वासनाः तत्र संस्थिताः= सूक्ष्म रूप संस्कार उस माया में स्थित है ॥१५२॥

माया में निखिल जगत् की वासना स्थित है, ऐसा कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, इस आशंका का उत्तर प्रथमार्द्ध से देते हुए, श्लोक के उत्तरार्द्ध से उन वासनाओं में प्रतिबिम्बित चिदाभास का अनुभव क्यों नहीं होता, इस आशंका का उत्तर चिदाभास के साधक प्रमाण सहित कहते हैं –

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति ।
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥१५३॥

याः बुद्धि वासनाः=माया में जो बुद्धि के सूक्ष्म संस्कार है, तासु चैतन्यं प्रतिबिम्बति=उन संस्कारों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, मेघाकाशवत्=पूर्वोक्त मेघाकाश की न्यांई, अस्पष्ट चिदाभासः=अस्पष्ट चित् प्रतिबिम्ब (बुद्धिवासनाओं में है इस बात को), अनुमीयताम्=अनुमान से जान लेना चाहिये ॥१५३॥

मेघ का अंशरूप जल अस्पष्ट आकाश प्रतिबिम्ब वाला है, तथापि उसका अनुमान समानजातीय स्पष्टाकाश प्रतिबिम्ब युक्त घटादिक के सद्भाव से हो सकता है, परन्तु बुद्धि वासना में अस्पष्ट चिदा भास के अनुमान के लिये कोई दृष्टान्त हैं नहीं, ऐसी आशंका होने पर दृष्टान्त संपादन के लिये कहते हैं—

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ।
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥१५४॥

साभासम् एव=चिदा भास सहित बुद्धि संस्कार युक्त, तद्बीजम् धी रूपेण=वह अज्ञानरूप बीजकारण बुद्धि रूप से, प्ररोहति= परिणत होता है (स्वप्न जाग्रत् अवस्था में), अतः बुद्धौ चिदा भासः विस्पष्टम्=इसलिये बुद्धि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब स्पष्ट ही, प्रतिभासते=प्रतीत होता है ।

टि० विवादास्पद बुद्धिवासना चित्प्रतिबिम्ब युक्त है, बुद्धि का अवस्था विशेष होने से, बुद्धि वृत्ति की न्यांई, इस प्रकार बुद्धि वृत्तिरूप दृष्टान्त से अनुमान हो सकता ॥१५४॥

उक्त प्रकार से श्रुति में कही हुई जीव ईश्वर की भी मायिकता का उपपादन किया, अब उसका उपसंहार करते हैं, तथा श्लोक के उत्तरार्द्ध से जीव और ईश्वर दोनों की मायिकता समान होने पर उनका भेद कैसे सिद्ध हुआ, इस आशंका का, स्पष्ट उपाधि और अस्पष्ट उपाधि वाला होने से मेघाकाश जलाकाश की न्यांई जीव ईश्वर का भेद सिद्ध हो सकता है, इस प्रकार समाधान करते हैं—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ।
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥१५५॥

माया आभासेन जीवेशौ करोति=माया चिदा भास के द्वारा जीव और ईश्वर को करती है, **इति श्रुतौ श्रुतं**=इस प्रकार श्रुति में सुना गया है, **मेघाकाश जलाकाशौ इव**=पूर्वोक्त मेघाकाश जलाकाश की न्यांई, **तौ सुव्यवस्थितौ**=वे जीव और ईश्वर दोनों, स्थित है ॥१५५॥

ईश्वर की मेघाकाश से समता को स्पष्ट कथन करते हैं—

मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ।
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत् स्थितः ॥१५६॥

मेघवत् माया वर्तते=आकाश में मेघ के समान माया चैतन्य में विद्यमान है, **मेघस्थित तुषारवत्**=मेघ में स्थित सूक्ष्म जलकण के समान, **धीवासनाः**=माया में बुद्धि की वासना स्थित है, **तुषारस्थखवत्**=सूक्ष्म जलांश में स्थित आकाश के प्रतिबिम्ब के समान, **चिदाभासः स्थितः**=बुद्धि वासना में चित्प्रतिबिम्ब स्थित है ॥१५६॥

माया में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर, तथा ईश्वर में अन्तर्यामित्व आदि धर्म को भी श्रुतिप्रमाण से कथन करते हैं—

माया धीनश्चिदाभासः श्रुतौ मायी महेश्वरः ।
अन्तर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥१५७॥

मायाधीनः चिदाभासः=माया उपाधि के अधीन जो चित्प्रतिबिम्ब है वह, **मायी महेश्वरः श्रुतः**=मायाधीश परमेश्वर श्रुति में कहा गया है, **सः एव हि अन्तर्यामी**=और वही अन्तर्यामी, **सर्वज्ञः च**

जगत्योनि=सर्वज्ञ और जगत् का कारण है यह भी श्रुतियों में कहा गया है ॥१५७॥

बुद्धिवासना में चिदा भास का ईश्वरत्व अन्तर्यामित्व आदि कैसे सिद्ध हो सकता है इस आशंका के निवारण करने के लिये ईश्वरत्व आदि के प्रतिपादक श्रुति प्रमाण दिखाते हैं –

सौषुप्तमानन्दमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ।
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥१५८॥

सौषुप्तम् आनन्दमयं=सुषुप्ति कालीन आनन्दमय पुरुष का, **प्रक्रम्य श्रुतिः एवमजगौ**=उपक्रम करके श्रुति ने इस प्रकार कहा है कि, **एष**=यह ही (आनन्दमय ही), **सर्वेश्वरः इति**=सर्वेश्वर सर्वज्ञ अन्तर्यामी और जगत् का कारण है(१),**सोयं वेदोक्तः ईश्वरः**=सोई यह वेद प्रतिपादित ईश्वर है ।

टि० (१)अर्थात् श्रुति मायास्थ बुद्धि वासनाओं में प्रति बिम्ब रूप आनन्दमय को ही सर्वेश्वर सर्वज्ञ अन्तर्यामी और जगद् योनिरूप से प्रतिपादन करती है ॥१५८॥

आनन्दमय का सर्वज्ञत्व आदि अनुभव विरुद्ध है ऐसी आशंका के उत्तर सहेतुक कहते हैं –

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ।
श्रौतार्थस्याविवर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥१५९॥

तस्य=उस आनन्दमय ईश्वर की, **सर्वज्ञत्वादिके**=सर्वज्ञता सर्वशक्ति आदि के विषय में, **न एव विप्रतिपद्यतां**=सन्देह नहीं करना चाहिये, **श्रौतार्थस्य**=क्योंकि श्रुति प्रतिपादित अर्थ, **अवितर्क्यत्वात्**=वितर्क का (विकल्प का) विषय नहीं होता तथा, **मायायां सर्वसंभवात्**=माया में सब कुछ सम्भव भी है ॥१५९॥

अनुकूल युक्ति का (तर्क का) अभाव होने पर श्रुति भी (ग्रावाणः प्लवन्ते) पत्थर तैरते है, इस वाक्य की न्यांई अर्थवाद रूप (स्वार्थ में प्रमाण रहित) हो जायेगी, ऐसी आशंका होने पर श्रुति का प्रमाण्य सिद्ध करने के लिये श्रुति से उक्त सर्वेश्वरत्व आदि का युक्ति से उपपादन करते हैं—

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ।
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥१६०॥

अयम् यत्विश्वं सृजते = यह आनन्दमय ईश्वर जिस जाग्रत् आदि विश्व प्रपञ्च को रचता है, **तत् अन्यथयितुम्** = उसको अन्यथा करने में (बदलने में), **कः अपि पुमान् न शक्तः** = कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है, **तेन अयं** = तिस कारण से यह आनन्दमय, **सर्वेश्वरः इति ईरितः** = सब का ईश्वर है, ऐसा कहा जाता है ॥१६०॥

अब सर्वज्ञत्व का उपपादन करते हैं—

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ।
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥१६१॥

तत्र = सुषुप्तिकालीन कारण अज्ञान में, **अशेष प्राणिबुद्धीनाम्** = कार्यरूप सब प्राणियों की बुद्धियों के, **वासनाः संस्थिताः** = संस्कार स्थित है, **ताभिः** = उन संस्कार रूप वासनाओं के द्वारा, **सर्वं क्रोडीकृतं** = सम्पूर्ण जगत् (विषयकृत् है) विषय है, **तेन** = इसलिये (सम्पूर्ण बुद्धियों के संस्कार युक्त अज्ञान उपाधि वाला होने से यह आनन्दमय) **सर्वज्ञः ईरितः** = सर्वज्ञ कहा जाता है ॥१६१॥

यदि आनन्दमय में सर्वज्ञता है, तब वह सर्वज्ञता अनुभव में क्यों नहीं आती, इस आशंका के समाधान करने के लिये, उपाधि वासनाएं परोक्ष है, इसलिये परोक्षता के कारण सर्वज्ञता का साक्षात् अनुभव नहीं होता, किन्तु अनुमान से जान सकते हैं, ऐसा उत्तर कहते हैं

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं नहीक्ष्यते ।
सर्वबुद्धिषुतद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥१६२॥

वासनानाम् = वे वासनाये (सर्वबुद्धिसंस्काररूप उपाधि), **परोक्षत्वात्** = परोक्ष होने से, **सर्वज्ञत्वं न हि ईक्ष्यते** = सर्वज्ञता का साक्षात् अनुभव नहीं होता, **सर्व बुद्धिषु तद् दृष्टवा** = सम्पूर्ण बुद्धियों में उस सर्वज्ञता को देखकर, **वासनासु** = बुद्धि के सस्कारों में, **अनुमीयताम्** = सर्वज्ञता को अनुमान से जान लेना चाहिये ।

टि०—वह अनुमान इस प्रकार है, सर्व बुद्धि में स्थित सर्वज्ञता अपने कारण वासनाओं में स्थित सर्वज्ञत्व पूर्वक होना चाहिये, कार्य-निष्ट धर्म विशेष होने से, पट निष्ठरूपादि की न्यांई ॥१६२॥

सर्वज्ञत्व का उपपादन करके अब श्रुत्युक्त अन्तर्यामी पने का उपपादन करते हैं--

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि ।
अन्तस्तिष्ठन्यमयति तेनान्तर्यामितां व्रजेत् ॥१६३॥

विज्ञानमयमुख्येषु=विज्ञान मय आदि, **कोशेषु**=कोशों में (विज्ञानमय से लेकर अन्नमय तक कोशों में), **च अन्यत्र एव हि**= और पृथ्वी आदि अन्य वस्तुओं में भी, **अन्तस्तिष्ठन् यमयति**=सबके भीतर रहकर सबका नियमन करता है, **तेन अन्तर्यामिताम्**=इस कारण से यह आनन्दमय ईश्वर अन्तर्यामिभाव को भी, **व्रजेत्**=प्राप्त होता है ॥१६३॥

पूर्वोक्त अर्थ में सम्पूर्ण "अन्तर्यामी ब्राह्मण" प्रमाण है इस बात को दिखाने के लिये उस ब्राह्मण के एक देश रूप 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' अर्थात् जो आनन्दमय ईश्वर विज्ञान (अर्थात् बुद्धि में रहकर बुद्धि का नियमन करता हैं) इत्यादि श्रुति के वाक्य को अर्थ से कथन करते हैं-

बुद्धौतिष्ठन्नान्तरोऽस्या धियानीक्ष्यश्च धीवपुः ।
धियमन्तर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥१६४॥

बुद्धौतिष्ठन्अस्याः आन्तरः=जो बुद्धि में रहकर बुद्धि के भीतर है, **धिया अनीक्ष्यः च**=बुद्धि जिसको देख नहीं सकती, **धीवपुः**=और बुद्धि जिसका शरीर है, **धियम् अन्तर्यमयति**=बुद्धि को अन्दर रहकर नियमन करता है,वह अन्तर्यामी है,**इति एवं वेदेन घोषितम्**-- इस प्रकार वेदने घोषणा की है अर्थात् कहा है ॥१६४॥

अन्तर्यामी ब्राह्मण के हर एक पर्याय के व्याख्यान करने में ग्रन्थ बहुत बढ़ जायेगा इस भय से सब पर्यायों में अन्तर्यामित्व सिद्धि के लिये 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्' इस पर्याय के अर्थ को दृष्टान्त द्वारा कहते हैं --

तन्तुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ।
सर्वोपादानरूपत्वात्सर्वत्रायमवस्थितः ॥१६५॥

यद्वत् तन्तुः उपादानतया=जैसे सूत पट के उपादान कारण होने से, **पटे स्थितः**=पट में अनुगत रूप से स्थित है, **तथासर्वोपादान-रूपत्वात्**=उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के प्रति उपादान कारण होने से, **अयम्**=यह अन्तर्यामी आनन्द मय भी, **सर्वत्र अवस्थितः**=सम्पूर्ण कार्य रूप प्रपञ्च में अवस्थित है ॥१६५॥

यदि उपादान कारण होने से यह आनन्दमय सर्वत्र स्थित है तो उसको सर्वत्र सब कोई क्यों नहीं अनुभव करते, ऐसी आशंका करके सर्वान्तर होने से वह नहीं दिखता ऐसा उत्तर कहते हैं—

पटादप्यान्तरस्तन्तुस्तन्तोरप्यंशुरान्तरः ।
आन्तरत्वस्य विश्रान्तिर्यत्रासावनुमीयताम् ॥१६६॥

पटादपि आन्तरः तन्तुः=पट से भी आन्तर तन्तु है (सूत है), **तन्तोः अपि आन्तरः**=और तन्तु से भीतर तथा सूक्ष्म कारण, **अंशुः**=अंशु अर्थात् रेशा है इस प्रकार, **यत्र आन्तरत्वस्य विश्रान्तिः**=जहाँ पर आन्तरता का तारतम्य समाप्त हो जाता है, **असौ अनुमीयताम्**=वही सर्वान्तर्यामी है सो अनुमान के द्वारा जान लेना चाहिये, आन्तरता का तारतम्य कहीं पर अवश्य समाप्त होगा, तारतम्य रूप होने से, अणुत्व के तारतम्य की न्यांई ॥१६६॥

जैसे अंशु आदि आन्तर होने पर भी उनका दर्शन होता है, उसी प्रकार आन्तर अन्तर्यामी का दर्शन क्यों नहीं होगा, ऐसी आशंका का उत्तर इस अभिप्राय से देते हैं, कि तन्तु की अपेक्षा से अंशु में आन्तरत्व होने पर भी अंशु के सूक्ष्म अवयव की अपेक्षा अंशु में बाह्यत्व भी है (अर्थात् आपेक्षिक आन्तरत्व है निरपेक्ष आन्तरत्व नहीं) इसलिये अंशु का दर्शन तो हो सकता किन्तु अन्तर्यामी में किसी की अपेक्षा से भी बाह्यत्व है नहीं अर्थात् निरपेक्ष आन्तरत्व है, इसलिये अन्तर्यामी का अंशुवत् दर्शन संभव नहीं, इसी अर्थ को श्लोक में कहते हैं—

द्वित्रान्तरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमान्तरः ।
न वीक्ष्यते ततोयुक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥१६७॥

द्वित्रान्तरत्वकक्षाणाम्=दो तीन कोटि पर्यन्त आन्तर पदार्थ का, **दर्शने अपि**=दर्शन होने पर भी, **अयं आन्तरः न वीक्ष्यते**=यह सर्वान्तर्यामी परमेश्वर देखने में नहीं आता है,**ततः युक्तिश्रुतिभ्यां एव**=इसलिये युक्ति के द्वारा (अर्थात् जड़ पदार्थ अधिष्ठान के बिना प्रवृत नहीं हो सकता, इस युक्ति से) तथा पूर्वोक्त श्रुति प्रमाण से भी, **निर्णयः**=सर्वान्तर्यामी का निर्णय होता है ॥१६७॥

संपूर्ण भूत जिस अन्तर्यामी का शरीर है, इस श्रुत्युक्त अर्थ को कहते हैं –

पटरूपेण संस्थानात्पटस्तन्तोर्वपुर्यथा ।
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ॥१६८॥

यथा पट रूपेण संस्थानात्=जिस प्रकार पटरूप से स्थित होने के कारण, **तन्तोः वपुः पटः**=तन्तुओं का शरीर वस्त्र है, **तथा सर्वरूपेण संस्थानाद्**=उसी प्रकार सर्वात्मक रूप से स्थित होने के कारण **सर्वं अस्य वपुः**=संपूर्ण जगत् इस अन्तर्यामी का शरीर हैं ॥१६८॥

अब जो सर्व भूतों के अन्दर स्थित होकर सबको नियमन करता है "यः सर्वाणि भूतान्यान्तरो यमयति" इस श्रुति वाक्य के तात्पर्य को दृष्टान्त से कथन करते हैं, दो श्लोकों के द्वारा—

तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा ।
अवश्यमेव भवति न स्वातन्त्र्यं पटे मनाक् ॥१६९॥

तन्तोः संकोचविस्तारचलनादौ=सूत के सिकुड़ना फैलना हिलना आदि विकार होने पर, **पटः तथा**=कार्य पट उसी प्रकार विकार वाला, **अवश्यं एव भवति**=अवश्य ही हो जाता है, **पटे स्वातन्त्र्यं**=वस्त्र में सूतों से निरपेक्ष स्वतन्त्रता, **मनाक् न**=किंचित् मात्र भी नहीं है ॥१६९॥

तथाऽन्तर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ।
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ॥१७०॥

तथा अयम् अन्तर्यामी=(जैसे तन्तु के संकोच आदि से पट का संकोच आदि विकार होता है) उसी तरह (पृथ्वी आदि में उपादान रूप से स्थित) यह अन्तर्यामी, **यत्र यया वासनया**=जहाँ जिस जिस वासना से, **यथा विक्रियेत**=जैसे (घटादि कार्य रूप से) विकार प्राप्त होता है, **तथा अवश्यं एव भवति**=तथा वैसा वैसा कार्य अवश्य ही होता है, **संशयः न**=इसमें कोई संदेह नहीं ॥१७०॥

इस प्रकार अन्तर्यामी का प्रतिपादक श्रुतिवचन कथन करके अब तत् प्रतिपादक स्मृति वचन भी कथन करते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥१७१॥

अर्जुन ईश्वरः=हे अर्जुन ! यह अन्तर्यामी ईश्वर, **यन्त्रारूढानि**=शरीर रूपी यन्त्र में अभिमान करने वाले, **सर्वभूतानि मायया**=सर्व प्राणियों को माया के द्वारा, **भ्रामयन् सर्वभूतानाम्**=प्रवृत्त कराते हुए सब प्राणियों के, **हृद्देशे तिष्ठति**=हृदय देश में विराजमान है ॥१७१॥

अब 'सर्वभूतानाम्' इस पद की व्याख्या करते हैं—

सर्व भूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ।
तदुपादान भूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ॥१७२॥

सर्व भूतानि विज्ञानमयाः=सब प्राणी यह विज्ञानमयरूप जीव ही हैं, **ते हृदये स्थिताः**=वे विज्ञानमय जीव हृदय पुण्डरीक में स्थित हैं क्योंकि,**तत्र**=उस हृदय पुण्डरीक में,**तदुपादान भूतेशः**=विज्ञानमय जीवों का उपादान आनन्दमय अन्तर्यामी, **खलु विक्रियते**=विज्ञानमय रूप से परिणाम प्राप्त होता है ॥१७२॥

अब यन्त्रारूढानि इत्यादि पदों का अर्थ कहते हैं—

देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहोऽभिमानिता ।

विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ॥१७३॥

देहादि पञ्जरं=देह इन्द्रियादि रूप यह पिञ्जरा ही, यन्त्रं=यन्त्र कहा गया है, अभिमानिता तदारोहः=उसमें अभिमान करना ही उसमें आरूढ़ होना है, विहित प्रतिषिद्धेषु=विहित और निषिद्ध कर्मों में, प्रवृत्तिःभ्रमणन् भवेत्=प्रवृत्ति ही भ्रमण शब्द से कहा गया है ॥१७३॥

अन्तर्यामी के प्रेरकत्व का वाचक भ्रामयन् पद का और मायापद का अर्थ कहते हैं --

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ।

स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥१७४॥

विज्ञानमयरूपेण=विज्ञानमय अर्थात् जीव रूप से, तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः=और धर्माधर्म में उनकी प्रवृति निवृत्ति रूप से, ईशः स्वशक्त्या=ईश्वर अन्तर्यामी अपनी माया शक्ति से, विक्रियते=परिणाम को प्राप्त होता है तत् हि मायया भ्रामणम्=यह ही ईश्वर का माया के द्वार जीवों को भ्रमण करना है(भ्रामयन् का अर्थ है)॥१७४॥

श्रुति के यमयति पद का यही अर्थ है इस अर्थ को कहते हुए पृथ्वी आदि में भी इसका उपदेश करते हैं—

अन्तर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ।

पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ॥१७५॥

अन्तर्यमयति=सब के अन्दर रहकर ईश्वर नियमन करते रहते हैं, इति उक्त्या अयम् एव अर्थः=इस श्रुति वचन से यह पूर्वोक्त अर्थ ही, श्रुतौ श्रुतः=श्रुतियो में सुना गया अर्थात् कहा गया है, पृथिव्यादिषुसर्वत्र=पृथ्वी आदि सम्पूर्ण पदार्थ में, अयं न्यायः=यह न्याय अर्थात् दृष्टान्त, धिया योज्यताम्=बुद्धि से समझ लेना चाहिये ॥१७५॥

सम्पूर्ण प्रवृत्तियां सर्वेश्वराधीन है इस विषय में अन्य वचन भी कथन करते हैं—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥१७६॥

धर्मं जानामि मे प्रवृत्तिः न च=धर्म को मैं जानता हूँ परन्तु मेरी प्रवृत्ति धर्म में नहीं होती, अधर्मं च जानामि=अधर्म का स्वरूप भी मैं जानता हूँ, मे निवृत्तिःन=परन्तु अधर्म से मेरी निवृत्ति नहीं होती, हृदि स्थितेन=क्योंकि हृदय में बैठे हुए, केनापि देवेन=किसी देवता रूप ईश्वर करके, यथा नियुक्तः अस्मि=जैसे प्रेरित में होता हूँ, तथा करोमि=वैसे ही मैं करता हूँ अर्थात् संपूर्ण प्रवृत्ति ईश्वराधीन है ॥१७६॥

जब सम्पूर्ण प्रवृत्ति ईश्वराधीन है तब तो पुरुष प्रयत्न भी व्यर्थ है ऐसी आशंका का समाधान, पुरुष प्रयत्न भी ईश्वराधीन है इस युक्ति से कथन करते हैं—

नार्थः पुरुषकारेणेत्येवं मा शङ्क्यतां यतः ।
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥१७७॥

पुरुष कारेण=प्रवृत्ति इश्वराधीन माने तो पुरुष का प्रयत्न, अर्थः न=सार्थक नहीं होगा (निष्फल होगा), इति एवं मा शंक्यतां= इस प्रकार सन्देह मत करो, यतः ईशः पुरुषकारस्य=क्योंकि ईश्वर पुरुष प्रयत्न के, रूपेण अपि=रूप से भी, विवर्तते=परिणत होता है (पुरुष का प्रयत्न भी ईश्वर रूप ही है इस लिये पुरुषकार व्यर्थ नहीं है)॥१७७॥

पुरुष का प्रयत्न भी यदि ईश्वर रूप ही है, तो पूर्व प्रतिपादित अन्तर्यामी द्वारा प्रेरणा व्यर्थ हो जायेगी, ऐसी आशंका करके उसका समाधान करते हैं, कि ईश्वर के ज्ञान से अपनी आत्मा को असंगत्व का ज्ञानरूप फल विद्यमान होने से अन्तर्यामी द्वारा प्रेरणा निष्फल नहीं—

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ।
तथापीशस्य बोधेन स्वात्मासङ्गत्वधीजनिः ॥१७८॥

ईदृग्बोधेन=(पुरुष प्रयत्न आदि भी ईश्वर रूप ही है) ऐसे बोध से, ईश्वरस्य प्रवृत्तिः=अन्तर्यामी रूप से ईश्वर की प्रेरणा, मा एव वार्यताम्=वृथा होगी इस प्रकार निवारण नहीं करना चाहिये, तथापि ईशस्य बोधेन=फिर भी (क्योंकि) अन्तर्यामी केपूर्वोक्त प्रकार ज्ञान से, स्वात्मासंगत्व धीजनिः—अपने आत्मा की असंगता का ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये सार्थक है ॥१७८॥

प्रत्यक् आत्मा असंग है इस प्रकार ज्ञान होने पर भी क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आशंका का उत्तर कहते हुए श्रुति स्मृति में उक्त अर्थ उलंघनीय नहीं है इस विषय में श्रुति प्रमाण दिखाते हैं—

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ।
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वर भाषितम् ॥१७९॥

श्रुतयः तथास्मृतयः=श्रुति और स्मृतियों ने, तावता मुक्तिः=आत्मा की असंगता के ज्ञान से मुक्ति होती है, इति आहुः=इस प्रकार कहा है, श्रुतिस्मृती मम एव आज्ञे=श्रुति, स्मृति मेरी ही आज्ञा रूप है (उनका उलंघन नहीं करना चाहिये), इति अपि ईश्वरभाषितम्=यह भी ईश्वर का ही कहना है ॥१७९॥

सब के भय का हेतु ईश्वर है, इसलिये सर्वेश्वरत्व और अन्तर्यामित्व दोनों धर्मों का भेद सिद्ध होता है इस बात को कहते हैं—

आज्ञाया भीतिहेतुत्वं भीषाऽस्मादिति हि श्रुतम् ।
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादन्तर्यामित्वतः पृथक् ॥१८०॥

आज्ञायाः भीतिहेतुत्वम्=परमेश्वर की आज्ञा सबके लिये भय का हेतु है यह बात, भीषाऽस्मादिति=इस ईश्वर के भय से वायु चलती रहती है इत्यादि, हि श्रुतम्=श्रुति में कहा गया है, एतत्-सर्वेश्वरत्वम्=यही ईश्वर की सर्वप्रभुता है, जो कि, अन्तर्यामित्वतः पृथक् स्यात्=अन्तर्यामी पने से पृथक् अर्थात् अलग है ॥१८०॥

और बाहर अन्दर सर्वत्र ईश्वर ही नियामक है इस अर्थ में प्रमाण दो श्रुति वचनों को कहते हैं—

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ।

अन्तः प्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ॥१८१॥

एतस्य वा अक्षरस्य=हे गार्गी इस अविनाशी परमात्मा के, प्रशासने=शासन में सूर्य चन्द्रमा विधृत अर्थात् अपनी अपनी मर्यादा में स्थित है, इति श्रुतिः=यह श्रुति (बाहर भीतर ईश्वर ही नियामक है इसमें) प्रमाण है तथा, अयं अन्तः प्रविष्टः=यह ईश्वर सबके भीतर प्रवेश करके, जनानां शास्ता=सब प्रजाओं का शासन करने वाला है, इति च श्रुतिः=यह भी श्रुति प्रमाण है अर्थात् भीतर और बाहर ईश्वर ही नियामक है इस बात को कहते हैं ॥१८१॥

अब 'एषयोनि' इस श्रुति के अर्थ को और उस अर्थ के उपपादन तथा उत्पत्ति प्रलय के अर्थ को कहते हैं—

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ।

आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥१८२॥

प्रभवाप्ययकृत्त्वतः=उत्पत्ति और प्रलय के कर्त्ता होने से, एषः जगद्योनिः भवेत्=यह आनन्दमय ईश्वर जगत् का कारण होता है, उत्पत्तिप्रलयौ=उत्पत्ति और प्रलय, आविर्भावतिरो भावौ=आविर्भाव और तिरोभाव (प्रकट होना और अप्रकट) होना ही, मतौ=संमत है ॥१८२॥

आविर्भाव का कर्ता ईश्वर है, इसका उपपादन करते हैं—

आविर्भावयति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगत् ।

प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥१८३॥

यद्वत् पटः=जैसे संकुचित चित्र पट, प्रसारितः=फैलकर अपने में होने वाले चित्रों को प्रकट कर देता है, उसी प्रकार, एष स्वस्मिन् विलीनम्=यह ईश्वर अपने में लीन (लय प्राप्त) हुए, सकलं जगत् प्राणिकर्मवशात्=सम्पूर्ण जगत् को प्राणियों के कर्म रूप निमित्त से, आविर्भावयति=प्रगट कर देते हैं ॥१८३॥

वही ईश्वर प्रलय का भी कारण है इस बात को दिखाते हैं

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ।
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचित पटो यथा ॥१८४॥

यथा संकोचित पटः=जैसे वो ही पट संकुचित होकर चित्रों को, **पुनः**=फिर अपने में तिरोधान कर लेता है, **प्राणिकर्मक्षयवशात्**=उसी प्रकार प्राणियों के कर्म के क्षय रूप निमित्त से, **स्वात्मनि एव**=वही ईश्वर अपने में ही, **अखिलं जगत् तिरोभावयति**=सम्पूर्ण जगत् को छिपा लेते है ॥१८४॥

आविर्भाव और तिरोभाव में अन्यान्य दृष्टान्त दिखाते हैं—

रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ।
तूष्णीं भावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥१८५॥

रात्रिघस्रौ=रात और दिन के समान, **सुप्तिबोधौ**=सुषुप्ति और जाग्रत् के समान, **उन्मीलननिमीलने**=नेत्र के खोलने और बन्द करने के समान अथवा, **तूष्णींभाव मनोराज्ये इव**=तूष्णीं स्थिति अर्थात् समाधि और मनोराज्य के समान, **इमौ सृष्टिलयौ**=ये सृष्टि और लय आविर्भाव, तिरोभाव रूप हैं ॥१८५॥

शंका—ईश्वर जगत् का कारण है यह आपने कहा, सो क्या ईश्वर आरंभक कारण है, अथवा परिणामी कारण है, प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि अद्वितीय वस्तु आरम्भक कारण नहीं बन सकता, अनेक द्रव्य ही आरम्भक कारण होता है, तब परिणामी कारण बनेगा यह दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योंकि निरवयव का परिणाम असम्भव है, ऐसी आशंका होने पर ईश्वर को विवर्त उपादान कारण मान लेने पर कुछ भी दोष प्राप्त नहीं हो सकता, इस प्रकार समाधान करते हैं—

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ।
आरम्भपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥१८६॥

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन=ईश्वर आविर्भाव तिरोभाव

शक्ति वाला होने के, **हेतुना**=कारण अर्थात् ईश्वर आविर्भाव तिरोभाव शक्ति वाला है इस कारण से, **अत्र**=इस प्रसंग में, **आरम्भ परिणामादिचोद्यानाम्**=आरम्भवाद परिणामवाद आदि प्रश्न, **संभवः न**=सम्भव नहीं हो सकते ॥१८६॥

एक ही ईश्वर कैसे चेतन, अचेतनरूप जगत् का उपादान कारण बनेगा, इस सन्देह का उपाधि प्रधानता को लेकर अचेतन का उपादान, और चित् की प्रधानता को लेकर चेतन का उपादान एक ही ईश्वर बन सकता है इस अभिप्राय से समाधान करते हैं -

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशेनेश्वरस्तथा ।
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥१८७॥

ईश्वरः जाड्यांशेन=आनन्दमय परमेश्वर जड़ माया उपाधि प्रधानता से, **अचेतनानां हेतुः स्यात्**=अचेतन पदार्थों का उपादान कारण होता है, **तथा एषः**=उसी प्रकार यह आनन्दमय ईश्वर, **चिदाभासांशतः तु**=चिदाभास अंश की प्रधानता से, **जीवानां कारणं भवेत्**=चेतन जीवों का उपादान कारण होता है ॥१८७॥

मायाधीश ईश्वर को जगत् का कारण आपने प्रतिपादन किया सो असंगत है, क्योंकि सुरेश्वराचार्य ने परमात्मा को ही जगत् का कारण कहा है, इस शंका को दो श्लोकों में कहते हैं—

तमः प्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥१८८॥

भावनाज्ञानकर्मभिः=संस्कार, देवता का ध्यानादि तथा पुण्य पाप कर्म रूप निमित्त से, **परः तमःप्रधानः**=परमात्मा, तमोगुण प्रधान माया उपाधि वाला होकर, **क्षेत्राणां**=शरीरादि जड़ पदार्थों का और, **चित्प्रधानः**=चित् प्रधानता को लेकर, (चैतन्य प्रधान होकर), **चिदात्मनाम् कारणताम् एति**=चेतन जीवों के प्रति कारण बनता है ॥१८८॥

इति वार्तिक कारेण जडचेतनहेतुता ।
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥१८९॥

इति = इस प्रकार (इस श्लोक से), वार्तिक कारेण = वार्तिक ग्रन्थ के बनाने वाले सुरेश्वराचार्य ने, जडचेतनहेतुता = अचेतन और चेतन के प्रति कारण, परमात्मनः एव उक्ता = परमात्मा को ही कहा है, ईश्वरस्य न = ईश्वर को कारण नहीं बताया (इसलिये सुरेश्वराचार्य के वचन से विरोध होता है), इति चेत् शृणु = यदि ऐसी आशंका हो तो उत्तर सुनो ॥१८९॥

अब अगले श्लोक में उत्तर कहते हैं —

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ।
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥१९०॥

सुरेश्वरः जीवकूटस्थयोः इव = सुरेश्वराचार्य ने, त्वं पदार्थ जीव और कूटस्थ की न्याईं, ईश्वर ब्रह्मणोः = ईश्वर और परब्रह्मरूप तत् पदार्थ के, अन्योन्याध्यासं अत्रापि = परस्पर अध्यास को, इस श्लोक में भी, सिद्धं कृत्वा ब्रूते = सिद्ध मान करके, परमात्मा को जगत् का कारण कहा है ॥१९०॥

सुरेश्वराचार्य का पूर्वोक्त अभिप्राय आपने कैसे जाना ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि वक्ष्यमाण श्रुति के अर्थ के पूर्वापर विचार करने से उक्त अभिप्राय ज्ञात हो सकता है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ।
खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहा इति श्रुतिः ॥१९१॥

सत्यं ज्ञानं अनन्तं यद् ब्रह्म = सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप जो ब्रह्म है, तस्मात् खं वाय्वग्नि = उस ब्रह्म से आकाश, वायु, अग्नि, जलोर्व्योषध्यन्न देहाः = जल, पृथ्वी, औषधि, अन्न और देह ये सब, समुत्थिताः इति श्रुतिः = उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार श्रुति कहती है ॥१९१॥

श्रुति का उदाहरण आपने दिया सो ठीक है, परन्तु उसमें परस्पर अध्यास का ज्ञान कैसे हुआ इस शंका के उत्तर में कहते हैं—

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ।
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥१९२॥

तत्र ब्रह्मणः=पूर्वोक्त श्रुति में सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप निर्गुण ब्रह्म का, **हेतुता**=जगत् के प्रति कारणपना, **हेतोश्च सत्यता**=और जगत् कारण मायाधीन चिदाभास का सत्यपना, **आपातदृष्टितः भाति**=विचार रहित दृष्टि से प्रतीत होता है, **तस्मात्**=(जिस लिये यह दोनों बातें अध्यास के विना नहीं बन सकती) इसलिये, **अन्योन्याध्यासः इष्यते**=ब्रह्म का और मायाधीन चिदाभास का परस्पर अध्यास इष्ट है ॥१९२॥

अब भ्रम से सिद्ध ईश्वर और ब्रह्म की एकता को पूर्वोक्त घट्टित पट के दृष्टान्त का स्मरण करवा के दृढ़ करते हैं—

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ।
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रान्त्यैकतां गतः ॥१९३॥

असौ अन्योन्याध्यासरूपः=यही अन्योन्याध्यास का स्वरूप है, **यथा अन्नलिप्तपटः**=जैसा कि अन्नलेपन किया है जिसमें वह शुद्ध पट, **घट्टितेन एकतां एति**=घट्टित पट के साथ अभेद भाव को प्राप्त होता है (यही अन्योन्याध्यास का स्वरूप है), **तद्वत् भ्रान्त्या एकतां गतः**=उसी प्रकार भ्रान्ति से ब्रह्म और ईश्वर अभेद भाव को प्राप्त हो गये हैं (यही इनका अन्योन्याध्यास सिद्ध एकता है) ॥१९३॥

भ्रान्ति से अभेद भाव की प्राप्ति में दृष्टान्त कहा, अब आपातदर्शियों के लिये भेद की अप्रतीति में पूर्वोक्त दूसरा दृष्टान्त कहते हैं-

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ।
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यन्त्यापातदर्शिनः ॥१९४॥

पामरैः मेघाकाश महाकाशौ=मूढ़लोग जैसे मेघाकाश और महाकाश को, **न विविच्येते**=विवेक करके नहीं जानते हैं, **तद्वत् आपातदर्शिनः**=उसी प्रकार विचार हीन मनुष्य, **ब्रह्मेशयोः ऐक्यं पश्यन्ति**=ब्रह्म और ईश्वर का अभेद ही देखते हैं (अनुभव करते हैं) भेद को नहीं जानते ॥१९४॥

तब ब्रह्म और ईश्वर का भेदज्ञान किस उपाय से होगा, इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

उपक्रमादिभिर्लिङ्गैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ।
असङ्गं ब्रह्म, मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥१९५॥

उपक्रमादिभिः=उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति, **लिङ्गैः**=इन छः प्रकार के तात्पर्य ग्राहक लिङ्गों से, **तात्पर्यस्य विचारणात्**=श्रुति के तात्पर्य का विचार करने से, **ब्रह्म असंङ्गं**=सत्यज्ञानादि रूप ब्रह्मअसंग है, **एषः मायावी-महेश्वरः**=और यह माया उपाधिधारी ईश्वर ही (मायाधीश ईश्वर ही), **सृजति**=सृजन करता है, इस प्रकार जाना जा सकता।

(१) प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु का प्रकरण के आदि में प्रतिपादन उपक्रम है, और उसी का प्रकरण के अन्त में प्रतिपादन उपसंहार है।

(२) उसी प्रकरण प्रतिपाद्य का मध्य में पुनः-पुनः प्रतिपादन का नाम अभ्यास है।

(३) प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु की उपनिषद् अतिरिक्त अन्य प्रमाण से अविषयता को अपूर्वता कहते हैं।

(४) प्रकरण प्रतिपाद्य के ज्ञान से उसकी प्राप्तिरूप प्रयोजन (जो प्रकरण में श्रुत है) उसका नाम फल है।

(५) प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय वस्तु की प्रसंशा, अथवा अप्रतिपाद्य की (द्वैत अथवा भेद की) निन्दा को अर्थवाद कहते हैं।

(६) प्रकरण प्रतिपाद्य जो जीव ब्रह्म की एकता उसका दृष्टान्तों से प्रतिपादन करना ही उपपत्ति है।

ये छः प्रकार के तात्पर्य ग्राहक लिङ्ग है।

(१) "जैसे ईशावास्यमिदं सर्वं" इति उपक्रमः, "स पर्यगाच्छुक्रं" इति उपसंहारः।

(२) "अनेजदेकं मनसो जवीयः, तदन्तस्य सर्वस्य" इति अभ्यासः।

(३) "नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्" इति अपूर्वता।

(४) "तत्र को मोहः कः शोकः" इति फलम्।

(५) "असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृता: इति अर्थवाद:

(६) "तस्मिन् नपो मातरिश्वा दधाति"इति उपपत्ति: इति ईशोपनिषदि षट्विधतात्पर्यग्राहक लिङ्गानि ।

अथ छान्दोग्य उपनिषदि षष्ठाध्यायस्य तात्पर्य ग्राहक लिङ्गानि ।

(१) "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम: "ऐतदात्म्यमिदंसर्वं" इत्युपसंहार: ।

(२) "तत्त्वमसि" इति नव कृत्व अभ्यास: ।

(३) "यं वै सोम्यैतमणिमानम् न निभालयसे' इति अपूर्वता ।

(४) "आचार्यवान् पुरुषोवेद, तस्य तावदेव चिरम् यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इति फलं ।

(५) "उत तमादेशमप्राक्ष्य येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं अविज्ञातं विज्ञातं" इति अर्थवाद: ।

(६) "यथा सौम्यैकेन मृतपिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इति उपपत्ति: ।

इति छान्दोग्य उपनिषदि षड्विधतात्पर्य ग्राहकलिङ्गानि ॥१९५॥

तैत्तरीय श्रुति में उपक्रम उपसंहार की एक रूपता दिखाकर पूर्वश्लोक में उक्त ब्रह्म की असंगता को स्पष्टरूप से कहते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ।
यतो वाचो निवर्तन्त इत्यसङ्गत्वनिर्णय: ॥१९६॥

सत्यं ज्ञानम् च अनन्तं=सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप ब्रह्म है, **इति उपक्रम्य**=इस प्रकार प्रकरण के आदि में कह कर के, **यतो वाचो निवर्तन्ते**=जिस से मन वाणी लौट आति है, **इति उपसंहृतम्**=इस प्रकार उपसंहार किया (प्रकरण के अन्त में कह दिया), **असङ्गत्व निर्णय:**=इससे ब्रह्म की असङ्गता का निश्चय होता है ॥१९६॥

अब मायाधीश ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्व प्रतिपादन करने वाली "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिन्श्चान्यो मायया संनिरुद्ध:" इस श्रुति का अर्थ कहते हैं

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ।
अन्य इत्यपरा ब्रुते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥१९७॥

मायी विश्वं सृजति=मायाधीश ईश्वर जगत् की सृष्टि करते हैं, **तत्र मायया**=उस जगत् में माया के द्वारा, **सन्निरुद्धः अन्यः**=बद्ध, ईश्वर से भिन्न जीव है, **इति अपरा श्रुतिः ब्रूते**=इस प्रकार दूसरी श्रुति कहती है, **तेन ईश्वरः सृजेत्**=इसलिये ईश्वर ही सृजन करते हैं ॥१९७॥

उक्त प्रकार से आनन्दमय ईश्वर जगत् का कारण है इस बात का प्रतिपादन करके ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति का प्रकार वर्णन करते हैं—

आनन्दमय ईशोऽयं बहु स्यामित्यवैक्षत ।
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥१९८॥

अयं आनन्दमयः ईशः=यह आनन्दमय ईश्वर, **बहुस्याम**=एक में बहुत हो जाऊँ, **इति अवैक्षत**=इसप्रकार ईक्षण रूप संकल्प किये और (संकल्पकर के), **हिरण्यगर्भरूपः अभूत्**=समष्टि सूक्ष्म प्रपंच हिरण्यगर्भ रूप हो गया, **यथा सुप्तिः**=जैसे कारणरूप सुषुप्ति, **स्वप्नः भवेत्**=सूक्ष्म कार्यरूप स्वप्न बन जाती है ॥१९८॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्यादि श्रुति वचन में क्रमिक सृष्टि का वर्णन है, और "इदं सर्वमसृजत्" इस श्रुति से युगपत् (एक साथ) सर्वसृष्टि कही गई है, इन दोनों में (क्रमिक सृष्टि अथवा युगपत् सृष्टि इन दोनों में) कौन सी ग्राह्य है, कौन सी त्याज्य हैं, ऐसी आकांक्षा होने पर, श्रुति युक्ति सिद्ध होने से दोनों ही ग्राह्य हैं इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ।
द्विविध श्रुतिसद्भावाद्द्विविध स्वप्न दर्शनात् ॥१९९॥

एषा सृष्टिः=यह (जगत् की) सृष्टि, **द्विविधश्रुति सद्भावाद**=दोप्रकार की श्रुति के उपलब्ध होने के कारण, **क्रमेण युगपत् वा**=क्रमसे अथवा एक ही काल में, **यथा श्रुति ज्ञेया**=श्रुति प्रमाण के

अनुसार जानना चाहिये, **द्विविधस्वप्न दर्शनात्**=क्योंकि (लोक में क्रम युक्त या क्रम रहित) दो प्रकार की. स्वप्न सृष्टि देखने में आती है ॥१९९॥

अब हिरण्यगर्भ के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ।
सर्वाहंमानधारित्वात्क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥२००॥

सूत्रात्मा=पट में सूत्र की न्यांई जगत् में अनुगत स्वरूप जिसका ऐसा सूत्रात्मा, **सूक्ष्मदेहाख्यः**=सूक्ष्म शरीरी नाम वाला, **सर्वजीवघनात्मक**=संपूर्ण सूक्ष्म शरीर उपाधि वाले जीवों का समष्टिरूप हिरण्यगर्भ है, क्योंकि, **सर्वाहंमानधारित्वात्**=संपूर्ण व्यष्टि सूक्ष्म शरीरों में वह अहं अभिमान वाला है, **क्रियाज्ञानादि शक्तिमान्**=वह हिरण्यगर्भ इच्छा ज्ञानक्रियादि शक्ति वाला भी है ॥२००॥

हिरण्यगर्भ अवस्था में जगत् की प्रतीति को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मन्दे तमस्ययम् ।
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥२०१॥

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा=ऊषाकाल में, अथवा सायंकाल में, **अयं लोकः मन्देतमसि**=यह संसार मन्द अन्धकार में, **मग्नः यथा भाति**=डूबा हुआ (आवृत हुआ), जैसे अस्पष्ट भासता है, **तद्वत्**=उसी प्रकार हिरण्यगर्भ अवस्था में, **जगत् अस्पष्टं ईक्ष्यते**=यह संसार अस्पष्ट दिखता है ॥२०१॥

इस प्रकार लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त कहने के अनन्तर पूर्वोक्त धौत पट का दृष्टान्त कथन करते हैं—

सर्वतो लाञ्छितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ।
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लाञ्छितम् ॥२०२॥

यथा घट्टितः पटः=जैसे माण्ड लगा हुआ घट्टित वस्त्र, **मष्या सर्वतः लाञ्छितः स्यात्**=स्याही की लकीरों से, सब ओर से युक्त

होता है, **तथा ईशस्य वपुः**=उसी प्रकार माया विशिष्ट ईश्वर का शरीर, **सूक्ष्माकारैः**=अपञ्चीकृत भूतों के कार्य सूक्ष्म शरीरों से, **सर्वत्र लाञ्छितम्**=सब जगह युक्त होता है ॥२०२॥

हिरण्यगर्भ का स्वरूप बुद्धि में आरूढ हो जाये इस अभिप्राय से और भी दृष्टान्त कहते हैं—

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ।
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदङ्कुरः ॥२०३॥

यथा सस्यं वा शाक जातं वा=जैसे गेहूँ आदि अनाज अथवा शाक सब्जी आदि,**सर्वतः अङ्कुरितं कोमलं**=सब ओर अङ्कुर वाला होकर मुलायम होता है, **तद्वत् एव एष**=उसी प्रकार ही यह, **जगदङ्कुर पेलवः**=सूक्ष्म जगत् रूप अङ्कुर कोमल प्रतीत होता है ॥२०३॥

पूर्व श्लोकों से सूत्रात्माहिरण्यगर्भ के स्वरूप का विस्तार पूर्वक वर्णन किया, अब उसी सूत्रात्मा की दूसरी अवस्था विराट् के स्वरूप को (जो पंचीकृत पंचमहाभूत के कार्य रूप उपाधि वाला है, उस विराट् स्वरूप को) तीन दृष्टान्तों के द्वारा विस्तार से कहते हैं -

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ।
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्ट वपुर्विराट् ॥२०४॥

यद्वत् आतपाभातलोकः वा=जैसे सूर्य उदय के अनन्तर धूप से प्रकाशित यह संसार, अथवा **वर्णपूरितः पटः वा**=रक्त आदि रूप से रञ्जित वस्त्र, अथवा **फलितं सस्यं वा**=फले हुए अनाज ये सब स्पष्ट प्रतीत होते है, **तथा विराट्**=उसी प्रकार समष्टि स्थूल शरीर वाला विराट्,**स्पष्ट वपुः**=स्पष्ट स्वरूप वाला प्रतीत होता है ।२०४।

विराट् स्वरूप है इसमें प्रमाण कहते हैं—

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ।
धात्रादिस्तम्बपर्यन्तानेतस्यावयवान् विदुः ॥२०५॥

एषः=यह स्पष्ट शरीर वाला विराट्,**विश्वरूपाध्याये**=गीता के विश्वरूप नाम वाले ग्यारहवें अध्याय में, **पौरुषे सूक्ते अपि उक्तः**

=तथा पुरुष सूक्त में भी कहा गया है, **धात्रादिस्तम्बपर्यन्तान्** =ब्रह्मा से आदि लेकर छोटी कीड़ी तक जगत् को, **एतस्य अवयवान्** =इसी विराट् के ही अंग प्रत्यंग रूप अवयव, **विदुः**=श्रुतियों ने जाना है (अर्थात् कहा है) ॥२०५॥

इतने ग्रन्थ से प्रसंग में क्या प्राप्त हुआ, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि अन्तर्यामी से लेकर फावड़ा पर्यन्त संपूर्ण वस्तुओं में हर एक को ईश्वर बुद्धि से पूजा करना चाहिये, ये पूर्व ग्रन्थ का तात्पर्य है, इस प्रकार आगे के श्लोकों में कहते हैं --

ईशसूत्रविराड्वेधो विष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः ।
विघ्नभैरवमैरालमारिकायक्षराक्षसाः ॥२०६॥

ईशसूत्रविराट्=ईश्वर अर्थात् अन्तर्यामी, सूत्रात्मा, विराट्, **वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः**=ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, **विघ्नभैरव-मैराल**=विघ्न नाशक गणेश, भैरव, यम, **मारिकायक्षराक्षसाः**=महा-मारी के देवता, यक्ष और राक्षस ॥२०६॥

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ।
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥२०७॥

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, **गवाश्व-मृगपक्षिणः**=गौ, घोड़ा, मृग और पक्षी, **अश्वत्थवटचूताद्याः**=पीपल, बड़, आम आदि वृक्ष, **यवव्रीहितृणादयः**=जौ, धान, तृण, घास, आदि ॥२०७॥

जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ।
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥२०८॥

जलपाषाणमृत्काष्ठ=जल, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, **वास्याकुद्दाल-कादयः**=वसोला, कुदाल इत्यादि, **एते सर्व एव ईश्वराः**=पूर्वोक्त ये सब ही परमेश्वर का रूप है, **पूजिताः फलदायिनः**=और पूजन किए हुए फल देने वाले होते हैं ॥२०८॥

ईश्वर सूत्रात्मक आदि के पूजन से फल प्राप्त होता है, इस

विषय में "ते यथा यथोपासते तदेव भवति" इस श्रुति को प्रमाण रूप से कथन करते हैं, और सब ही ईश्वर रूप होने पर भी फलकी विषमता का कारण बतलाते हैं—

यथा यथोपासते तं फलमीयुस्तथा तथा ।

फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥२०९॥

तं यथा यथा उपासते=उस परमात्मा की जैसी जैसी सात्त्विक आदि भेद से उपासना करते हैं, **तथा तथा फलं ईयुः**=वैसे ही वैसे सात्त्विक आदि फल को प्राप्त करते हैं, **तु फलोत्कर्षापकर्षौ**=और फल में उत्तमता और अधमता, **पूज्य पूजानुसारतः**=पूजने योग्य मूर्त्ति आदि तथा पूजन की विषमता से पूजन के अनुसार प्राप्त होती है ॥२०९॥

पूर्वोक्त प्रकार से सांसारिक फल की सिद्धि होने पर भी ज्ञान के विना मुक्ति कदापि नहीं हो सकती यह वार्ता दृष्टान्त सहित कथन करते हैं—

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ।

स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥२१०॥

यथा स्वप्रबोधं विना=जैसे अपने जागरण के विना, **स्वस्वप्नः न एव हीयते**=अपनी निद्रा से कल्पित स्वप्न नहीं निवृत्त होता उसी प्रकार, **मुक्तिः तु ब्रह्मतत्त्वस्य**=संसार निवृत्तिरूप मुक्ति भी जीव ब्रह्म की एकता के, **ज्ञानात् एव**=ज्ञान से ही होती है, **अन्यथा च न**=और किसी उपाय से नहीं हो सकती ॥२१०॥

स्वप्न दृष्टान्त से द्वैत निवृत्ति रूप मुक्ति तत्व बोध से ही हो सकती है, यह संभव नहीं, क्योंकि द्वैत स्वप्न के तुल्य नहीं है, इस आशंका के उत्तर में अन्यथा ग्रहण स्वप्न और जाग्रत् दोनों में समान ही है, इस वार्ता को "त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रम्" इस श्रुति के सहारे से प्रतिपादन करते हुए समाधान करते हैं—

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ।

ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥२११॥

ईशजीवादिरूपेण=ईश्वर जीवादि रूप से, **चेतनाचेतनात्मकम् अखिलंजगत्**=जड़ चेतन रूप जो यह संपूर्ण जगत् है सो, **अयं अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वे स्वप्नः**=यह अद्वैतरूप ब्रह्म के स्वरूप में स्वप्न ही है ।२११।

जीव ईश्वर दोनों ब्रह्म से अभिन्न है, इसलिये वे जगत् के अन्तर्भूत पूर्व श्लोक में कैसे कहे गये, इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि जीव ईश्वर दोनों माया कल्पित होने से, उनको जगत् के अन्तर्गत कहना बन सकता है—

आनन्दमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ।

मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥२१२॥

आनन्दमय विज्ञानमयौ=आनन्दमय और विज्ञानमय, **ईश्वर-जीवकौ**=ईश्वर और जीवरूप हैं, **एतौ मायया कल्पितौ**=ये दोनों माया के द्वारा कल्पित है, **ताभ्यां**=ईश्वर और जीव दोनों के द्वारा, **सर्वं प्रकाल्पितम्**=संपूर्ण जगत् कल्पित हुआ है ॥२१२॥

जीव और ईश्वर के द्वारा कल्पित सम्पूर्ण जगत् में, कितना ईश्वर के द्वारा और कितना जीव के द्वारा कल्पित है इस बात को कहते हैं—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।

जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥२१३॥

ईक्षणादि प्रवेशान्ता=ईक्षण (संकल्प) से आदि लेकर प्रवेश पर्यन्त, **सृष्टिः ईशेन कल्पिता**=श्रुति प्रतिपादित सृष्टि ईश्वर द्वारा कल्पित है, **जाग्रदादि विमोक्षान्तः**=जाग्रत् से आदि लेकर मोक्ष पर्यन्त **संसारः**=(श्रुति द्वारा प्रतिपादित) संसार, **जीव कल्पितः**=जीव के द्वारा किया हुआ है (अर्थात् कल्पित है) ॥२१३॥

ब्रह्म ही यदि पारमार्थिक तत्त्व है, तो वादियों को जीव ईश्वर तत्त्व में विरुद्ध प्रतीति किस कारण से होती है, इस प्रकार आशंका करके श्रुति सिद्ध तत्त्वज्ञान रहित होना ही इसका कारण है इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसङ्गं तन्न जानते ।

जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥२१४॥

अद्वितीयं असङ्गं = अद्वितीयरूप तथा असंगरूप, **ब्रह्मतत्त्वम्** = जो ब्रह्म तत्त्व है (ब्रह्म का वास्तव स्वरूप है), **तत् न जानते** = उस ब्रह्म तत्त्व को जो नहीं जानते, वे ही, **मायिकयोः जीवेशयोः** = माया कल्पित जीव और ईश्वर के स्वरूप में, **वृथा एव कलहं ययुः** = व्यर्थ ही कलह को प्राप्त हुए (विवाद को प्राप्त हुए) ॥२१४॥

जीव और ईश्वर के विषय में विपरीत बुद्धि यदि अज्ञान मूलक है, तो उन अविवेकियों को भी तत्त्व का बोधन कराना चाहिये इस आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं कि उनको समझाने का श्रम व्यर्थ ही होगा, इसलिये व्यर्थ समयक्षेप उचित नहीं —

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठाननुमोदामहे वयम् ।
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रान्तैर्विवदामहे ॥२१५॥

ज्ञात्वा = उस ब्रह्म तत्त्व को जानकर, **सदा तत्त्व निष्ठाः** = सर्वदा तत्त्व परायण होकर, **वयं ननु मोदामहे** = हम निश्चय ही हर्ष को प्राप्त हो रहे हैं, **अन्यान् अनुशोचाम एव** = दूसरे अज्ञानीयों के लिये हम अनुताप ही करते हैं, **भ्रान्तैः** = भ्रम युक्त अज्ञानी पुरुषों के साथ, **न विवदामहे** = हम विवाद नहीं करते, अथवा पूर्वार्द्ध का ऐसा पदच्छेद करना:- **सदा तत्त्व निष्ठान्** = सर्वदा तत्त्व निष्ठ ब्रह्म वेत्ताओं को, **ज्ञात्वा** = जानकर अर्थात् देखकर, **वयम् अनुमोदामहे** = हम प्रतिक्षण प्रसन्न होते हैं ॥२१५॥

ईश्वर के विषय में तथा जीव के विषय में भ्रान्त पुरुषों का विभाग दिखाते हैं --

तृणार्चकादियोगान्ता ईश्वरे भ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ।२१६।

तृणार्चकादि योगान्ताः = तृण पूजक से लेकर योगमत को मानने वाले वादी पर्यन्त सब, **ईश्वरे भ्रान्तिम् आश्रिताः** = ईश्वर के स्वरूप में भ्रम को प्राप्त हुए हैं, **लोकायतादि सांख्यान्तः** = चार्वाक से लेकर सांख्य मत को मानने वाले वादी तक सब, **जीवे विभ्रान्तिम् आश्रिताः** = जीव के स्वरूप में विभ्रम को प्राप्त हुए है ॥२१६॥

वे भ्रान्त क्यों है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं, और अपने पक्ष के प्रतिपादन के अभिनिवेश से चित्त विश्रान्ति का अभाव होने के कारण इह लौकिक सुख भी उन वादियों को प्राप्त नहीं है, इस वार्ता को कहते हैं –

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यदा तदा ।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिःक्वेह वा सुखम् ।२१७।

अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व=अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व को, **यदा न जानन्ति**=जब तक नहीं जानते हैं, **तदा अखिलाः भ्रान्ताः एव**=तब तक सब भ्रमयुक्त ही हैं, **तेषाम् मुक्तिः क्व**=उनकी मुक्ति कहां, **इह वा क्व सुखम्**=इस लोक में भी कहाँ सुख हैं, क्योंकि किस एक पक्ष का ग्रहण कर करके उसमें, अभिनिवेश होने के कारण वादियों के साथ विवाद में प्रवृत्त होने से चित्त का विक्षेप होने पर इस लोक का सुख भी उनको नहीं प्राप्त होगा ॥२१७॥

ब्रह्म ज्ञान रहित मनुष्यों को भी दूसरी विद्या प्राप्त होने से उत्तम और अधम भाव निमित्तक सुख भी प्राप्त हो सकता है, अतः अज्ञानियों को सुख प्राप्त नहीं ऐसा आपका कहना असंगत है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि—

उत्तमाधम भावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ॥२१८॥

तेषां=पूर्वोक्त वादियों के मध्य में, **उत्तमाधम भावः**= (ब्रह्म विद्या के न रहने पर भी अन्य विद्या के कारण) उत्तम और अधम भाव, **चेत् स्यात्**=यदि देखने में आता हो तो (उनको किंचित सुख प्राप्त हो भी सकता है), **अस्तु**=उत्तम और अधम भाव भले ही रहे, **तेन किम्**=उससे क्या लाभ है (अर्थात् मुमुक्षुओं के लिये वह उत्तम अधम भाव आदरणीय नहीं है, और तज्जन्य सुख भी नहीं), **स्वप्न-स्थराज्यभिक्षाभ्यां**=जैसे स्वप्न में प्राप्त राज्य अथवा भिक्षा अन्न से, **बुद्धः स्पृश्यते खलु न**=जागे हुए पुरुष का कोई सम्बन्ध है नहीं ॥२१८॥

जीवेश्वर वाद मुक्ति का हेतु नहीं, इसलिये मुमुक्षु को उनमें बुद्धि को नहीं लगाना चाहिये, इस प्रकार उपसंहार करते हुये, श्रुति के विचार से ब्रह्म बोध को ही संपादन करना चाहिये, इस वार्ता को कहते हैं —

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यं बुध्यतां च तत् ॥२१९॥

तस्मात्=जीव ईश्वर वाद मुक्ति का हेतु न होने से, **मुमुक्षुभिः जीवेशवादयोः**=मुमुक्षुओं को जीव ईश्वर बाद में, **मतिः न एव कार्या**=बुद्धि नहीं लगानी चाहिये, **किन्तु ब्रह्मतत्त्वं विचार्यं**=परन्तु ब्रह्म तत्त्व का विचार करना चाहिये, **तत् च बुध्यतां**=और श्रुति के विचार से उस ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार कर लेना चाहिये ॥२१९॥

ब्रह्म तत्त्व निश्चय के लिये जीवेश्वर वाद का स्वरूप त्याज्य रूप से ज्ञातव्य है, ऐसी आशंका उठाकर, ऐसा होने पर भी जीव ईश्वर वादों में ही बुद्धि को समाप्त नहीं कर देना चाहिये, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ।
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः ॥२२०॥

तौ चेत् पूर्वपक्षतया=वे जीव और ईश्वर वाद दोनों यदि पूर्व पक्ष रूप होने से, **तत्त्व निश्चय हेतुताम् प्राप्नुतः**=ब्रह्मतत्त्व के निश्चय के हेतु बन सकते हैं, **अस्तु एतावता**=बेशक होवे, तथापि पूर्वपक्ष रूप से तत्त्व निर्णय का हेतु बनने पर भी, **तयोः अवशः**=जीव ईश्वर बाद में, विवेक ज्ञान रहित होकर, **न निमज्जस्व**=निमग्न नहीं होना चाहिये अर्थात् बुद्धि को समाप्त नहीं कर देना चाहिये ॥२२०॥

सांख्य और योग शास्त्र में उक्त जीव और ईश्वर शुद्ध चिद्रूप होने से आप वेदान्तियों को भी अंगीकरणीय है, इसलिये वे दोनों पूर्व पक्ष रूप नहीं है, इस प्रकार आशंका 'चेत्' तक ग्रन्थ से करते हुए 'शृणु' शब्द से उत्तर कहते हैं—

असङ्गचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ।
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु: ॥२२१॥

असङ्गचित् विभुः जीवः=सर्व संग रहित चैतन्य रूप और व्यापक जीव का स्वरूप है, **सांख्योक्तः**=ऐसा सांख्य शास्त्रों में कहा है, **तादृग् ईश्वरः**=उसी प्रकार असंग चैतन्य स्वरूप विभु ईश्वर (स्वरूप), **योगोक्तः**=योग शास्त्र में कहा है, **तौ तत्त्वमोः शुद्धौ अर्थौ**=वे दोनों तत् और त्वं पद के शुद्ध अर्थ है, **इति**=इस प्रकार (वेदान्त के अनुकूल होने से उन को पूर्व पक्ष रूप नहीं मानना चाहिते), **चेत् शृणु**=यदि ऐसी आशंका हो तो, इसका उत्तर सुनो।

टि० यद्यपि सांख्य शास्त्रोक्त जीव, और योग शास्त्रोक्त ईश्वर दोनों शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, तथापि जीव ईश्वर का भेद उन शास्त्रों ने माना है, इसलिये हमारे को अर्थात् वेदान्तियों को सिद्धान्तरूप से उनका अंगीकार नहीं, यह अभिप्राय 'शृणु' अर्थात् सुनो कहने का है ॥२२१॥

पूर्वश्लोकस्थ 'शृणु' पद से अभिप्रत समाधान को अब कहते हैं, और उत्तरार्ध से कूटस्थ ब्रह्म शब्दों के द्वारा शुद्ध तत्पदार्थ और त्वं पदार्थ आप वेदान्तियों ने भी भिन्न भिन्न ही निरूपण किया, इस आशंका का उत्तर देते है—

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मत्सिद्धान्ततां गतौ ।
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥२२२॥

तत्त्वमोः=तत् पदके और त्वं पद के, **उभौ अर्थौ**=दोनों अर्थ जीव और ईश्वर का स्वरूप, **अस्मत् सिद्धान्ततां न गतौ**=हमारे, वेदान्त में सिद्धान्त रूप से स्वीकृत नहीं है, **अद्वैतबोधनाय एव**=(लोक प्रसिद्ध भेद का निराकरण द्वारा) उन दोनों की एकता प्रतिपादन के लिये ही, **सा काचित् कक्षा इष्यते**=उन दोनों पदार्थों के शुद्ध स्वरूप का अनुवाद करके अभेद के उपयोगी दिखाये गये (अर्थात् उन के भेद प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं) ॥२२२॥

अब पदार्थों के शोधन का प्रयोजन कहते हैं—

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ ।
मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥२२३॥

अनादि मायया भ्रान्ताः=अनादि अविद्या से विपरीत ज्ञान को प्राप्त हुए वादी लोग, जीवेशौ=कर्ता भोक्ता अल्पज्ञरूप जीव को और सर्वज्ञत्वादि गुण वाले ईश्वर को पारमार्थिक तथा, सुविलक्षणौ मन्यन्ते=परस्पर विलक्षण मानते हैं, तद्व्युदासाय=इसलिये उस भेद भ्रम की निवृत्ति के अर्थ, तयोः=उन दोनों को (जीव और ईश्वर का), केवलं शोधनं=शोधन मात्र ही वेदान्त में किया जाता है (सिद्धान्त रूप नहीं माना जाता हैं) ॥२२३॥

तत् त्वं पदार्थ के शोधन के प्रकार को ही दिखाने की इच्छा से उसके उपाय रूप से पूर्वोक्त दृष्टान्त का स्मरण करते हैं—

अत एवात्र दृष्टान्तो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ।
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥२२४॥

अतः एव अत्र=जिसलिये पदार्थ शोधन कर्तव्य है, इसलिये, इस प्रकरण में, घटाकाश महाकाश जलाकाशाभ्रखात्मकः=घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाश रूप, योग्यः दृष्टान्तः प्राक्=योग्य दृष्टान्त पहले, सम्यक् ईरितः=भली भांति कहा गया है ॥२२४॥

पदार्थ शोधन के प्रकार को कहते हैं—

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः ।
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥२२५॥

जलाकाशाभ्रखे ते=जो जलाकाश और मेघाकाश है, वे दोनों क्रम से, जलाभ्रोपाध्यधीने=जल और मेघरूप उपाधि के अधीन है (इसलिये पारमार्थिक नहीं), तु तयोः आधारौः=और उन दोनों के आश्रय अथवा अधिष्ठान, घटाकाशमहाकाशौ=घटकाश और महाकाश दोनों, सुनिर्मलौ=शुद्ध है (अर्थात् जलादि उपादि की अपेक्षा न रखने वाले शुद्धाकाश रूप है) ॥२२५॥

पूर्व श्लोकस्थ दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक का कथन करते हैं —

एवमानन्दविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ।

तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥२२६॥

एवं आनन्दविज्ञानमयौ = उसी प्रकार आनन्दमय और विज्ञानमय (अर्थात् ईश्वर और जीव), मायाधियोः वशौ = क्रम से माया और बुद्धि के अधीन हैं, तदधिष्ठानकूटस्थ ब्रह्मणी = उन दोनों के अधिष्ठान रूप (क्रम से) कूटस्थ और ब्रह्म चैतन्य दोनों, तु सुनिर्मले = तो शुद्ध चैतन्यरूप ही हैं ॥२२६॥

पदार्थ द्वय शोधनरूप कक्षा के उपयोगी होने से सांख्य मत और योगमत दोनों का अंगीकार करना चाहिये यदि ऐसा कहते हो तो हे पूर्वपक्षी ! तुमने थोड़ा ही कहा है, क्योंकि दोनों पदार्थों का रूप कक्षा के उपयोगी अन्य शास्त्रों का भी हम अंगीकार करते हैं इस वार्ता को कहते हैं—

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ।

देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥२२७॥

एतत् कक्षोपयोगेन = पदार्थशोधनरूप कक्षा के उपयोगी होने से, सांख्ययोगौ मतौ = सांख्य मत और योगमत आप वेदान्ती को भी संमत होगा, यदि = यदि ऐसा कहते हो तो, देहः अन्नमयकक्षत्वात् = यह स्थूल शरीर अन्नमय रूप प्रथम कोष के उपयोगी होने से, आत्मत्वेन = आत्मस्वरूप करके, अभ्युपेयताम् = (पूर्व पक्षी को) स्वीकार करना चाहिये ॥२२७॥

उपयोगी पदार्थों का ग्रहण अन्य शास्त्रों से भी यदि वेदान्ती को इष्ट है तब सांख्य योगमत के साथ वेदान्त का विरोध कैसे, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि जीवों का परस्पर भेद जगत् की सत्यता और जीवेश्वर का भेद इतने अंश में ही विरोध है अन्यथा नहीं—

आत्मभेदो जगत् सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ।

त्यज्यते तैस्तदा सांख्य योग वेदान्तसंमतिः ॥२२८॥

आत्मभेदः जगत्सत्यं=आत्मा का परस्पर भेद, जगत् की सत्यता, ईशः अन्यः=जीव ईश्वर का भेद, इति त्रयं चेत्=इन तीनों बातो को यदि, तैः त्यज्यते=सांख्ययोग वाले त्याग दे, तदा सांख्योग-वेदान्तसंमतिः=तब सांख्ययोग और वेदान्त मत का अविरोध अर्थात् एक मत हो सकता है ॥२२८॥

जीव अपनी असंगता के निश्चय मात्र से ही मुक्त हो सकता तो फिर अद्वैत ज्ञान से जीव को कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा इस आशका के उत्तर में कहते हैं—

जीवोऽसङ्गत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ।
स्रक्चन्दनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥२२९॥

जीवः असङ्गत्वमात्रेण=यह जीव अपनी असंगता के ज्ञान मात्र से कृतार्थ इति चेत्=कृत कृत्य अर्थात् मुक्त हो जायेगा ऐसा यदि कहते हो, तदा स्रक्चन्दनादिनित्यत्व मात्रेण अपि=तब तो माला चन्दन, पुत्रादि पदार्थ के नित्यपने मात्र से भी, कृतार्थता=कृत कृत्यता अर्थात् मुक्ति होनी चाहिये (तात्पर्य यह है कि अद्वैतज्ञान के बिना न तो जीव अपने आप को असंग जान सकता, न उसकी मुक्ति ही सिद्ध हो सकती है) ॥२२९॥

अब सिद्धान्ती अपने अभिप्राय को प्रकट करते हैं—

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथात्मनः ।
असङ्गत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ॥२३०॥

यथा स्रगादिनित्यत्वम्=जैसे माला चन्दनादि की नित्यता का दुःसंपाद्यम्=प्रतिपादन कठिन है, तथा जगदीशयोः जीवतोः=उसी प्रकार जगत् और ईश्वर जब तक विशेषण विशेष्य रूप से भासमान है तब तक, आत्मनः असङ्गत्वम् न संभाव्यं=आत्मा की असंगता संभव नहीं ॥२३०॥

असंभवता को स्पष्ट करके कथन करते हैं—

अवश्यं प्रकृतिः सङ्गं पुरेवापादयेत्तथा ।
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥२३१॥

पुरा इव=पहले की न्यांई (अर्थात् विवेक से पूर्व प्रकृति जीव के संग को जिस प्रकार आपादन करती थी उसी प्रकार विवेक के अनन्तर भी), **प्रकृतिः**=सत्व, रज, तम गुणात्मक प्रकृति, **सङ्गं अवश्यम् आपादयेत्**=आत्मा का संग अवश्य ही आपादन करेगी, **तथा ईशः अपि एतं नियच्छति**=और ईश्वर भी जीव का नियमन करेगा, **तथा सति**=ऐसा होने पर (अर्थात् जीव का नियमन और संग होने पर), **अस्य कः मोक्षः**=जीव का कौन सा मोक्ष हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता ॥२३१॥

संग और नियमन अविवेक का कार्य होने से विवेक ज्ञान के द्वारा अविवेक की निवृत्ति होने पर पुनः संग और नियमन नहीं हो सकते ऐसी आशंका करके उसका परिहार कहते हैं—

अविवेककृतः सङ्गो नियमश्चेति चेत्तदा ।
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥२३२॥

सङ्गः नियमश्च=जीव का संग और ईश्वरकृत नियमन, **अविवेककृतः**=अविवेक का किया हुआ है, **इति चेत् तदा**=ऐसा यदि कहते हो तब तो, **दुर्मतेः सांख्यस्य**=दुष्ट बुद्धि वाले सांख्य वादी को, **मायावादः बलात् आपतितः**=मायावाद बलात्कार से अवश्य प्राप्त होगा। सिद्धान्ती का यह भाव है –

अविवेक का अर्थ विवेकाभाव है अथवा विवेक से जो भिन्न है, उसको अविवेक कहते हो। अथवा विवेक के विरोधी को अविवेक कहते हो ?

प्रथम पक्ष में विवेकाभाव से संग रूप भाव कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेगा दूसरे पक्ष में विवेक से भिन्न जो घटादि है वह संग का हेतु नहीं है, तीसरे पक्ष में विवेक का विरोधी भावरूप अज्ञान (अविद्या अथवा माया) को ही अविवेक कहना होगा तब तो सांख्य को मायावाद बलात्कार से प्राप्त होगा जो सांख्य के सिद्धान्त के विरोधी हैं ॥२३२॥

आत्मा एक अद्वितीय रूप है ऐसा अंगीकार करने पर बन्ध मोक्ष की व्यवस्था नहीं बनेगी (अर्थात् शुकदेव आदि कुछ जीव मुक्त

हो गए बाकी सब बद्ध है यह व्यवस्था प्रतिशरीर में जीव के भेद माने बिना नहीं बन सकती) इसलिये बन्ध मोक्ष व्यवस्था के अर्थ आत्मा अनेक हैं ऐसा मानना चाहिय, ऐसी आशंका का अनुवाद करके उसका उत्तर कहते हैं –

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ।
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥२३३॥

बन्धमोक्षव्यवस्थार्थम्=बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था के लिये (अर्थात् कोई बद्ध है कोई मुक्त है इस प्रकार व्यवस्था के लिये), **आत्मनानात्वम्**=अनेक आत्मा (आत्मा का भेद), **इष्यताम्**=वेदान्ती को भी मानना चाहिये, **इति चेत् न**=यदि ऐसी आशंका हो तो वह नहीं बन सकती, **यतः माया**=क्योंकि भगवान् की माया शक्ति एक आत्म पक्ष में, **व्यवस्थापयितुम्**=बन्ध मोक्ष की व्यवस्था करने को, **क्षमा**=समर्थ है (अतः अनेक आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं) ॥२३३॥

माया भी व्यवस्था कैसे करेगी इस आशंका का निवारण माया का दुर्घटकारित्व स्वभाव मानकर कहते हैं –

दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ।
वास्तवौ बन्धमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥२३४॥

दुर्घटं घटयामि=असम्भव को भी सम्भव करके दिखाती हूँ, **इति विरुद्धं किं न पश्यसि**=इस प्रकार माया का दुर्घट कारित्वरूप विरुद्ध स्वभाव क्या नहीं देखते हो, **श्रुतिः तु वास्तवौ**=श्रुति भगवती तो पारमार्थिक, **बन्धमोक्षौ**=बन्ध और मोक्ष को, **न सहतेतराम्**=बिल्कुल सहन नहीं करती (अर्थात् बन्ध की न्यांई मोक्ष भी वास्तव नहीं ये भाव है) ॥२३४॥

वास्तव मोक्षादि का निषेध करने वाली श्रुति को कहते हैं –

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२३५॥

न निरोधः न च उत्पत्तिः=वास्तव नाश नहीं, और वास्तव

जन्म भी नहीं, बद्धः न=वास्तव में सुख दुःखादि धर्म वाला बद्ध भी कोई नहीं, उसी प्रकार, साधकः च न=श्रवणादि साधन करने वाला भी साधक नहीं, मुमुक्षुः न=मोक्ष की इच्छा वाला भी परमार्थ से कोई नहीं, वै न मुक्तः=और न वस्तुतः कोई मुक्त है, इति एषा परमार्थता =यही वास्तव स्थिति है ॥२३५॥

इस प्रकार जीवेश्वरादि भेद के उपपादित मायामयत्व का उपसंहार कहते हैं—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥२३६॥

मायाख्यायाः कामधेनोः=माया नाम वाली कामधेनु के, वत्सौ जीवेश्वरौ उभौ=दो बछड़े जीव और ईश्वर ये दोनों हैं, द्वैतं यथेच्छं पिबतां तु=द्वैत जगत्रूप दुग्ध को यथेष्ट पियो परन्तु, तत्त्वं अद्वैतमेव हि=पारमार्थिक तत्त्व तो अद्वैत ही है ॥२३६॥

जीव ईश्वर मायिक सिद्ध हुआ, इसलिये उसका भेद भी मिथ्या ही है, तथापि 'त्वं' पद का शोधित अर्थ कूटस्थ चैतन्य और 'तत्' पद का शोधित अर्थ व्यापक ब्रह्म चैतन्य तो मायिक नहीं, परन्तु पारमार्थिक है, अतः उनका भेद भी पारमार्थिक होगा, इस आशंका के उत्तर में कूटस्थ और ब्रह्म के स्वरूप में कोई विलक्षणता न होने से उनका भेद बन नहीं सकता, यह दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं—

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्रादृते नहि ।
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते नहि क्वचित् ॥२३७॥

कूटस्थब्रह्मणोः भेदः=कूटस्थ और ब्रह्म का भेद, नाममात्रादृते न हि=केवल नाम मात्र के बिना वास्तव नहीं है अर्थात् नाम मात्र ही है, घटाकाशमहाकाशौ=घटाकाश और महाकाश, क्वचित् नहि वियुज्येते=कहीं पर भी अलग अलग नहीं होते ॥२३७॥

द्वैत मिथ्या है इस प्रकार प्रतिपादन का अर्थ वर्णन करते हैं—

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक्तदेवाद्य चोपरि ।
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान् ।२३८।

सृष्टेः प्राक् यदद्वैतं श्रुतं=सृष्टि से पहले श्रुतियों में जो अद्वितीय ब्रह्म प्रतिपादित है, **तदेव अद्य**=वही ब्रह्म सृष्टिकाल में अब भी अद्वितीयरूप ही है, **उपरि च**=सृष्टि के अनन्तर भी अर्थात् प्रलयकाल में भी, **मुक्तौ अपि**=और मुक्ति काल में भी वह अद्वितीय रूप ही है, **माया अखिलाञ्जनान्**=परन्तु यह माया संपूर्ण प्राणियों को **वृथा भ्रामयति**=व्यर्थ ही भ्रमण कराती है (भ्रम में डालती है)

तात्पर्य यह है-द्वैत के मिथ्यात्व के निश्चय करने पर अद्वितीय ब्रह्म तत्त्व का निश्चयरूप फल प्राप्त होता है, उस अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान रहित जीवों को ही माया के अधीन होकर अनेक अनर्थ की प्राप्ति होती है ॥२३८॥

प्रपञ्च को मायामय और तत्त्व को अद्वितीयरूप वर्णन करने वाले भी संसारी देखने में आते हैं; इसलिये तत्त्व ज्ञान से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, इस प्रकार आशंका करते हैं, और उत्तरार्द्ध से कर्म वशात् किसी किसी तत्त्ववेत्ता का व्यवहार बना रहने पर भी पहले की न्यांई अभिनिवेश नहीं रहता, इसलिये उक्त आशंका का अवसर नहीं, इस प्रकार परिहार करते हैं —

ये वदन्तीत्थमेतेऽपि भ्राम्यन्ते विद्ययात्र किम् ।
न यथापूर्वमेतेषामत्र भ्रान्तेरदर्शनात् ॥२३९॥

ये इत्थं वदन्ति=जो लोग संसार को मायामय और ब्रह्मतत्त्व को अद्वितीय रूप वर्णन करते हैं, **एते अपि भ्राम्यन्ते**=वे लोग भी भ्रान्त है अर्थात् संसारी देखने में आते हैं, तो फिर, **अत्र विद्यया किम्** =यहां तत्त्वज्ञान से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है (अर्थात् कुछ भी नहीं सिद्ध होता), **न**=ऐसी बात नहीं करनी चाहिए क्योंकि, **एतेषां अत्र**=उन तत्त्व ज्ञानवानों के व्यवहार में, **यथापूर्वं**=(कर्मवश कुछ व्यवहार रहने पर भी), तत्त्व साक्षात्कार के पहले के समान, **भ्रान्तेः अदर्शनात्**= भ्रान्ति नहीं देखने में आती है ॥२३९॥

ज्ञानियों को भ्रान्ति नहीं रहता इस बात को दिखाने के लिये अज्ञानियों के भ्रमरूप निश्चय को दिखाते हैं—

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ।
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ॥२४०॥

ऐहिकामुष्मिकः=इस लोक में और परलोक में होने वाले, **सर्वः संसारः**=पुत्र, स्त्री आदियों का पालन पोषण रूप तथा स्वर्गादि का भोग रूप सब संसार, **वास्तवः ततः**=सत्य है, इसलिये, **अद्वैतं न भाति च न अस्ति**=अद्वितीयरूप ब्रह्म नहीं भासता है, और है भी नहीं, **इति अज्ञानिविनिश्चयः**=इस प्रकार अज्ञानियों का दृढ़ निश्चय है ॥२४०॥

अब ज्ञानियों के विलक्षण तत्त्व निश्चय को दिखाते हैं—

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्माच्चिश्चयः सम्यगीक्ष्यते ।
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते ॥२४१॥

ज्ञानिनः अस्मात्=ज्ञानवानों का अज्ञानियों के निश्चय से, **विपरीतः निश्चयः**=विरुद्ध निश्चय (अर्थात् अद्वैत ब्रह्म पारमार्थिक है, भासता भी है, और यह संसार मिथ्या है इस प्रकार दृढ़ निश्चय), **सम्यक् ईक्ष्यते**=भलि भांति देखने में आता है, **स्वस्वनिश्चयतः**=अज्ञानी और ज्ञानी अपने अपने निश्चय के अनुसार, **अहं बद्धः च मुक्तः**=मैं बद्ध हूँ और मैं मुक्त हूँ, **इति मन्यते**=इस प्रकार मानता रहता है (अर्थात् बन्धन और मुक्तिरूप फल प्राप्त करता है) ॥२४१॥

अद्वैत भासता है यह कथन केवल शास्त्र से ही है अनुभव से नहीं, इसलिये अद्वैत का निश्चय नहीं हो सकता इस प्रकार आशंका करते हैं, और अनुभव का अविषयत्व असिद्ध है, इस अभिप्राय से परिहार करते है "न चिद्रूपेण" इत्यादि ग्रन्थ से और उत्तरार्द्ध से चिद्-रूपता का भान होने पर भी वह चिद्रूपता पूर्णतया प्रतीत नहीं होती, इस प्रकार आशंका उठाकर पूर्णतया भान न होना द्वैत में भी समान ही है, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ।
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥२४२॥

अद्वैतं=अद्वैत ब्रह्मतत्त्व, अपरोक्षं न=साक्षात्कार का विषय नहीं (अर्थात् अद्वैत भासता है यह कथन केवल शास्त्र के जरिये से ही है, अनुभव से अद्वैततत्त्व का निश्चय नहीं), चेत् न=ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, चिद्रूपेण=चैतन्य रूप से (अर्थात् घट भासता है इत्यादि प्रतीति से घटादियों में अनुगत स्फुरण रूप से), भासनात्=भान होने के कारण उक्त आशंका नहीं बन सकती, अशेषेण न भातम्=चिद्रूप से भान होने पर भी पूर्णतया प्रतीति नहीं होती, चेत्=यदि ऐसी आशंका हो तो उत्तर कहते हैं, किम् द्वैतं अखिलं भासते=क्या जगत्रूप द्वैत वस्तु पूर्णतया भासता है (अर्थात् पूर्णतया न भासना तो द्वैत और अद्वैत दोनों में ही समान है) ॥२४२॥

इस प्रकार दोष की समता कथन करने के अनन्तर, परिहार की समता कथन करते हैं और परिहार की समता किस प्रकार से है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ।
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥२४३॥

दिङ्मात्रेण विभानं तु=एक देश की प्रतीति तो, द्वयोः अपि खलु समम्=द्वैत अद्वैत दोनों में भी निश्चय करके समान ही है, ते द्वैतसिद्धिवत्=तो फिर तुम्हारे मत में द्वैत वस्तु के निश्चय के समान, अद्वैत सिद्धिः=अद्वैत का निश्चय भी, तावता=एक देश प्रतीति के सद्भाव से, किम् न=क्यों नहीं होगा अर्थात् अवश्य ही होगा ॥२४३॥

पूर्वपक्षी प्रकारान्तर से अद्वैत की असिद्धि की आशंका करते हैं-

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ।
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ॥२४४॥

द्वैतेन हीनं अद्वैतं=द्वैत से रहित का नाम अद्वैत है, द्वैतज्ञाने=(द्वैत और अद्वैत परस्पर विरोधी होने से) द्वैत की प्रतीति काल में, इदं तु कथं=अद्वैत कैसे संभव हो सकता है (अर्थात् नहीं हो सकता), तु=तब तो अद्वैत की प्रतीति काल में द्वैत की सिद्धि भी नहीं होगी इस प्रकार प्रश्न की समानता की आशंका करके पूर्वपक्षी

समाधान करते हैं परन्तु, चिद्भानं=चैतन्य की प्रतीति (अर्थात् अद्वैत रूप प्रतीति), अस्य द्वैतस्य अविरोधि—इस द्वैत के अविरोधी है, अतः उभे असमे=इसलिये उन दोनों की समता नहीं हैं ॥२४४॥

प्रतीति का विषय जो द्वैत है वह आरोपित होने से वास्तव अद्वैत का विरोधी नहीं इस प्रकार परिहार सिद्धान्ती कहते हैं -

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ।
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥१४५॥

एवं तर्हि=ऐसा होने पर (अर्थात् पूर्वपक्षी के पूर्व श्लोक में उक्त प्रकार आशंका करने पर सिद्धान्ती समाधान कहते हैं), शृणु द्वैतं=सुनो, भासमान द्वैत, मायामयत्वतः=मायामय होने से (अर्थात् माया का कार्य मिथ्या होने से), असत्=वास्तव नहीं है, इसलिये अद्वैत के विरोधी नहीं, तेन=द्वैत असत् होने के कारण बाधित है इस कारण से, वास्तवं अद्वैतम्=अधिष्ठानरूप पारमार्थिक अद्वैत ब्रह्म, परिशेषात्=परिशेष से (अर्थात् कल्पित के निषेध द्वारा अवशिष्ट अधिष्ठान पारमार्थिक ब्रह्म का निश्चयरूप परिशेष से),विभासते= स्पष्ट भासता है ॥२४५॥

परिशेष का प्रकार दिखाते हैं—

अचिन्त्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ।
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥२४६॥

अचिन्त्यरचनारूपं=मन से भी चिन्तन करने अयोग्य रचना-स्वरूप जिसका ऐसा, सकलं जगत् माया एव=संपूर्ण जगत् मिथ्या ही है, इति निश्चित्य=इस प्रकार अनिर्वचनीय होने से द्वैत मिथ्या है ऐसा निश्चय करके, अद्वैते वस्तुत्वं=अद्वैत में पारमार्थिकता का (अर्थात् अद्वैत ब्रह्म ही पारमार्थिक वस्तु है इस प्रकार),परिशेष्यताम् =परिशेष रखना चाहिये अर्थात् निश्चय करना चाहिये ॥२४६॥

अद्वैत का निश्चय कर लेने पर भी पूर्व वासना के कारण पुनः पुनः द्वैत की सत्यता प्रतीत होती है ऐसी आशंका उठाकर उत्तर कहते हैं—

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ।
परिशीलय को वात्र प्रयासस्तेन ते वद ॥२४७॥

द्वैतस्य वस्तुत्वं पुनः चेत् भाति=द्वैत जगत् की सत्यता बारम्बार यदि भासती होवे तो, **त्वं पुनः तथा परिशीलय**=तुम बारम्बार पूर्वोक्त प्रकार से द्वैत के मिथ्यात्व का विचार करो, **अत्र तेन**=इस विषय में विचार के बारम्बार अभ्यास से, **ते कः वा प्रयासः वद**=तुम्हारा क्या क्लेश है कहो ॥२४७॥

कब तक विचार करना पड़ेगा ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं—

कियन्तं कालमिति चेत्खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ।
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥२४८॥

कियन्तं कालं=कब तक पूर्वोक्त विचार करना चाहिये, **इति चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **अयं खेदः द्वैते इष्यताम्**=यह खेद द्वैत में करना चाहिये, **अद्वैते तु अयं युक्तः न**=अद्वैत विचार में तो यह खेद उचित नहीं, क्योंकि, **सर्वानर्थनिवारणात्**=अद्वैत विचार सर्व अनर्थों का निवारण करने वाला है ॥२४८॥

इस प्रकार अद्वैत तत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान युक्त मुझमें क्षुत्पिपासारूप अनर्थ दृश्यमान होने के कारण, आत्मज्ञान की अनर्थ निवारकता असिद्ध है, इस प्रकार आशंका उठाकर विकल्प पूर्वक समाधान करते हैं—

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ।
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यन्तां नेति को वदेत् ॥२४९॥

मयि=अद्वैत आत्मतत्त्व का साक्षात्कार वाले मुझ में, **क्षुत्पिपासादयः यथापूर्वं**=क्षुधा पिपासादि अनर्थ ज्ञान से पहले के जैसे ही, **दृष्टा**=देखे जाते हैं, इस लिये अद्वैत आत्मज्ञान अनर्थ का निवारक कैसे, **इति चेत्**=ऐसी आशंका होने पर समाधान कहते हैं, **मच्छब्दवाच्ये**=अहं शब्द का वाच्यार्थ, **अहंकार**=अहंकार में अर्थात् अनात्म पदार्थ में, **दृश्यन्ताम्**=क्षुत्पिपासा आदि अनर्थ को देखो, **न इति कः**

वदेत्=नहीं इस प्रकार अहंकार में क्षुधा आदि का स्वरूप से निषेध कौन कहता है ॥२४९॥

वस्तुतः चैतन्य स्वरूप आत्मा में क्षुत्पिपासा को प्रतीति न होने पर भी भ्रम से प्राप्ति होगी इस प्रकार आशंका उठाकर तब तो अनर्थ का हेतु अध्यास की निवृत्ति के लिये सदा विवेक करना चाहिये ऐसा उत्तर देते हैं—

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ।
माऽध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥२५०॥

तादात्म्याध्यासतः=वस्तुतः चिद् आत्मा में अनर्थ न होने पर भी अभेद भ्रान्ति से, चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरन्=चैतन्यस्वरूप आत्मा में भी अनर्थ प्राप्त होंगे, यदि अध्यासं मा कुरु=अगर ऐसा कहते हो तो,अभेद भ्रम मत करो,किन्तु त्वं सर्वदा विवेकं कुरु=परन्तु तुम सदा अनर्थ के हेतु अध्यास की निवृत्ति के लिये विवेक किया करो॥२५०॥

अनादि काल की वासना के कारण बारम्बार भ्रान्ति होने पर उसकी निवृत्ति के लिये विवेक का अभ्यास ही उपाय है, दूसरा उपाय नहीं इस वार्ता को कहते हैं—

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ।
आवर्तयेद्विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥२५१॥

दृढ़वासनया अध्यासः=अनादि काल की वासना के वश भ्रान्ति ज्ञान, झटिति आयाति=एक दम (शीघ्र) आ जाता हैं, इति चेत्=ऐसी यदि आशंका हो तो, विवेकं च दृढं वासयितुम्=विवेक को भी दृढ़ करने के लिये, सदा आवर्तयेत्=सर्वदा अर्थात् पुनः पुनः विवेक का अभ्यास करो ॥२५१॥

विचार से द्वैत का मायामयत्व युक्ति से सिद्ध हैं, अनुभव से नहीं, ऐसी आशंका का परिहार करते हैं, कि अचिन्त्यरचानात्वलक्षण मिथ्यात्व का अनुभव स्वसाक्षी होने से उक्त आशंका नहीं बन सकती—

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ।
अचिन्त्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥२५२॥

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं = विचार करने पर द्वैत का मिथ्यापन युक्त्या एव = युक्ति से ही सिद्ध होता है, अनुभव से नहीं, इति न भण्यताम् हि = इस प्रकार मत कहो क्योंकि, अचिन्त्यरचनात्वस्य = अचिन्त्य रचना रूप मिथ्यापने का, अनुभूतिः स्वसाक्षिकी = अनुभव तो अपने साक्षी से ही सिद्ध है ॥२५२॥

अचिन्त्यरचनात्व रूप मिथ्यात्व पदार्थ का लक्षण कहा गया, सो लक्षण चिदात्मा में अतिव्याप्त है ऐसी आशंका करके, प्रागभाव युक्त अचिन्त्यरचनात्व मिथ्यात्व का लक्षण है, इस प्रकार कहने की इच्छा वाला ग्रन्थकार चिदात्मा का केवल अचिन्त्य रचनात्व अंगीकार करते हैं —

चिदप्यचिन्त्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ।
चितिं सुचिन्त्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥२५३॥

चित्अपिअचिन्त्यरचना = चैतन्य आत्मा भी अचिन्त्य रचना वाला है इसलिये मिथ्या हैं, यदि तर्हि = यदि ऐसा कहते हो तब तो अस्तु = चैतन्यरूप आत्मा अचिन्त्य रूप है, ऐसा हम अंगीकार करते है क्योंकि, वयम् चितिं = हम चैतन्य रूप आत्मा को सुचिन्त्यरचनां = सुख से चिन्तन करने योग्य रचना जिसकी, नो ब्रूमः = ऐसा नहीं कहते हैं नित्यत्वकारणाद् = क्योंकि आत्मा नित्य है (अत एव आत्मा मिथ्या नहीं हो सकता) ॥२५३॥

चैतन्य का नित्यत्व कैसे सिद्ध है ऐसी आशंका का उत्तर चिदात्मा के प्रागभाव की असिद्धि रूप हेतु से कहते हैं—

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ।
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनाऽनुभूयते ॥२५४॥

चितेः प्रागभावः न अनुभूतः = चिदात्मा का प्रागभाव अनुभव का विषय कभी नहीं होता, ततः चितिः नित्या = इसलिये चिदात्मा नित्य है, तु द्वैतस्य = और द्वैत का (प्रमाता प्रमाण प्रमेय रूप द्वैत का)

प्रागभावः चैतन्येन=प्रागभाव तो चिदात्मा के द्वारा साक्षात् **अनुभूयते**=अनुभव किया जाता है ॥२५४॥

इस प्रकार प्रागभावविशिष्ट अचिन्त्यरचनात्व मिथ्या पदार्थ का लक्षण है, द्वैत में ये लक्षण विद्यमान होने के कारण द्वैत मिथ्या सिद्ध होता हैं—

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ।
तथापि रचनाऽचिन्त्या मिथ्या तेनेन्द्रजालवत् ॥२५५॥

प्रागभावयुतं द्वैतं=प्रागभाव वाला होने से द्वैत रूप जगत् की, **घटादिवत् रच्यते हि**=घटादि की न्यांई रचना ही होती है, **तथापि रचना अचिन्त्या**=फिर भी द्वैत की सृष्टि अचिन्त्य है, **तेन इन्द्रजालवत् मिथ्या**=इसलिये इन्द्रजाल के समान द्वैत जगत् मिथ्या है ॥२५५॥

चैतन्य स्वयं प्रकाश रूप होने से, नित्य और अपरोक्ष रूप भासता है, चैतन्य अतिरिक्त प्रपञ्च का मिथ्यात्व उसी चैतन्य से अनुभूत होता है, ये अर्थ पूर्व दिखाया और ऐसा होने पर अद्वैत अपरोक्ष नहीं, इस प्रकार कहने वाले को व्याघात दोष प्राप्त होता है इस वार्ता को अब कहते हैं—

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ।
नाऽद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥२५६॥

चित्प्रत्यक्षा=स्वयं प्रकाश रूप होने से चिदात्मा सदा अपरोक्ष भासता है, **ततोऽन्यस्य**=उससे भिन्न द्वैत का, **मिथ्यात्वं च अनुभूयते**=मिथ्यापन भी प्रतीत होता है और, **अद्वैतम् अपरोक्षं न च**=अद्वैत ब्रह्म अपरोक्ष नहीं होता परञ्च स्वयं प्रकाश चैतन्य रूप से भासमान है, **इति एतद्**=यह तुम्हारा कहना, **कथम् न व्याहतम्**=क्यों नहीं विरुद्ध है, अर्थात् अवश्य ही विरुद्ध है ॥२५६॥

इस प्रकार वेदान्त के अर्थ जानने वाला पुरुषों में भी किसी-किसी को इसमें विश्वास क्यों नहीं होता, इस प्रकार प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि सम्यक् विचार शून्य होने से विश्वास नहीं होता—

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ।
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ॥२५७॥

इत्थं ज्ञात्वा अपि = पूर्वोक्त प्रकार से वेदान्त के अर्थ को जान कर भी, केचित् कुतः असन्तुष्टाः = कोई कोई क्यों सन्तोष को नहीं प्राप्त होते, इति इर्यताम् = इसका उतर कहो, प्रबुद्धस्य अपि = विचार और ज्ञान वाले होते हुए भी, चार्वाकादेः = देह आत्मवादी नास्तिकों के मत में, देहः आत्मा कुतः वद = स्थूल देह ही आत्मा है ऐसा क्यों है कहो ॥२५७॥

उसी का स्पष्टीकरण अगले श्लोक से करते हैं—

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ।
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षन्त विशेषतः ॥२५८॥

धीदोषात् अस्य = बुद्धि के दोष से इसको अर्थात् चार्वाकादिकों को, सम्यक् विचारः न अस्ति = शुद्ध विचार नहीं है इस लिये स्थूल देह को आत्मा मानने लगे, इति चेत् = यदि ऐसा कहते हो तो, तथा असंतुष्टाः तु = उसी प्रकार सन्तोष रहित शास्त्र वेत्ता भी, शास्त्रार्थं विशेषतः = शास्त्र के तात्पर्य को अच्छी तरह से, न तु ऐक्षन्त = बुद्धि दोष के कारण नहीं जानते हैं ॥२५८॥

पूर्वग्रन्थोक्त प्रकार से तत्त्व विचार किया अब विचार जन्य तत्त्व ज्ञान रूप फल का विचार करने के लिये उसके प्रतिपादक श्रुति का पाठ करते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद्दृष्टमेव तत् ॥२५९॥

अस्य हृदि श्रिताः = इस मुमुक्षु के हृदय में आश्रित, ये कामा (ते) सर्वे = जो कामनाए अर्थात् तादात्म्य अध्यास मूलक इच्छादि है वे सब, यदा प्रमुच्यन्ते = जिसकाल में तत्त्व ज्ञान के द्वारा (अध्यास निवृत्ति होने पर) निवृत्त हो जाते है (तब ये मरण शील मनुष्य अमृत भाव को प्राप्त होते हैं), इति श्रौतं फलं = इस प्रकार श्रुति-प्रतिपादित फल, दृष्टं न इति चेत् = अनुभव सिद्ध है नहीं, ऐसी

आशंका के उत्तर में कहते हैं, तत् दृष्टमेव = (अनन्तर श्रुति वाक्य के तात्पर्य विचार से) श्रौत फल दृष्ट ही है (इस प्रकार निश्चय होता है) ॥२५९॥

पूर्व श्लोकोक्त दृष्टत्व का स्पष्टीकरण के लिये श्रुति वाक्य का उदाहरण देकर उसका अर्थ कहते हैं —

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयग्रन्थयस्त्विति ।

कामा ग्रन्थिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्य शेषतः ॥२६०॥

यदा तु सर्वे = जिस समय संपूर्ण, **हृदय ग्रन्थयः प्रभिद्यन्ते** = हृदय की ग्रन्थियाँ निवृत्त हो जाती हैं (तब मुक्ति होती है) **इति वाक्य शेषतः** = इस श्रुति वाक्य शेष से, **कामाःग्रन्थिस्वरूपेण** = पूर्व वाक्योंक्त कामनाएँ ग्रन्थिरूप से, **व्याख्याताः** = कही गई हैं (अर्थात् कामनाओं की निवृत्ति अहंकार और चिदात्मा के अध्यास की निवृत्ति रूप ग्रन्थि-भेद नाम से कही गई हैं) ॥२६०॥

लोक में काम शब्द से इच्छाविशेष ही कहा जाता है, इस लिये उसका ग्रन्थि रूप से व्याख्यान कैसे किया, ऐसी आशंका होने पर अध्यास मूलक इच्छाविशेष ही कामशब्द का अर्थ है, केवल इच्छा नहीं इस प्रकार उत्तर कहते हैं

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ।

इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ।२६१।

अहंकार चिदात्मानौ = अहंकार और चिदात्मा को, **अविवेकतः एकीकृत्य** = अविवेक से अभिन्न समझ करके, **इदं मे स्यात् इदं मे स्यात्** = यह मुझे मिलना चाहिये यह मुझे मिलना चाहिये, **इति इच्छाः कामशब्दिताः** = इस प्रकार की इच्छायें काम शब्द से कही गई हैं ॥२६१॥

अध्यास मूलक इच्छा रूप काम ही यदि त्याज्य है, तो केवल इच्छा ही अंगीकार करना चाहिये, इसप्रकार आशंका उठाकर केवल इच्छा बाधक ना होने से अंगीकरणीय है ऐसा उत्तर कहते हैं—

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक्पश्यन्नहंकृतिम् ।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः ॥२६२॥

चिदात्मानं अप्रवेश्य=अहंकार में चिदात्मा का तादात्म्य अध्यास वश अन्तर्भाव नहीं करते हुए, अहंकृतिम् पृथक् पश्यन्=अहंकार को चिदात्मा से अलग देखता हुआ, कोटि वस्तूनिइच्छन् तु=करोड़ों वस्तु विषय इच्छा करता हुआ भी, न बाधः=किसी प्रकार का बाध अर्थात् दुःखादि नहीं होता, ग्रन्थि भेदतः=क्योंकि तादात्म्य अध्यास रूप ग्रन्थि का नाश हो गया है ॥२६२॥

अध्यास के अभाव होने पर काम की अनुत्पत्ति ही होगी ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं, प्रारब्ध कर्मवशात् उत्पत्ति संभव है—

ग्रन्थिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ।
बुद्ध्वापि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ॥२६३॥

ग्रन्थि भेदेऽपि इच्छाः=ग्रन्थि का भेदन होने पर भी इच्छाएं,—प्रारब्ध दोषतः सम्भाव्याः=प्रारब्ध दोष के कारण सम्भव हो सकती है,यथा बुद्ध्वापि=जैसे तत्त्व को जान लेने पर भी,तव पापबाहुल्यात्=तुमको प्रारब्ध रूप पाप की अधिकता से, असंतोषः=सन्तोष नहीं है ॥२६३॥

अध्यास के अभाव होने पर अहंकार स्थित इच्छादि बाधक नहीं हो सकती, इस वार्ता को दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ।
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥२६४॥

(यथा) देहव्याध्यादिभिः=जैसे देहगत रोगादियों से, और वृक्षादिजन्म नाशैः वा=वृक्षादि गत जन्म नाश से साक्षीरूप आत्मा का बाध नहीं होता, तथा अहंकारगतेच्छाद्यैः=उसी प्रकार(अध्यास नष्ट होने पर) अहंकार में होने वाले इच्छादि विकारों से, चिद्रूपात्मनि=देह आदि से संबन्ध रहित साक्षी चैतन्यरूप आत्मा में, किम् भवेत्=क्या विकार होगा (अर्थात् कुछ भी विकार नहीं होगा) ॥२६४॥

चिदात्मा का वास्तव असंगपना तो सर्वदा एकरूप ही है, इस लिये पहले भी कामादि द्वारा बाधा नहीं होती थी, ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं, कि ये प्रश्न तुमने हमारे सिद्धान्त के अनुकूल ही किया, क्योंकि एतादृश बोध ही (सदा असंग रूप आत्म है) ग्रन्थि भेद पद से हम लोग कहना चाहते थे --

ग्रन्थिभेदात्पुराप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ।
अयमेव ग्रन्थिभेदस्तव तेन कृती भवान् ॥२६५॥

ग्रन्थिभेदात् पुरा अपि=ग्रन्थिभेदन से अर्थात् अध्यास निवृत्ति से पहले भी, **एवम् इति चेत्**=असंग आत्मा में कोई भी विकार नहीं यदि ऐसा कहते हो तो, **तत् न विस्मर**=उस बात को (अर्थात् सदा ही असंग निर्विकार रूप है इस बात को भूलना नहीं, क्योंकि, **अयम् एव**=यही अर्थात् इस प्रकार का निश्चय ही, **तव ग्रन्थिभेदः**=तुम्हारा तादात्म्य अध्यास का नाश है, **तेन भवान् कृती**=उसी से आप कृत-कृत्य हो ॥२६५॥

पूर्वोक्त प्रकार ज्ञान का अभाव ही ग्रन्थि का स्वरूप है, इस बात को कहते हुए ज्ञानी की इच्छा स्वीकार कर लेने पर, ज्ञानी और अज्ञानी का वैलक्षण्य कैसे सिद्ध होगा, ऐसी आशंका उठाकर ग्रन्थि और ग्रन्थि के विनाश से अतिरिक्त अज्ञानी और ज्ञानी का वैलक्षण्य कुछ भी नहीं है इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

नैवं जानन्ति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रन्थिर्न चापरः ।
ग्रन्थितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥२६६॥

मूढाः=अविवेकी लोग, **एवं न जानन्ति**=इस प्रकार (आत्मा सदा ही असंग निर्विकार रूप है) नहीं जानते है, **चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **सः अयं ग्रन्थिः**=वह अविवेक ही यह ग्रन्थि का स्वरूप है, **अपरः च न**=दूसरा कोई ग्रन्थि का स्वरूप नहीं, **ग्रन्थितद्भेद-मात्रेण**=ग्रन्थि अर्थात् अध्यास और ग्रन्थि के भेदन, अर्थात् अध्यास निवृत्ति इतने मात्र से ही, **मूढबुद्धयोः वैषम्यं**=ज्ञानी और अज्ञानी का भेद है ॥२६६॥

वैलक्षण्य में दूसरा कोई कारण है नहीं इसी का विस्तार करते हैं—

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा देहेन्द्रियमनोधियाम् ।
न किंचिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥२६७॥

देहेन्द्रियमनोधियाम्=देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इनकी, प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा=प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में, अज्ञानिविबुद्धयोः=अज्ञानी और ज्ञानवान् इन दोनों में, किंचित् अपि वैषम्यम् न अस्ति=कुछ भी भेद नहीं है ॥२६७॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं—

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा ।
नाहारादावस्ति भेदःसोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥२६८॥

व्रात्यश्रोत्रिययोः=व्रात्य (किसी निमित्त से वेद पाठ में जिसका अधिकार नहीं रहा) और श्रोत्रिय (जिसका वेद पाठ में अधिकार है) इन दोनों का, वेद पाठापाठकृता भिदा=वेद पाठ कृत और वेद पाठ के अभाव कृत भेद है, आहारादौ भेदः न अस्ति=और भोजन आदिक में भेद नहीं है, सः अयं न्यायः अत्र=सो यह दृष्टान्त, ज्ञानी और अज्ञानी के विषय में भी, योज्यताम्=जोड़ना चाहिए, अर्थात् समझ लेना चाहिये ॥२६८॥

ज्ञानी के ग्रन्थि राहित्य में गीता वाक्य को प्रमाण दिखाते हैं—

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ।
उदासीनवदासीन इति ग्रन्थिभिदोच्यते ॥२६९॥

संप्रवृत्तानि न द्वेष्टि=ज्ञानवान् आये हुये दुःखों के लिये द्वेष नहीं करते, निवृत्तानि न कांक्षति=और नष्ट हुए सुख के लिये इच्छा भी नहीं करते, उदासीनवदासीनः=किन्तु राग द्वेष रहित उदासीन की न्यांई स्थित होते हैं, इति ग्रन्थिभिदा उच्यते=इस वाक्य से भगवान् ने ग्रन्थि भेद का स्वरूप गीता में कहा है ॥२६९॥

यह वाक्य उदीसीनता की विधि में तात्पर्य वाला है, ग्रन्थि-

भेद में प्रमाण नहीं, इस प्रकार आशंका करके उस वाक्य को विधि-परक मानोगे तो 'वत्' शब्द व्यर्थ होगा ऐसा परिहार करते हैं—

औदासीन्यं विधेयं चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ।

न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ॥२७०॥

औदासीन्यम्=इस श्लोक में उदासीनता का, **विधेयं**=भगवान् ने विधान किया है, अर्थात् पूर्वोक्त वाक्य ग्रन्थि भेद में प्रमाण नहीं, किन्तु राग द्वेष रहित होना चाहिये इस प्रकार विधिरूप है, **चेत् तदा**=यदि ऐसा कहते हो तो, तब **वच्छब्द व्यर्थता**=उदासीनवत् इस वाक्य में 'वत्' शब्द निरर्थक होगा (इसलिये पूर्व वाक्य से ग्रन्थि भेद ही कहा गया है), **अस्य देहाद्याः**=ज्ञानवान् के देह इन्द्रियादि, **न शक्ता**=कार्य करने में समर्थ नहीं इसलिये उनकी प्रवृत्ति नहीं होगी **इति चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **सः रोगः एव**=उस अप्रवृत्ति का हेतु तो रोग ही है ग्रन्थि भेद नहीं तब तो तुम्हारे मत में ग्रन्थि भेद एक प्रकार का रोग होगा ॥२७०॥

पूर्व श्लोकोक्त प्रवृत्ति के अभाव को स्वीकार करलें तो क्या दोष हैं, इस आशंका का उत्तर कहते हैं—

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिमन्यन्ते ये महाधियः ।

तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥२७१॥

ये महाधियः तत्त्वबोधं=जो महान् बुद्धिमान् लोग तत्त्वज्ञान को, **क्षयं व्याधिं मन्यन्ते**=क्षय रोग मानते हैं, **तेषां प्रज्ञा अतिविशदा**=उनकी बुद्धि अति विशाल है, **तेषाम् किं दुःशकं वद**=उनके लिये क्या असाध्य है कहो ॥२७१॥

यह परिहास असंगत है,क्योंकि ज्ञाननियों के प्रवृत्ति का अभाव पुराण प्रसिद्ध है ऐसी आशंका उठाकर श्रुति को ना जानने के कारण ही इस प्रकार प्रश्न करते हो ऐसा परिहार करते हैं—

भरतादेरप्रवृत्तिः पूराणोक्तेति चेत्तदा ।

जक्षन्क्रीडन्रतिं विन्दन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ॥२७२॥

भरतादेः अप्रवृत्तिः=जड भरत आदि की प्रवृत्ति का अभाव,

पुराणोक्ता=पुराणों में कहा गया (इसलिये ज्ञानी की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये), इति चेत् तदा जक्षन्=यदि ऐसी आशंका करते हो, तब भोजन करता हुआ, क्रीडन् रतिं विन्दन्=स्वइच्छा से विहार करता हुआ, रमण करता हुआ, इति श्रुतिं=इस प्रकार के वेद वचनों को (जो ज्ञानवान् के विषय में आहार बिहार आदि प्रवृत्ति को कहता है उसे), किं न अश्रौषीः=क्या तुमने नहीं सुना (अर्थात् तुम्हारा प्रश्न शास्त्र ज्ञान के न रहने से ही उत्पन्न हुआ) ॥२७२॥

तब पुराण की क्या गति होगी, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं, कि पुराण उदासीनता का बोधन करता है प्रवृत्ति के अभाव को नहीं—

न ह्याहारादि सन्त्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ।
काष्ठपाषाणवत् किन्तु सङ्गभीता उदासते ॥२७३॥

भरताद्याः आहारादि=जड़ भारतादि भोजन आदि का, सन्त्यज्य क्वचित्=परित्याग करके कहीं पर भी, काष्ठपाषाणवत् न हि स्थिताः=लकड़ी और पत्थर की न्यांई स्थित नहीं हुए, किन्तु सङ्गभीताः उदासते=परन्तु संग से भयभीत होकर उदासीन रहते थे ॥२७३॥

संग का त्याग भी क्यों किया जाता है, ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं—

सङ्गी हि बाध्यते लोके निःसङ्गः सुखमश्नुते ।
तेन सङ्गः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥२७४॥

हि सङ्गी लोके बाध्यते=क्योंकि संग वाला मनुष्य संसार में दुःखी होता है, निसङ्गः सुखमश्नुते=और संङ्ग रहित मनुष्य सुख प्राप्त करता है, तेन सुखम् इच्छता=इसलिये सुख की इच्छा करने वाले मनुष्य को, सङ्गः सर्वदा=संग का सर्वदा, परित्याज्यः=परित्याग करना चाहिये ॥२७४॥

जब मानस सङ्ग ही वस्तुतः त्याज्य है, तब तो मन से संग रहित, किन्तु बाहर व्यवहार करने वाले पुरुषों का अज्ञानीपन लोग

क्यों कहते हैं, ऐसी आशंका होने पर शास्त्र के तात्पर्य न जानने के कारण ही ऐसा कहते हैं, इस प्रकार उत्तर देते हैं, और अविवेकियों का व्यवहार यहां विचारणीय नहीं, किन्तु शास्त्र के तात्पर्य का अनुसंधान करना चाहिये, इस वार्ता को भी कहते हैं—

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथाऽन्यथा ।

मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धान्त उच्यते ॥२७५॥

शास्त्रहृदयं अज्ञात्वा=शास्त्र के तात्पर्य को न जानकर, मूढः अन्यथा अन्यथा वक्ति=अविवेकी मनुष्य विपरीत कथन करता है, मूर्खाणाम् निर्णयः तु=मूढ़ पुरुषों के निश्चय को तो, आस्ताम्=रहने दो (क्योंकि मूर्खों का व्यवहार यहां विचारणीय नहीं है), अस्मत्-सिद्धान्त उच्यते=शास्त्र के तात्पर्य को जानने वाले अपने सिद्धान्त कहते हैं ॥२७५॥

आपका सिद्धान्त क्या है, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से देते हैं—

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ।

प्रायेण सह वर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित्क्वचित् ॥२७६॥

वैराग्य बोधोपरमाः=वैराग्य, ज्ञान और उपरति जो साधन है, ते परस्परम्=वे आपस में एक दूसरे का, सहायाः=सहायक हैं, अर्थात् उपकारक हैं, प्रायेण सह वर्तन्ते=प्रायः करके वे साधन साथ ही साथ एक ही पुरुष या साधक में रहते हैं, क्वचित् क्वचित्=कहीं कहीं अर्थात् किसी किसी साधक में, वियुज्यन्ते=अलग अलग भी रहते हैं ॥२७६॥

वैराग्यादिकों का सह अवस्थान दर्शन से उनका अभेद होगा, ऐसी आशंका होने पर, वैराग्यादि साधनों के हेतु, स्वरूप और कार्य के भेद से उनका भेद जान लेना चाहिये इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः ।

यथावदवगन्तव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥२७७॥

एषाम् हेतुस्वरूपकार्याणि=इन वैराग्यादिकों के कारण, स्व-

रूप और फल, भिन्नानि=पृथक् पृथक् हैं इसीलिये, शास्त्रार्थं=शास्त्र के अर्थ का, प्रविविच्यता=विवेक करने वाले मनुष्य को चाहिये कि, असंकरः यथावत् अवगन्तव्यः=इनका भेद यथोचित जानले ॥२७७॥

वैराग्य, बोध और उपरति इन तीनों में वैराग्य का हेतु, स्वरूप और कार्य दिखाते हैं—

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ।

असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥२७८॥

दोषदृष्टिः=विषयों में अनित्यतादि दोषदर्शन (१), जिहासा च=त्यागने की इच्छा और (२), पुनः भोगेषु अदीनता=फिर से भोगों में दीनता न होना (३), अमी त्रयः अपि वैराग्यस्य=यह तीनों क्रम से वैराग्य के, असाधारण हेत्वाद्याः=असाधारण कारण और स्वरूप तथा फल है ॥२७८॥

अब तत्त्व बोध के हेतु आदिकों को दिखाते हैं—

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ।

पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥२७९॥

श्रवणादित्रयं=श्रवण से आदि लेकर तीनों अर्थात् श्रवण, मनन और निदिध्यासन (१), तद्वत् तत्त्वमिथ्या विवेचनं=और सत्य वस्तु और मिथ्या वस्तु का विवेक (२), पुनः ग्रन्थेः अनुदयः=और फिर से अध्यास का न होना (३), एते त्रयः=ये तीनों क्रम से, बोधस्य मताः=ज्ञान के असाधारण कारण स्वरूप और फल विद्वानों को संमत हैं ॥२७९॥

उपरति के हेतु आदिकों को दिखाते हैं--

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ।

स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ॥२८०॥

यमादिः=यम नियमादि साधन, धीनिरोधः च=बुद्धि की एकाग्रता अथवा समाधि और,व्यवहारस्य संक्षयः=व्यवहार का क्षय ये तीनों क्रम से, उपरतेः हेत्वाद्याः स्युः=उपरति का असाधारण कारण, स्वरूप और फल हैं, इति असंकरः ईरितः=इस प्रकार सब का पृथक् पृथक् भेद (रूप) कह दिया हैं ॥२८०॥

क्या इन वराग्यादियों की प्रधानता एकसी है, अथवा नहीं,इस आशंका का उत्तर कहते हैं —

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात्साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ।
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥२८१॥

तत्त्वबोधः=वैराग्य, बोध और उपरति इन तीनों में तत्त्व-ज्ञान ही, प्रधानं स्यात्=सब से प्रधान है क्यों कि, साक्षात् मोक्ष-प्रदत्वतः=तत्त्वज्ञान साक्षात् मोक्ष देने वाला है, एतौ वैराग्योपरमौ उभौ=ये वैराग्य और उपरति दोनों,बोधोपकारिणौ=ज्ञान के सहा-भाव यक हैं ॥२८१॥

"प्रायेण सहवर्तन्ते वियुज्यन्ते क्वचित् क्वचित्" इस प्रकार पूर्वोक्त (७६ वें श्लोक में उक्त) अर्थ में कारण बताते हैं —

त्रयोऽप्यत्यन्तपक्वाश्चेन्महतस्तपसः फलम् ।
दूरितेन क्वचित्किं चित्कदाचित्प्रतिबध्यते ॥२८२॥

त्रयः अपिचेत्=वैराग्य आदि तीनों यदि,अत्यन्तपक्वाः=एक ही पुरुष में परिपक्व देखने में आवे तो, महतः तपसः फलम्=बड़े भारी तप का फल जानना, क्वचित् किंचित् कदाचित्=इन तीनों में से किसी पुरुष में कोई साधन कभी कभी, दूरितेन प्रतिबध्यते=पाप कर्म से प्रतिबद्ध हो जाता है ।

टि०-भाव यह है कि वैराग्य, बोध, उपराम तीनों का एक ही पुरुष में साथ साथ विद्यमान होना अनेक जन्मों के किये हुए पुण्य-पुञ्जों का फल है, नहीं तो प्रतिबन्धक पाप के अनुसार तीनों में किसी किसी का प्रतिबन्धक भी हो जाता है, इस लिये तीनों का सह-नहीं होता ॥२८२॥

इन तीनों में भी तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध होने पर मोक्ष नहीं होता, किन्तु पुण्यलोक की प्राप्ति होती है, इस वार्ता को कहते हैं—

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ।
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोक स्तपोबलात् ॥२८३॥

वैराग्योपरतीपूर्ण=वैराग्य और उपरम ये दोनों पूर्ण होने पर (अर्थात् परिपक्व होने पर भी), बोधस्तु यस्य प्रतिबध्यते=तत्त्वज्ञान का प्रतिबन्ध जिस पुरुष के लिये होता है, तस्य मोक्षः न अस्ति=उसको मोक्ष प्राप्त नहीं होता किन्तु, तपोबलात् पुण्यलोकः=तप के बल से स्वर्गादि पुण्य लोक रूप फल प्राप्त होता है ॥२८३॥

वैराग्य तथा उपरति इन दोनों का प्रतिबन्ध होने पर जीवन्मुक्ति का सुख नहीं होता, इस वार्ता को कहते हैं—

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ।
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्ट दुःखं न नश्यति॥२८४॥

बोधेपूर्णे=बोध अर्थात् तत्त्व ज्ञान पूर्ण होने पर, तदन्यौ द्वौ=वैराग्य और उपराम ये दोनों, यदा प्रतिबद्धौ तदा=जब प्रतिबद्ध हो जाते हैं तब, मोक्षविनिश्चितः=मुक्तिरूप फल तो निश्चित ही है, किंतु दृष्ट दुःखं न नश्यति=परन्तु व्यावहारिक दुःखनिवृत्त नहीं होता।२८४।

अब वैराग्यादि तीनों की अवधि दिखाते हैं—

ब्रह्मलोक तृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ।
देहात्मवत् परात्मत्वदाढर्ये बोधः समाप्यते ॥२८५॥

ब्रह्मलोक तृणीकारः=ब्रह्मलोक को भी तृण के समान तुच्छ समजना, वैराग्यस्य अवधिर्मतः=वैराग्य की सीमा जानना, देहात्मवत्=शरीर में दृढ़ अहं बुद्धि को न्याईं, परात्मत्वदाढर्ये=परमात्मा में अहं बुद्धि की दृढ़ता होने पर, बोधः समाप्यते=तत्त्वज्ञान की पूर्णता हो जाती है॥२८५॥

सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ।
दिशानया विनिश्चेयं तारतम्यमवान्तरम् ॥२८६॥

सुप्तिवत् विस्मृतिः=सुषुप्ति की न्यांई अनात्मपदार्थ का विस्मरण, उपरमस्य सीमा भवेत्=उपरति की अवधि है, अनया दिशा=इस दिग्दर्शन से अर्थात् दिखाये हुए प्रकार से, अवान्तरम् तारतम्यं=उन तीनों के मध्य में होने वाले न्यूनाधिक भाव, विनिश्चेयम्=जान लेना चाहिये ॥२८६॥

तत्त्ववेत्ताओं की भी रागादि के कारण विषमता देखने में आती हैं, इसलिये ज्ञान मुक्ति का हेतु है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता, ऐसी आशंका उठाकर रोगादि की न्याई रागादि भी प्रारब्ध कर्म का फल रूप होने से रागादि मुक्ति का प्रतिबन्ध नहीं कर सकता अतः शास्त्र के अर्थ में संशय तथा भ्रम नहीं करना चाहिये, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

आरब्ध कर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ।
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥२८७॥

आरब्धकर्म नानात्वात्=प्रारब्धकर्म की विचित्रता से, **बुद्धानाम् अन्यथा अन्यथा वर्तनं**=ज्ञानवानों का भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार दृष्ट होता है, **तेन पण्डितैः**=उसे देखकर पण्डितों को, **शास्त्रार्थे**=शास्त्र के प्रतिपादित अर्थ में, **न भ्रमितव्यम्**=भ्रम नहीं करना चाहिये।२८७।

तो फिर क्या निश्चय करना चाहिये, इस प्रकार आशंका उत्पन्न होने पर उत्तर कहते हैं—

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ।
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥२८८॥

ते स्वस्वकर्मानुसारेण=वे ज्ञानवान् अपने अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार, **यथा तथा वर्तन्ताम्**=जैसे तैसे व्यवहार करें, **सर्वबोधः**=सबके (ज्ञानवानों के) "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का ज्ञान, **अविशिष्टः**=एकाकार ही होता है, **मुक्तिः**=और ब्रह्मरूप से अवस्थितिरूप मुक्ति भी, **समा**=एक समान ही है, **इति स्थितिः**=यह वस्तुस्थिति है, इस प्रकार निश्चय करना चाहिये ॥२८८॥

इस प्रकरण का तात्पर्य सक्षेप से दिखाते हैं—

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ।
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥२८९॥

पटेचित्रमिव=पट में चित्र की न्याई, **स्वचैतन्ये**=अपने स्वरूप चैतन्यरूप आत्मा में, **जगच्चित्रम् मायया अर्पितम्**=यह संसार-

रूपचित्र माया से कल्पित है, **तत् उपेक्ष्य**=उसकी उपेक्षा करके, **चैतन्यम् एव**=चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही, **परिशेष्यताम्**=परिशेष से बुद्धि स्थिर करनी चाहिये ॥२८९॥

ग्रन्थाभ्यास का फल कहते हैं—

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
पश्यन्तोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यन्ति न पूर्वतत् ॥२९०॥

ये बुधाः=जो विवेकी मनुष्य, **इमं चित्रदीपम्**=इस चित्रदीप प्रकरण का, **नित्यं अनुसन्दधते**=सदा विचार करते हैं, **ते जगच्चित्रम् पश्यन्त अपि**=वे संसाररूपी चित्र को देखते हुए भी, **पूर्ववत् न मुह्यन्ति**=पहले की न्यांई नहीं मोहिम होते हैं ॥२९०॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि-
विरचित पञ्चदश्यां चित्रदीपाख्यषष्ठप्रकरणस्य
राष्ट्र भाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिस्वतन्त्रानन्द-
गिरि महाराजकथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ सप्तमं तृप्तिदीपप्रकरणम्

अखण्डानन्दरूपाय शिवाय गुरवे नमः ।
शिष्याज्ञानतमोध्वंसपट्वर्केन्द्वग्निमूर्तये ॥१॥
वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थ महेश्वरः ॥२॥
नत्वा श्री भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
क्रियते तृप्तिदीपस्य व्याख्यानं गुर्वनुग्रहात् ॥३॥

यह तृप्तिदीप नामकप्रकरण श्रुति का व्याख्यान रूप होने से व्याख्यानयोग्य श्रुतिवचन का पाठ प्रकरण के आरम्भ में (ग्रन्थकार) करते हैं—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥१॥

पूरुषः=जीव, आत्मानं=अपनी आत्मा अर्थात् स्वरूप को अयम् अस्मि=यह मैं हूँ, इति चेत्=इस प्रकार यदि, विजानीयात्=अपरोक्षरूप से जान लेता है (साक्षात्कार कर लेता है), किम् इच्छन्=तब किस अनात्मवस्तु की इच्छा करता हुआ, कस्य कामाय=किस मिथ्या भोक्ता के लिये, शरीरम् अनु=इस शरीर के पीछे, संज्वरेत्=अपने आप को सन्तप्त करेगा अर्थात् नहीं करेगा ॥१॥

अब इस प्रकरण में किये जाने वाले जो विचार और उसका फल हैं, उन दोनों को दिखाते हैं—

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ।
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥२॥

अत्र=इस तृप्तिदीपनामक प्रकरण में, **अस्याः श्रुतेः**=इस श्रुति का ("आत्मानंचेत् विजानीयात्" इस श्रुति का), **अभिप्रायः**=तात्पर्य का, **सम्यक् विचार्यते**=भलीभाँति विचार किया जाता है, **तेन**=उस अभिप्राय के विचार से, **जीवन्मुक्तस्य**=ज्ञानवान् जीवन्मुक्त की, या **तृप्तिः**=जो श्रुतिप्रसिद्ध निरतिशय तृप्ति उत्पन्न होती है, **सा**=वह तृप्ति, **विशदायते**=स्पष्ट हो जायेगी ॥२॥

अब तृतीय श्लोक में पुरुषः इस पद का अर्थ कहने के लिये उपोद्घातरूप से सृष्टि का संक्षेप से वर्णन करते हैं—

मायाभासेन जीवेशौ करोतीतिश्रुतत्वतः ।
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥३॥

माया=जगत् का उपादानकारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति, **आभासेन**=प्रतिबिंब के द्वारा अर्थात् चिदाभास के द्वारा, **जीवेशौ**=जीव और ईश्वर का, **करोति**=निर्माण करती हैं, **इति**=इस प्रकार, **श्रुतत्वतः**=श्रुति में सुना गया है, इसलिये, **जीवेशौ**=जीव और ईश्वर दोनों, **कल्पितौ एव**=कल्पित ही है, **ताभ्यां**=उन जीव और ईश्वर के द्वारा, **सर्वं**=सम्पूर्ण जगत्, **प्रकल्पितं**=कल्पित हुआ है ॥३॥

किसके द्वारा कितना प्रपंच (अर्थात् ईश्वर के द्वारा कौन सा प्रपञ्च तथा जीव के द्वारा कौन सा प्रपञ्च) कल्पित है, इसका विभाग करके दिखाते हैं।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥४॥

ईक्षणादिप्रवेशान्ता=ईक्षण से आदि लेकर प्रवेश पर्यन्त, **सृष्टिः**=सृष्टि, **ईशेन**=ईश्वर के द्वारा, **कल्पिता**=कल्पित है, **जाग्रदादिविमोक्षान्तः**=जाग्रद् से आदि लेकर मोक्ष पर्यन्त, **संसारः**=संसार **जीवकल्पितः**=जीव के द्वारा कल्पित है, क्योंकि जीव इनमें अभिमान करता है ॥४॥

"पुरुषः" शब्द के अर्थ और बोध की उपयोगी सृष्टि का कथन करके अब पञ्चम श्लोक में "पुरुष" शब्द के अर्थ को कहते हैं—

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थोऽसङ्गचिद्वपुः ।
अन्योन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ॥५॥

कूटस्थासंगचिद्वपुः=जो निर्विकार, असंग चैतन्य स्वरूप, **भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा**=देह इन्द्रियादि अध्यास के अधिष्ठानरूप परमात्मा हैं, **अन्योन्याध्यासतः**=वही परमात्मा परस्पर अध्यास के कारण (परस्पर अभेद भ्रम के कारण), **असंगधीस्थजीवः**=वास्तव में सर्व सम्बन्ध रहित बुद्धि में विद्यमान हुआ जीव भाव को प्राप्त करके, **अत्र**=इस श्रुति में, **पूरुषः**='पुरुष' इस शब्द से कहा गया है।

अभिप्राय यह है कि कल्पित बुद्धि के अधिष्ठानरूप कूटस्थ चैतन्य ही अपने से वास्तव सम्बन्ध रहित बुद्धि में प्रतिबिंबित होकर जीवभाव को प्राप्त हुआ है, इसलिये उस जीव को "आत्मानं चेत्" इत्यादि श्रुति ने पुरुषः शब्द से कहा है ॥५॥

श्रुति में 'पूरुषः' शब्द से केवल चिदाभासरूप जीव कहना चाहिये, कूटस्थ चैतन्य जो अधिष्ठान है, उससे क्या प्रयोजन है? ऐसी आशंका करके मोक्ष का भागी केवल चिदाभास नहीं बन सकता, किन्तु कूटस्थ चैतन्य ही वास्तव में मोक्ष दशा में स्थित हो सकता है, इसलिये कूटस्थ चैतन्य को भी जीव के स्वरूप में ग्रहण करना आवश्यक है इस प्रकार समाधान करने के लिये अग्रिम श्लोक है—

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ।
केवलो निरधिष्ठानविभ्रान्तेः क्वाप्यसिद्धितः ॥६॥

साधिष्ठानः=अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य के सहित, **जीवः**=चिदाभासरूप जीव, **विमोक्षादौ**=मोक्ष तथा स्वर्गादि के साधन के अनुष्ठान में, **अधिक्रियते**=अधिकारी है, **न तु केवलः**=केवल चिदाभासरूप जीव मोक्षादि के साधन के अनुष्ठान में अधिकारी नहीं हो सकता, **निरधिष्ठानविभ्रान्तेः**=क्योंकि अधिष्ठान के बिना भ्रम ज्ञान अथवा कल्पित पदार्थ, **क्व अपि**=कहीं पर भी, **असिद्धितः**=प्रसिद्ध नहीं है, (अर्थात् देखने में नहीं आता) ॥६॥

अधिष्ठान के सहित चिदाभास ही बन्ध और मुक्ति का सम्बन्धी है इस बात को अब दो श्लोकों से विभाग करके दिखाते हैं—

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते ।
यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥७॥

जीवः=यह जीव, **यदा अधिष्ठानांशसंयुक्तं**=जब अधिष्ठानांश कूटस्थ के सहित, **भ्रमांशम्**=चिदाभास युक्त दोनों शरीरों को, **अवलम्बते**=अपने ही स्वरूप करके स्वीकार करता है, **तदा अहं संसारी**=तब मैं संसारी हूँ (बद्ध हूँ), **इति एवम्**=इस प्रकार, **अभिमन्यते**=अभिमान करता है, अर्थात् मानता है ॥७॥

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ।
यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते ॥८॥

यदा=जिस समय, **भ्रमांशस्य**=स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर के सहित चिदाभास का, **तिरस्कारात्**=मिथ्यापने के ज्ञान से अनादर किया जाता है, **अधिष्ठानप्रधानता**=और अधिष्टान कूटस्थ चैतन्य स्वरूप समझने लगता है, **तदा अहं चिदात्मा**=तब मैं चैतन्य स्वरूप **असंगः अस्मि**=संपूर्ण संसर्ग रहित अधिष्ठान स्वरूप हूँ, **इति बुध्यते**=इस प्रकार जीव जानता है ॥८॥

अधिष्ठान चैतन्य को ही जीव "चिदात्मा मैं हूँ" इस प्रकार अपना स्वरूप विवेक दशा में जानता है ऐसा सिद्धान्ती का कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि चैतन्यरूप कूटस्थ आत्मा असङ्ग होने के कारण अहंप्रतीति का विषय नहीं हो सकता इस प्रकार की आशंका अर्द्ध श्लोक से करके द्वितीय अर्द्ध से उसका उत्तर कथन करते हैं —

नासङ्गेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ।
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ॥९॥

असंगे=असंगस्वरूप कूटस्थ चिदात्मा में, **अहंकृतिः**="मैं हूँ" इस प्रकार की प्रतीति, **न युक्ता**=युक्तियुक्त नहीं है, इसलिये, **कथम्**=कैसे, **अस्मि**="मैं कूटस्थ हूं", **इति जानीयात्**=इस प्रकार जान सकेगा अर्थात् किसी प्रकार से भी नहीं जान सकता, **चेत्**=ऐसी आशंका है तो, **शृणु**=उत्तर सुनो, **एको मुख्यः**=अहं शब्द का एक तो मुख्य अर्थ है, **द्वौ अमुख्यौ**=और दो गौण अर्थ है, **इति**=इस प्रकार **अहमः**=अहं शब्द के, **त्रिविधः अर्थः**=तीन प्रकार के अर्थ हैं ।

टि०-शृणु कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि कूटस्थ चैतन्य आत्मा असंग होने के कारण अहं प्रतीति का विषय नहीं, तथापि लक्षणा द्वारा जीव अधिष्ठान कूटस्थ को अपना स्वरूप समझ सकता है, इसी अभिप्राय से अहं शब्द के तीन अर्थ कहे ॥९॥

अब मुख्य अर्थ को दिखाते हैं—

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ।
एकी भूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥१०॥

कूटस्थाभासयोः=कूटस्थ चैतन्य और चिदाभास इन दोनों का, **वपुः**=स्वरूप, **अन्योन्याध्यासरूपेण**=परस्पर अध्यास के कारण अर्थात् अभेद भ्रम के कारण, **एकीभूय**=एकता को प्राप्त हुआ, **मुख्यः भवेत्**=अहं शब्द का वाच्य मुख्य अर्थ होता है, **तत्र**=क्योंकि अभेद-भाव को प्राप्त हुए अर्थात् मिले हुए कूटस्थ और चिदाभास के स्वरूप में, **मूढैः**=अविवेकी मनुष्य, **प्रयुज्यते**=अहंशब्द का प्रयोग करते हैं इस लिये यह अहं शब्द का मुख्य अर्थ है ॥१०॥

अब अमुख्य अर्थ को दिखाते हैं—

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ।
पर्यायेण प्रयुङ्क्तेऽहंशब्दं लोके च वैदिके ॥११॥

आभासकूटस्थौ=चिदाभास और कूटस्थचैतन्य ये दोनों, **पृथक्**=जब अलग, अलग, अहं शब्द के अर्थ रूप से कहे जाते हैं, **अमुख्यौ**=तब वे दोनों अहंशब्द के गौण अर्थ कहे जाते हैं, **तत्र**=क्योंकि अलग-अलग चिदाभास और कूटस्थ में, **तत्त्ववित्**=तत्त्ववेत्ता ज्ञानवान्, **लोके वैदिके च**=लौकिक व्यवहार में और वैदिक व्यवहार में, **पर्यायेण**=क्रम से, **अहं शब्दं प्रयुंक्ते**=अहं शब्द का प्रयोग करते हैं ॥११॥

पूर्व श्लोक में क्रम से अहंशब्द का जो प्रयोग कहा गया है उसी का विस्तार अगले दो श्लोकों से कहते हैं—

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ।
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥१२॥

बुधः अहं गच्छामि=तत्त्वज्ञानवान् "मैं जाता हूँ", इत्यादिके लौकिकव्यवहारे=इससे आदि लेकर संपूर्ण लौकिक व्यवहार में, कूटस्थात्=कूटस्थ चैतन्य से, चिदाभासं=चिदाभास को, विविच्य=पृथक् करके, तम् एव=उस चिदाभास को ही, विवक्षति=अहं शब्द से कहने की इच्छा करते हैं ॥१२॥

असङ्गोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः।
अहंशब्दं प्रयुंक्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥१३॥

अयं बुधः=ये ही तत्त्वज्ञानवान्, शास्त्रीय दृष्टितः=वेदान्त शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान की दृष्टि से, केवले=चिदाभास में विवेक किये हुए, कूटस्थे=कूटस्थ चैतन्य मात्र में, अहं असंगः=मैं असंग हूँ, अहं चिदात्मा=मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, इति=इस प्रकार, अहं शब्दं=लक्षणा द्वारा अहं शब्द का, प्रयुंक्ते=प्रयोग करते हैं।

टि०-इस लिये लक्षणा द्वारा कूटस्थ चैतन्य अहं शब्द का अर्थ होने से अहं प्रतीति का विषय भी हो सकता अतः जीव को मैं असंग स्वरूप हूँ, इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न हो सकता है ॥१३॥

विवेचन कि हुए केवल चिदाभास और केवल कूटस्थ दोनों अहंशब्द का अमुख्य अर्थ है, उन में अज्ञाननिवृत्ति के लिये "मैं कूटस्थ हूँ" इस प्रकार क्या कूटस्थ जानता है, अथवा चिदाभास ? कूटस्थ असंगचैतन्य रूप होने से ज्ञानीपना अथवा अज्ञानीपना उस में संभव नहीं, अतः कूटस्थ नहीं जानता यह कहना पड़ेगा। परिशेष से चिदाभास में ज्ञानीपना, अज्ञानीपना संभव होने से वह "मैं कूटस्थ हूँ" इस प्रकार जानता है, यह कहना होगा। परन्तु चिदाभास कूटस्थ से भिन्न होने के कारण "मैं कूटस्थ हूँ" इस प्रकार कैसे जानेगा अर्थात् नहीं जान सकता ऐसी आशंका अग्रिम श्लोक में करते हैं—

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः।
तथा च कथमाभासः कूटस्थोऽस्मीति बुध्यताम् ॥१४॥

ज्ञानिताज्ञानिते=ज्ञानिपना और अज्ञानीपना (ज्ञान और अज्ञान), तु आत्माभास्य एव=तो आभास रूप आत्मा के ही है,

आत्मनः न च=कूटस्थ आत्मा के उक्त दोनों धर्म नहीं हैं, तथा च=ऐसा होने पर, आभासः=चिदाभास, कूटस्थः अस्मि=मैं कूटस्थ हूँ, चैतन्य रूप हूँ, इति=इस प्रकार, कथं बुध्यताम्=कैसे जानेगा, अर्थात् नहीं जान सकता ॥१४॥

चिदाभास का कूटस्थ से भेद असिद्ध है, इस अभिप्राय से पूर्व श्लोकोक्त शंका का समाधान करते हैं—

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ।

आभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ॥१५॥

अयं दोषः=यह तुम्हारा कहा हुआ दोष, न=नहीं बनता क्योंकि, चिदाभासः=चिदाभास, कूटस्थैक स्वभाववान्=कूटस्थ स्वरूप ही है (जैसे दर्पण में प्रतीत होने वाला मुखाभास का ग्रीवास्थ मुख ही वास्तव में स्वरूप है), आभासत्वस्य=आभास का स्वरूप (बिंबकूटस्थ से अलग हुआ), मिथ्यात्वात्=मिथ्या ही है, इस कारण से, कूटस्थत्वावशेषणात्=कूटस्थ का स्वरूप ही परिशेष से रह जाता है, इसलिये चिदाभास कूटस्थ को अपना स्वरूप जान सकता है ।

(आरोपित का निषेध करने पर अवशिष्ट अधिष्ठान के सम्यक् ज्ञान को परिशेष कहते हैं ।) ॥१५॥

चिदाभास यदि मिथ्या है तो उस चिदाभास में आश्रित "मैं कूटस्थ हूँ" यह ज्ञान भी मिथ्या ही होगा, ऐसी आशंका का कथन करके सदृष्टान्त उत्तर कहते हैं, कि कूटस्थस्वरूप के अतिरिक्त निखिल पदार्थ मिथ्या होने से वह ज्ञान भी मिथ्या है यह हम सिद्धान्ती को इष्ट ही है—

कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत् ।

न हि सत्यतयाभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥१६॥

कूटस्थः अस्मि=मैं कूटस्थ स्वरूप हूँ, इति बोधः अपि=इस प्रकार का ज्ञान भी, मिथ्या=मिथ्या ही है, चेत्=ऐसी आशंका होने पर उत्तर कहते हैं, न इति=मिथ्या नहीं है, इस प्रकार, कः वदेत्=कौन कहता है, अर्थात् मिथ्या तो है ही, हि=क्योंकि, रज्जुसर्पविसर्प-

णम्=जैसे रज्जु में कल्पित सर्प का गमन आगमन आदि प्रतीत होने पर भी, सत्यतया=सत्यरूप करके, न अभीष्टम्=कोई भी अंगीकार नहीं करता, उसी प्रकार कल्पित चिदाभास का ज्ञान भी सत्य नहीं है ॥१६॥

ज्ञान को मिथ्या मान लेने पर उस मिथ्या ज्ञान से संसार की निवृत्ति नहीं होगी, ऐसी आशंका करके संसार भी मिथ्या होने के कारण मिथ्या ज्ञान से उसकी निवृत्ति बन सकती है जैसे स्वप्न के शेर के दर्शन से निद्रा की निवृत्ति होती है, इस अभिप्राय से उत्तर कहते हैं—

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ।
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥१७॥

तादृशेन=पूर्वोक्त मिथ्या, बोधेन अपि=ज्ञान से भी, संसारः =यह मिथ्या संसार, हि निवर्तते=निश्चय करके निवृत्त हो जाता है क्योंकि, यक्षानुरूपः हि=पूज्य देवता आदि के योग्य ही, बलिः= उपहार अर्थात् भेंट होनी चाहिये, इति=इस प्रकार, लौकिकाः जनाः =लौकिक मनुष्य, आहुः=कहते हैं ॥१७॥

पूर्व श्लोकों में प्रतिपादन किये हुए 'पुरुष' शब्द के अर्थ का उपसंहार करते हैं—

तस्मादाभासपुरुषः सकूटस्थो विविच्य तम् ।
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥१८॥

तस्मात्=(जिस कारण से कूटस्थ चैतन्य ही चिदाभास का वास्तव में स्वरूप है) इसलिये, सकूटस्थः=कूटस्थ सहित, आभास-पुरुषः=पुरुष शब्द का वाच्य चिदाभास, तं विविच्य=कूटस्थ को अपने मिथ्या स्वरूप से लक्षणा द्वारा पृथक् करके, कूटस्थः अस्मि=मैं कूटस्थ स्वरूप हूँ, इति=इस प्रकार, विज्ञातुम् अर्हति=जान सकता है, इति=इस अभिप्राय से, श्रुतिः अभ्यधात्=श्रुति ने "अस्मि" यह वचन कहा है ॥१८॥

पूर्वोक्त प्रकार से "पुरुषः, अस्मि" इन दोनों पदों के प्रयोग के

अभिप्राय को कथन करके 'अयम्' इस पदप्रयोग का अभिप्राय अगले श्लोक से कथन करते हैं—

असंदिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ।
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ॥१९॥

देहात्मनि=लौकिक पुरुषों का देहरूप आत्मा में, असंदिग्धा-विपर्यस्तबोधः=संशय और विपर्य से रहित ज्ञान (यह मैं हूं ऐसा ज्ञान), ईक्ष्यते=जैसा देखने में आता है, उसी प्रकार, अत्र=इस प्रत्यग् आत्मा में, तद्वत्=उस प्रकार का संशय और विपर्य से रहित निश्चय रूप ज्ञान मुक्ति सिद्धि के लिये आवश्यक है, इति निर्णेतुम्=इस प्रकार निर्णय करने के लिये, अयम् इति=श्रुति ने "अयं" यह शब्द, अभिधीयते=कहा है ॥१९॥

पूर्वोक्त प्रकार का दृढ़ ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, इस विषय में आचार्यवाक्य का संवाद कथन करते हैं—

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥२०॥

देहात्मज्ञान वत्=मैं मनुष्य हूँ इस प्रकार का देह में आत्म-बुद्धिरूप दृढ़ ज्ञान जैसे लौकिक पुरुषों को है, उसी प्रकार, देहात्मज्ञान-बाधकं=देह में आत्मत्वबुद्धि का निवर्तक, ज्ञानं=दृढ़ ज्ञान अर्थात् मैं ब्रह्मरूप हूँ ऐसा दृढ़ ज्ञान, आत्मनि एव=आत्मा में ही अर्थात् परमात्मा में ही, यस्य भवेत्=जिसको होता है, स=वह दृढ़ ज्ञानवान्, न इच्छन् अपि=नहीं इच्छा करता हुआ भी अर्थात् मोक्ष की इच्छा से रहित हुआ भी, मुच्यते=अवश्य मुक्त होता है ॥२०॥

पूर्व श्लोक में "अयं" शब्द से दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान बताया अर्थात् ज्ञानगत अपरोक्षता बताई, अब उत्तर श्लोक में विषयगत अपरोक्षता की आशंका करके इष्टापत्ति द्वारा उसका परिहार करते हैं—

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ।
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥२१॥

अयम् इति = श्रुति ने "अयम्" इस शब्द से, अपरोक्षत्वम् उच्यते = वस्तुगत अपरोक्षता कही है जैसे "अयम् घटः" इस प्रयोग में घट की अपरोक्षता कही जाती है, चेत् = ऐसी आशंका होने पर समाधान कहते हैं, तत् उच्यतां = अयं शब्द का अर्थ वस्तुगत अपरोक्षता निःसन्देह कहो (सो हम को इष्ट ही है), यतः = क्योंकि, स्वयं प्रकाश चैतन्यं = स्वयं प्रकाश अर्थात् दूसरे साधन की अपेक्षा बिना ही भासमान चैतन्य, सदा = सर्वदा, अपरोक्षं = अपरोक्ष ही है ॥२१॥

यदि आत्मा को स्वयंप्रकाश चैतन्य होने के कारण नित्य अपरोक्ष स्वरूप अंगीकार करोगे तो 'अयम्' इस पद प्रयोग का अभिप्राय-वर्णन के बल से आत्मा की पूर्वोक्त अपरोक्ष ज्ञानविषयता की न्यांई परोक्षज्ञान विषयता भी माननी होगी, किन्तु परोक्ष ज्ञानविषयता तथा अज्ञानाश्रयता ये दोनों आत्मा के स्वप्रकाशत्वपक्ष में सिद्ध नहीं होगी ऐसी आशंका कर के दशम पुरुष के दृष्टान्त से आशंका का निवारण करते हैं —

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ।
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ॥२२॥

परोक्षं अपरोक्षं च = परोक्षज्ञान और अपरोक्षज्ञान, ज्ञानम् अज्ञानम् = तथा ज्ञान और अज्ञान, इति अदः द्वयं = यह दोनों युगल (जोड़े), नित्यापरोक्ष रूपे अपि = सदा अपरोक्षरूप कूटस्थ आत्मा में भी, स्यात् = बन सकते हैं, यथा दशमे = जैसे दशम पुरुष में देखने में आते हैं ॥२२॥

अब उसी दृष्टान्त को विस्तार से समझाते हैं—

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ।
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपितान्नव ॥२३॥

नवसंख्याहृतज्ञानः = गिने हुए पुरुषों में होने वाली नौ संख्या से नष्ट हो गया है विवेकज्ञान जिसका ऐसा, दशमः तदा = दशम पुरुष उस समय, तान् नव = उन नवों को, वीक्षमाणः अपि = भली-भाँति देखता हुआ भी, विभ्रमात् = भ्रान्ति के कारण, दशमः अस्मि

=गिनने वाले अपने आप को मैं दशम हूँ, इति=इस प्रकार, न वेत्ति =नहीं जानता है, इस प्रकार अपने लिये नित्य अपरोक्ष दशम पुरुष में अज्ञान दिखाया ॥२३॥

अब अगले श्लोक में अज्ञान के कार्य आवरण को दिखाते हैं—

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ।
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥२४॥

तदा दशमः=उस समय वह दशम पुरुष, स्वं दशमं=अपने ही स्वरूप दशम को (विद्यमान होते हुए भी स्वयं दशम पुरुष को), न अस्ति न भाति=है नहीं और भासता भी नहीं है, इति मत्वा=इस प्रकार जान कर, वक्ति=कहता भी है, तद्=ऐसे व्यवहार का जो कारण है, वही, अज्ञान कृतं=अज्ञान का कार्य, आवरणं=आवरण है, विदुः=ऐसा विद्वानों ने माना है ॥२४॥

अब अज्ञान का ही कार्य रोदन आदि रूप विक्षेप को दिखाते हैं—

नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति ।
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादि विदुर्बुधाः ॥२५॥

दशमः=दशम पुरुष, नद्यां ममार=नदी में डूबकर मर गया, इति शोचन्=इस प्रकार शोक करता हुआ (दशम पुरुष), प्ररोदिति =रोदन करता है, बुधाः=विद्वानों ने, रोदनादि=रोदन और आदि पद से सिर कूटना आदि को, अज्ञानकृतं विक्षेपं=अज्ञान का किया हुआ कार्य विक्षेप रूप, विदुः=जाना है ॥२५॥

दशम पुरुष के असत्त्वांश के आवरण का नाशक परोक्ष ज्ञान को आगे श्लोक में कहते हैं—

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा ।
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥२६॥

दशमः न मृतः=दशम पुरुष मरा नहीं हैं, अस्ति इति=किन्तु है (जीवित है) इस प्रकार, आप्तवचनं श्रुत्वा=यथार्थ वक्ता के वचन सुनकर, तदा दशमं=तब दशम पुरुष को, स्वर्गादिलोकवत्=स्वर्ग

आदि लोक की न्यांई, परोक्षत्वेन वेत्ति=परोक्ष रूप से स्वयं जानता है इस प्रकार नित्य अपरोक्ष विषय में भी परोक्षज्ञान संभव है ॥२६॥

अब आगे के श्लोक से उसी अज्ञान के ही अभानांश आवरण का निवर्त्तक अपरोक्ष ज्ञान को दिखाते हैं—

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ।

अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥२७॥

गणयित्वा=दशम पुरुष के द्वारा गिने हुए नौओं के साथ अपने आपको भी गिनाकर, त्वमेव=तुम ही, दशमः असि=दशम पुरुष हो, इति=इस प्रकार आप्तपुरुष के द्वारा, प्रदर्शितः=दिखाया हुआ, अपरोक्षतया=मैं दशम हूँ इस तरह अपरोक्ष रूप से, ज्ञात्वा=जानने के बाद, हृष्यति एव=हर्षित ही होता है, न रोदिति=रोदन नहीं करता ॥२७॥

पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टान्त रूप दशम पुरुष में दिखाई हुई सात अवस्थाओं का अनुवाद पूर्वक दार्ष्टान्तिक आत्मा में भी उन सातों अवस्थाओं को समझना चाहिए, इस बात को कहते हैं—

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ।

शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥२८॥

अज्ञानावृतिविक्षेप=अज्ञान, आवरण, विक्षेप, द्विविधज्ञान-तृप्तयः=परोक्ष तथा अपरोक्ष दो प्रकार का ज्ञान और तृप्ति, शोका-पगमः=शोकनिवृत्ति, इति एते=इस प्रकार यह सात अवस्थाएँ, चिदात्मनि=चिदात्मा में, योजनीयाः=जान लेना चाहिए ॥२८॥

अब अज्ञान आदि सात अवस्थाओं को आत्मा में क्रम से दिखाते हैं—

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ।

स्वयं प्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥२९॥

अयं चिदाभासः=यह चिदाभास (जीव), संसारासक्तचित्तः सन्=संसार में आसक्त चित्त वाला होता हुआ, कदाचन=श्रुति के

विचार से पूर्व कदापि, स्वतत्त्वं=अपना वास्तव स्वरूप, स्वयं प्रकाश कूटस्थं=स्वप्रकाश चैतन्य रूप कूटस्थ को, न एव वेत्ति=जानता ही नहीं (यह जो नहीं जानता है, वह अज्ञान है अर्थात् न जानना ही अज्ञान है) ॥२९॥

पूर्व श्लोक में अज्ञान को दिखाकर अब इस श्लोक में आवरण और विक्षेप को दिखाते हैं—

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसङ्गतः ।
कर्ता भोक्ताहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥३०॥

प्रसंगतः=चैतन्यरूप कूटस्थ के प्रसंग आने पर, कूटस्थः न अस्ति=कूटस्थ है नहीं, न भाति=और भासता भी नहीं, इति वक्ति= इस प्रकार कहता है (ऐसे व्यवहार का हेतु अज्ञानकृत आवरण है), अहं कर्ता भोक्ता अस्मि=और मैं कर्ता भोक्तारूप हूँ, इति=इस प्रकार, विक्षेपं प्रतिपद्यते=कर्तापन भोक्तापन को आत्मा में आरोप करता है ऐसे आरोप का हेतु दोनों देह सहित चिदाभासरूप विक्षेप है ॥३०॥

अब अगले श्लोक में परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान कूटस्थ के विषय में दिखाते हैं—

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ।
पश्चात् कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥३१॥

वार्तया=कूटस्थ की चर्चा चलने पर दूसरे के द्वारा बेधित होता हुआ, कूटस्थः अस्ति=कूटस्थ है, इति आदौ=इस प्रकार पहले, परोक्षं वेत्ति=परोक्ष रूप से कूटस्थ को जानता है (यह परोक्ष ज्ञान है), पश्चात्=बाद में, विचारतः=श्रुति वाक्य के विचार से अर्थात् श्रवण आदि साधन से, कूटस्थ एव अस्मि=कूटस्थ चैतन्य मैं ही हूँ, इति एवं=इस प्रकार, वेत्ति=जानता है, (यह अपरोक्ष ज्ञान है) ॥३१॥

अब शोक की निवृत्ति और तृप्ति को दिखाते हैं—

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुञ्चति ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥३२॥

कर्ता=मैं कूटस्थ, असंग प्रत्यगात्मरूप हूँ इस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान के अनन्तर, मैं कर्ता हूँ, भोक्ता=भोक्ता हूँ, इति एवम् आदि= इस से आदि लेकर, शोकजातं=सम्पूर्ण कर्तृत्व आदि शोक समूह को, प्रमुञ्चति=त्याग देता है (यही शोक निवृत्ति है), कृत्यं कृतं=सम्पूर्ण कर्तव्य मैंने कर लिया, प्रापणीयं प्राप्तं=प्राप्त करने योग्य सम्पूर्ण फल मुझे प्राप्त हो गया, इति एव=इसी प्रकार, तुष्यति=परम सन्तोष को प्राप्त करता है, (यही निरतिशय तृप्ति है) ॥३२॥

अब दार्ष्टान्तिक जीव में भी पूर्वोक्त सात अवस्थाओं का अनुवाद करते हैं—

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः ।
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरङ्कुशा ॥३३॥

अज्ञानम्=अज्ञान, आवृतिः=आवरण (दो प्रकार का), तद्वत्= के समान, च=और, विक्षेपः=विक्षेप, परोक्षधीः=परोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष मतिः=अपरोक्ष ज्ञान, शोक मोक्षः=शोक निवृत्ति, निरंकुशा-तृप्तिः=निरतिशय तृप्ति अर्थात् सन्तोष ये सात अवस्था है ॥३३॥

ये पूर्वोक्त सात अवस्थाएं यदि आत्मा के धर्मरूप अंगीकार करोगे तो आत्मा विकारी होने से निर्विकार कूटस्थ चैतन्य रूप नहीं हो सकता, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि ये सात अवस्थाएं चिदाभास की ही हैं, कूटस्थ की नहीं—

सप्तावस्था इमाः सन्ति चिदाभासस्य तास्विमौ ।
बन्धमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बन्धकृतः स्मृताः ॥३४॥

इमाः सप्तावस्थाः=ये सात अवस्थाएँ, चिदाभासस्य सन्ति= चिदाभास की ही हैं, कूटस्थ की नहीं, तासु=उन सात अवस्थाओं में, इमौ बन्धमोक्षौ=ये बन्ध और मोक्ष दोनों, स्थितौ=स्थित हैं, तत्र= उन बन्ध और मोक्ष दोनों के मध्य में, तिस्रो=अज्ञान आवरण और विक्षेप यह तीन अवस्थाएं, बन्धकृतः=बन्धन करने वाली, स्मृताः= मानी जाती हैं।

टि० इन सात अवस्थाओं के अन्तर्गत बन्ध और मोक्ष भी

है, इस लिये सात अवस्थाओं का वर्णन निष्फल अथवा असंगत नहीं ॥३४॥

प्रथम तीन अवस्थाएं बन्धन कारक हैं, इस बात को दिखाने के लिये तीनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् कार्यप्रदर्शन पूर्वक स्पष्ट करने की इच्छा से प्रथम अज्ञान का स्वरूप दिखाते हैं —

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ।
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥३५॥

विचारप्रागभावेन युक्तं=आत्मतत्त्व विचार के प्रागभाव सहित अर्थात् आत्मतत्त्व विचार के पहले-पहले रहने वाला, **उदासीन व्यवहारस्य**=उदासीन व्यवहार का, **कारणं**=हेतु, **न जानामि**=मैं कूटस्थ को नहीं जानता हूँ, **इति**=इस अनुभव का विषय, **अज्ञानं**=अज्ञान, **ईरितम्**=कहा जाता है ॥६५॥

अब आवरण का स्वरूप और उनका कार्य दिखाते हैं —

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ।
विपरीतव्यवहृतिरावृतेः कार्यमिष्यते ॥३६॥

अमार्गेण=शास्त्रोक्त प्रकार का उल्लंघन करके केवल तर्क से, **विचार्य**=विचार करने के, **अथ**=अनन्तर, **न अस्ति**=कूटस्थ नहीं है, **नो भाति च**=और भासता भी नहीं है, **इति**=इस प्रकार का, **असौविपरीत व्यवहृतिः**=यह विपरीत व्यवहार, **आवृतेः**=आवरण का, **कार्यं इष्यते**=कार्य इष्ट है, (कहा जाता है) ॥३६॥

अब अग्रिम श्लोक से विक्षेप का स्वरूप और उसका कार्य दिखाते हैं—

देहद्वयचिदाभास रूपो विक्षेप ईरितः ।
कर्तृत्वाद्यखिलःशोकः संसाराख्योऽस्य बन्धकः ॥३७॥

देहद्वयचिदाभास रूपः=स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीर सहित चिदाभास ही, **विक्षेपः ईरितः**=विक्षेप कहा गया है, **बन्धकः**=बन्धन का हेतु, **संसाराख्यः**=संसार नाम वाला, **कर्तृत्वाद्यखिलः**=कर्तापन,

भोक्तापन आदि सम्पूर्ण, शोकः=(शोक का हेतु होने से) शोक, अस्य (कार्यम्)=इस चिदाभास का कार्य है ॥३७॥

चिदाभास की सात अवस्थाएं हैं, यह जो पूर्व कहा गया, सो नहीं बन सकता, क्योंकि अज्ञान आवरण दोनों विक्षेप रूप चिदाभास की उत्पत्ति से पहले विद्यमान है, इस प्रकार आशंका करके उत्तर कहते हैं—

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात्प्राक्प्रसिद्धयतः ।
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ॥३८॥

अज्ञानम् आवृतिः च=अज्ञान और आवरण, एते यद्यपि=यह दोनों अवस्थाएं यद्यपि, विक्षेपात्प्राक्प्रसिद्ध्यतः=विक्षेप से पहले स्थित हैं, अथापि ते=तथापि वे दोनों, अवस्थे=अवस्थाएं (अज्ञान और आवरण), विक्षेपस्य एव=विक्षेपरूप चिदाभास की ही हैं, आत्मनः न=कूटस्थ आत्मा की नहीं, क्योंकि कूटस्थ आत्मा असंग होने के कारण उसकी अवस्था सम्भव नहीं, इस लिये परिशेष से चिदाभास की ही दोनों अवस्थाएं हैं ऐसा मानना होगा ॥३८॥

अज्ञान तथा आवरण काल में विक्षेप रूप चिदाभास विद्यमान न होने के कारण चिदाभास को अज्ञान आवरण अवस्था वाला कहना अयुक्त है, ऐसी आशंका करके समाधान कहते हैं—

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ।
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ॥३९॥

विक्षेपोत्पत्तितः=विक्षेप रूप चिदाभास की उत्पत्ति से, पूर्वं अपि=पहले भी, विक्षेपसंस्कृतिः=विक्षेप रूप चिदाभास का संस्कार (अर्थात् सूक्ष्म अवस्था वाला चिदाभास), अस्ति एव=है ही, ततः=इसी लिये, तयोः=अज्ञान और आवरण दोनों को, तदवस्थात्वं=चिदाभास की अवस्था कहना, अविरुद्धं=विरुद्ध नहीं ।

स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीर सहित चिदाभास विक्षेप शब्द का अर्थ है ॥३९॥

अप्रसिद्ध संस्कार अंगीकार करके चिदाभासरूप विक्षेप की

ही उक्त दो अस्वथाए अज्ञान और आवरण है इस प्रकार कथन करने की अपेक्षा से प्रसिद्ध ब्रह्म की ही उक्त दो अवस्थाएं हैं, इस प्रकार कहना ठीक है ऐसी आशंका कर के समाधान कहते हैं—

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ।
न शङ्कनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥४०॥

ब्रह्मणि=अधिष्ठान रूप से प्रसिद्ध ब्रह्म में, **आरोपितत्वेन**= कल्पित होने के कारण, **इमे**=अज्ञान और आवरण यह दो, **ब्रह्मावस्थे** =ब्रह्म चैतन्य की ही अवस्थाएं हैं, **इति**=इस प्रकार, **न शंकनीयं**= आशंका नहीं करनी चाहिए, **सर्वासां**=क्योंकि सभी अवस्थाएं, **ब्रह्मणि एव**=ब्रह्म में ही, **अधिरोपणात्**=कल्पित है ।

टि०—अभिप्राय यह है कि केवल अज्ञान और आवरण इन दोनों अवस्थाओं को ब्रह्म में आश्रित होने से ब्रह्म की मान लें तो बाकी पांच अवस्थाएं भी तो ब्रह्म में ही कल्पित हैं क्योंकि ब्रह्म सब का अधिष्ठान है, इस लिये अवशिष्ट पांच अवस्थाएं भी ब्रह्म की ही सिद्ध होगीं, चिदाभास की नहीं, इस प्रकार अति प्रसंग दोष प्राप्त होगा, अतः उक्त दो अवस्थाएं ब्रह्म की नहीं हैं, ऐसा मानना चाहिये ॥४०॥

यद्यपि सभी अवस्थाएं ब्रह्म में आरोपित हैं, तथापि चिदाभास रूप विक्षेप की उत्पत्ति के अनन्तर होने वाली कर्तृत्व आदि संसार धर्मरूप अवस्थाएं जीवाश्रित प्रतीत होती हैं, इस वास्ते चिदाभास की अवस्था अंगीकार करनी चाहिये ब्रह्म की नहीं, इस प्रकार अतिप्रसंग दोष नहीं प्राप्त होगा, ऐसी आशंका अग्रिम श्लोक से करते हैं—

संसार्यहं विबुद्धोऽहंनिःशोकस्तुष्ट इत्यपि ।
जीवगा उत्तरावस्था भान्ति न ब्रह्मगा यदि ॥४१॥

अहं संसारी=मैं कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्म वाला, **विबुद्धः**= तथा तत्त्वसाक्षात्कार वाला, **निःशोकः**=और शोक रहित, **तुष्टः अपि** =सन्तोष वाला भी, **अहं इति**= मैं ही हूँ इस प्रकार, **उत्तरावस्था**= आगे की अवस्थाय, **जीवगा**=जीव में अर्थात् चिदाभास में,

भान्ति=प्रतीत होती है, ब्रह्मगा न=ब्रह्म में आश्रित नहीं प्रतीत होती, यदि=इस लिये चिदाभास की ही है, अतः अतिप्रसंग दोष नहीं यदि ऐसी आशंका हो तो ॥४१॥

अज्ञान और आवरण ये दो अवस्थाएं भी प्रतीति के बल से जीवाश्रित सिद्ध होती है। इस वास्ते चिदाभास रूप जीव की दोनों अवस्थाएं अंगीकार करना चाहिए, इस आशय से समाधान करते हैं—

तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हि।
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ॥४२॥

तर्हि=तब तो, अहम् अज्ञः=मैं अज्ञानी (कूटस्थ का अज्ञान वाला) हूँ, ब्रह्मसत्त्वभाने=ब्रह्म का अस्तित्व और भान (स्फुरण), मद् दृष्टितः नहि=मेरे अनुभव से है नहीं, इति=इस प्रकार, पूर्वे अवस्थे च=पहली दो अवस्थाएं भी (अज्ञान और आवरण), जीवगे =चिदाभास रूप जीव में आश्रित होकर, खलु=निश्चय करके, भासेते=भासती है, इस लिये चिदाभास की ही अज्ञान और आवरण अवस्था मानना ठीक है ॥४२॥

यदि अज्ञान चिदाभास की ही अवस्था है तो पूर्वाचार्यों ने अज्ञान का आश्रय ब्रह्म को क्यों कहा-ऐसी आशंका होने पर पूर्वाचार्यों के अभिप्राय के कथन द्वारा समाधान करते हैं—

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः।
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥४३॥

अधिष्ठानतया=सम्पूर्ण आरोपित प्रपंचका अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य है, इति=इस अभिप्राय से, ब्रह्म=ब्रह्म को, अज्ञानस्य आश्रयः =अज्ञान का आश्रय, जगुः=पूर्वाचार्यों ने कहा है, अज्ञानाभिमानित्वात्=और अज्ञान का अभिमानी होने से, जीवावस्थात्वम्=जीव की ही अवस्था अज्ञान है, अवादिषं=इस प्रकार मैंने कहा है अतएव पूर्वाचार्यों के वचन के साथ मेरे वचन का विरोध नहीं ॥४३॥

इस प्रकार बन्ध के हेतु तीन अवस्थाओं को दिखाकर अब

अवशिष्ट अवस्थाओं में पूर्वोक्त अज्ञान और आवरण की निवृत्ति द्वारा मुक्ति के हेतु दोनों अवस्थाओं को (परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान को) अग्रिम श्लोक में दिखाते हैं

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ।

न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधापि विनश्यति ॥४४॥

ज्ञानद्वयेन=दोनों ज्ञान से (परोक्ष और अपरोक्ष रूप दो प्रकार के ज्ञान से), **अस्मिन् अज्ञाने नष्टे**=यह अज्ञान नष्ट हो जाने पर, **तत्कृतावृतिः**=अज्ञान का कार्य आवरण, **न भाति**=जो नहीं भासता है, **न अस्ति च**=और है भी नहीं, **इति एषा**=इस प्रकार व्यवहार का कारण, **द्विविधा अपि**=वे दोनों आवरण भी, **विनश्यति**=नष्ट हो जाते है ॥४४॥

आवरण के किस अंश का नाश कौन से ज्ञान से होगा, इस प्रकार की आकांक्षा होने पर दोनों को विभाग पूर्वक दिखाते हैं—

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृति हेतुता ।

अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभाना वृति हेतुता ॥४५॥

परोक्षज्ञानतः=कूटस्थ है इस प्रकार परोक्ष ज्ञान से, **असत्त्वावृतिहेतुता**=कूटस्थ नहीं है, इस प्रकार आवरण का हेतु अज्ञान, **नश्येत्**=नष्ट हो जाता है, **अभानावृतिहेतुता**=कूटस्थ भासता नहीं है, इस प्रकार आवरण का हेतु अज्ञान, **अपरोक्षज्ञाननाश्या**=मैं कूटस्थ हूँ इस प्रकार अपरोक्षज्ञान से नष्ट हो जाता है, **हि**=इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥४५॥

अब ज्ञान का फल शोक निवृत्ति तथा तृप्ति यह जो दो अवस्थाएं है उनमें प्रथम अवस्था शोकनिवृत्ति को कहते हैं—

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ।

कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥४६॥

अभानावरणे नष्टे=अभान आवरण नष्ट हो जाने पर, **जीवत्वारोपसंक्षयात्**=कल्पित जीव भाव की निवृत्ति हो जाने से, **कर्तृ-**

त्वाद्यखिलः=कर्तापन, भोक्तापन आदि सम्पूर्ण, **संसाराख्यः**=संसार नामक, **शोकः निवर्तते**=शोक निवृत्त हो जाता है ॥४६॥

इस प्रकार शोक निवृतिरूप अवस्था को दिखाकर आगे निरङ्कुश तृप्तिरूप दूसरी अवस्था दिखाते हैं—

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ।
निरङ्कुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥४७॥

सर्वसंसारे=शोक रूप सम्पूर्ण संसार की, **निवृत्ते**=निवृत्ति हो जाने पर, **नित्यमुक्तत्वभासनात्**=नित्य मुक्त हुँ,इस प्रकार भान होने से, **निरंकुशा**=निरतिशय, **तृप्तिः भवेत्**=सन्तोष होता है, **पुनः**=क्योंकि फिर से,**शोकासमुद्भवात्**=शोक उत्पन्न नहीं हो सकता ॥४७॥

"आत्मानं चेत्" इत्यादि मन्त्र के व्याख्यान में प्रवृत्त होकर उस व्याख्यान का परित्याग करके बीच में अज्ञानादि सात अवस्थाओं का निरूपण अप्रासंगिक है, इस प्रकार आशंका के उत्तर में कहते हैं कि श्रुति के तात्पर्यनिर्णय का अंश होने से सात अवस्थाओं का वर्णन किया, इस वास्ते सप्तावस्था वर्णन अप्रासगिक नहीं—

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ।
अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥४८॥

अपरोक्षज्ञान शोकनिवृत्त्याख्ये=अपरोक्ष ज्ञान और शोक नाश नामक, **इमे उभे**=इन दोनों, **अवस्थे**=अवस्थाओं को, **आत्मानं चेत् इतिश्रुतिः**='आत्मानं चेत्' यह श्रुति, **जीवगे ब्रूते**=जीव में कहती है ॥४८॥

पूर्व २१ वें श्लोक में 'अयम्' पद से आत्मा को नित्य अपरोक्षरूप कहा इस लिये आत्मा अपरोक्षज्ञान का ही विषय हो सकता, परोक्षज्ञान का विषय नहीं ऐसी आशंका कर के परोक्षज्ञान का विषय भी आत्मा हो सकता है इस बात का प्रतिपादन करने के लिये अपरोक्षज्ञान का विभाग करते हैं —

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद्द्विविधं भवेत् ।
विषयस्वप्रकाशत्वाद्धियाप्येव तदीक्षणात् ॥४९॥

अयम् इति = 'अयम्' इस शब्द से श्रुति ने, अपरोक्षत्वं उक्तं = अपरोक्षता पूर्व कही है, तत् = वह अपरोक्षता, द्विविधं भवेत् = दो प्रकार की होती है, विषयस्वप्रकाशत्वात् = एक तो विषय अर्थात् चैतन्य स्वरूप आत्मा स्वयं प्रकाश होने से उसमें अपरोक्षता है और, धिया अपि एवं = बुद्धि के द्वारा भी स्वयं प्रकाश रूप से, तदीक्षणात् = उसका अनुभव होने के कारण दूसरी अपरोक्षता है ॥४९॥

अपरोक्षता का दो भेद भले ही होवे, किन्तु परोक्ष ज्ञान का विषय आत्मा है, इस बात की सिद्धि तो अभी हुई नहीं ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि विषय अर्थात् आत्मा स्वप्रकाशरूप अपरोक्ष होने पर भी परोक्ष ज्ञान का विषय बन सकता है, कोई विरोध नहीं-

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ।
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥५०॥

परोक्षज्ञानकाले अपि = (अपरोक्ष ज्ञान दशा की न्यांई) परोक्ष ज्ञान दशा में भी, विषय स्वप्रकाशता समा = ब्रह्म की स्वयंप्रकाश-रूपता, समान ही हैं, क्योंकि, स्वप्रकाशं ब्रह्म अस्ति = स्वयं प्रकाश ब्रह्म है, इति एवं विबोधनात् = इस प्रकार श्रुति ने बोधन किया है ॥५०॥

ब्रह्म प्रत्यगात्मा से अभिन्न होने के कारण उस प्रत्यग् से अभिन्न ब्रह्म को विषय करने वाला ज्ञान, परोक्षज्ञान क्यों होगा, अगर होता होवे तो उसे भ्रमज्ञान समझना चाहिये ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ।
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रान्तं बाधानिरूपणात् ॥५१॥

अहं ब्रह्म = प्रत्यगात्मरूप मैं ब्रह्म हूँ, इति अनुल्लिख्य = इस प्रकार से प्रत्यगात्मरूप अंश को ग्रहण न करता हुआ, ब्रह्म अस्ति = ब्रह्म है, इति एवम् = इस प्रकार यदि, उल्लिखेत् = केवल ब्रह्म को विषय करता है, एतत् परोक्षज्ञानं = तो यह परोक्षज्ञान है, भ्रान्तं न = वह परोक्षज्ञान भ्रम रूप नहीं, बाधानिरूपणात् = क्योंकि इस ज्ञान

का बाध नहीं होता ।

टि०-यहां सिद्धान्ती का यह अभिप्राय है कि पूर्व पक्षी यदि बाधित होने वाले ज्ञान को भ्रमरूप मानता है तो ब्रह्म है इस परोक्ष-ज्ञान का बाध तो होता नहीं इसलिये भ्रमरूप कैसे मान सकते हैं ॥५१॥

पूर्व श्लोक के बाधाभावरूप हेतु को विस्तार से अब कथन करते हैं –

ब्रह्मनास्तीति मानं चेत्स्याद्बाध्येत तदा ध्रुवम् ।
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥५२॥

ब्रह्म न अस्ति=ब्रह्म नहीं है, **इति चेत् मानं स्यात्**=इसप्रकार यदि ज्ञान होता, **तदा ध्रुवम्**=तब तो निश्चय ही, **बाध्येत**=ब्रह्म है इस प्रकार के परोक्षज्ञान का बाध होता, **एवम्**=परन्तु इस प्रकार का कोई, **प्रबलं मानं**=बलवान् ज्ञान अथवा प्रमाण, **न च पश्यामः**= नहीं देखते हैं (जो उस परोक्षज्ञान का बाधक बन सके), **अतः न बाध्यते**=इस लिये वह परोक्षज्ञान बाधित नहीं होता और बाधित न होने से भ्रमरूप भी नहीं ॥५२॥

और यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे कि प्रत्यग् से अभिन्न ब्रह्म के प्रत्यग् अंश रूप व्यक्ति का ग्रहण न करने से वह परोक्षज्ञान भ्रमरूप ही है तो सिद्धान्ती उत्तर कहते हैं कि ऐसा मानने पर पूर्वपक्षी के मत में अतिप्रसङ्ग दोष प्राप्त होगा –

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ।
भ्रान्तिःस्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात्सामान्योल्लेखदर्शनात् ।५३।

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण=मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार ज्ञान न होने मात्र से, **भ्रमत्वे**=यदि परोक्षज्ञान भ्रमरूप होवे तो, **स्वर्गधीः अपि**= स्वर्ग है यह ज्ञान भी, **भ्रान्तिः स्यात्**=भ्रमरूप होना चाहिये, **व्यक्त्यनुल्लेखात्**=क्योंकि यह स्वर्ग है इस प्रकार जो व्यक्ति उल्लेख ज्ञान होना था वह नहीं हुआ, **सामान्योल्लेखदर्शनात्**=किन्तु स्वर्ग है, इस प्रकार सामान्य ज्ञान हुआ (अतः ब्रह्म का परोक्षज्ञान यदि

उक्त कारण से भ्रमरूप है तो स्वर्ग का परोक्ष ज्ञान भी भ्रमरूप ही होगा, इस प्रकार अति प्रसंग दोष प्राप्त होगा उस दोष की निवृत्ति के लिये ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान भ्रम रूप नहीं हो सकता ऐसा मानना चाहिये) ॥५३॥

परन्तु अपरोक्षरूप से ग्रहण करने योग्य ब्रह्म का परोक्ष रूप से ग्रहण होने के कारण ब्रह्म का वह परोक्षज्ञान भ्रमरूप होना चाहिये ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं --

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमति र्भ्रमः ।
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसंभवात् ॥५४॥

अपरोक्षत्वयोग्यस्य=अपरोक्ष रूप से जानने योग्य ब्रह्म का, **परोक्षमतिः**=परोक्ष ज्ञान, **भ्रमः न**=भ्रान्ति रूप नहीं है क्योंकि, **परोक्षम् इति**=ब्रह्म परोक्ष है, इस प्रकार, **अनुल्लेखात्**=ज्ञान न होने से, **अर्थात्**=सामर्थ्य से (यह ब्रह्म है इस प्रकार साक्षात् ज्ञान न होने से), **पारोक्ष्यसंभवात्**=परोक्षज्ञान संभव है (इस लिये परोक्ष ज्ञान भ्रान्ति रूप नहीं) ॥५४॥

पूर्वोक्त प्रकार से "ब्रह्म है" यह परोक्ष ज्ञान भ्रम रूप नहीं यह दिखाया उस पर यह आशंका करते हैं प्रत्यक् आत्मरूप अंश को छोड़ कर बाकी अंश का अर्थात् केवल ब्रह्म का ज्ञान अंशज्ञान होने से भ्रम रूप है और सिद्धान्ती अति प्रसंग दोष दिखाकर उसका समाधान करते हैं –

अंशागृहीतेर्भ्रान्तिश्चेद्घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ।
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्याशविभेदतः ॥५५॥

अंशागृहीतेः चेत्=(ब्रह्म रूप अंश का ज्ञान होने पर भी), अहं अंश का ज्ञान न होने से यदि, **भ्रान्तिः**=पूर्वोक्त ज्ञान भ्रम रूप है तो, **घट ज्ञानं**=घट का ज्ञान भी अहं का ज्ञान रूप होने से, **भ्रमः**=भ्रान्ति रूप, **भवेत्**=होना चाहिये (क्योंकि घट के भीतर के अवयवों का दर्शन भी तुम्हारे मत में नहीं होता), **निरंशस्यापि**(१)=स्वरूपतः अंश रहित ब्रह्म का भी, **सांशत्वं**=सांश (अर्थात् परोक्ष

ज्ञान तथा अपरोक्ष ज्ञान से निवर्त्य अंश), व्यावर्त्यांशविभेदतः= उपाधि से व्यावर्त्यांश के भेद से बन सकता है अतः ब्रह्म है यह परोक्ष ज्ञान भ्रम रूप नहीं।

(१) वेदान्त में ब्रह्म निरंश अर्थात् निरवयव माना गया है, फिर उसका अंश कैसे बन सकता ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि 'निरंशस्य' इति ॥५५॥

वह व्यावर्त्यांश कौन-कौन है, इस प्रकार आकांक्षा होने पर उत्तर कहते हैं

असत्त्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ।
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥५६॥

परोक्षज्ञानतः=परोक्षज्ञान से, असत्त्वांशः निवर्तेत="ब्रह्म नहीं है" इस असत्त्वांश की निवृत्ति हो जाती है, तथा अपरोक्षधिया =और अपरोक्ष ज्ञान से, अभानांशनिवृत्तिः=ब्रह्म भासता नहीं-ऐसे अभानांश की निवृत्ति, कृता स्यात्=हो जाती है ॥५६॥

अपरोक्ष रूप से जानने योग्य विषय का परोक्ष ज्ञान भ्रान्ति-रूप नहीं यह वार्ता दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा दृढ़ की जाती है—

दशमोऽस्तीति विभ्रान्तं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ।
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥५७॥

दशमः अस्ति=दशम पुरुष है, इति=इस प्रकार आप्त पुरुष के वाक्य से उत्पन्न हुआ, परोक्ष ज्ञानं=परोक्ष ज्ञान, विभ्रान्तम् ईक्ष्यते =भ्रम रहित जैसा देखने में आता है उसी प्रकार, ब्रह्म अस्ति=ब्रह्म है, इति अपि=यह परोक्ष ज्ञान भी, तद्वत् स्यात्=भ्रम रहित हो सकता है, अज्ञानावरणं=क्योंकि अज्ञान कृत आवरण, समं=समान ही है (दशम पुरुष और ब्रह्म दोनों में एकसा ही है) ॥५७॥

यदि वाक्य से परोक्षज्ञान उत्पन्न होता होवे तो, अपरोक्षज्ञान किससे उत्पन्न होगा। ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि विचार सहित महावाक्य से अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता हैं—

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ।
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद्दशमस्त्वमसीत्यतः ॥५८॥

आत्मा ब्रह्म='अयं आत्मा ब्रह्म', इति वाक्यार्थे=इस महावाक्य का अर्थ, निःशेषेण विचारिते=सम्यक् प्रकार से विचार करने पर, व्यक्तिः=प्रत्यागात्मा से अभिन्न ब्रह्म का, उल्लिख्यते=साक्षात्कार होता है, यद्वत् दशमः त्वम् असि=जैसे दशमा तूं है, इत्यतः=इस वाक्य से (दशम पुरुष को अपने आप का साक्षात्कार होता है कि मैं दशमा हूँ) ॥५८॥

विचार सहित वाक्य से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार (उपर्युक्तज्ञान किस प्रकार उत्पन्न होता है उसको) को दृष्टान्त सहित कहते हैं—

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते ।
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ॥५९॥

दशमः कः=दशम कौन है, इति प्रश्ने=इस प्रकार प्रश्न करने पर, त्वम् एव=तुम ही दशम हो, इति निराकृते=इस प्रकार का उत्तर कहने के अनन्तर, स्वेन सह गणयित्वा=अपने सहित दूसरे नवों को गिन कर, स्वम् एव=अपने को ही, दशमं स्मरेत्=मैं दशमा हूँ, इस प्रकार स्मरण करता है ॥५९॥

मैं दशमा हूँ इस प्रकार का ज्ञान विचार सहित वाक्य से उत्पन्न हुआ है इस लिये अयथार्थ ज्ञान रूप नहीं, इस बात को अगले श्लोक में कहते हैं—

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ।
आदिमध्यावसानेषु न नवत्वस्य संशयः ॥६०॥

अस्य=इस दशम पुरुष को, वाक्योत्था=वाक्य से उत्पन्न (दशम तुम हो इस वाक्य से उत्पन्न), दशमः अस्मि=मैं दशम पुरुष हूँ, इति, धीः=ऐसा ज्ञान, न विहन्यते=कभी बाधित नहीं होता, आदिमध्यावसानेषु=और नौ के आदि से, मध्य अथवा अन्त से गिनने पर भी, नवत्वस्य=मैं दसवा हूँ, अथवा नहीं इस प्रकार का,

संशयः न=संशय नहीं होता (इस लिये वह दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान है) ॥६०॥

पूर्व कहे हुए सबको अब दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं—

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ।
गृहीत्वातत्त्वमस्यादि वाक्याद् व्यक्तिं समुल्लिखेत् ।६१।

सद् एव=(हे प्रिय दर्शन श्वेतकेतु सृष्टि से पूर्व सजातीय स्वगत, विजातीय भेद रहित एक अद्वितीय) सद् रूप ब्रह्म ही था, **इत्यादिवाक्येन**=इत्यादि वाक्य से, **ब्रह्म सत्त्वं**=ब्रह्म का सद् भाव, **परोक्षतः**=परोक्ष रूप से, **गृहीत्वा**=जानकर पश्चात् (उसी परब्रह्म की जीव रूप से प्रवेश आदि युक्ति का विचार द्वारा कूटस्थ रूपता समझ कर) **तत्त्वमस्यादिवाक्यात्**=तत्त्वमस्यादि महावाक्य से, **व्यक्तिं**=(अद्वितीय ब्रह्म रूप) आत्मा को, **समुल्लिखेत्**=(अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार) साक्षात्कार करता है ॥६१॥

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ।
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥६३॥

इयम्=यह, **स्वस्य ब्रह्मत्वधीः**=अपने स्वरूप की ब्रह्मत्व बुद्धि, **आदिमध्यावसानेषु**=(पञ्चकोशों के) आदि, मध्य, अन्त में (आत्म-व्यवहार होने पर भी), **न एव व्यभिचरेत्**=अन्यथा नहीं होती है, **तस्मात्**=इसलिये, **आपरोक्ष्यं**=बुद्धि की अपरोक्षता, **प्रतिष्ठितं**=सुस्थित है ॥६२॥

पहले केवल वाक्य से अर्थात् विचार रहित वाक्य से परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, और पश्चात् विचार सहित वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है यह आपने किससे जाना ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि श्रुति के अर्थ विचार से जाना है—

जन्मादिकारणत्वास्यलक्षणेन भृगुः पुरा ।
पारोक्ष्येण गृहीत्वाथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ॥६३॥

भृगुः पुरा=भृगु नामक कोई ऋषि ने पहले तो, **जन्मादि-**

कारणत्वाख्यलक्षणेन=जन्म, स्थिति, लय का कारण ब्रह्म है, इस लक्षण से, **पारोक्ष्येण गृहीत्वा**=परोक्ष रूप ब्रह्म को जानकर, **अथ**=पश्चात्, **विचाराद्**=विचार से (पञ्चकोशों के विचार से), **व्यक्तिं**=साक्षी रूप ब्रह्म को, **ऐक्षत**:=साक्षात् दर्शन किया ॥६३॥

इस प्रकरण में तुम ब्रह्म हो इस प्रकार उपदेश वाक्य नहीं है तो फिर भृगु को अपरोक्ष ज्ञान आत्मा का कैसे हुआ इस प्रकार आशंका के उत्तर में कहते हैं कि आत्मसाक्षात्कार का हेतु विचारणीय स्थल का उपदेश वरुण ऋषि ने किया था इस लिये भृगु ऋषि को आत्मसाक्षात्कार प्राप्त हो सका—

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोःपिता ।
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्य स्थलमुक्तवान् ॥६४॥

यद्यपि=यद्यपि, **भृगोः पिता**=भृगु के पिता वरुण ऋषि ने, **अत्र**=इस प्रसङ्ग में, **त्वम् असि**=तुम ब्रह्म हो, **इतिवाक्यं न उचे**=इस प्रकार के शब्द का उपदेश नहीं किया, **तथापि**=फिर भी, **अन्नं-प्राणम्**=अन्नमय, प्राणमय, **इति**=इत्यादि शब्द से, **विचार्य स्थलम्**=(आत्मसाक्षात्कार का हेतु) विचारणीय स्थल, **उक्तवान्**=कहा है, इस लिये भृगु ऋषि को आत्मसाक्षात्कार उत्पन्न हुआ ॥६४॥

अन्नमयादि कोशों का विचार करने पर, कोशोंसहित प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार हो सकता है, ब्रह्म का कैसे होगा, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि प्रत्यागात्मा ही वस्तुतः ब्रह्म रूप हैं, और ब्रह्म का लक्षण भी प्रत्यगात्मा में घटता है, इस प्रकार पंचकोशों का विचार करने पर आत्मा से अभिन्न ब्रह्म का साक्षात्कार उत्पन्न हुआ है—

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ।
आनन्द व्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥६५॥

अन्नप्राणादिकोशेषु=अन्नमय प्राणमय आदि कोशों में, **पुनः पुनः**=बारम्बार, **सुविचार्य**=अच्छी तरह विचार करके, **आनन्द-व्यक्तिम्**=आनन्द स्वरूप प्रत्यगात्मा को, **ईक्षित्वा**=साक्षात्कार करने

के बाद, **ब्रह्म लक्ष्म अपि**=ब्रह्म का लक्षण भी, **अयूयुजत्**=घटा लिया था ॥६५॥

ब्रह्म का लक्षण प्रत्यगात्मा में जोड़ना युक्ति युक्त नहीं, क्यों कि ब्रह्म तटस्थ होने के कारण प्रत्यगात्मा से भिन्न है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि, प्रत्यगात्मा और ब्रह्म का भेद है नहीं, क्यों कि सत्यज्ञानादि स्वरूप ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा रूप से स्थित हैं, इस प्रकार श्रुतियों में सुना गया है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्येवं ब्रह्मस्वलक्षणम् ।
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥६६॥

सत्यं ज्ञानम् अनन्तं च=सत्चित् और अनन्त स्वरूप ब्रह्म है, **इति एवं**=इस प्रकार, **ब्रह्म स्वलक्षणं**=ब्रह्म का स्वरूप लक्षण, **उक्त्वा**=कह कर, **गुहाहितत्वेन**=गुहा के भीतर स्थित, **कोशेषु**=पञ्चकोश में, **एतत्**=पर ब्रह्म का प्रत्यगात्मा स्वरूप, **प्रदर्शितं**=दिखाया अर्थात् उपदेश किया ॥६६॥

तैत्तिरीय श्रुति के विचार से भृगु के परोक्ष ज्ञान पूर्वक विचार जन्य साक्षात्कार को दिखाया अब छान्दोग्य श्रुति के विचार मे भी उसी बात को दिखाते हैं -

पारोक्ष्येण विबुध्येन्द्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ।
अपरोक्षी कर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥६७॥

इन्द्रः=इन्द्र ने, **यः आत्मा**=जो आत्मा निष्पाप, अजर, अमर, शोक रहित है,**इत्यादि लक्षणात्**=इत्यादि वाक्योक्त लक्षण से, **पारोक्ष्येण**=आत्मा को परोक्ष रूप से, **विबुध्य**=जान कर, **अपरोक्षीकर्तुम्**=अपरोक्ष करने की, **इच्छन्**=इच्छा करता हुआ, **गुरुं**=गुरु प्रजापति के समीप, **चतुर्वारं**=चार बार, **ययौ**=गये थे ॥६७॥

ऐतरेय श्रुति में भी परोक्ष ज्ञान के अनन्तर विचार जन्य साक्षात्कार को दिखाते हैं -

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ।
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥६८॥

आत्मा वा इदम्=यह जगत् सृष्टि से पूर्व एक आत्म स्वरूप ही था, इत्यादौ=इत्यादि वाक्य में अर्थात् वाक्य द्वारा, परोक्षं=परोक्ष रूप से, ब्रह्म लक्षितम्=ब्रह्म का लक्षण कहा, अध्यारोपापवादाभ्यां=और अध्यारोप अपवाद (१) प्रक्रिया से (तत्, त्वम् पदार्थ शोधन पूर्वक), प्रज्ञानं ब्रह्म=प्रत्यगात्मा को ब्रह्म रूप से, दर्शितम्=दिखाया अर्थात् उपदेश किया।

(१) निष्प्रपञ्च ब्रह्म में जगत् के आरोप को अध्यारोप कहते हैं, और आरोपित जगत् के निषेध द्वारा अधिष्ठान ब्रह्म का अवशेष रखने को अपवाद कहते हैं ॥६८॥

उक्त न्याय को अन्य श्रुति वाक्यों में भी समझ लेना चाहिये इस प्रकार उपदेश करते हैं--

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत्।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥६९॥

(सर्वत्र)=(सर्वत्र श्रुतियों में), अवान्तरेण=(१) अवान्तर, वाक्येन=वाक्य से, परोक्षा=परोक्ष, ब्रह्मधीः=ब्रह्म ज्ञान (अस्ति ब्रह्म इस प्रकार का ज्ञान), भवेत्=होता है, सर्वत्र=और सर्वत्र श्रुतियों में, महावाक्यविचारात्=महावाक्य के विचार से, अपरोक्षधीः एव=अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान ही उत्पन्न होता है।

(१) लक्ष्यार्थ का परोक्ष ज्ञान जनक वाक्य को अवान्तर वाक्य कहते हैं, और जीव ब्रह्म के अभेद का अपरोक्ष ज्ञान जनक वाक्य का नाम महावाक्य है ॥६९॥

महावाक्य का विचार अपरोक्ष ज्ञान का जनक है, यह केवल कल्पना मात्र ही है, इस प्रकार की आशंका के उत्तर में कहते हैं कि वाक्यवृत्ति नामक ग्रन्थ में आचार्य शंकर भगवान् ने महा-वाक्य के विचार को अपरोक्ष ज्ञान का जनक प्रतिपादन किया! अतः केवल कल्पना मात्र नहीं—

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम्।
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥७०॥

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं=ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि के लिये, महावाक्यं=महावाक्य कारण है, इति=इस प्रकार, वाक्य-वृत्तौ=वाक्य वृत्ति ग्रन्थ में, ईरितम्=पूर्व आचार्यों ने कहा है, अतः =इस लिये, ब्रह्मापरोक्ष्ये=ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान में, विमतिः न हि =विवाद नहीं है ॥७०॥

वाक्य वृत्ति ग्रन्थ में उक्त अर्थ का जिस प्रकार से प्रतिपादन किया उसको दिखाते हैं—

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तः करणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥७१॥

यः अन्तः करणसंभिन्नबोधः=जो अन्तः करण उपाधि सहित चिदात्मा, अस्मत्प्रत्ययशब्दयोः=अहं (मैं) इस ज्ञान का तथा अहं इस शब्द का, आलम्बनतया भाति=विषय रूप से भासता है, सः= वह चिदात्मा (जीव), त्वंपदाभिधः=त्वं पद का वाच्यार्थ है ॥७१॥

पूर्व श्लोक में त्वं पद के वाच्यार्थ को कहकर अब तत् पद के वाच्यार्थ को कहते हैं—

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥७२॥

मायोपाधिः=माया उपाधि युक्त, जगद्योनिः=जगत् का कारण, सर्वज्ञत्वादिलक्षणः=सर्वज्ञत्व, सर्वशक्ति आदि लक्षण वाला और, पारोक्ष्यशबलः=परोक्षत्वधर्म विशिष्ट जो, सत्याद्यात्मकः= सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म है, तत्पदाभिधः=वह ईश्वर तत्पद का वाच्यार्थ है ॥७२॥

इस प्रकार दोनों पदों के अर्थ को कह कर तत्त्वमसि आदि महावाक्यार्थ बोधन के लिये लक्षणा का आश्रय करना चाहिए इस बात को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ।
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥७३॥

एकस्य=एक ही वस्तु की, **प्रत्यक्परोक्षता**=अपरोक्षता और परोक्षता, **सद्वितीयत्वपूर्णता**=द्वितीय सहित होना और अद्वितीय होना, **यतःविरुध्येते**=जिस कारण से विरुद्ध है, **तस्मात्**=इस लिये, **लक्षणासंप्रवर्तते**=लक्षणा का आश्रय लेना चाहिए ॥७३॥

तत्त्वमसि आदि वाक्यों में भागत्याग लक्षणा का आश्रय करना चाहिए इस बात को दृष्टान्त सहित कथन करते हैं—

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥७४॥

सोयमित्यादिवाक्यस्थपदयोःइव=यह वही देवदत्त है इत्यादि वाक्य में स्थित 'स' और 'अयम्' इन दोनों पदों में जैसे भागत्याग लक्षणा होती है, उसी प्रकार, **तत्त्वमस्यादिवाक्येषु**=तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में भी, **लक्षणा भाग लक्षणा**=भाग त्याग लक्षणा का आश्रय करना चाहिए, **अपरा न**=क्यों कि दूसरी लक्षणा (जहति और अजहति) नहीं होती ॥७४॥

'गाम् आनय' इत्यादि लौकिक वाक्यों में लक्षणा के बिना भी वाच्यार्थ का बोध देखने में आता है, उसी प्रकार तत्त्वमसि आदि महावाक्यों में भी लक्षणा के बिना संसर्ग अथवा विशिष्ट रूप अर्थ का बोध क्यों नहीं होगा ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं—

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥७५॥

अत्र=महावाक्यों में, **संसर्गो वा**=सम्बन्ध अथवा, **विशिष्टो वा**=विशिष्ट रूप, **वाक्यार्थः**=वाक्य के अर्थ, **न सम्मतः**=विद्वानों को सम्मत नहीं किन्तु, **अखण्डैकरसत्वेन**= (स्वगत, विजातीय, सजातीय) भेद रहित वस्तु मात्र का स्वरूप ब्रह्म, **वाक्यार्थः**=महावाक्य का अर्थ, **विदुषांमतः**=विद्वानों को सम्मत है, इस लिये लक्षणा का आश्रय करना आवश्यक है ॥७५॥

अखण्ड एकरस ब्रह्म ही महावाक्य का अर्थ है इस बात को दिखाते हैं—

प्रत्यग्बोधो य आभातिसोऽद्वयानन्दलक्षणः ।
अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैक लक्षणः ॥७६॥

यः प्रत्यग्बोधः=जो सर्वान्तर चिदात्मा, आभाति=भासता है (बुद्धि के साक्षी रूप से प्रतीत होता है), सः अद्वयानन्दलक्षणः= वही अद्वितीय आनन्दरूप परमात्मा है, अद्वयानन्दरूपः च=और जो अद्वितीय आनन्द स्वरूप परमात्मा है, वह ही, प्रत्यग्बोधैकलक्षणः= चैतन्य स्वरूप (एक रस) प्रत्यगात्मस्वरूप है ॥७६॥

इससे पूर्व श्लोक में प्रतिपादित अखण्ड ब्रह्म के ज्ञान से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं—

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ।
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥७७॥

इत्थं=पूर्वोक्त प्रकार से, अन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः=(कूटस्थ और ब्रह्म इन दोनों का) परस्पर अभेद ज्ञान, यदा भवेत्=जब होता है, तदा एव=तब ही, त्वमर्थस्य=त्वं पद के अर्थ प्रत्यगात्मा की, अब्रह्मत्वं=(भ्रान्ति सिद्ध) अब्रह्म रूपता, हि व्यावर्तेत=निश्चय करके निवृत्त हो जाती है ॥७७॥

तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ।
पूर्णानन्दैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥७८॥

तदर्थस्य च=और तत् पद का अर्थ ब्रह्म की, पारोक्ष्यं=परोक्षता (अर्थात् केवल परोक्ष ज्ञान विषयता निवृत्त हो जाती है), यदि एवं =यदि ऐसा है भी, तथापि, ततः किं=उससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, शृणु=(ऐसे प्रश्न का) उत्तर सुनो, पूर्णानन्दैकरूपेण=अपरिच्छिन्न आनन्द तथा अखण्ड रूप से, प्रत्यग्बोधः=प्रत्यग् चैतन्य, अवतिष्ठते=अवस्थित होता है यह ही प्रयोजन है ॥७८॥

परोक्ष यथार्थ अनुभव का साधन ही आगम अर्थात् शब्द प्रमाण होता है, इस लिये महावाक्य भी शब्द प्रमाण रूप होने से परोक्ष ज्ञान का ही जनक होना चाहिये, तो सिद्धान्ती ने फिर अपरोक्ष ज्ञान के जनक महावाक्य को कैसे कहा, ऐसी आशंका के उत्तर में,

सिद्धान्त के ज्ञान रहित मनुष्य ही ऐसा कहते हैं, इस अभिप्राय से पूर्व पक्षी का परिहार करते हैं—

एवं सति महावाक्यात्परोक्षज्ञानमीर्यते ।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम् ॥७९॥

एवं सति=ऐसा होने पर भी (पूर्वोक्त प्रकार से महावाक्य द्वारा अखण्ड ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने पर भी), **यैः**=जो लोग, **महावाक्यात् परोक्षज्ञानं**=महावाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है, इस प्रकार, **ईर्यते**=कहा करते हैं, **तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं**=उनका शास्त्र के सिद्धान्त का ज्ञान, **शोभतेतराम्**=बहुत सुन्दर है। अर्थात् वे शास्त्र सिद्धान्त के रहस्य को नहीं जानते हैं ॥७९॥

आपका सिद्धान्त वेशक रहे, परन्तु वाक्य से तो परोक्ष ज्ञान ही होता है, यह वार्ता अनुमान प्रमाण से सिद्ध है, ऐसी आशंका करके व्यभिचार दोष प्रदर्शन द्वारा आशंका का खण्डन करते हैं—

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धान्तो युक्त्या वाक्यात् परोक्षधीः ।
स्वर्गादि वाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥८०॥

शास्त्रस्य सिद्धान्तः=शास्त्र का सिद्धान्त, **आस्तां**=रहे (शास्त्र के सिद्धान्त को रहने दो), **वाक्यात् परोक्षधीः**=वाक्य से परोक्षज्ञान ही होता है, **युक्त्या**=ये बात अनुमान प्रमाण से सिद्ध है, **स्वर्गादि-वाक्यवद्**=स्वर्ग है इत्यादि वाक्य की न्याई, **एवं न**=इस प्रकार मत कहो क्यों कि, **दशमे**=दशम तुम हो इस वाक्य में, **व्यभिचारतः**=तुम्हारे नियम का भंग है, (अर्थात् दशम 'तूं है' इस वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा देखा गया, इस लिये वाक्य द्वारा परोक्षज्ञान ही होगा ऐसा नियम नहीं बन सकता) ॥८०॥

त्वं पद के अर्थ जीव का अपरोक्षत्व नष्ट हो जायेगा, इस दोष की प्राप्ति के भय से ही महावाक्य परोक्ष ज्ञान का जनक है, ऐसा नहीं मान सकते, इस बात को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवाञ्छतः ।
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥८१॥

ब्रह्मत्वम् अभिवाञ्छतः=ब्रह्मभाव की इच्छा करने वाले, स्वतः अपरोक्षजीवस्य=स्वभाव से अपरोक्षरूप जीव की, सिद्धापरोक्षत्वम् नश्येत्=स्वतः सिद्ध अपरोक्षता नष्ट हो जायेगी, इति महति युक्तिः=यह बड़ी भारी युक्ति है, अहो=आश्चर्य की बात है ॥८१॥

यदि इष्टापत्ति द्वारा पूर्वोक्त दोष अंगीकार करते हो तो अग्रिम श्लोक में वक्ष्यमाण लोक प्रसिद्ध प्रवाद तुम्हारी कृपा से सार्थक हो जायगा, इसलिये इष्टापत्ति नहीं कर सकते हो—

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ।
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥८२॥

वृद्धिम् इष्टवतः=वृद्धि को चाहने वाले मनुष्य का, मूलम् अपि नष्टम्=मूल धन भी नष्ट हो गया, इति ईदृशम्=इस प्रकार का, लौकिकं वचनं=लोक प्रसिद्ध वाक्य, त्वत्प्रसादतः=तुम्हारी कृपा से, सार्थं संपन्नं=आज सार्थक हो गया ॥८२॥

उपाधि सहित होने से जीव की अपरोक्षता युक्तियुक्त ही है किन्तु ब्रह्म उपाधि रहित होने से उस की अपरोक्षता नहीं बन सकती, अतः उसे ब्रह्म से अभिन्न जीव की अपरोक्षता कैसे रह सकती है, इस प्रकार आशंका करते हैं—

अन्तःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ।
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥८३॥

अन्तःकरणसंभिन्नबोधः=अन्तः करण उपहित चैतन्य रूप, जीवः=जीव, अपरोक्षताम् अर्हति=अपरोक्ष के योग्य है क्योंकि, उपाधिसद्भावात्=उसमें उपाधि विद्यमान है, ब्रह्म तु=और ब्रह्म तो, अनुपाधितः=उपाधि रहित होने से, न=अपरोक्ष योग्य नहीं ॥८३॥

ब्रह्म को निरुपाधिक कहना विरुद्ध है, इस अभिप्राय से सिद्धान्ती पूर्वोक्त आशंका का परिहार करते हैं—

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ।
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥८४॥

एवं न=पूर्वोक्त आशंका नहीं बन सकती, क्योंकि, **ब्रह्मत्व-बोधस्य**=जीव का ब्रह्मरूप करके ज्ञान भी, **सोपाधिविषयत्वतः**=उपाधि सहित वस्तु को विषय करने वाला है, **यावद्विदेहकैवल्यं**=विदेह कैवल्य तक (कैवल्य मुक्ति पर्यन्त), **उपाधेः**=उपाधि का, **अनि-वारणात्**=निवारण न होने से (वह ज्ञान भी उपाधि सहित वस्तु को विषय करने वाला है अतः ज्ञेय ब्रह्म भी सोपाधिक है) ॥८४॥

जीव और ब्रह्म दोनों की पृथक् दो उपाधियों का स्वरूप कहना चाहिये ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्ती उत्तर देते हैं—

अन्तः करणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥८५॥

जीवभावस्य च=जीवपने की और, **ब्रह्मतायाः उपाधिः**=ब्रह्म पने की उपाधि, **अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां**=अन्तःकरण सहित होना अर्थात् अन्तःकरण का सम्बन्ध, और अन्तःकरण के सम्बन्ध का वियोग अर्थात् अन्तःकरण से रहित होना, इस प्रकार, **विशिष्यते**=दोनों उपाधि भिन्न-भिन्न है, **अन्यथा न**=अन्य प्रकार से नहीं है ॥८५॥

अन्तःकरण का सम्बन्ध भावरूप होने से उपाधि बन सकती हैं किन्तु अभावरूप अन्तःकरणराहित्य उपाधि नहीं होना चाहिये ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि "जो उपहित के स्वरूप में अन्तर्भूत न होकर, और वर्तमान होकर व्यावर्त्तक अर्थात् भेद प्रतीतिजनक होता है वह उपाधि है" इस प्रकार उपाधि का लक्षण भाव, और अभाव दोनों में घटता है, इसलिये दोनों ही उपाधि बन सकते हैं और भावरूपता तथा अभावरूपता में किंचित् वैलक्षण्य होने पर भी उनके उपाधिरूप बनने में कोई बाधा नहीं होती इस अभिप्राय से दृष्टान्त कहते हैं—

यथा विधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ।
सुवर्णलोहभेदेन शृङ्खलात्वं नभिद्यते ॥८६॥

यथा विधिः=जैसे भावरूप अन्तःकरण सम्बन्ध, उपाधिः स्यात्

=उपाधि है, तथा प्रतिषेधः=उसी प्रकार, अभावरूप अन्तःकरण का वियोग, किं न=क्यों नहीं उपाधि होगा, सुवर्णलोहभेदेन=सोना और लोहे के भेद से, शृङ्खलात्वं=बन्धन कारणत्व का, न भिद्यते= भेद नहीं होता ।

टि०-जैसे बन्धन का कारणपना सोने की जंजीर और लोहे की जंजीर दोनों में समान ही है, इस लिये लोहे और सोने का भेद आदरणीय नहीं, इसी प्रकार जीव भाव और ब्रह्मभाव के लिये अन्तः-करण सम्बन्ध, अथवा अन्तःकरण का वियोग दोनों ही समर्थ है, इस लिये भाव और अभाव का भेद भी आदरणीय नहीं है ॥८६॥

विधि की न्याईं निषेध भी ब्रह्म बोध का उपाय होने से ब्रह्म की उपाधि बन सकती है, इस बात को दृढ़ करने के लिये विधि और निषेध दोनों को ही ब्रह्मज्ञान के उपाय रूप से आचार्यों ने निरूपण किया इस को दिखाते हैं—

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद्द्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥८७॥

अतद्व्यावृतिरूपेण=अनात्म पदार्थ के निषेध द्वारा, साक्षाद्वि-धिमुखेन च=और साक्षात् वाचक शब्द के प्रयोग द्वारा, वेदान्तानां= उपनिषद्रूप वेदान्त वाक्यों की, द्विधा प्रवृत्तिः स्यात्=दो प्रकार से प्रवृत्ति होती है (अर्थात् दोनों प्रकार से ब्रह्म का प्रतिपादन होता है), इति आचार्यभाषितम् =इस प्रकार, आचार्यों ने कहा है, अतः निषेध भी उपाधी बन सकती है ॥८७॥

वेदान्त यदि अनात्म निषेध द्वारा ब्रह्म का बोधक है इस प्रकार सिद्धान्ती अंगीकार करता होवे तो अहं शब्द के वाच्यार्थ के अन्तर्गत कूटस्थ चैतन्य के भी त्याग का प्रसंग प्राप्त होगा और उस दशा में अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकेगा, ऐसी आशंका अर्द्ध श्लोक से करके द्वितीय अर्ध से यह समाधान करते हैं कि अहं शब्द के वाच्यार्थ के एक अंश का त्याग द्वारा अहं ब्रह्मास्मि यह बोध उत्पन्न हो सकता है—

अहमर्थपरित्यागादहंब्रह्मेतिधीः कुतः ।
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥८८॥

अहमर्थ परित्यागात्=अहं शब्द के संपूर्ण अर्थ का निषेध द्वारा त्याग होने से, अहं ब्रह्म इति धीः=मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार का अभेद ज्ञान, कुतः=कैसे होगा (अर्थात् नहीं होगा), एवं न हि=ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, अंशस्य त्यागः=क्योंकि, अहं शब्दार्थ के एक जड़ अंश का ही त्याग, भाग लक्षणया उदितः=भागत्याग लक्षणा से कहा गया है ॥८८॥

जड़ांश के त्याग द्वारा ब्रह्म बोधन के प्रकार को अंगुली निर्देश द्वारा दिखाते हैं—

अन्तःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ।
अहं ब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥८९॥

अन्तःकरणसंत्यागात्=अन्तःकरण भाग का (लक्षणा द्वारा) त्याग कर देने से, अवशिष्टे चिदात्मनि=बाकी बचा जो चिदात्मा, साक्षिणि ब्रह्मत्वं=उस चिदात्मारूप साक्षी की ब्रह्मरूपता, अहं ब्रह्म-इति वाक्येन='मैं ब्रह्म हूँ' इस महावाक्य से, ईक्ष्यते=अनुभव की जाती है ॥८९॥

शुद्ध प्रत्यगात्मरूप कूटस्थ स्वयं प्रकाशरूप होने से बुद्धि वृत्ति का विषय अर्थात् साक्षात्कार का विषय नहीं बन सकता ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ।
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥९०॥

साक्षी स्वप्रकाशः अपि=प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाश है तथापि, धीवृत्त्या=बुद्धि वृत्ति से (अहं इस प्रकार बुद्धि वृत्ति से), अन्यवत्=घटादि की न्यांई, व्याप्यते एव=व्याप्त होता ही है, अस्य=इस प्रत्यगात्मा की, फलव्याप्यत्वम् एव (१)=फलव्याप्ति का ही, शास्त्रकृद्भिः निवारितम्=शास्त्रकारों ने निषेध किया है।

टि०-(१) वृत्ति में प्रतिबिंबित चिदाभास को फल कहते हैं, उसके द्वारा व्याप्त होने का नाम फल व्याप्यत्व है ॥९०॥

स्वयं प्रकाश प्रत्यगात्मा में फलव्याप्ति नहीं होती इस बात को दिखाने के लिये अनात्मपदार्थ में वृत्तिव्याप्ति, फलव्याप्ति दोनों को दिखाते हैं -

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतोघटम् ।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥९१॥

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ=बुद्धिवृत्ति और उसमें स्थित चिदाभास, द्वौ अपि=दोनों ही, घटं व्याप्नुतः=घट को व्याप्त करते हैं, तत्र=उन दोनों में (बुद्धि वृत्ति और चिदाभास दोनों के मध्य में), धिया=प्रमाणरूप बुद्धि वृत्ति के द्वारा, अज्ञानं नश्येत्=अज्ञान नष्ट हो जाता है, आभासेन=और चिदाभास के द्वारा, घटः स्फुरेत्=जड़ घट का स्फुरण होता है ॥९१॥

अब आत्मा में घटादिकों से वैलक्षण्य दिखाते हैं—

ब्रह्मण्यज्ञान नाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ।
स्वयं स्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥९२॥

ब्रह्मणि अज्ञाननाशाय=ब्रह्म में अज्ञान के नाश के लिये वृत्तिव्याप्तिः=महावाक्य जन्य'अहं ब्रह्मास्मि' इस बुद्धिवृत्ति से सम्बन्ध, अपेक्षिता=अपेक्षित है (आवश्यक है), स्वयंस्फुरणरूपत्वात्=वह ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूप होने के कारण, आभासः=(उसके स्फुरण के लिये) आभास की, न उपयुज्यते=अपेक्षा नहीं ॥९२॥

उक्त अर्थ को ही दृष्टान्त द्वारा विस्तार करते हैं—

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा ।
न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥९३॥

यथा घटादेः=जैसे घटादि जड़ पदार्थों के, दर्शने=देखने के लिये, चक्षुर्दीपौ=चक्षु और दीपक दोनों की, अपेक्ष्येते=अपेक्षा होती है, दीपदर्शने न=परन्तु दीप को देखने के लिये दोनों की अपेक्षा नहीं, किंतु एकं चक्षुः=परन्तु एक चक्षु ही, अपेक्ष्यते=अपेक्षित है (उसी प्रकार ब्रह्म में अज्ञान निवृत्ति के लिये एक वृत्तिव्याप्ति ही अपेक्षित है, प्रकाश के लिये फलव्याप्ति नहीं) ॥९३॥

बुद्धि तथा बुद्धि की वृत्तियाँ स्वभाव से ही चिदाभास युक्त होती हैं, इसलिये जैसे घटादियों में वृत्तिव्याप्ति, और फल व्याप्ति दोनों होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी वृत्ति व्याप्ति की तरह फल व्याप्ति भी अवश्य होगी, ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक में कहते हैं—

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत् परम् ।
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद् घटादिवत् ॥९४॥

स्थितः अपि=ब्रह्माकार (बुद्धि वृत्ति में) स्थित हुआ भी, **असौ चिदाभासः**=वह चिदाभास, **ब्रह्मणि**=ब्रह्म में, **एकी भवेत्**=अभेद भाव को प्राप्त हो जाता है, (जैसे दोपहर की प्रचण्ड धूप में स्थित दीपक की प्रभा धूप के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाती है, अलग नहीं भासती, उसी प्रकार ब्रह्माकार वृत्ति में स्थित हुआ भी चिदाभास ब्रह्म से पृथक् नहीं भासता), **परम्**=परन्तु, **ब्रह्मणि**=ब्रह्म में, **अतिशयं फलं**=अतिरिक्त फल (स्फुरणरूप अतिशय फल), **न कुर्यात्**=नहीं उत्पन्न करता है, **घटादिवत्**=जैसे घटादि जड़ पदार्थ में स्फुरणरूप अतिशय फल को करता है ॥९४॥

ब्रह्म में फल व्याप्ति नहीं होती किन्तु वृत्तिव्याप्ति होती है ऐसा आप के इस पूर्वोक्त वचन में क्या प्रमाण है, ऐसी आशंका होने पर, वेद ही प्रमाण है इस प्रकार उत्तर कहते हैं —

अप्रमेयमनादि चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ।
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धी व्याप्यता श्रुता ॥९५॥

अप्रमेयं=ब्रह्म अप्रमेय (प्रमाण के द्वारा भास्य नहीं हैं), **अनादि च**=आदि रहित भी है, **इत्यत्र**=इस मन्त्र में, **श्रुत्या**=श्रुति ने (अमृतविन्दु उपनिषद् ने अप्रमेय शब्द से), **इदम् ईरितम्**=फल व्याप्तिराहित्य कहा है, **मनसा एव**=शुद्ध मन से ही, **इदं आप्तव्यम्**=यह ब्रह्म प्राप्त करने योग्य है अर्थात् जानने योग्य है, **इति**=इस कठोपनिषद् के वाक्य में, **धीव्याप्यता श्रुता**=वृत्ति व्याप्ति सुनी गई है ॥९५॥

'आत्मानं चेत् विजानीयात्' इत्यादि मन्त्र से अपरोक्षज्ञान, तथा शोक निवृत्ति रूप दो अवस्थाएँ कही गई है, इस प्रकार ग्रन्थकार ने कहा है (४८ श्लोक में)। अब मन्त्र के किस अंश से अपरोक्षज्ञान कहा गया, तथा किस अंश से शोक निवृत्ति कही गई, सो स्पष्ट करना चाहिये ऐसी आकांक्षा होने पर अपरोक्षज्ञान का वर्णन करने वाले अंश को कहते हैं—

आत्मानंचेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ।
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥९६॥

ब्रह्मात्मव्यक्ति=ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यगात्मा को, **उल्लिख्य**=विषय करने वाला, **यः बोधः**=जो ज्ञान उत्पन्न होता है (अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार का जो ज्ञान उत्पन्न होता है), **सः**=वह ज्ञान, **आत्मानं-चेत्विजानीयात्**='आत्मानं चेत् विजानीयात्, **अयम् अस्मि इति**=अयम् अस्मि' इस, **वाक्यतः अभिधीयते**=श्रुति वाक्य से कहा जाता है ॥९६॥

पूर्वोक्त रीति से महावाक्य का विचार एक बार करने से ही अपरोक्षज्ञान की सिद्धि होने पर शास्त्र में उक्त श्रवणादि का अभ्यास व्यर्थ है, ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं कि ज्ञान की दृढ़ता के लिये श्रवणादि विचार का अभ्यास आचार्यों ने कहा है—

अस्तु बोधोऽपरोक्षोऽत्र महावाक्यात्तथाप्यसौ ।
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥९७॥

महावाक्यात्=एक बार श्रवण किये हुए विचार सहित महावाक्य से, **अत्र**=ब्रह्म अभिन्न आत्मा के विषय में, **अपरोक्षः बोधः**=अपरोक्ष ज्ञान, **अस्तु तथापि**=भले ही होवे फिर भी, **असौ**=उत्पन्न हुआ भी वह अपरोक्ष ज्ञान, **दृढः न**=दृढ़ नहीं है क्योंकि, **आचार्यैः श्रवणादीनाम्**=आचार्यों ने श्रवणादि साधनों का, **पुनः**=बारम्बार (महावाक्य से ज्ञान उत्पन्न होने के अनन्तर भी), **ईरणात्**=अभ्यास करने को कहा है (ज्ञान की दृढ़ता के लिये) ॥९७॥

अब आचार्यों के श्रवणादि अभ्यास बोधक वाक्य को कहते हैं-

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थ बोधो यावद्दृढीभवेत् ।
शमादि सहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥९८॥

अहं ब्रह्म=मैं ब्रह्म हूँ, इति वाक्यार्थ बोधः=इस प्रकार वाक्यार्थज्ञान, यावद् दृढी भवेत्=जब तक दृढ़ होवे (अर्थात् ज्ञान की दृढ़ता तक), तावद्=तब तक, शमादि सहितः=शमादि साधन सम्पन्न होकर, श्रवणादिकम्=श्रवणादि साधन का, अभ्यसेत्=अभ्यास करना चाहिये ॥९८॥

वेद वाक्य रूप प्रमाण से उत्पन्न हुआ ज्ञान अदृढ़ किस कारण से होता है, ऐसी आकांक्षा होने पर अग्रिम श्लोक में उत्तर कहते हैं-

बाढं सन्ति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ।
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥९९॥

हि श्रुत्यनेकता=जिस कारण से श्रुतियों का नानात्व, अर्थस्य=(अखण्ड एकरस अद्वितीय) ब्रह्म का, असंभाव्यत्वम्=(अलौकिक होने के कारण) संभव न होने का ख्याल, च विपरीता भावना=और कर्तृत्व का अभिमान रूप विपर्यय, अदार्ढ्यस्य=इस प्रकार से अदृढ़ता का, हेतवः=बहुत से कारण, बाढं सन्ति=सर्वथा विद्यमान है ॥९९॥

अदृढ़ता के प्रति तीन कारण दिखाए गए, उनमें प्रथम कारण श्रुति के नानात्व से होने वाली अदृढ़ता की निवृत्ति के लिये श्रवणादि का बारम्बार अभ्यास करना चाहिये, इस बात को कहते हैं—

शाखाभेदात्कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथान्यथा ।
एवमत्रापि मा शङ्कीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥१००॥

शाखाभेदात्=वेद की शाखा के भेद से, कामभेदात्=और फल की इच्छा के भेद से, कर्म=भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्म, अन्यथा अन्यथा=भिन्न-भिन्न प्रकार से, श्रुतं=श्रुतियों में सुना गया है, एवम्=उसी प्रकार, अत्र अपि=उपनिषद् में भी, मा शङ्की=प्रतिपाद्य तत्त्व की भेदशङ्का न होवे (यदि भेद की शंका हो तो उसके निवारण

के लिये), श्रवणं=श्रवण का, आचरेत्=पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये ॥१००॥

अभ्यसनीय श्रवण का स्वरूप क्या है, ऐसी आकांक्षा होने पर श्रवण का लक्षण बताते हैं—

वेदान्तानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ।

ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥१०१॥

अशेषाणां वेदान्तानां=सम्पूर्ण उपनिषदों का आदिमध्यावसानतः=आदि, मध्य, अन्त से उपक्रमादि का विचार करने पर, ब्रह्मात्मनि एव=ब्रह्म रूप प्रत्यगात्मा में ही, तात्पर्यम्=तात्पर्य है, इति धीः=इस प्रकार का निश्चय ही, श्रवणं भवेत्=श्रवण है।

उपक्रम उपसंहार (१) अभ्यास (२) अपूर्वता (३) फल (४) अर्थवाद (५) उपपत्ति (६) इन ६ लिंगों के द्वारा विचार करने से उपनिषदों का तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्म में निश्चित होता है।

(१) उपक्रम उपसंहार-प्रकरण के आदि में अद्वितीय ब्रह्म का कथन उपक्रम है, और प्रकरण के अन्त में उसी अद्वितीय ब्रह्म का कथन उपसंहार है।

(२) अभ्यास-प्रकरण के मध्य में अद्वितीय ब्रह्म के पुनः पुनः कथन का नाम अभ्यास है।

(३) अपूर्वता-अद्वितीय ब्रह्म दूसरे प्रमाण का विषय नहीं होता ऐसा कथन करने का नाम अपूर्वता है।

(४) फल-प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म के ज्ञान का प्रयोजन कथन को फल कहते हैं।

(५) अर्थवाद-प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म ज्ञान की स्तुति अथवा प्रकरण में जो प्रतिपाद्य नहीं है ऐसे भेद ज्ञान को निन्दा का नाम अर्थवाद है।

(६) उपपत्ति-प्रकरण प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म का (जीव और ब्रह्म के अभेद का) दृष्टान्त सहित युक्ति से प्रतिपादन करने का नाम उपपत्ति है ॥१०१॥

पूर्व श्लोक में उक्त श्रवण का स्वरूप कहाँ पर निरूपण किया गया ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं—

समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं धीस्वास्थ्य कारिभिः ।
तर्कैः संभावनार्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥१०२॥

एतत्=यह श्रवण का स्वरूप, समन्वयाध्याये=समन्वय नामक अध्याय में (वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय में), सूक्तं=अच्छी तरह (व्यासादियों ने) कहा है, धीस्वास्थ्यकारिभिः=बुद्धि की स्वस्थता करने वाली, तर्कैः=युक्तियों से, अर्थस्य=अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ की, सम्भावना=सम्भावितता के अनुसन्धान रूप मनन का, द्वितीयाध्याये=(वेदान्त दर्शन के अविरोध नामक) दूसरे अध्याय में, ईरिता=निरूपण किया है ॥१०२॥

अब विपरीत भावना का स्वरूप और उसकी निवृत्ति का उपाय दिखाते हैं—

बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ।
पुनः पुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥१०३॥

बहुजन्मदृढाभ्यासात्=बहुत जन्म के दृढ़ अभ्यास के कारण (अतीत अनन्त जन्मों में मैं मनुष्य हूँ इत्यादि देहात्म बुद्धि तथा मैं अन्ध हूँ, क्षुधा पिपासा वाला हूँ, इस प्रकार इन्द्रियों में आत्म बुद्धि के पुनः पुनः अभ्यासजनित संस्कार से), देहादिषु=देहादि अनात्मपदार्थों में, आत्मधीः=आत्मत्वबुद्धिरूप मिथ्या ज्ञान, क्षणात्=एक दम ही, पुनः पुनः=बारम्बार, उदेति=उत्पन्न होता है, एवं=इसी प्रकार, जगत्सत्यत्वधीः अपि=जगत् में सत्यत्व की बुद्धि भी (अर्थात् पूर्व जन्मों में जगत् सत्य है, इस प्रकार जो बारम्बार बुद्धि उत्पन्न हुई है, उसके संस्कार से वर्तमान में भी जगत् सत्य है ऐसी बुद्धि भी पुनः पुनः उत्पन्न हो जाती) ॥१०३॥

विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते ।
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥१०४॥

इयं विपरीता भावना=यही विपरीतभावना का स्वरूप है,

सा एकाग्र्यात् निवर्तते=वह विपरीत भावना एकाग्रता से निवृत्त होती है, एतत्=यह एकाग्रता, तत्त्वोपदेशात् प्राग्एव=ब्रह्मोपदेश से पूर्व ही, उपासनात् भवति=सगुण ब्रह्म की उपासना से हो सकती है ॥१०४॥

उपासना से चित्त की एकाग्रता होती है, इस बात को कैसे जान सकते हैं, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि वेदान्त शास्त्र में उपासना का विचार किया है इसी से पूर्वोक्त वार्ता जानी जा सकती है—

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिन्तिताः ।
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ॥१०५॥

अत एव=(जिस कारण से उपासना द्वारा एकाग्रता होती है) इस लिये, अत्र ब्रह्मशास्त्रे अपि=इस वेदान्त शास्त्र में भी, उपास्तयः चिन्तिताः=उपासनाओं का विचार किया गया है, प्राग् अनभ्यासिनः=पूर्व उपासना जिसने नहीं की उस के लिये, पश्चात्=बाद में, ब्रह्माभ्यासेन=ब्रह्म के अभ्यास से, तद् भवेत्=वह एकाग्रता प्राप्त होती है ।

टि०-इस श्लोक के द्वितीय अर्द्ध से पूर्व उपासना नहीं करने वालों को एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी इस आशंका का निवारण किया ॥१०५॥

ब्रह्माभ्यास का स्वरूप अब अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥१०६॥

तत् चिन्तनं=अद्वितीय आत्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन, तत् कथनं=उसी का वर्णन, अन्योन्यं तत् प्रबोधनं=परस्पर उसी ब्रह्म-तत्त्व का बोध कराना, च एतदेकपरत्वं=और इस ब्रह्मतत्त्व मात्र में ही तत्पर होना (अर्थात् एक ब्रह्मतत्त्व में निष्ठा) इसी को, बुधाः=ज्ञानवानों ने, ब्रह्माभ्यासं विदुः=ब्रह्माभ्यास जाना है, अर्थात् कहा है ॥१०६॥

अग्रिम श्लोक में पूर्वोक्त एतदेकपरत्व का विस्तार पूर्वक कथन करने के लिये श्रुति वाक्य का कथन करते हैं—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ।१०७।

धीरः ब्राह्मणः=ब्रह्मचर्यादि साधन युक्त मुमुक्षु, तम् एव=प्रत्यग् अभिन्न परमात्मा को ही, विज्ञाय=निश्चय रूप से जानकर, प्रज्ञां=(ब्रह्मात्मा के अभेद ज्ञान का प्रवाह रूप) एकाग्रता, कुर्वीत=सम्पादन करें, बहूञ्छब्दान्=अनात्मविषयक बहुत शास्त्रों का, न अनुध्यायात्=अनुस्मरण और कथन न करें, हि तत्=क्योंकि अनात्मशास्त्रों का अनुसरण और कथन, वाचः=वाणी का तथा मन का, विग्लापनं=ग्लानिकारक है(श्रम कारक है) ॥१०७॥

एकाग्रता का प्रतिपादक श्रुति प्रमाण पहले श्लोक में कहा अब अगले श्लोक में स्मृति प्रमाण भी कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥१०८॥

ये जनाः=जो अधिकारी जन, अनन्याः=(मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार ज्ञान के द्वारा) मुझ से अभिन्न हो कर, मां चिन्तयन्तः=उसी प्रकार मेरा ध्यान करते हुए, पर्युपासते=सर्वदा ब्रह्म स्वरूप से स्थित होते हैं, नित्याभियुक्तानां=सर्वदा मद्गतचित्तवाले, तेषां अहं=उनके लिये आत्मरूप से मैं, योगक्षेमं=अप्राप्त की प्राप्तिरूप योग और प्राप्त की रक्षारूप क्षेम दोनों को, वहामि=सम्पादन करता हूँ ॥१०८॥

पूर्व उक्त श्रुति स्मृतियों का तात्पर्य वर्णन करते हैं—

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ।
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥१०९॥

इति श्रुतिस्मृती=यह (दोनों) श्रुति वचन और स्मृति वचन, विपरीतायाः भावनायाः=विपरीत भावना की, क्षयाय हि आत्मनि

=निवृत्ति के लिये ही आत्मा में, नित्यं धियः=सदा चित्त की, एकाग्रतां विधत्तः=एकाग्रता को प्रतिपादन करते हैं ॥१०९॥

देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मत्व बुद्धि तथा मिथ्या जगत् में सत्यत्व बुद्धि विपरीत भावना रूप क्यों मानी जाती है, ऐसी आशंका के उत्तर में विपरीत भावना का लक्षण घटने से वे दोनों बुद्धि विपरीत भावना रूप है, इस बात को दिखाने के लिये विपरीत भावना का लक्षण बताते हैं—

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ।
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ॥११०॥

यद्=जो शुक्ति आदि वस्तु, यथा वर्तते=जिस शुक्त्यादि रूप से विद्यमान है, तस्य तत्त्वं=उस वस्तु का शुक्त्यादि स्वरूप को, हित्वा =परित्याग करके, अन्याथात्वधीः=रजत आदि रूप से जो बुद्धि (उत्पन्न होती है), विपरीता भावना स्यात्=वह विपरीत भावना है, यथा पित्रादौ=जैसे पिता माता आदिकों में, अरिधीः=शत्रुत्व-बुद्धि है ॥११०॥

पूर्व श्लोक में कहे हुए लक्षण को प्रकृत में घटाते हैं—

आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत्तयोः ।
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्यय भावना ॥१११॥

अयम् आत्मा=यह प्रत्यग् आत्मा, देहादिभिन्नः=वास्तव में देह, इन्द्रियादि से भिन्न है, च इदं जगत्=और यह जगत्, मिथ्या= वास्तव में मिथ्या है (ऐसा होने पर भी), तयोः=आत्मा और जगत् दोनों में, देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीः=क्रम से देह में आत्म स्वरूपता का ज्ञान और (जगत् में) सत्यत्वज्ञान, विपर्यय भावना=विपरीत भावना रूप है ॥१११॥

एकाग्रता से वे दोनों प्रकार की विपरीत भावना निवृत्त होती है, इस अर्थ का अब विशेष रूप से कथन करते हैं—

तत्त्वभावनया नश्येत् साऽतोदेहातिरिक्तताम् ।
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ॥११२॥

सा=वह विपरीत भावना, तत्त्वभावनया=(आत्मा देहादि रूप नहीं है और जगत् मिथ्या है इस प्रकार की) तत्त्व भावना से अर्थात् ध्यान से, नश्येत्=नष्ट हो जाती है, अतः आत्मनः देहातिरिक्ततां=इस लिये आत्मा देहादियों से भिन्न है, तद्वत्=और उसी प्रकार, जगतः मिथ्यात्वं=जगत् मिथ्या है इस प्रकार, अनिशं भावयेत्=निरन्तर चिन्तन करें ॥११२॥

जपादिकों की न्यांई देहादि भिन्न आत्म चिन्तन में तथा जगत् के मिथ्यात्व चिन्तन में नियम की अपेक्षा है, अथवा नहीं इस प्रकार प्रश्न पूर्वपक्षी करते हैं—

किं मन्त्रजपवन्मूर्तिध्यानवद्वात्म भेदधीः ।
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ।११३।

आत्मभेदधीः=आत्मा की देहादियों से भिन्नता का ज्ञान, च जगन्मिथ्यात्वधीः=और जगत् के मिथ्यात्व का अनुसन्धान, मन्त्रजपवत्=मन्त्रजाप की न्यांई, वा मूर्तिध्यानवत्=अथवा देवता ध्यान की न्यांई, अत्र=यहां ध्यान के प्रसंग में (तत्त्व भावना में भी), किंव्यावर्त्या स्यात्=क्या नियम से अनुष्ठान करने योग्य है, उतअन्यथा=अथवा लौकिक व्यवहार की न्यांई नियम के बिना भी किया जा सकता है ॥११३॥

पूर्व उक्त प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि दृष्ट फल वाला होने से आत्म चिन्तन आदि प्रकृत प्रसंग में नियम कुछ भी नहीं हैं—

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ।
बुभुक्षुर्जपवद्भुङ्क्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥११४॥

अन्यथा=नियम के बिना ही, इति विजानीहि=तत्त्वभावना कर्तव्य है ऐसा जानों क्यों कि, दृष्टार्थत्वेन=यह तत्त्वभावना दृष्ट फल वाली है, भुक्तिवत्=भोजन की न्यांई, बुभुक्षुः=क्षुधा निवारण के लिये भोजन की इच्छा वाला पुरुष, कश्चित्=कोई भी, जपवत्=जप करने वाले की न्यांई, नियतः=नियम पूर्वक (नियम पालन पूर्वक)

क्वचित्=कहीं पर भी, न भुङ्क्ते=नियम से भोजन नहीं करता (किन्तु जिससे क्षुधा की पीड़ा की शान्ति हो जाये उसी तरह नियम के बिना ही भोजन करता है) ॥११४॥

पूर्व श्लोकोक्त अर्थ का विवरण करते हैं -

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुङ्क्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा।
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥११५॥

अश्नाति वा=अन्न होने पर कदाचित् भोजन कर लेता है, न वा अश्नाति=अन्न न होने पर नहीं भी भोजन करता है (किन्तु क्षुधा की पीड़ा को भूलने के लिये किसी प्रकार मनोरञ्जन के द्वारा काल क्षेप करता है), अन्यथा वा=बैठा हुआ, जाता हुआ, पड़ा हुआ जैसे भी हो, स्वेच्छयाभुङ्क्ते=अपनी खुशी से भोजन करता है, येन केन प्रकारेण=इसी तरह जिस किसी भी प्रकार से, क्षुधां=क्षुधाजन्य पीड़ा को, अपनिनीषति=निवृत्त करना चाहता है ॥११५॥

अब जपादिकों में भोजन से जो विलक्षणता है उसको दिखाते हैं--

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः।
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वर वर्णविपर्ययात् ॥११६॥

जपं=मन्त्रादिकों का जप तो नियमेन=नियम पालन करता हुआ ही, कुर्यात्=करना चाहिए, अकृतौ=क्योंकि (विधि पूर्वक) न करने पर, प्रत्यवायतः=पाप की उत्पत्ति होती है, अन्यथाकरणे=उल्टा करने पर, स्वरवर्णविपर्ययात्=स्वर और वर्ण के विपरीत होने से, अनर्थः=क्लेश की प्राप्ति होती है ॥११६॥

क्षुधा दृष्टदुःख का कारण है, इस लिये क्षुधा निवृत्ति का उपाय नियम के बिना भोजन हो सकता है,परन्तु विपरीत भावना तो ऐसी नही है, इस वास्ते उसका निवारण करने वाला ध्यानादि उपाय दृष्ट फल के लिये नियम पूर्वक करने योग्य है ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक में देते हैं

क्षुधेव दृष्टबाधा कृद्विपरीता च भावना ।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥११७॥

क्षुधा इव=क्षुधा की न्यांई, विपरीता च भावना=विपरीत भावना भी, दृष्टबाधाकृत्=दृष्ट दुःख देने वाली है, (क्योंकि यह बात अनुभव सिद्ध है) इस लिये, केन अपि उपायेन=किसी भी उपाय से, जेया=जीतने योग्य है अर्थात् निवृत्त करने योग्य है, अत्र=इसमें (विपरीत भावना के निवर्तक उपाय में), अनुष्ठितेः=अनुष्ठान का, क्रमः न अस्ति=नियम नहीं है ॥११७॥

तब वह उपाय प्रदर्शन करने योग्य है, ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं कि उपाय पहले ही दिखाया है—

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिन्ता कथनादिकः ।
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बन्धो ध्यानवन्न हि ॥११८॥

उपायः=विपरीत भावना को निवृत्त करने का उपाय, तच्चिन्ताकथनादिकः=ब्रह्म की चिन्ता और कथन आदि रूप ब्रह्माभ्यास, पूर्वम् एव=पहले (पहले एक सौ छः वें श्लोक में) ही, उक्तः=कहा गया है, एतदेकपरत्वेअपि=एकाग्रतारूप एतदेकपरत्व में भी, ध्यानवत्=मूर्ति ध्यान की न्यांई, निर्बन्धः न हि=बन्धन मन का नहीं होता है ॥११८॥

ध्यान भी तो ध्येय का चिन्तन रूप ही है इस लिये ध्यान में क्या निर्बन्ध है ऐसी आशंका के उत्तर में ध्यान में निर्बन्ध दिखाने के लिये पहले ध्यान का स्वरूप दिखाते हैं—

मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यमन्यानन्तरितं धियः ।
ध्यानं तत्रातिनिर्बन्धो मनसश्चञ्चलात्मनः ॥११९॥

धियः=बुद्धि की, मूर्तिप्रत्ययसान्तत्यं=देवतादि विषयक वृत्तियों का जो अविच्छिन्न प्रवाह है, अन्यानन्तरितं=वह विजातीय वृत्ति से व्यवधान रहित हो कर, ध्यानं=ध्यान कहा जाता है, तत्र=उस ध्यान में, चञ्चलात्मनः मनसः=अतिचंचल स्वभाव वाला मन का, अतिनिर्बन्धः=अत्यन्त बन्धन होता है ॥११९॥

मन की चञ्चलता आदि में गीता वाक्य प्रमाण कहते हैं —

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥१२०॥

कृष्ण=हे कृष्ण, **हि**=जिस कारण से, **मनः चञ्चलं**=यह मन अत्यन्त चपल तथा, **प्रमाथि**=प्रमाथि पुरुष की व्याकुलता का कारण, **बलवत्**=शक्तिशाली (जिसको निग्रह करना अति कठिन है), **दृढं**=और सत्य अथवा मिथ्या विषय में संलग्न होने वाला है, **तस्य**=इस लिये उस मन का, **निग्रहं**=निग्रह अर्थात् वश में करना, **अहं-वायोरिव**=मैं तो वायु की न्याईं, **सुदुष्करं मन्ये**=अति कठिन है ऐसा मानता हूँ ॥१२०॥

मन का निग्रह अत्यन्त कठिन है इस विषय में वसिष्ठ वाक्य प्रमाण कहते हैं —

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।

अपि वह्न्यशनात्साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥१२१॥

साधो=हे साधो रामचन्द्र, **महतः**=महान्, **अब्धिपानात् अपि**=समुद्र पान से भी, **सुमेरून्मूलनात् अपि**=और बड़े भारी सुमेरु पर्वत को उखाड़ लेने की अपेक्षा से भी और, **वह्न्यशनात् अपि**=अग्नि के पान से भी, **चित्तनिग्रहः**=यह मन का निग्रह, **विषमः**=अति कठिन है ॥१२१॥

ब्रह्माभ्यास में मूर्ति ध्यानादिक की अपेक्षा जो विलक्षणता है उसको दिखाते हैं —

कथनादौ न निर्बन्धः शृङ्खलाबद्धदेहवत् ।

किन्त्वनन्तेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ॥१२२॥

शृंखलाबद्धदेहवत्=जन्जीर से बन्धे हुए देह का जैसा निर्बन्ध होता है वैसे, **निर्बन्धः**=अति बन्धन, **कथनादौ न**=ब्रह्म के कथन, चिन्तन आदिकों में नहीं होता है, **किन्तु नाट्यवत्**=परन्तु नृत्य आदि दर्शन की न्याईं, **अनन्तेतिहासाद्यैः**=अनेक प्रकार की प्राचीन कथा

दृष्टान्ट आदि से, धियः विनोदः=बुद्धि का मनोरञ्जन ही होता है ॥१२२॥

कथादिकों के द्वारा भी एतदेकपरत्व रूप एकाग्रता का विघ्न ही होगा ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक में कहते हैं—

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसानतः ।

निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥१२३॥

आत्मा चिद् एव=आत्मा चैतन्य स्वरूप ही है (देहादि आत्मा नहीं), जगत् मिथ्या=और यह जगत् मिथ्या है, इति अत्र=इस अर्थ में, पर्यवसानतः=(इतिहास दृष्टान्त आदियों के) पर्यवसान अर्थात् तात्पर्य होने से, इतिहासादिभिः=इतिहासादिकों के द्वारा, निदिध्यासनविक्षेपः=(एतदेकपरत्व रूप) निदिध्यासन का विक्षेप अर्थात् विघ्न, न भवेत्=नहीं होता है ॥१२३॥

इतिहासादिकों का अंगीकार करोगे तो खेती बारी व्यापार आदि कर्म भी निदिध्यासनरूप ब्रह्माभ्यास का विरोधी नही होगा, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं—

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ।

विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ॥१२४॥

कृषिवाणिज्यसेवादौ=खेती, व्यापार, सेवादि कार्यों में, च काव्यतर्कादिकेषु=और काव्य, तर्कादि अनात्म प्रतिपादक शास्त्रों में, प्रवृत्त्या=प्रवृत्ति होने से, धीः विक्षिप्यते=बुद्धि विक्षिप्त होती है, क्यों कि, तैः=उनके द्वारा, तत्त्वस्मृत्यसंभवात्—तत्त्व का स्मरण संभव नहीं ॥१२४॥

कृषि आदि कर्म तत्त्वस्मरण के विरोधी होने से यदि त्याज्य है तो भोजनादि भी उसी प्रकार त्याज्य होना चाहिये, इस प्रकार की आशंका के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहते हैं—

अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ।

शक्यतेऽत्यन्तविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ॥१२५॥

अनुसंदधता एव=तत्त्व का अनुस्मरण करता हुआ ही, अत्र भोजनादौ=इस भोजनादि कर्म में, प्रवर्तितुम् शाक्यते=प्रवृत्त हो सकता है क्योंकि, अत्यन्तविक्षेपाऽभावात्=भोजनादि में बहुत विक्षेप नहीं होता है, आशु=क्योंकि शीघ्र ही, पुनः स्मृतेः=फिर से तत्त्व-स्मरण हो सकता है ॥१२५॥

भोजनादि के लिये प्रवृत्ति काल में यद्यपि विक्षेप नहीं है, तथापि तत्त्व का विस्मरण संभव है, और तत्त्व के विस्मरण से पुरुषार्थ रूप जो मोक्ष है उसकी हानि भी हो सकती, ऐसी आशंका के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहते हैं, और अनर्थ का कारण बताते हुए, विस्मरण मात्र से विपर्यय नहीं होता इस बात को भी बताते हैं—

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ।
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतःक्वचित् ॥१२६॥

तत्त्वविस्मृतिमात्रात्=ब्रह्म तत्त्व के विस्मरण मात्र से, अनर्थः न=अनर्थ नहीं होता है, किंतु विपर्ययात्=परन्तु विपरीत भावना से अनर्थ होता है, विपर्येतुं=विपर्यय होने के लिये, कालः न अस्ति=समय (अवसर) नहीं है क्योंकि, झटिति स्मरतः=शीघ्र ही स्मरण करने वाले के लिये,क्वचित्=कभी भी विपर्यय नहीं हो सकता ।१२६।

भोजनादि कर्मों में प्रवृत्त हुए पुरुष की न्यांई तर्क काव्यादि शास्त्रों में प्रवृत्त पुरुष को भी तत्त्वस्मरण क्यों नहीं होगा, इस आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक में कहते हैं—

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ।
प्रत्युताभ्यास घातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥१२७॥

अन्याभ्यासशालिनः=अनात्म शास्त्र के अभ्यास करने वाले को, तत्त्वस्मृतेः अवसरः न अस्ति=तत्त्व स्मरण का अवकाश नहीं है, प्रत्युत=उलटा, अभ्यासघातित्वात्=ब्रह्माभ्यास का विरोधी होने से, तत्त्वम्=स्मरण किया हुआ तत्त्व भी, बलात् उपेक्ष्यते=बलात्कार से उपेक्षित होता है ॥१२७॥

तत्त्व स्मरण का विरोधी व्यवहार त्याज्य है इस विषय में श्रुति प्रमाण कहते हैं—

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥१२८॥

तम् एव एकं (आत्मानम्) =उसी एक आत्मा को, विजानीथ =जानो, हि अन्या वाचः=अनात्म विषयक वाणी का, विमुञ्चथ= परित्याग करो, इति श्रुतं=इस प्रकार श्रुति में सुना गया है, तथा अन्यत्र=और अन्य श्रुति में भी, वाचः विग्लापनं तु=(अनात्म शास्त्र का बहुत अध्ययन) वाणी का श्रमकारक है, इति (श्रुतं)=ऐसा वाक्य भी सुना गया है ॥१२८॥

तत्त्व स्मरण से अतिरिक्त आहारादि कर्म का त्याग जैसे नहीं किया जाता उसी प्रकार अनात्म शास्त्रादि के अभ्यास भी त्याज्य नहीं, किन्तु कर्तव्य है, इस प्रकार हठ करने वाले के प्रति आदेश करते हैं—

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रान्तरं त्यजन् ।
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥१२९॥

आहारादि त्यजन्=भोजनादि का त्याग करके कोई भी, नैव जीवेत्=नहीं जीवित रह सकता, शास्त्रान्तरं त्यजन्=दूसरे शास्त्रों का त्याग करता हुआ तुम्, किं न जीवसि=क्या नहीं जीवोगे, येन= जिस कारण से, अत्र=अन्य शास्त्र के अभ्यास में, एवं दुराग्रहम्= पूर्वोक्त प्रकार का हठ, करोषि=करते हो ॥१२९॥

जनकादि तत्त्ववेत्ताओं की प्रवृत्ति राज्यपालनादि कार्यों में कैसे होती है, क्योंकि आप के मत में तो वह राज्यपरिपालनादि त्याज्य है, ऐसी आशंका करके उस का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ।
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥१३०॥

जनकादेः राज्यं=जनकादि का राजकार्य, कथं=कैसे बना, इति चेत्=इस प्रकार आशंका यदि करते हो तो उत्तर यह है कि, दृढ़बोधतः=दृढ़ज्ञान से (बन सकता है), तथा तव अपि चेत्=उसी प्रकार तुम्हारा भी (दृढ़ ज्ञान है) तो, तर्कं पठ=तुम् भी तर्क शास्त्र पढ़ो, यद्वा कृषिं कुरु=अथवा कृषि कार्य (खेती) करो ॥१३०॥

संसार के मिथ्यात्व को जानने वाले तत्त्ववेत्ता मिथ्या संसार में क्यों प्रवृत्त होते हैं, ऐसी आशंका करके प्रारब्ध कर्म अवश्य फल देने वाला है, इस लिये भोग द्वारा प्रारब्ध क्षय के लिये तत्त्व वेत्ताओं की भी प्रवृत्ति बन सकती है इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया ।
अक्लिश्यन्तः प्रवर्तन्ते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥१३१॥

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये=मिथ्यापने का (ज्ञान जन्य) संस्कार दृढ़ होने पर, प्रारब्धक्षयकाङ्क्षया=प्रारब्ध कर्म के नाश की इच्छा से, अक्लिश्यन्तः=क्लेश नहीं मानते हुए ज्ञानवान्, स्वस्वकर्मानुसारतः =अपने-अपने कर्म के अनुसार, प्रवर्तन्ते=प्रवृत्त होते हैं ॥१३१॥

कर्मानुसारिणी प्रवृत्ति मानोगे तो अनाचार में भी ज्ञानवान् की प्रवृत्ति कर्म वशात् हो सकती है, ऐसी आशंका के उत्तर में श्लोक कहते हैं—

अतिप्रसङ्गो मा शङ्क्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ।
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥१३२॥

स्वकर्मवशवर्तिनाम्=अपने प्रारब्ध कर्मानुसार प्रवृत्त होने वाले ज्ञानवानों के लिये, अतिप्रसङ्गः=अनाचार में भी प्रवृत्ति की, मा शङ्क्यः=आशंका मत करो, अस्तु वा=अथवा अतिप्रसङ्ग हो भी (तो क्या हानि), कर्म वारयितुं=क्योंकि प्रारब्ध कर्म निवारण को, केन शक्येत=कौन समर्थ है, वद=कहो ॥१३२॥

प्रारब्ध कर्म के फल का भोग ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के लिये ही समान है तो उन दोनों की विलक्षणता ही क्या है ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं—

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ।
नक्लेशो ज्ञानिनोधैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥१३३॥

अत्र= (प्रारब्ध कर्म अवश्य भोक्तव्य है) इस विषय में, ज्ञानिनः =ज्ञानवान् का, च अज्ञानिनः=और अज्ञानी का, प्रारब्धकर्मणी= प्रारब्ध कर्म, समे=यद्यपि समान है, ज्ञानिनः=तथापि ज्ञानवान् को, धैर्यात्=धीरज के कारण, क्लेशः न=क्लेश नहीं होता है, मूढः= किन्तु अविवेकी, अधैर्यतः=धीरज के अभाव से, क्लिश्यति=क्लेश मानता है ॥१३३॥

इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं —

मार्गे गन्त्रोर्द्वयोः श्रान्तौ समायामप्यदूरताम् ।
जानन् धैर्याद्द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥१३४॥

मार्गे=रास्ते पर, गन्त्रोःद्वयोः=चलने वाले दोनों को, श्रान्तौ =थकावट, समायां अपि=समान होने पर भी, अदूरतां=समीपता को, जानन्=जानने वाला एक तो, धैर्यात्=धैर्य के कारण, द्रुतं गच्छेत् =जल्दी चलता है, अन्यः=और दूसरा, दीनधीः=दीन बुद्धि वाला (धैर्य खोने वाला), तिष्ठति=वहीं बैठ जाता है ॥१३४॥

पूर्वोक्त प्रकार से 'आत्मानं चेत्' इत्यादि मन्त्र का पूर्वार्द्ध प्रतिपादित हुआ, उसी का अनुवाद पूर्वक उसके फल प्रदर्शन में तात्पर्य वाले उत्तरार्ध का अवतारण हैं—

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्यय बाधितः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥१३५॥

सम्यग्=भली प्रकार से, साक्षात्कृतात्मधीः=आत्म साक्षात्कार करने वाली बुद्धि से युक्त अधिकारी, अविपर्यबाधितः=देहादियों में आत्म बुद्धिरूप विपर्य से बाध रहित होने के कारण, किमिच्छन् =किसी मिथ्या वस्तु की इच्छा करता हुआ, कस्य कामाय=किसी मिथ्या भोक्ता के लिये, शरीरमनु=शरीर के पीछे, संज्वरेत्=अपने आप को सन्तप्त करेगा (अर्थात् नहीं करेगा) ॥१३५॥

अब इसी अर्द्ध मन्त्र का तात्पर्य कहते हैं—

जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ।
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥१३६॥

जगन्मिथ्यात्वधी भावात्=जगत् के मिथ्यात्व की निश्चय बुद्धि होने के कारण, काम्यकामुकौ=भोग्य और भोक्ता दोनों, आक्षिप्तौ=निराकृत हो गये हैं, तयोः अभावे=भोग्य और भोक्ता के अभाव होने पर, सन्तापः=शोक (कामना निमित्तक शोक), निः स्नेहदीपवत्=तेल रहित दीपक की न्याई, शाम्येत्=कामना के निवृत्त होने पर शान्त हो जाता है ॥१३६॥

अब पूर्व श्लोक में उक्त काम्य पदार्थ के अभाव से कामना का अभाव कहां पर देखा गया है ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं—

गन्धर्वपत्तने किंचिन्नैन्द्रजालिकनिर्मितम् ।
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ॥१३७॥

गन्धर्वपत्तने=माया निर्मित नगर में अर्थात् गन्धर्व नगर में स्थित, किंचित्=किसी वस्तु को, ऐन्द्रजालिकनिर्मितं=यह मायावी के द्वारा बनाई हुई है इस प्रकार, जानन्=जानता हुआ कोई भी मनुष्य, न कामयते=उसकी इच्छा नहीं करता, किन्तु=परन्तु, इदं=यह वस्तु मिथ्या है इस तरह, हसन्=हंसता हुआ अर्थात् उपेक्षा करता हुआ, जिहासति=त्यागने की इच्छा करता है ॥१३७॥

अब दृष्टान्त में कहे हुए अर्थ को दार्ष्टान्तिक में जोड़ते हैं—

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ।
नानुरज्यति किंत्वेतान्दोषदृष्ट्या जिहासति ॥१६८॥

आपातरमणीयेषु=इस प्रकार विचार के बिना रमणीक प्रतीत होने वाले, भोगेषु=माला चन्दन आदि विषयों में, एवं विचारवान्=आपात रमणीयता का विचार करने वाला, न अनुरज्यति=आसक्ति नहीं करता, किन्तु=प्रत्युत, दोषदृष्ट्या=दोष दर्शन द्वारा, एतान्=इन भोग्य विषयों को, जिहासति=त्यागने की इच्छा करता है ॥१३८॥

विषयों में दर्शन करने योग्य दोष कौन-कौन से हैं ऐसी आकांक्षा होने पर तिन विषय दोषों को कहते हैं—

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ।
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान्क्लेशकारिणः ॥१३९॥

अर्थानां अर्जने=धन के कमाने में, क्लेशः=दुःख होता है, तथा एव=उसी प्रकार, परिपालने=धन की रक्षा में क्लेश होता है, नाशे दुःखं=नाश होने पर दुःख होता है, व्यये दुःखं=उसी प्रकार खर्च करने में भी दुःख होता है, क्लेशकारिणः=दुःख देने वाले, अर्थान् =ऐसे धन को, धिग्=धिकार है ॥१३९॥

विषयों में पूर्व श्लोक में अनात्मविषय दुःख रूप हैं यह दिखाया, अब अग्रिम श्लोक में अशोभनता को दिखाते हैं—

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे ।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥

स्नाय्वस्थि ग्रन्थि शालिन्याः=नसे, हड्डियां, और मांस पिंड युक्त, मांसपाञ्चालिकायाः तु=मांस की पुतली, स्त्रियाः=स्त्रियों के, यन्त्र लोले=यन्त्र के समान चञ्चल, अंगपञ्जरे=अंग समूह रूप शरीर में, किं शोभनं इव=क्या शोभा है(अर्थात् कुछ भी नहीं) ।१४०।

इस प्रकार शास्त्रोक्त दोषों का दर्शन करने पर दुःख और उस का कारण मोह कदापि नहीं हो सकता, इस बात को कहते हैं—

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक्प्रपञ्चिताः ।
विमर्शन्निशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥१४१॥

एवमादिषु शास्त्रेषु=इत्यादि शास्त्रों में, दोषाः=दोषों का, सम्यक् प्रपञ्चिताः=भली भान्ति विस्तार कहा गया है, तानि=उन शास्त्रों का, अनिशं=निरन्तर, विमर्शन्=विचार करता हुआ, दुःखेषु=दुःख के साधनों में, कथं मज्जति=कैसे निमग्न होगा ।१४१।

विषयों में दोष दर्शन होने पर भोगेच्छा नहीं रहती इस विषय में युक्ति सहित दृष्टान्त कथन करते हैं—

क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ।
मिष्टान्नध्वस्ततृड् जानन्नमूढस्तज्जिघत्सति ॥१४२॥

अमूढः=विवेकी, क्षुधयापीड्यमानः अपि=क्षुधा से पीड़ित हुआ भी, विषं=विष को, अत्तुं=खाने के लिये जब, न हि इच्छति=नहीं इच्छा करता है, मिष्टान्नध्वस्ततृड्=तो स्वयं मिष्टान्न भोजन से तृप्त पुरुष, जानन्=जानता हुआ कि यह विष है, तत्=उसको, न जिघत्सति=खाने की इच्छा कभी नहीं करता (इसमें क्या कहना है) ॥१४२॥

प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से ज्ञानी की भी इच्छा हो सकती है ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि इच्छा होने पर भी प्रीति पूर्वक नहीं भोजन करते हैं अर्थात् उपभोग नहीं करते –

प्रारब्धकर्मप्राबल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ।
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुङ्क्ते विष्टिगृहीतवत् ॥१४३॥

प्रारब्धकर्मप्राबल्यात्=प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से, भोगेषु=भोगों में, यदि इच्छा=यदि ज्ञानवान् की इच्छा, भवेत्=हो भी जाये, तदा अपि=तब भी, एष क्लिश्यन् एव=यह ज्ञानवान् क्लेश मानता हुआ ही, विष्टिगृहीतवत्=ग्रह पिशाचादि द्वारा पकड़े हुए की न्याईं, भुङ्क्ते=भोग करता है ॥१४३॥

प्रारब्धवशात् भोगेच्छा उत्पन्न होने पर भी प्रीतिपूर्वक ज्ञानवान् नहीं भोगते हैं इस बात को आप ने कैसे जाना ऐसी आशंका के उत्तर में लोकप्रसिद्धि से जाना ऐसा कहते हैं –

भुञ्जाना वा अपि बुधाः श्रद्धावन्तः कुटुम्बिनः ।
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यन्ति संततम् ॥१४४॥

कुटुम्बिनः=कुटुम्ब वाले, श्रद्धावन्तः बुधाः=श्रद्धा युक्त ज्ञानवान्, भुञ्जानाः वा अपि=भोगते हुए भी, अद्य अपि=आज तक भी, नः कर्म=हमारे प्रारब्ध कर्म, न छिन्नम्=नहीं समाप्त हुए, इति=इस प्रकार, संततं क्लिश्यन्ति=सदा क्लेश अनुभव करते हैं ॥१४४॥

तत्त्ववेत्ताओं को सांसारिक क्लेश नहीं हो सकता, क्यों कि ज्ञान निष्फल हो जायेगा ऐसी आशंका के उत्तर में आगे का श्लोक कहते हैं—

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ।
भ्रान्तिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ।१४५।

अयं क्लेशः=(पूर्वोक्त अनुतापरूप) यह क्लेश, संसारतापः न =संसार ताप रूप नहीं है, किन्तु=परन्तु, अत्र=इस संसार में विरक्तता=आसक्ति रहितता ही है, हि=क्यों कि, सांसारिकः तापः =संसार का ताप (संसार के अविवेकी मनुष्यों का ताप), भ्रान्तिज्ञान-निदानः=भ्रान्ति निमित्तक, स्मृतः=कहा गया है (और विवेकी का क्लेश तो विवेक मूलक होने से संसार तापरूप नहीं) ॥१४५॥

पूर्वोक्त यह क्लेश विवेक मूलक है अथवा अविवेक मूलक है इसका निर्णय कैसे हो सकता ऐसी आशंका कर के काम का निवर्त्तक होने से विवेक मूलक ही है ऐसा उत्तर कहते हैं—

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ।
अन्यथाऽनन्तभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥१४६॥

विवेकेन=विवेक के कारण, परिक्लिश्यन्=क्लेश मानता-हुआ, अल्प भोगेन=थोड़े भोग से ही (आसक्ति रहित होने से), तृप्यति=ज्ञानवान् तृप्त हो जाता है, अन्यथा=नहीं तो (विवेक मूलक न होने पर तो), अनन्तभोगे अपि=अनन्त प्रकार के भोग प्राप्त होने पर भी, कर्हिचित्=कदापि, न तृप्यति एव=(अविवेकी) तृप्त नहीं हो सकता ॥१४६॥

विवेकी की न्याईं अविवेकी की भी भोग से तृप्ति मान लिया जाये तो फिर विवेक तृप्ति के प्रति हेतु कैसे बनेगा ऐसी आशंका होने पर भोग तृप्ति का हेतु नहीं बन सकता इसका प्रतिपादक श्रुति प्रमाण कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुप भोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥१४७॥

कामानाम्=काम्य पदार्थों के, **उपभोगेन**=भोग से, **कामः**=(अविवेकियों की) भोगेच्छा, **जातु**=कदाचित् भी, **न शाम्यति**=नहीं शान्त होती, किन्तु उल्टा, **हविषा**=घृत से, **कृष्णवर्त्मा इव**=अग्नि की न्याईं, **भूयः एव**=अधिक से अधिक ही, **अभिवर्धते**=बढ़ती है ॥१४७॥

और विवेक पूर्वक भोग तृप्ति का हेतु है यह अनुभव सिद्ध है इस बात को कहते हैं—

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥१४८॥

परिज्ञाय=जान कर के (यह भोग इतना परिणाम वाला है और इस प्रकार प्रयत्न से साध्य है इस तरह अनुभव पूर्वक), **उपभुक्तः भोगः**=किया हुआ भोग, **तुष्टये**=तृप्ति का कारण, **भवति हि**=अवश्य होता है, **विज्ञाय**=जैसे जान बूझकर (यह चोर है इस प्रकार जानने के पश्चात्), **सेवितः चोरः**=सेवन किया हुआ चोर, **मैत्रीम् एति**=मित्र भाव को प्राप्त होता है, **चोरतां न**=(सेवन करने वाले पुरुष के लिये) वह चोर नहीं बनता ॥१४८॥

कामनास्वभाव वाले मन की थोड़े भोग से तृप्ति कैसे हो सकती है ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं कि निदिध्यासन के द्वारा निग्रह किये हुए मन का कामनास्वभाव रहता नहीं इस वास्ते तृप्ति हो सकती है —

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥१४९॥

निगृहीतस्य=योगाभ्यास द्वारा वश में किये हुए, **मनसः**=मन का, **अल्पकः अपि**=थोड़ा सा भी, **यः लीला भोगः**=जो क्रीडानुभव है, **अलब्ध विस्तारं**=विस्तार को नहीं प्राप्त हुए, **तम् एव**=उसी भोग को, **क्लिष्टत्वात्**=दोष युक्त होने से, **बहु मन्यते**=अधिक कर के मानता है, अतः तृप्ति हो सकती है ॥१४९॥

वश में किये हुए मन की स्वल्प भोग से तृप्ति होती है इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं—

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ।
परैर्न बद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥१५०॥

बद्ध मुक्तः=पहले बन्धन प्राप्त हुआ पश्चात् मुक्त कर दिया गया ऐसा, महीपालः=राजा, ग्राम मात्रेण=केवल एक ग्राम से, तुष्यति=सन्तुष्ट हो जाता है, परैः बद्धः न=दूसरे के द्वारा जो बन्धन को नहीं प्राप्त हुआ, न आक्रान्तः=और न ही आक्रमण को प्राप्त हुआ राजा, राष्ट्रम्=देश को भी, बहु न मन्यते=अधिक नहीं मानता है ॥१५०॥

प्रारब्ध कर्म की प्रबलता से विवेकी की भी इच्छा हो सकती है यह जो आप ने पूर्व १४३ वें श्लोक में कहीं है, सो नहीं बन सकती क्यों कि इच्छा के विरोधी विवेक ज्ञान होने पर इच्छा कैसे उत्पन्न होगी, इस प्रकार आशंका अग्रिम श्लोक से करते हैं—

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शन लक्षणे ।
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥१५१॥

दोषदर्शन लक्षणे=भोगों में दोष दृष्टि रूप, विवेके=विवेक, जाग्रति सति=उत्पन्न होने पर, आरब्ध कर्म अपि=प्रारब्ध कर्म भी, भोगेच्छां=भोग की इच्छा को, कथं जनयिष्यति=कैसे उत्पन्न करेगा अर्थात् नहीं करेगा क्योंकि विवेक इच्छा के विरोधी हैं ॥१५१

दोष दर्शन रूप विवेक होने पर भी इच्छा की उत्पत्ति अनेक प्रकार प्रारब्ध होने के कारण हो सकती है इस प्रकार समाधान करते हैं—

नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ।
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥१५२॥

एषःदोषः न=यह कोई दोष नहीं है, यतः=क्योंकि, अनेकविधं =नाना प्रकार का, प्रारब्धं=प्रारब्ध कर्म, ईक्ष्यते=देखने में आता है.

इच्छा=अपनी इच्छा से भोग देने वाला, अनिच्छा=अनिच्छा से भोग देने वाला, परेच्छा च=और परेच्छा से भोग देने वाला, प्रारब्धं =इस भेद से प्रारब्ध कर्म, त्रिविधं स्मृतं=तीन प्रकार का कहा गया है ॥१५२॥

अब स्वेच्छा से भोगप्रद प्रारब्ध कर्म का कथन करते हैं—

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ।

जानन्त एव स्वानर्थमिच्छन्त्यारब्ध कर्मतः ॥१५३॥

अपथ्यसेविनः=कुपथ्य करने वाले, चोराः=तथा चोर (चोरी करने वाले), राजदाररताः अपि=और रानी में अनुरक्त मनुष्य, जानन्तः एव=जानते हुए ही, स्वानर्थं=अपने अनर्थ की, आरब्ध-कर्मतः=प्रारब्ध कर्म वश, इच्छन्ति=इच्छा करते हैं ॥१५३॥

कुपथ्य सेवनादि अनर्थ की इच्छा प्रारब्ध कर्माधीन है इस बात को कैसे आप जानते हैं ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि अपरि-हार्य होने से प्रारब्धाधीन है—

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ।

यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥१५४॥

ईश्वरेण अपि=ईश्वर भी, अत्र=इस लोक में, एतत्= प्रारब्ध के फल को,वारयितुं=निवारण करने के लिये, न च शक्यते= समर्थ नहीं है, यतः=क्यों कि, ईश्वरः एव=ईश्वर ने ही, गीतायां= गीता शास्त्र में, अर्जुनं प्रति=अर्जुन के प्रति, आह=यह बात कहीं है (अर्थात् जानते हुए भी अपथ्य सेवनादि को इच्छा प्रारब्ध वश लोग किया करते हैं ।

क्योंकि ईश्वर भी प्रारब्ध कर्म के फल को निवारण करने में समर्थ नहीं है ॥१५४॥

उक्त अर्थ का प्रतिपादक गीता वाक्य को अब कथन करते हैं-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥१५५॥

ज्ञानवान् अपि=विवेकी ज्ञानवान् भी, स्वस्याः प्रकृतेः=अपनी

प्रकृति(१) के, सदृशं चेष्टते=अनुसार चेष्टा करते हैं, भूतानि प्रकृतिं यान्ति=सम्पूर्ण प्राणी अपनी प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं, निग्रहः= (मेरे द्वारा अथवा अन्य के द्वारा किया हुआ निग्रह) रोकने का प्रयत्न, किं करिष्यति=क्या करेगा अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकता।

(१)*पूर्व जन्म के किये हुए धर्म अधर्मादि संस्कार जो वर्तमान जन्म में अभिव्यक्त हो गये हैं उनका नाम प्रकृति है ॥१५५॥

तीव्र प्रारब्ध का परिहार नहीं हो सकता इस विषय में दूसरा वचन संवाद रूप से कहते हैं—

अवश्यं भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि ।

तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नल-राम-युधिष्ठिराः ॥१५६॥

अवश्यम्भाविभावानां=जो अवश्य होने वाला है ऐसे दुःख का, प्रतिकारः=परिहार, यदि भवेत्=अगर हो सकता हो, तदा नल-रामयुधिष्ठिराः=तब नल, राम, युधिष्ठिरादि महान् पुरुष, दुःखैः= दुःखों से, न लिप्येरन्=नहीं लिप्त होते ॥१५६॥

प्रारब्ध अपरिहार्य अंगीकार करें तो ईश्वर भी प्रारब्ध का परिहार नहीं कर सकेंगे तब तो ईश्वरभाव भी नष्ट हो जायेगा ऐसी आशंका के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहते हैं—

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ।

अवश्यं भाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥१५७॥

ईशस्य=परमेश्वर का, ईश्वरत्वं=ईश्वर पना (सर्वशक्तिमत्ता) को, तावता=प्रारब्ध कर्म के अपरिहार्य होने मात्र से, न च हीयते= हानि नहीं होती, यतः=क्यों कि, एषां=दुःखादियों का, अवश्यम्भाविता अपि=अवश्य होने का नियम भी, ईश्वरेण एव=ईश्वर ने ही, निर्मिता=बनाया है (इस वास्ते ईश्वरत्व की हानि नहीं होती)।१५७।

इस प्रकार स्वेच्छा प्रारब्ध का कथन करके अब अनिच्छा प्रारब्ध को कहते हैं—

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ।

अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥१५८॥

अनिच्छा पूर्वकं=अनिच्छाकृत भोग देने वाला, च प्रारब्धं अस्ति=प्रारब्ध कर्म भी है, इति एतत्=यह बात, अर्जुन कृष्णयोः= अर्जुन और कृष्ण भगवान् के, प्रश्नोत्तराभ्यां एव=प्रश्न और उत्तर से ही, गम्यते=ज्ञात होता है, तत् शृणु=उसको सुनो ॥१५८॥

अब अगले श्लोक में अर्जुन के प्रश्न को दिखाते हैं—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥१५९॥

वार्ष्णेय=हे (वृष्णिवंशोत्पन्न) श्री कृष्ण, अथ=प्रश्न यह है कि, अयं पूरुषः=यह मनुष्य, केन प्रयुक्तः=किस के द्वारा प्रेरित हुआ, अनिच्छन् अपि=इच्छा नहीं करता हुआ भी, बलात्=जबर दस्ती से, नियोजित इव=राजा के द्वारा नियुक्त हुए पुरुष की न्याईं पापं चरति=पापाचरण करता है ॥१५९॥

आगे के श्लोक में श्री कृष्ण भगवान् का उत्तर कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥१६०॥

एषः=पुरुष का प्रवर्तक यह, रजो गुणसमुद्भवः=रजोगुण से उत्पन्न होने वाला, कामः=प्रसिद्ध काम ही है, एषः क्रोधः=(यह काम ही क्रोध के रूप में परिणत होता है इस लिये) यह काम ही क्रोध है, महाशनः=यह काम महा भोजी है (शब्द स्पर्शादि विषय समूह महान् भोजन है जिसका ऐसा यह काम है), महापाप्मा=और महान् पाप रूप है (पाप के हेतु होने से काम को पापरूप कहा है), इह=(इस कारण से) संसार में, एनं=काम क्रोध रूपी, वैरिणम् विद्धि=शत्रु को जानो ।

अभिप्राय यह है कि प्रारब्ध वश अभिव्यक्त हुए रजोगुण के कार्य काम अथवा क्रोध पुरुष का प्रवर्तक होता है, केवल इच्छा प्रवर्त्तक नहीं । यह ही अनिच्छा प्रारब्ध है ॥१६०॥

पूर्व श्लोक में काम क्रोध पुरुष का प्रवर्तक मालूम होता है, और अनिच्छा प्रारब्ध प्रेरक है यह तो नहीं मालुम होता, ऐसी

आशंका कर के उत्तर में अनिच्छा प्रारब्ध ही प्रवर्त्तक है इसका साक्षात् प्रतिपादक भगवत् वाक्य रूप प्रमाण कहते हैं—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥१६१॥

कौन्तेय=हे कुन्ती पुत्र अर्जुन, स्वेन=अपने ही द्वारा अनुष्ठित, स्वभावजेन=अतएव स्वभाव से उत्पन्न, कर्मणा=अपने प्रारब्ध कर्म से, निबद्धः=बन्धा हुआ, यत् कर्तुं=जिस कर्म को करने की, न इच्छसि =नहीं इच्छा करते हो, तत् अपि=उसको भी, मोहात्=अविवेक से, अवशः=पर वश होकर, करिष्यसि=करोगे (इसलिये अनिच्छा प्रारब्ध भी है इस बात का अंगीकार करना चाहिए ॥१६१॥

अब अगले श्लोक में परेच्छा प्रारब्ध भी है इस बात को कहते हैं—

नानिच्छन्तो न चेच्छन्तः परदाक्षिण्यसंयुताः ।

सुख दुःखे भजन्त्येतत्परेच्छा पूर्व कर्म हि ॥१६२॥

अनिच्छन्तः=इच्छा नहीं करते हुए, न=सुख दुःख का अनुभव नहीं करते है किन्तु, च इच्छन्तः=और इच्छा करते हुए भी, न= सुख, दुःख का अनुभव नहीं करते हैं किन्तु, परदाक्षिण्य संयुताः=दूसरे के ऊपर दया युक्त हो कर दूसरे की प्रसन्नता के लिये, सुख दुःखे= सुख दुःख का, भजन्ति=अनुभव करते हैं, एतत्=यह सुखादि भोग का कारण, परेच्छा पूर्व कर्म=परेच्छा पूर्वक अर्थात् परेच्छा कृत प्रारब्ध है, हि=यह बात प्रसिद्ध है (इस लिये विवेकी को भी अपरिहार्य प्रारब्ध कर्म जन्य इच्छा उत्पन्न हो सकती है उसका निवारण कोई नहीं कर सकता) ॥१६२॥

विवेकी तत्त्ववेत्ता की भी इच्छा अंगीकार करो तो इच्छा का निषेध करने वाली 'किमिच्छन्' इत्यादि श्रुति का विरोध होगा ऐसी आशंका श्लोक के पूर्वार्द्ध से करते हैं और श्लोक के उत्तरार्द्ध से उत्तर कहते हैं कि उक्त श्रुति ने इच्छा का स्वरूपतः निषेध नहीं

कहा किन्तु इच्छा के होते हुए भी वह कार्यकरी नहीं होती इस अर्थ को श्रुति बोधन करती है --

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ।
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जित बीजवत् ॥१६३॥

तर्हि=जब ज्ञानी के लिये भी इच्छा प्रारब्ध मान लिया तब तो, किम् इच्छन्=किसी मिथ्या वस्तु की इच्छा करता हुआ, इत्येवं =इस श्रुति वाक्य के द्वारा, इच्छा कथं निषिध्यते=इच्छा का कैसे निषेध किया जा सकता, इच्छा निषेधः न=इस श्रुति वाक्य ने इच्छा का निषेध नहीं किया, किन्तु=परन्तु, इच्छा बाधः=इच्छा का बाध (समर्थ प्रवृत्ति का जनक न होना), भर्जित बीजवत्=भुने हुए बीज की न्याई कहा है ॥१६३॥

कर्म ही भोग द्वारा व्यसन को भी उत्पन्न करेगा ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं

भर्जितानि तु बीजानि सन्त्यकार्यकराणि च ।
विद्वदिच्छा तथैष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्य कृत् ॥१६४॥

यथा भर्जितानि तु बीजानि=जैसे भुने हुए बीज,अकार्यकराणि च सन्ति= (स्वरूप से विद्यमान होने पर भी) अंकुर उत्पादक नहीं होते हैं, तथा=उसी प्रकार, विद्वदिच्छा=ब्रह्मवेत्ता की इच्छा (स्वरूप से विद्यमान होने पर भी), एष्टव्याऽसत्त्वबोधात्=इच्छा के विषय का मिथ्यात्व ज्ञान से बोधित होने के कारण, कार्यकृत् न=व्यसनादि कार्य क्षम नहीं होती ॥१६४॥

तब तो विद्वान् ब्रह्म वेत्ता की इच्छा का अंगीकार करना व्यर्थ है, अर्थात् निष्फल है, ऐसी शंका करके भोगरूप फल विद्यमान होने के कारण निष्फल नहीं है, इस प्रकार उत्तर दृष्टान्त सहित कहते हैं—

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ।
विद्वदिच्छाप्यल्प भोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥१६५॥

दग्ध बीजम्=भुना हुआ बीज, अरोहे अपि=अंकुरित न होने

पर भी, भक्षणाय=भोजन के लिये, उपयुज्यते=उपयुक्त हो सकता अर्थात् काम आता है, विद्वदिच्छा अपि=उसी प्रकार विवेकी की इच्छा भी, अल्प भोगं=(प्रारब्ध कर्म जन्य) भोग मात्र को, कुर्यात्= संपादन करती है, बहु व्यसनं न=बहुत सी विपत्ति आदि रूप व्यसन को नहीं ॥१६५॥

कर्म ही भोग द्वारा व्यसन को भी उत्पन्न करेगा ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ।
भोक्तव्यसत्यताभ्रान्त्या व्यसनं तत्र जायते ॥१६६॥

प्रारब्धं कर्म=प्रारब्ध कर्म, भोगेन चरितार्थत्वात्=भोग मात्र से उपयुक्त हो जाने से (अर्थात् भोग मात्र को देकर समाप्त हो जाने से), हीयते=नष्ट हो जाता है (अतः व्यसन को नहीं उत्पन्न करता), भोक्तव्यसत्यता भ्रान्त्या=भोग्य पदार्थ की सत्यता भ्रान्ति से, तत्र व्यसनं=विषयों में व्यसन, जायते=उत्पन्न होता है (अर्थात् विषयों में सत्यता बुद्धि व्यसन का कारण है कर्म नहीं) ।

प्रारब्ध कर्म भोग देकर नष्ट हो जाता है ॥१६६॥

व्यसन के हेतु भ्रम को दिखाते हैं—

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ।
मा विघ्नाः प्रतिबध्नन्तु धन्योऽस्म्यस्मादितिभ्रमः॥१६७॥

अयं भोगः=यह प्राप्त सुख भोग, मा विनश्यतु=मत नष्ट होवे, उत्तरोत्तरम् वर्धताम्=किन्तु आगे-आगे बढ़ता जावे, विघ्नाः मा प्रतिबध्नन्तु=विघ्न इसका प्रतिबन्ध मत करे, अस्मात्=इस भोग से, धन्यः अस्मि=मैं कृतार्थ हूँ, इति भ्रमः=यह भ्रम व्यसन का जनक हैं ॥१६७॥

ऐसे भ्रम को तथा तज्जन्य व्यसन के परिहार को प्रसंग क्रम से बताते हैं—

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥१६८

यद् अभावि=जो नहीं होने वाला है, **तद् न भावि**=वह कदापि नहीं होगा, **भावि चेत्**=यदि होने वाला हो तो,**तद् अन्यथा न**=वह बदल नहीं सकता अर्थात् हो के ही रहेगा, **इति चिन्ताविषघ्नः**=इस प्रकार के चिन्तारूप विष का नाशक, **अयं बोधः**=यह ज्ञान, **भ्रम निवर्तकः**=पूर्वोक्त भ्रम को निवृत्त करने वाला है और भ्रम-निवृत्ति द्वारा व्यसन का भी निरोधक है ॥१६८॥

विवेकी और अविवेकी दोनों ही समान रूप से प्रारब्ध कर्म-फल भोगने वाले हैं तथापि अविवेकी को व्यसन और विवेकी को व्यसन का अभाव क्यों होता है इस प्रकार आशंका कर के विपरीत ज्ञान का होना और न होना ही कारण है इस प्रकार उत्तर कहते हैं-

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रान्तो गच्छेन्न बुद्धवान् ।
अशक्यार्थस्य संकल्पाद्भ्रान्तस्य व्यसनं बहु ॥१६९॥

भोगे=प्रारब्ध जन्य फल भोग, **समे अपि**=(ज्ञानवान् और अज्ञानी के लिये) समान होने पर भी, **भ्रान्तः**=भ्रम ज्ञान युक्त अज्ञानी, **व्यसनं गच्छेत्**=विपत्ति आदि रूप व्यसन को प्राप्त होता है, **बुद्धवान् न**=ज्ञानी व्यसन को नहीं प्राप्त होता, **अशक्यार्थस्य**=असम्भव अर्थ का, **सङ्कल्पात्**=संकल्प करने से, **भ्रान्तस्य**=अज्ञानी भ्रान्त पुरुष को, **बहु व्यसनं**=अनेक व्यसन प्राप्त होते हैं ॥१६९॥

विवेकी के लिये भ्रम का तथा व्यसन का अभाव दिखाते हैं –

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वाऽऽस्थामुपसंहरन् ।
भुञ्जानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ॥१७०॥

भोगस्य=फल भोग और भोग्य पदार्थ, **मायामयत्वं**=मायिक होने से मिथ्या हैं, **बुद्ध्वा**=ऐसा निश्चय कर के, **आस्थाम्**=उसमें सत्यत्व बुद्धि को अर्थात् अनुराग को, **उपसंहरन्**=त्याग कर के, **भुञ्जानः अपि**=भोगता हुआ भी ज्ञानवान्, **संकल्पं न कुरुते**=

संकल्प नहीं करते हैं अतः, व्यसनं कुतः=उनको व्यसन कहां से प्राप्त होगा ॥१७०॥

मिथ्यात्व निश्चय होने पर भी भोग भोगकाल में सुख का हेतु होने से पूर्वोक्त आस्था का उपसंहार कैसा होगा ऐसी आशंका करके अनेक प्रकार दोष दर्शन से आस्था का उपसंहार बन सकता है, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिन्त्यरचनात्मकम् ।
दृष्ट नष्टं जगत्पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति ॥१७१॥

जगत्=इस जगत् को, स्वप्नेन्द्रजालसदृशं=स्वप्न और इन्द्र-जाल के समान मिथ्या, अचिन्त्यरचनात्मकं=अचिन्त्य रचना रूप, दृष्ट नष्टं=देखते देखते ही नष्ट होने वाले अर्थात् क्षण भंगुर, पश्यन्=देखता हुआ अर्थात् निश्चय करता हुआ, तत्र=उसमें, कथम् अनुरज्यति=कैसे अनुरक्त होगा अर्थात् नहीं होगा ॥१७१॥

जगत् को स्वप्नेन्द्र जाल सदृश जान लेने पर उसमें आसक्ति नहीं रहेगी यह बात सत्य है परन्तु एतादृश ज्ञान किस से उत्पन्न होगा ऐसी आशंका के हुए उक्तज्ञान की उत्पत्ति का उपाय दो श्लोकों से कहते हैं—

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन्स्वजागरम् ।
चिन्तयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ॥१७२॥

स्वस्वप्नं=अपने ही स्वप्न को, आपरोक्ष्येण दृष्ट्वा=प्रत्यक्ष रूप से देख कर, स्वजागरं=अपने जागरण को, पश्यन्=अनुभव करता हुआ, उभौ=स्वप्न और जागरण दोनों को, अप्रमत्तःसन्=प्रमाद रहित हो कर, अनुदिनं=प्रतिदिन अर्थात् सर्वदा, मुहुः=पुनः पुनः, चिन्तयेत्=चिन्तन करना चाहिए कि स्वप्न के समान ही मिथ्या यह जागरण हैं ॥१७२॥

चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ।
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥१७३॥

तयोः=स्वप्न और जागरण के, **सर्व साम्यं**=सब प्रकार का सादृश्य (प्रतीत काल में ही केवल भोग का हेतु है, विकारी है, विनाशी है तथा विरस है परिणाम में मिथ्या है इस प्रकार की सर्व समता को), **चिरम्**=चिर काल तक, **अनुसंधाय**=विचार कर के, **जागरे**=जाग्रत् में भी, **सत्यत्व बुद्धि**=यह सत्य है इस प्रकार की बुद्धि का, **सत्यज्य**=परित्याग करके, **पूर्ववत्**=पहले की न्यांई (अविवेक दशा की न्यांई), **न अनुरज्यति**=अनुरक्त नहीं होता ॥१७३॥

प्रपञ्च का मिथ्यात्वज्ञान और विषय की सत्यता की अपेक्षा रखने वाला भोग ये दोनों परस्पर विरोधी होने से प्रपञ्च में मिथ्यापने का ज्ञान होने पर भोग सिद्धि कैसे सम्भव होगी ऐसी आशंका करके भोग विषयसत्यता की अपेक्षा नहीं रखता इस वास्ते विरोध नहीं इस प्रकार समाधान कहते हैं –

इन्द्रजालमिदं द्वैतमचिन्त्यरचनात्वतः ।
इत्यविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥१७४॥

इदं द्वैतं=यह भोग्य पदार्थ, **अचिन्त्यरचनात्वतः**=अनिर्वचनीय रचना वाला होने से, **इन्द्र जालं**=इन्द्र जाल के समान मिथ्या है, **इति अविस्मरतः**=इस बात को नहीं भूलने वाले विद्वान् को, **प्रारब्धभोगतः**=प्रारब्ध कर्म के फल सुख दुःख के अनुभव से, **का हानिः**=मिथ्यात्व अनुसन्धान की क्या हानि है, **वा**=अथवा मिथ्यात्व अनुसन्धान से भोग की क्या हानि अर्थात् कोई भी हानि नहीं ॥१७४॥

जगत् मिथ्यात्व ज्ञान रूप तत्त्वज्ञान और प्रारब्ध कर्म इन दोनों का विषय पृथक्-पृथक् होने से आपस में विरोध नहीं इस बात को दिखाते हैं

निर्बन्धस्तत्त्वविद्याया इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ ।
प्रारब्धस्याग्रहो भोगो जीवस्य सुखदुःखयोः ॥१७५॥

तत्त्वविद्यायाः=जगत् के तत्त्व विषयक ज्ञान का (मिथ्यात्व ज्ञान का), **इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ**=इन्द्र जाल की न्याईं जगत् मिथ्या है इस प्रकार स्मरण में, **निर्बन्धः**=आग्रह है (भोग के अपलाप अर्थात्

स्वरूप मर्दन में नहीं), प्रारब्धस्य=प्रारब्ध कर्म का, जीवस्य सुख-दुःखयोः=जीव के सुख दुःख, भोगे आग्रहः=प्रदान में आग्रह है (भोग के सत्यत्व आपादन में नहीं) अतः विभिन्न विषयक होने से दोनों का आपस में विरोध नहीं ॥१७५॥

पूर्व श्लोक में दोनों का विषय भिन्न भिन्न दिखा कर अब दोनों के अविरोध में अनुमान रूप युक्ति का प्रयोग प्रदर्शन करते हैं-

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ।
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ॥१७६॥

विद्यारब्धे=मिथ्यात्व ज्ञान और प्रारब्ध कर्म, भिन्नविषयत्वतः=भिन्न भिन्न विषय वाले होने से, न विरुध्येते=परस्पर विरुद्ध नहीं है, ऐन्द्रजालविनोदः=इन्द्रजाल सम्बन्धी चमत्कार को, जानद्भिः अपि=(यह इन्द्रजाल है इस प्रकार) जानते हुए भी, दृश्यते=देखते हैं, खलु=यह लोक में प्रसिद्ध है।

इसमें अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) पक्ष-विद्यारब्धे (२) साध्य-नविरुध्येते (३) हेतु-भिन्न-विषयत्वात् (४) दृष्टान्त-संप्रतिपन्न (उभय संमत) रूप रसादि-ज्ञानवत् ॥१७६॥

ज्ञान और प्रारब्ध कर्म का आपस में विरोध है इस प्रकार कहने वालों का अभिप्राय क्या प्रारब्ध कर्म विद्या का विरोधी है, अथवा विद्या प्रारब्ध कर्म का विरोधी है इस प्रकार विकल्प कर के प्रथम पक्ष का निषेध करते हैं—

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि ।
तदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ॥१७७॥

प्रारब्धं=प्रारब्ध कर्म, जगत्सत्यत्वम्=भोग्य समुदाय रूप जगत् की सत्यता को, आपाद्य=सम्पादन कर के, यदि भोजयेत्=यदि जीव को सुख दुःख प्रदान करते, तदा=तब तो, विद्यायाः=ज्ञान के, विरोधि=विरोधी होते (परन्तु प्रारब्ध कर्म तो भोग्य के सत्यत्व को आपादान करते नहीं किन्तु भोग मात्र ही देते हैं),

भोगमात्रात्=केवल भोग प्रदान मात्र से, सत्यता न=भोग्य पदार्थ की सत्यता नहीं होती, इस वास्ते प्रारब्ध कर्म ज्ञान का विरोधी नहीं ॥१७७॥

मिथ्या पदार्थों से भोग बन सकता है इसमें कोई दृष्टान्त नहीं ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः ।
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥१७८॥

कल्पितैः=मिथ्या, स्वप्न वस्तुभिः=स्वप्न द्रव्यों से, भोगः=सुख दुःखानुभव, अनूनः जायते=यथा योग्य होता है, एवं=इसी प्रकार, असत्यैः=मिथ्या, जाग्रद्वस्तुभिः अपि=जाग्रत् के पदार्थों से भी, भोगः इष्यतां=भोग अङ्गीकार करना चाहिए ॥१७८॥

अब द्वितीय पक्ष का निषेध करते हैं—

यदि विद्याऽपह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ।
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ॥१७९॥

विद्या=ज्ञान, यदि जगत्=अगर भोग्य जगत् का, अपह्नुवीत=स्वरूप से अपलाप करता, तदा=तब तो, प्रारब्ध घातिनी=प्रारब्ध का नाश करने वाला, स्यात्=बन सकता है, मायात्व बोधेन तु=परन्तु मिथ्यापने के ज्ञान मात्र से तो, न तद् अपह्नवः=मिथ्या वस्तु का स्वरूप से अपलाप (नाश) नहीं होता है। (इस लिये ज्ञान प्रारब्ध का विरोधी नहीं है क्यों कि इन्द्र जाल आदि में उसका स्वरूप से नाश किये बिना ही मिथ्यात्व का निश्चय देखने में आता है) ॥१७९॥

पूर्वोक्त अर्थ का ही विस्तार पूर्वक कथन करते हैं—

अनपह्नुत्य लोकास्तदिन्द्रजालमिदं त्विति ।
जानन्त्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥१८०॥

लोकाः=लोग, तत्=इन्द्रजाल के स्वरूप को, अनपह्नुत्य=अपलाप न करते हुए, इदम् इन्द्रजालम्=यह इन्द्र जाल है, इति तु=

इस प्रकार तो, जानन्ति एव=जानते ही हैं, तथा=उसी प्रकार, भोगम्=भोग्य पदार्थ का, अनपह्नुत्य=विलापन न करते हुए (स्वरूप से मिटाए विना भी), मायात्वधीः=जगत् का मिथ्यात्व-ज्ञान हो सकता है ॥१८०॥

श्रुति ज्ञान का फल द्रष्टा दृश्य दर्शन के अभाव को बोधन करती है इसलिये उत्पन्न हुई विद्या द्वैत जगत् का स्वरूप से नाश करती है, तब विद्वान् का भोग कैसे संभव होगा इस प्रकार की शंका श्रुति का अवलम्बन लेकर दो श्लोक से कहते हैं –

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन कम् ।
किं जिघ्रेत्किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ।१८१।

यत्रतु जगत्=जिस ज्ञान दशामें संपूर्ण संसार, अस्य स्वात्मा =इस ज्ञानवान् के स्वरूपभूत आत्मा ही हो गया, तत्र=उस अवस्था में, कः=कौन द्रष्टा, केन=किस चक्षुरादि साधन से, कम् पश्येत्= किस दृश्य को देखेगा, किं जिघ्रेत्=(किस घ्राणादि साधन से) किस पुष्पादि को सूंघेगा, किं वदेत् वा=किस शब्द को (किस वागादि इन्द्रियादि से) कहेगा, इति=इस प्रकार, श्रुतौ तु=वेदों में (ज्ञान से द्वैत मात्र का अभाव,) बहु घोषितं=अनेक बार कहा है ॥१८१॥

श्रुति ने सर्व द्वैत का ज्ञान से अभाव बोधन किया इतने मात्र से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आकांक्षा के उत्तर में पूर्वपक्षी कहते हैं –

तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ।
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥१८२॥

तेन=(जिस कारण से श्रुति ने ज्ञान दशा में सर्व द्वैत का अभाव कहा है,) इस कारण से, द्वैतं=जगत् का, अपह्नुत्य=स्वरूप से नाश करता हुआ ही, विद्या उदेति=ज्ञान (जगत् का मिथ्यात्व-ज्ञान) उत्पन्न होता है, अन्यथा च न=जगत् का स्वरूप से नाश किये बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तथा च=ऐसा होने पर, विदुषः भोगः=ज्ञानवान् का कर्म फल भोग, कथं स्यात्=कैसे होगा, इति-

चेत्=ऐसी आशंका यदि होती हो तो (सिद्धान्ती का कहना है कि) शृणु=उत्तर सुनो, ॥१८२॥

पूर्व श्लोक में प्रतिज्ञात समाधान को अब कहते हैं—

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ।

उक्तं स्वाप्ययसंपत्त्योरिति सूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥१८३॥

श्रुतिः तु=पूर्वोक्त श्रुति वचन तो, सुषुप्तिविषया=सुषुप्ति को कहने वाला, वा=अथवा, मुक्तिविषया=कैवल्य मुक्ति को कहने वाला है, इति=यह बात, स्वाप्ययसम्पत्त्योः=(१)'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि', इति सूत्रे हि=इस सूत्र में ही, अतिस्फुटम्=अत्यन्त स्पष्टतया, उक्तं=व्यास भगवान् ने कही है।

(१) सुषुप्ति अथवा परममुक्ति इन दोनों में किसी एक की अपेक्षा से विशेष ज्ञान का अभाव श्रुतियों में कहा गया है, क्यों कि प्रकरण से यही अर्थ ज्ञात होता है (सूत्र का यह कहना है), स्वाप्यय=सुषुप्ति, संपत्ति=विदेह मुक्ति ॥१८३॥

पूर्वोक्त श्रुति का विषय सुषुप्ति अथवा विदेह मुक्ति है ऐसी यदि अंगीकार नहीं किया जाय तो, बाधक दोष कहते हैं—

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न संभवेत् ।

द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥१८४॥

अन्यथा=पूर्वोक्त श्रुति सुषुप्ति विषयक अथवा मुक्ति विषयक है ऐसा अंगीकार न करने पर, याज्ञवल्क्यादेः=याज्ञवल्क्य आदि का, आचार्यत्वं=आचार्यपना, न संभवेत्=नहीं बन सकेगा क्योंकि, द्वैत दृष्टौ=उन को यदि द्वैत दर्शन होता होवे तो, अविद्वत्ता=वे ज्ञान हीन सिद्ध होंगे, द्वैतादृष्टौ=यदि द्वैत दर्शन उनको नहीं होता होवे तो, वाग्=उनकी वाग् इन्द्रिय, न वदेत्=शिष्य के बोधन के लिये प्रवृत नहीं होती ॥१८४॥

याज्ञवल्क्यादिकों की आचार्यत्वदशा में जो विद्यमान ज्ञान है, वह विद्या रूप भले ही होवे, किन्तु वह अपरोक्ष विद्या नहीं है किन्तु परोक्ष विद्या रूप है, क्योंकि उनको द्वैत की प्रतीति विद्यमान

है और निर्विकल्प समाधि में द्वैत का दर्शन न होने से वह अपरोक्ष विद्या है, इस प्रकार की आशंका 'चेत्' शब्द तक श्लोक से करके आगे उसका उत्तर प्रदान करते हैं—

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शन हेतुतः ।
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥१८५॥

निर्विकल्पसमाधौ तु=निर्विकल्प समाधि में, द्वैतादर्शन हेतुतः =द्वैत जगत् की प्रतीति न होने के कारण,सा एव=वह ही, अपरोक्ष-विद्या=अपरोक्ष ज्ञान है, इति चेत्=यदि ऐसी आशंका हो तो, सुषुप्तिः=सुषुप्ति भी (द्वैत प्रतीति का अभाव रूप होने से), तथा= अपरोक्ष ज्ञान स्वरूप, किं न=क्यों नहीं होगी ॥१८५॥

पूर्वश्लोकोक्त अति प्रसंग दोष जो सुषुप्ति में सिद्धान्ती ने कहा था, उसके परिहार के लिये पूर्वपक्षी की आशंका का कथन पूर्वक उसका परिहार अग्रिम श्लोक में सिद्धान्ती करते हैं—

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ।
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥१८६॥

सुप्तौ=द्वैत दर्शन का अभाव होने पर भी सुषुप्ति में, आत्म-तत्त्वं=आत्म तत्त्व को, न जानाति=कोई भी नहीं जानता, यदि= इस कारण से सुषुप्ति अपरोक्ष ज्ञान रूप नहीं अगर ऐसा कहते हो, तदा त्वया=तब तो तुम को, आत्मधीः एव=आत्म ज्ञान ही, विद्या= विद्या स्वरूप है, इति वाच्यं=ऐसा कहना चाहिए, द्वैत विस्मृतिः न=द्वैत की अप्रतीति आत्म ज्ञान स्वरूप है ऐसा नहीं कहना चाहिए ॥१८६॥

द्वैत का अदर्शन तथा आत्मज्ञान दोनों मिलकर ही विद्या का स्वरूप है, एक एक पृथक् पृथक् नहीं ऐसी आशंका का कथन पूर्वक द्वैतविस्मृति को भी विद्या का एक अंश अंगीकार करने पर जड़ पदार्थ को भी अर्धविद्या रूप मानना होगा इस प्रकार का परिहार करते हैं—

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ।

अर्धविद्या भाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥१८७॥

उभयं=द्वैत का अदर्शन तथा आत्म तत्त्व ज्ञान ये दोनों, **मिलितं**=मिल कर, **विद्या**=अपरोक्षज्ञान रूप विद्या है, **यदि**=अगर ऐसा मानते हो, **तर्हि**=तब तो, **घटादयः**=घड़ा आदि जड़ पदार्थ भी, **अर्धविद्याभाजिनः स्युः**=अर्धज्ञानवान् होना चाहिए क्यों कि, **सकल-द्वैत विस्मृतेः**=उनको भी सम्पूर्ण द्वैत जगत् की अप्रतीति है ॥१८७॥

पूर्व श्लोक में उक्त मिलित पक्ष में समाधि वाले को अर्ध विद्या भी नहीं प्राप्त होगी इस बात को उपहास सहित कथन करते हैं—

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां बहुत्वतः ।

तव विद्या तथा न स्याद्घटादीनां यथा दृढा ॥१८८॥

घटादीनां=इस पक्ष में घट आदि जड़ पदार्थ का, **यथा दृढ़ा विद्या**=जैसे द्वैत विस्मरण रूप दृढ़ ज्ञान है, **तथा**=उतना दृढ़ ज्ञान अर्थात् द्वैत विस्मरण, **तव न स्यात्**=तुम्हारी समाधि में नहीं होगा क्योंकि, **मशकध्वनि मुख्यानां**=मच्छर के आवाज आदि (विक्षेपों की बहुलता के कारण), **विक्षेपाणां बहुत्वतः**=विक्षेप बहुत है इस लिये (तुम्हारे लिये द्वैत का विस्मरण घटादि की न्याई सम्भव नहीं होगा) ॥१८८॥

आत्म ज्ञान ही विद्या स्वरूप है द्वैत का विस्मरण नहीं इस प्रकार यदि पूर्वपक्षी स्वीकार करता है तो सिद्धान्ती उसको आशीर्वाद देता है –

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ।

दुष्टचित्तं निरुन्ध्याच्चेन्निरुन्धि त्वं यथासुखम् ॥१८९॥

आत्मधीः एव=आत्म ज्ञान ही, **विद्या**=ब्रह्म विद्या स्वरूप है, **इति यदि**=इस प्रकार यदि मानते हो, **तर्हि सुखी भव**=तो तुम सुखी रहो (ऐसा आशीर्वाद देता हूँ), **दुष्टचित्तं**=दोष युक्त चित्त का, **निरुन्ध्यात्**=निरोध करना चाहिए (क्यों कि मलिन चित्त में ज्ञान

का उदय नहीं हो सकेगा, इसलिये चित्त का निरोध करना आवश्यक है), चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, त्वं यथा सुखं=तुम बड़ी खुशी से, निरुन्धि=चित्त का निरोध करो (क्यों कि हम सिद्धान्ती को भी यह इष्ट ही है) ॥१८९॥

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् ।
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥१९०॥

तद् इष्टं=वह चित्त निरोध हम को भी इष्ट ही है क्यों कि, एष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात्= (चित्त के दोष निकल जाने पर अद्वितीय आत्मतत्त्व के ज्ञान के लिये) इच्छा का विषय जो जगत् का मायामयत्व है, उसका सम्यग् दर्शन होता है (इस वास्ते चित्त का निरोध करना हम को भी सम्मत ही है), इच्छन् अपि=इच्छा करता हुआ भी, अज्ञवत्=अज्ञानी के समान, न इच्छेत्=ज्ञानवान् इच्छा नहीं करते हैं, किम् इच्छन्=इस लिये 'किम् इच्छन्', इति हि श्रुतं=यह वचन श्रुति में कहा गया है ॥१९०॥

'किम् इच्छन्' इस श्रुति का अर्थ स्वरूप से इच्छा का निषेध नहीं किन्तु अविवेकी की न्याई तत्त्ववेत्ता विवेकी इच्छा नहीं करता यही अर्थ है इस प्रकार अभिप्राय वर्णन करने में कारण कहते हैं—

रागो लिङ्गमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ।
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥१९१॥

रागः=विषयों में दृढ़ अनुराग, अबोधस्य लिंगं=अज्ञानी का चिह्न है, बुधे=ज्ञानवान् में, रागादयः=अदृढ़ अनुराग आदिक, सन्तु =बेशक रहे (इस में कोई हानि नहीं), इति शास्त्रद्वयं=यह दोनों शास्त्र वचन, एवं सति=तत्त्ववेत्ता के दृढ़ राग का अभाव मानने पर ही, अविरोधतः=विरोध के न होने से, सार्थम्=अर्थ वाले हो सकते हैं ॥१९१॥

पूर्व उक्त प्रकार से श्रुति के 'किम् इच्छन्' अंश का अभिप्राय वर्णन किया, अब आगे 'कस्य कामाय' इस अंश का अभिप्राय वर्णन करते हैं—

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मासङ्गत्वस्य समीक्षणात् ।
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥१९२॥

जगन्मिथ्यात्ववत्=जगत् के मिथ्यात्व की न्याइं (जैसे जगत् के मिथ्यात्व ज्ञान होने पर वास्तव में भोग्य पदार्थ के अभाव को कहने की इच्छा से श्रुति में 'किं इच्छन्' ऐसा कहा है उसी प्रकार), **स्वात्मासंगत्वस्य**=अपने स्वरूप आत्मा के असंगपने के, **समीक्षणात्** **भोक्त्रभावविवक्षया**=सम्यक् ज्ञान होने पर वास्तव भोक्तृत्व का अभाव कहने की इच्छा से, **'कस्य कामाय'**='किस भोक्ता के लिये', **इति वचः**=यह वचन श्रुति ने कहा है ॥१९२॥

आत्मा के भोक्तापने का निषेध तब हो सकता है, जब वह भोक्तापन आत्मा में प्राप्त हो, परन्तु आत्मा में तो असंगता के कारण भोक्तृत्व सम्भव ही नहीं, तो फिर निषेध कैसे ? ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं, कि भोक्तापन आत्मा में भ्रम-अनुभव सिद्ध होने से प्राप्त है, अतः उसका निषेध भी बन सकता है इस अभिप्राय को लेकर भोक्तृत्व के अनुवादक श्रुति का अर्थतः उपक्रम करते हैं—

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ।
किंत्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥१९३॥

पतिजायादिकं=पति पत्नी इत्यादि, **सर्वं**=सम्पूर्ण भोग्य प्रपञ्च को, **तत्तद्भोगाय**=उन पति आदि के भोग अर्थात् सुख के लिये, **न इच्छति**=भोक्ता नही चाहते हैं, **किन्तु**=परन्तु, **आत्मभोगार्थं**=अपने स्वरूप आत्मा के भोग के लिये चाहते हैं, **इति श्रुतौ**=इस प्रकार वेद में **बहु उद्घोषितं**=अनेक प्रकार से कहा है ।

तात्पर्य यह है-भोक्ता पति आदि की इच्छा अपने ही भोग का साधन समझ कर करते हैं इस लिये आत्मा भोक्ता है इस प्रकार प्रतीत होता है ॥१९३॥

आत्मा के भोक्तापन को दिखाकर उसके निषेध के लिये भोक्ता के स्वरूप में विकल्प करते हैं—

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथवा किं वोभयात्मकः ।
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसङ्गत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ॥१९४॥

किं कूटस्थः=क्या कूटस्थ चैतन्य, **भोक्ता**=भोक्ता है, **अथवा**=किं वा, **चिदाभासः**=चिदाभास भोक्ता है, **किं वा**=अथवा, **उभयात्मकः**=कूटस्थ और चिदाभास दोनों मिलकर भोक्ता है ? **तत्र**=इन तीनों में, **कूटस्थः**=निर्विकार साक्षी चैतन्य, **असङ्गत्वात्**=असंग होने के कारण, **भोक्तृतां न व्रजेत्**=भोक्ता नहीं हो सकता ॥१९४॥

कूटस्थ चैतन्य असंग भले ही रहे, फिर भी उसको भोक्ता बनने में क्या दोष है ? ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक में कहते हैं—

सुख दुःखाभिमानाख्यो विकारो भोग उच्यते ।
कूटस्थश्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥१९५॥

सुख दुःखाभिमानाख्यः=सुख और दुःख का अभिमान रूप, **विकारः**=विकार, **भोगः उच्यते**=भोग कहा जाता है (सो विकाररूप भोग असङ्ग कूटस्थरूप चैतन्य में सम्भवता नहीं), **कूटस्थः च**=निर्विकार चैतन्य (भी कहना), **विकारी च**=और भोग रूप विकार वाला (भी कहना), **इति एतत्**=यह बात, **कथं न व्याहतम्**=परस्पर विरुद्ध क्यों नहीं है (अर्थात् अवश्य विरुद्ध है)॥१९५॥

कूटस्थ निर्विकार होने से भोक्ता नहीं बन सकता तो विकारी चिदाभास को भोक्ता मान लेना चाहिए. ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि चिदाभास विकारी होने से भोक्ता बन सकता था परन्तु अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य के बिना केवल चिदाभास सिद्ध ही नहीं हो सकता तो भोक्ता कैसे बनेगा—

विकारिबुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि ।
निरधिष्ठानविभ्रान्तिः केवला न हि तिष्ठति ॥१९६॥

विकारिबुद्ध्यधीनत्वात्=विकार वाली बुद्धि रूप उपाधि के

अधीन होने से, आभासे=चिदाभास में, विकृतौ अपि=विकार सम्भव होने पर भी, निरधिष्ठानविभ्रान्तिः=अधिष्ठान रूप कूटस्थ के बिना चिदाभास रूप भ्रम, केवला=अकेला, न हि तिष्ठति=नहीं ठहर सकता (इस कारण से केवल चिदाभास ही भोक्ता नहीं बन सकता)। १९६॥

चिदाभास तथा कूटस्थ उभय मिल कर भोक्ता है यह तीसरा पक्ष है, उसका कथन करते हैं—

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ।
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥१९७॥

अतः=(जिस कारण से केवल कूटस्थ अथवा केवल चिदाभास भोक्ता नहीं बन सकता) इस लिये, उभयात्मकः एव=अधिष्ठान सहित चिदाभास ही, लोके=व्यवहार दशा में, भोक्ता निगद्यते=भोक्ता कहा जाता है (वास्तव में उभयात्मक भी भोक्ता नहीं बन सकता, क्यों कि श्रुति का उसमें तात्पर्य नहीं इसलिये), तादृगात्मानम् आरभ्य=बुद्धि उपाधि भोक्ता आत्मा का अनुवाद करके, कूटस्थः=चिदात्मा को, श्रुतौ=(बृहदारण्यक आदि) श्रुतियों में, शेषितः=(बुद्धि आदि अनात्मवस्तु का निषेध द्वारा अवधि रूप से) अवशेष रखा ॥१९७॥

जिस श्रुति वाक्य ने कूटस्थ का परिशेष किया उस बृहदारण्यक श्रुति वाक्य के अर्थ को अब संक्षेप से दिखाते हैं—

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ।
विज्ञानमयमारभ्यासंङ्गं तं पर्यशेषयत् ॥१९८॥

आत्मा कतमः=जनक राजा के इस प्रकार पूछने पर इनमें आत्मा कौन है, याज्ञवल्क्यः=ऋषि याज्ञवल्क्य ने, विबोधयन्=जनक को आत्मा का बोधन कराते हुए, विज्ञानमयं=विज्ञानमय प्रत्यग् आत्मा का, आरभ्य=उपक्रम करके, असंङ्गं तं=असंग कूटस्थ आत्मा का, पर्यशेषयत्=परिशेष किया (अर्थात् सर्वाधिष्ठान रूप [illegible] आत्मा को आरोपित का निषेध द्वारा बोधन किया ॥१९८॥

बृहदारण्यक श्रुति के उदाहृत वाक्य से असंग आत्मा का परिशेष दिखा कर अब ऐतरेय आदि श्रुतियों में भी असंग आत्मा के परिशेष को दिखाते हैं—

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ॥

उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥१९९॥

अयम् आत्मा कः=यह आत्मा कौनसा है (जिसकी उपासना हमें करनी चाहिए), **इति एवमादौ**=इत्यादि, **सर्वत्र श्रुतौ**=सब जगह श्रुतियों में, **आत्मविचारतः**=आत्मा के विचार द्वारा, **उभयात्मकं**=अन्तःकरण उपाधिक आत्मा का, **आरभ्य**=उपक्रम करके, **कूटस्थः**=चिन्मात्र स्वरूप कूटस्थ आत्मा का, **शेष्यते**=परिशेष से बोधन किया जाता है। (इस प्रकार श्रुति वाक्यों का विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि उभयात्मक भोक्ता मिथ्या है और पारमार्थिक कूटस्थ आत्मा उपभोक्ता है) ॥१९९॥

पूर्वोक्त रीति से भोक्ता यदि मिथ्या है तो सर्व प्राणियों को उस मिथ्या भोक्ता में सत्यता की बुद्धि क्यों उत्पन्न होती है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ।

तात्त्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥२००॥

आत्मा=लोक प्रसिद्ध भोक्ता, **अविवेकतः**=अविवेक से (अपने से कूटस्थ को पृथक् न जानने करके), **कूटस्थ सत्यतां**=कूटस्थ की सत्यता को, **स्वस्मिन्**=अपने में, **अध्यस्य**=आरोप करके, **भोक्तृतां**=अपने भोक्तापन को, **तात्त्विकीं मत्वा**=सत्य मानकर, **कदाचित्**=कभी भी, **न जिहासति**=भोग को त्यागने की इच्छा नहीं करता ॥२००॥

यदि आत्मा वस्तुतः भोक्ता नहीं है तो 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्यादि श्रुति भोग्य पदार्थ को आत्मा के भोग का साधन कैसे कहती है, ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं कि कूटस्थ आत्मा के भोग साधन भोग्य पदार्थ है ऐसा प्रतिपादन श्रुति नहीं करती, किन्तु लोक प्रसिद्ध उभयात्मक भोक्ता का भोग साधन भोग्य-

पदार्थ है इसका अनुवाद मात्र श्रुति करती है इसलिये कोई दोष नहीं —

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ।
एष लौकिक वृतान्तः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥२०१॥

भोक्ता स्वस्य एव=व्यावहारिक भोक्ता अपने ही, **भोगाय**=भोग के लिये, **पतिजायादिम्**=पति, पत्नी आदि भोग साधन की, **इच्छति**=इच्छा करता है, **एष लौकिक वृत्तान्तः**=यह लोक प्रसिद्ध वार्ता, **श्रुत्या**=श्रुति ने, **सम्यग् अनूदितः**=भली भाँति अनुवाद कर के कही है, वास्तव भोक्ता का प्रतिपादन श्रुति नहीं करती॥२०१॥

भोक्ता में ही प्रेम का विधान करने के लिये श्रुति ने अनुवाद किया है इस प्रकार अनुवाद का प्रयोजन कहते हैं—

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ।
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोऽनुरागं तं विधित्सति ॥२०२॥

भोग्यानां=पति जायादि भोग्य पदार्थ, **भोक्तृशेषत्वात्**=भोक्ता का भोग साधन है इसलिये, **भोग्येषु**=भोग्य पदार्थों में, **मा अनुरज्यताम्**=अनुराग नहीं करना चाहिए, **अतः**=इस लिये, **प्रधाने भोक्तरि एव**=प्रधान जो भोक्ता है उसी में, **तं अनुरागं**=वह अनुराग करना चाहिए, **विधित्सति**=इस प्रकार अनुराग को विधान करने की इच्छा श्रुति करती है॥२०२॥

भोग्य पदार्थों में भले ही ऐसा हो परन्तु श्रुति में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ अर्थात् व्याख्येय श्रुति में क्या प्राप्त हुआ इस प्रकार आशंका के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहते —

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥२०३॥

अविवेकानां=आत्म ज्ञान रहित मनुष्यों का, **विषयेषु**=संसार के विषयों में, **अनपायिनी या प्रीतिः**=दृढ़ जो प्रेम है, **माप**=हे लक्ष्मीपते, **सा**=वह प्रेम, **त्वाम् अनुस्मरतः**=आप के सदा चिन्तन

करने वाले, मे हृदयात्=मेरे मन से, सर्पतु=हट जावे (अर्थात् मेरा मन विषयासक्ति छोड़ कर आप में सदा स्थिर रहे)।

अथवा—

अविवेकानां=अज्ञानियों में, विषयेषु=विषयों में, अनपायिनी या प्रीतिः=अति दृढ़ जिस प्रकार प्रेम है, सा=वैसा ही आप में प्रेम, त्वाम् अनुस्मरतः=आप के स्मरण करने वाले, मे हृदयात्=मेरे मन से, माऽपसर्पतु=मत हटे किन्तु सदा बना रहे ॥२०३॥

पुराणों में भले ही ऐसा हो परन्तु श्रुति में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ अर्थात् व्याख्येय श्रुति में क्या प्राप्त हुआ इस प्रकार आशंका के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहते हैं—

इति न्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः।
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्येनं बुभुत्सते ॥२०४॥

इति न्यायेन=इस पुराणोक्त न्याय से अर्थात् वचन से, सर्वस्मात्=सम्पूर्ण, भोग्यजातात्=भोग्य पदार्थ से, विरक्तधीः=वैराग्य युक्त बुद्धि वाला मनुष्य, तां प्रीतिं=भोग्य पदार्थों में जो प्रेम है उस को, भोक्तरि=भोक्ता आत्मा में, उपसंहृत्य=एकत्रित कर अर्थात् विषयों से हटा कर आत्मा में संलग्न करके, एनं=इस आत्मा को, बुभुत्सते=जानने की इच्छा करता है (पुराण के दृष्टान्त से श्रुति का यह तात्पर्य निकलता है) ॥२०४॥

इस प्रकार आत्मा में ही प्रेम का उपसंहार करने पर उसका फल दृष्टान्त सहित कथन करते हैं—

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः।
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥२०५॥

पामरः=पामर पुरुष, स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु=माला, चन्दन, वधू, वस्त्र, सुवर्ण आदि विषयों में, यथा अप्रमत्तः=जैसे सावधान रहता है, तद्वत्=उसी प्रकार मुमुक्षु भी, भोक्तरि=आत्मा में, न प्रमाद्यति=प्रमाद नहीं करता किन्तु आत्मचिन्तन करता हुआ स्थित होता है ॥२०५॥

प्रमाद के अभाव को (जिज्ञासु जनों के आत्मा में प्रमाद के अभाव को) बहुत से दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्यति निरन्तरम् ।
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥२०६॥

यथा विजिगीषुः=जैसे शास्त्रार्थ में जय कामी, **काव्यनाटकतर्कादिम्**=काव्य, नाटक, तर्कादि शास्त्रों का, **निरन्तरम्**=सदा, **अभ्यस्यति**=अभ्यास करता है, **तद्वत् मुमुक्षुः**=उसी प्रकार मुमुक्षु भी सर्वदा, **स्वं विचारयेत्**=अपने स्वरूप आत्मा का विचार करे॥२०६॥

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ।
स्वर्गादिवाञ्छया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षया ॥२०७॥

यथा स्वर्गादिवाञ्छया=जैसा स्वर्गादि के अर्थी स्वर्ग की इच्छा से, **जपयाग उपासनादि**=स्वर्ग के साधन जप, यज्ञ, उपासनादि, **श्रद्धया कुरुते**=श्रद्धा पूर्वक करता रहता है, **तद्वत्**=उसी प्रकार मुमुक्षु भी, **मुमुक्षया**=मोक्ष की इच्छा से, **स्वे**=श्रुति वोधित अपनी आत्मा में, **श्रद्दध्यात्**=विश्वास करें ॥२०७॥

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ।
अणिमादि प्रैप्सयैवं विविच्यात्स्वं मुमुक्षया ॥२०८॥

योगी=योगाभ्यास करने वाला, **अणिमादिप्रेप्सया**=अणिमा, लघिमादि ऐश्वर्य के लाभ की इच्छा से, **महायासेन चित्तैकाग्र्यम्**=बड़े प्रयत्न सेचित्त की एकाग्रता का, **यथा साधयेत्**=जैसे सम्पादन करते हैं, **एवं**=उसी प्रकार मुमुक्षु भी, **मुमुक्षया**=मुक्ति की इच्छा से, **स्वं**=अपने स्वरूप आत्मा को, **विविच्यात्**=सदा देहादियों से विवेक करके अनुभव करें ॥२०८॥

आत्मा के विचारादि का सदा अभ्यास करने से क्या फल प्राप्त होगा ऐसी आकांक्षा का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ।
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥२०९॥

यथा तेषाम्=जैसे काव्य आदि शास्त्र अभ्यास करने वाले का, **अभ्यासपाटवात्**=अभ्यास के बल से, **कौशलानि विवर्धन्ते**=कुशलता बढ़ती है, **तद्वत्**=उसी प्रकार, **अस्य अपि अभ्यासात्**=इस मुमुक्षु को भी अभ्यास के बल से, **विवेकः**=देहादि से भेद ज्ञान, **विशदायते**=स्पष्ट होता है ॥२०९॥

विवेक की स्पष्टता का फल कहते हैं—

विविंचता भोक्तृतत्त्वं जाग्रदादिष्वसङ्गता ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥२१०॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां=अन्वय और व्यतिरेकरूप युक्ति से, **भोक्तृतत्त्वं**=भोक्ता के वास्तव स्वरूप को, **विविंचता**=जड़ भोग्य पदार्थों से भिन्न करके जानने वाला पुरुष, **जाग्रदादिषु**=जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था में, **साक्षिणि असङ्गता**=साक्षी की असङ्गता का, **अध्यवसीयते**=निश्चय कर सकता है ॥२१०॥

अब अन्वय व्यतिरेक को दिखाते हैं—

यत्र यद्दृश्यते द्रष्ट्रा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥२११॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु=जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं के मध्य में, **यत्र**=जाग्रत्, स्वप्न,सुषुप्ति किसी भी अवस्था में, **यत्**=जो स्थूल, सूक्ष्म अथवा आनन्द त्रिविध भोग्य वस्तुको, **द्रष्ट्रा दृश्यते**=द्रष्टा साक्षी अनुभव करता है, **तत् तत्र एव**=वह दृश्य उसी स्थान में अर्थात् उसी अवस्था में होता है, **इतरत्र न**=दूसरी अवस्था में नहीं होता (द्रष्टा तो सभी अवस्थाओं अनुगत रहता है), **इति अनुभूतिः**=इस प्रकार का अनुभव, **सम्मता हि**=सर्व सम्मत है, यह लोक में प्रसिद्ध है ॥२११॥

उक्त अर्थ में केवल अनुभव ही प्रमाण नहीं किन्तु श्रुति भी प्रमाण है, इस अभिप्राय से श्रुति के दो वाक्यों का अर्थ से पाठ करते हैं—

स यत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत् ।

दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिण्डिमः ॥२१२॥

सः=वह आत्मा, **तत्र**=उस अवस्था में, **यत् किंचित् ईक्षते**=जो कुछ भोग्य वस्तु को देखता है, **तेन**=उस दृश्य से, **अनन्वागतः भवेत्**=उस का अनुगमन नहीं करता (किन्तु स्वयं अकेला हि अवस्थान्तर को प्राप्त होता हैं), **पुण्यं**=पुण्य का फल सुख, **च पापं**=और पाप का फल दुःख, **दृष्ट्वा एव**=अनुभव करने के पश्चात् (उस को ग्रहण न करता हुआ दूसरी अवस्था को प्राप्त करता है), **इति एवं**=इस प्रकार, **श्रुतिषु डिंडिमः**=वेदों में डिंडोरा है ॥२१२॥

भोक्ता के वास्तव स्वरूप का विवेचन करने वाली अन्य श्रुतियों को भी दिखाते हैं—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।

तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥२१३॥

यत्=जो सत्यज्ञान आनन्द स्वरूप ब्रह्म साक्षी रूप से स्थित होकर, **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं**=जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपंच को, **प्रकाशते**=प्रकाश करता है, **तद् ब्रह्म अहम्**=वह ब्रह्म मैं हूँ (बुद्धि चिदाभासादि मैं नहीं हूँ), **इति ज्ञात्वा**=ऐसा निश्चय करके (ज्ञानवान्), **सर्व बन्धैः**=सम्पूर्ण बन्धनों से, **प्रमुच्यते**=सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥२१३॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।

स्थानत्रयव्यतितस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥२१४॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु=जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में, **एक एव आत्मा मन्तव्यः**=एक ही आत्मा जानने योग्य है, **स्थानत्रयव्यतितस्य**=विवेक ज्ञान से तीनों अवस्थाओं से पृथक् निश्चय किये हुए आत्मा का, **पुनर्जन्म न विद्यते**=पुनर्जन्म नहीं होता ॥२१४॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ।

तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥२१५॥

त्रिषु धामसु =तीनों अवस्थाओं में, यद् भोग्यं=स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द रूप भोग्य वस्तु है, भोक्ता=और विश्व, तैजस, प्राज्ञ रूप जो भोक्ता है, भोगः च=तथा उनका अनुभव रूप जो भोग, यद् भवेत्=और इससे आदि लेकर जो कुछ विद्यमान है, तेभ्यः विलक्षणः=उन अवस्थादियों से भिन्न, चिन्मात्रः=केवल चैतन्यात्मक, साक्षी सदाशिवः=साक्षी रूप निरतिशय आनन्द स्वरूप होने से सर्वदा शोभायमान जो परमात्मा हैं, अहं=मैं हूँ ॥२१५॥

इस प्रकार विवेक से आत्मतत्त्व असंग है यह निश्चय होने पर अर्थात् आत्मा भोक्ता नहीं ऐसा विवेक होने से, भोक्तापन किस में है इस आकांक्षा का उत्तर कहते हैं—

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ।
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते॥२१६॥

एवं=पूर्वोक्त प्रकार से, तत्त्वे विवेचिते=असंग आत्मतत्त्व का विवेक द्वारा निश्चय होने पर, यः विज्ञानमयशब्दितः=जो विज्ञानमय शब्द का अर्थ, चिदाभासः विकारी=चिदाभास विकारी होने से, तस्य भोक्तृत्वं=वही भोक्ता है, शिष्यते=परिशेष से ऐसा निश्चय होता है ॥२१६॥

चिदाभास को भोक्ता अंगीकार करोगे तो भोक्ता के अभाव को कहने के लिये 'कस्य कामाय' यह श्रुति है इस प्रकार का पूर्वोक्त (१९२ श्लोक में) आप का वचन विरुद्ध होगा ऐसी आशंका के उत्तर में विरोधाभास दिखाने के लिए उस पूर्वोक्त वचन का वास्तव भोक्ता का अभाव अर्थ है इस अभिप्राय को लेकर भोक्ता चिदाभास का मिथ्यात्व प्रतिपादन करते हैं—

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ।
इन्द्रजालं जगत्प्रोक्तं तदन्तः पात्ययं यतः ॥२१७॥

अयं चिदाभासः=यह चिदाभास, मायिकः=मायाधीन होने से मिथ्या है, श्रुतेः=यह वार्ता (जीवेशौ आभासेन करोति) इस श्रुति प्रमाण से, अनुभवाद् अपि=और अनुभव से भी (त्रिपुटी के

अन्तर्गत अनुभूत होने से भी) सिद्ध होता है, जगत्=सम्पूर्ण संसार, इन्द्र जालं प्रोक्तं=इन्द्र जाल के समान मिथ्या कहा गया है, यतः अयम्=और जिस कारण से यह चिदाभास, तदन्तः पाती=संसार के अन्तर्गत है ॥२१७॥

जगत् की न्याईं विनाशी रूप से अनुभूत होने के कारण भी यह चिदाभास मिथ्या है इस बात को अग्रिम श्लोक में कहते हैं—

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ।
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनः पुनः ॥२१८॥

सुप्त्यादौ=सुषुप्ति, मूर्छा आदि अवस्थाओं में, अस्य=इस चिदाभास का, विलयः अपि=नाश भी, साक्षिणा=साक्षी के द्वारा, हि अनुभूयते=निश्चय करके अनुभूत होता है (इस लिये भी चिदाभास मिथ्या है), एतादृशं= (कूटस्थ से विवेचन किया हुआ चिदाभास मिथ्या है ऐसा जान लेने पर) इस प्रकार, स्वस्वभावं=अपने मिथ्या स्वरूप को (चिदाभास), पुनः पुनः=बारम्बार, विविनक्ति =कूटस्थ से पृथक् करके जानता रहता है ॥२१८॥

इस प्रकार मिथ्यात्व निश्चय से भी क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं—

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वाञ्छति ।
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवाञ्छति॥२१९॥

विविच्य=(कूटस्थ से अपने स्वरूप का) विवेक करने के पश्चात्, नाशं निश्चित्य=अपने नाश का निश्चय करने पर, पुनः =फिर से, भोगं=भोग की, न वाञ्छति=इच्छा नहीं करता, भूमौ शायितः=जैसे पृथ्वी पर लेटाया हुआ, मुमूर्षुः=मरने वाला मनुष्य, कः=कौन ऐसा होगा जो, विवाहं=विवाह करना, अभिवाञ्छति= चाहता है ॥२१९॥

अपना नाश देखता हुआ चिदाभास भोग की इच्छा नहीं करेगा केवल इतना ही नहीं किन्तु पहले की न्याईं मैं भोक्ता हूँ इस

प्रकार व्यवहार करने को भी लज्जित होता है इस बात को कहते हैं—

जिह्रेति व्यवहर्तुं च भोक्ताहमिति पूर्ववत् ।
छिन्ननासः इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥२२०॥

पूर्ववत्=पहले की न्याईं, **अहं भोक्ता इति**=मैं भोक्ता हूँ इस प्रकार, **व्यवहर्तुं**=व्यवहार करने को अर्थात् मानने को, **जिह्रेति च**=लज्जित भी होता है, **छिन्ननासः इव**=नाक कटा पुरुष की न्याईं, **ह्रीतः**=लज्जित हो कर, **क्लिश्यन्**=क्लेश अनुभव करता हुआ, **आरब्धम्**=प्रारब्ध कर्म का फल, **अश्नुते**=भोगता है ॥२२०॥

अब ज्ञान के अनन्तर साक्षी में भोक्तापने के अभाव को कैमुतिक न्याय से सिद्ध कर के दिखाते हैं—

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मन्तुं जिह्रेत्यय तदा ।
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥२२१॥

अयं=यह चिदाभास, **स्वस्य अपि**=अपना भी, **भोक्तृत्वं**=भोक्तापन, **मन्तुं**=मानने को, **यदा जिह्रेति**=जब लजाता है, **तदा एतत्**=तब स्वगत भोक्तृत्व को, **साक्षिणि**=साक्षी में अर्थात् असङ्ग चैतन्य में, **आरोपयेत्**=आरोप करेगा, **इति**=ऐसी, **वृथा**=(व्यर्थ की) निरर्थक, **कथा का एव**=कथा ही क्या है अर्थात् भोक्तृत्व को साक्षी में आरोप नहीं करेगा, इसमें कहना ही क्या है ॥२२१॥

कहे हुए अर्थ को श्रुति के अभिप्राय रूप से वर्णन करते हैं—

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशङ्कया ।
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ॥२२२॥

कस्य कामाय इति='कस्य कामाय' यह पूर्वोक्त श्रुति, **इति अभिप्रेत्य**=(कूटस्थ का अथवा चिदाभास का वास्तव भोक्तृत्व है नहीं) इस अभिप्राय से, **अविशंकया**=निःशंक हो कर, **भोक्तारम्**=भोक्ता का, **आक्षिपति**=निराकरण करती है, **ततः**=भोक्ता का निराकरण होने से, **शरीरानुज्वरः न हि**=शरीर के पीछे (शरीर में आत्मभाव पूर्वक) सन्ताप नहीं प्राप्त होता ॥२२२॥

तत्त्ववेत्ता को शरीर कृत सन्ताप नहीं होता इस बात को दिखाने के लिये शरीर का भेद और भिन्न भिन्न शरीरों में भिन्न भिन्न सन्तापों की विद्यमानता को प्रदर्शन करते हैं—

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ।

अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥२२३॥

स्थूलं सूक्ष्मं=स्थूल, सूक्ष्म, **कारणं च**=और कारण शरीर इस भेद से, **शरीरं त्रिविधं स्मृतं**=शरीर तीन प्रकार का कहा गया है, **तत्र तत्र**=तिस तिस शरीर में, **उचितः ज्वरः**=योग्य सन्ताप भी, **त्रिविधः**=तीन प्रकार का, **अवश्यम् अस्ति एव**=अवश्य है ही ।२२३।

तीनों शरीरों के मध्य में प्रथम स्थूल शरीर में विद्यमान सन्ताप अर्थात् सन्ताप के हेतु को दिखाते हैं —

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ।

दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयस्तथा ॥२२४॥

तनौ=स्थूल शरीर में, **वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः**=वायु, पित्त, और कफ से उत्पन्न होने वाले रोग, **कोटिशः**=करोड़ों प्रकार के है, **तथा**=और, **दुर्गन्धित्वकुरूपत्वदाहभङ्गादयः**=दुर्गन्ध, कुत्सित रूप, जलना और टूटना इन से उत्पन्न होने वाले अनेक सन्ताप विद्यमान हैं ॥२२४॥

सूक्ष्म शरीर में होने वाले ज्वर अर्थात् सन्तापों को दखाते हैं—

कामक्रोधादयः शान्तिदान्त्याद्या लिङ्गदेहगाः ।

ज्वरा द्वयेऽपि बाधन्ते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥२२५॥

कामक्रोधादयः=काम, क्रोध, लोभ आदि, **शान्तिदान्त्याद्याः**=तथा शम, दम आदि यह सब, **लिङ्गदेहगाः**=सूक्ष्म शरीर में होने वाले, **ज्वराः**=सन्ताप है, **द्वये अपि**=क्यों कि दोनों प्रकार के भी यह सन्ताप, **प्राप्त्या अप्राप्त्या**=प्राप्ति और अप्राप्ति के द्वारा, **क्रमात्**=क्रम से, **नरं**=मनुष्य को, **बाधन्ते**=दुःखित करते हैं अर्थात

काम क्रोध आदि प्राप्ति के द्वारा दुःखित करते हैं और शम, दम आदि अप्राप्ति के द्वारा दुःखित करते हैं ॥२२५॥

अब कारण शरीर में स्थित ज्वर छान्दोग्य श्रुति में कहा है इस बात को ग्रन्थकार कहते हैं—

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे ।

आगामिदुःखबीजं चेत्येतदिन्द्रेण दर्शितम् ॥२२६॥

कारणे विनष्ट इव=कारण शरीर अज्ञान में नष्ट हुए की न्याईं, आत्मा=यह आत्मा, स्वं परं च=अपने को तथा दूसरे को, न वेत्ति=नहीं जानता है, आगामि दुःख बीजं च=और दूसरे दिन में आने वाले भविष्य दुःख का बीज कारण भी है, इति एतत्=इस प्रकार कारण शरीर के सन्ताप को, इन्द्रेण दर्शितं=इन्द्र ने प्रजापति के सामने निवेदन किया ॥२२६॥

इस प्रकार तीनों देहों में सन्ताप को कह कर सन्तापों की अपरिहार्यता को कहते हैं—

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ।

वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥२२७॥

त्रिषुशरीरेषु=तीनों शरीरों में प्रतीत होने वाले, एते ज्वराः=यह पूर्वोक्त सन्ताप, स्वाभाविकाः मताः=(शरीरों के साथ ही उत्पन्न होने के कारण) स्वभाव सिद्ध माने गये हैं, ज्वरैः वियोगे तु=क्यों कि सन्तापों से शरीरों का वियोग होने पर, तानि शरीराणि=वे तीनों शरीर, न आसते एव=विद्यमान रहते ही नहीं ॥२२७॥

पूर्वोक्त विषय में दृष्टान्त कहते—

तन्तोर्वियुज्येत पटो बालेभ्यः कम्बलो यथा ।

मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥२२८॥

यथा=जैसे, तन्तोः=तन्तु से, पटः=वस्त्र, वियुज्येत=अलग होने पर नहीं ठहरता हैं, बालेभ्यः कम्बलः=बालों से अलग होने पर कम्बल नहीं ठहरता तथा, मृदः घटः=मिट्टी से अलग हो कर घड़ा

नहीं ठहर सकता, तथा=उसी प्रकार, ज्वरेभ्यः=सन्तापों से अलग हो कर, देहः अपि=शरीर भी नहीं ठहर सकता, इति दृश्यताम्= इस प्रकार दृष्टान्त से जान लेना चाहिए ॥२२८॥

अब कूटस्थ आत्मा में सन्ताप के अभाव को कैमुतिक न्याय से प्रदर्शन करने की इच्छा से चिदाभास में प्रथम ज्वराभाव को दिखाते हैं –

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ।
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥२२९॥

चिदाभासे=चिदाभास में, स्वतः=स्वरूप से अर्थात् तीनों शरीरों के सन्ताप के सम्बन्ध बिना, कः अपि=कोई भी, ज्वरः न अस्ति=सन्ताप नहीं है, यतः=क्यों कि, चितः=चैतन्य का, प्रकाशैकस्वभावत्वम् एव=प्रकाश मात्र स्वभाव ही विद्वानों के अनुभव से दृष्टं सिद्ध है दूसरा स्वभाव नहीं देखा गया। इतरत् च न =

तात्पर्य यह है-बिम्ब का जैसा स्वभाव होता है प्रतिबिम्ब का भी वैसा ही स्वभाव अनुभव सिद्ध है इसलिये जो प्रकाश मात्र स्वभाव वाला चैतन्य है उसका प्रतिबिम्ब चिदाभास भी प्रकाश मात्र स्वभाव वाला ही होने से उसमें सन्ताप स्वरूप से नहीं हो सकता ॥२२९॥

कूटस्थ चैतन्य में सन्ताप असम्भव है इस बात को उद्देश्य करके ही चिदाभास में ज्वराभाव पूर्व श्लोक में दिखाया अब अभिप्रेत उद्देश्य को अग्रिम श्लोक में दिखाते हैं—

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ।
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥२३०॥

चिदाभासे अपि=जब चिदाभास में भी, ज्वराः असम्भाव्याः =सन्ताप सम्भव नहीं है, साक्षिणि का कथा=तब साक्षी में सन्ताप की सम्भावना नहीं है इस में क्या कहना है, एवम् अपि=तथापि, चिदाभासः=चिदाभास, अविद्यया हि=अविद्या से ही, एकतां मेने= शरीर आदि के साथ अभेद भाव को मानता है (इस लिये मैं सन्ताप वाला हूँ अर्थात् दुःखी हूँ ऐसा अनुभव होता है) ॥२३०॥

पूर्व श्लोक में संक्षेप से कहा गया जो अभेद भ्रम है, उसी का विस्तार अगले श्लोक में करते हैं—

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ।
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥२३१॥

स्वेन उपेते=चिदाभास अपने सहित, वपुस्त्रये=तीनों शरीरों में, साक्षिसत्यत्वम्=साक्षी की सत्यता को, अध्यस्य=भ्रम से मान कर, तत्सर्वं=सन्ताप करने वाले तीनों शरीरों को, स्वस्य वास्तवं स्वरूपं=यह अपना वास्तव स्वरूप है (यह शरीर त्रय मैं हूं), इति मन्यते=ऐसा मानता है ॥२३१॥

पूर्वोक्त भ्रान्ति ज्ञान के होने पर आगे इसका कार्य क्या होता है इस आशंका की पूर्ति के लिये कहते हैं--

एतस्मिन्भ्रान्तिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ।
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुम्बिवत् ॥२३२॥

अयम्=यह चिदाभास, एतस्मिन्भ्रान्ति काले=इस भ्रान्ति काल में, शरीरेषु ज्वरत्सु अथ=शरीर सन्ताप युक्त होने पर, स्वयम् एव ज्वरामि=मैं खुद ही सन्तप्त हूँ, इति मन्यते हि=इस प्रकार मानता है (अर्थात् शरीर में स्थित सन्ताप को अपने स्वरूप में आरोप करता है), कुटुम्बिवत्=जैसे कि कुटुम्ब वाला मनुष्य सन्तप्त होता है ॥२३२॥

कुटुम्बिवत्- इस दृष्टान्त का विस्तार पूर्वक कथन करते हैं—

तपत्सु पुत्रदारेषु तपामीति वृथा यथा ।
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥२३३॥

पुत्रदारेषु तपत्सु=पुत्र, स्त्री आदि सन्तप्त होने पर, तपामि=मैं सन्तप्त हूँ अर्थात् दुःखी हूँ, इति वृथा=इस प्रकार व्यर्थ ही, यथा पुरुषः मन्यते=जैसे कुटुम्बी पुरुष मानता है, तद्वत् आभासः अपि=उसी प्रकार चिदाभास भी, अभिमन्यते=मिथ्या अभिमान करता है ॥२३३॥

इस प्रकार अविवेक दशा में भ्रान्ति से प्राप्त सन्ताप को दिखाकर, अब विवेक दशा में भ्रान्ति नाश होने पर सन्ताप के अभाव को दिखाते हैं—

विविच्य भ्रान्तिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन् सदा ।
चिन्तयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥२३४॥

विविच्य=चिदाभास अपने वास्तव स्वरूप कूटस्थ को तथा अपने से भिन्न शरीरों को जानकर, **भ्रान्तिम् उज्झित्वा**=पूर्वोक्त भ्रान्ति का त्याग करके, **स्वम् अपि अगणयन्**=(अपने मिथ्या ज्ञान से) अपना भी आदर नहीं करता हुआ, **साक्षिणं सदा**=अपने वास्तव स्वरूप असंग साक्षी का सर्वदा, **चिन्तयन्**=चिन्तन करता हुआ, **शरीरम् अनु**=शरीर को (अनुसरण करता हुआ) अपना स्वरूप मानकर, **कस्मात् संज्वरेत्**=किस हेतु से शरीर के सन्ताप से अपने को सन्तप्त करेगा अर्थात् किसी भी कारण से नहीं करेगा ॥२३४॥

भ्रान्तिज्ञान सन्ताप का कारण है और तत्त्वज्ञान सन्ताप नाश का कारण है इस बात को दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ।
रज्जुज्ञानेऽहिधीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥२३५॥

अयथावस्तु सर्पादिज्ञानं=(रज्जु आदि में कल्पित) मिथ्या सर्प आदि का ज्ञान, **पलायने हेतुः**=भागने में कारण है, **रज्जुज्ञाने**=रज्जु आदि के ज्ञान होने पर, **अहिधीध्वस्तौ**=सर्प आदि का मिथ्या ज्ञान ध्वस्त होने पर, **कृतम् अपि**=किये हुए पलायन का भी, **अनुशोचति**=अनुताप करता है कि मैंने वृथा ही भागने का कष्ट उठाया ॥२३५॥

साक्षी का चिन्तन सदा करना चाहिए इस पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ।
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥२३६॥

मिथ्याभियोगदोषस्य=जैसे लोक में मिथ्या कलंक लगाने वाला अपने दोष के, **प्रायश्चित्तप्रसिद्धये**=निवारक प्रायश्चित्त सिद्धि के लिये (जिस पर कलंक लगाया उससे बार बार क्षमा याचना कर) अपने दोष माफ करवा लेता है उसी प्रकार, **साक्षिणम् आत्मानं**=(यह चिदाभास भी साक्षी रूप असङ्ग आत्मा में भोक्तृत्व आदि की कल्पना रूप जो मिथ्या कलंक पहले लगाया था उस दोष के निवारणार्थ प्रायश्चित्त करने के लिये) साक्षी रूप आत्मा से, **क्षमापयन् इव**=अपनी माफी करवाते हुए की न्याईं, **शरणं गतः**=साक्षी आत्मा की शरण जाता हैं ॥२३६॥

पूर्व उक्त अर्थ में अन्य दृष्टान्त भी कहते हैं—

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ।
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥२३७॥

यथा=जैसे पापी पुरुष, **आवृत्तपापनुत्त्यर्थं**=अभ्यस्त पाप के नाश के लिये, **स्नानादि**=शास्त्र विहित स्नानादि प्रायश्चित्त का, **आवर्त्यते**=पुनः पुनः अनुष्ठान करता है, **ध्यानम् आवर्तयन् इव**=(उसी प्रकार यह चिदाभास भी साक्षी में संसारीपने का आरोप रूप दोष के निवारण के लिये) ध्यान का बारम्बार अभ्यास करते हुए की न्याईं, **सदा**=सर्वदा, **साक्षिपरायणः**=साक्षी परायण होता है ॥२३७॥

चिदाभास की साक्षी परायणता को दृष्टान्त से वर्णन करने के अनन्तर अब चिदाभास अपने गुण प्रकट करने के लिये भी लज्जित होता है इस बात को दृष्टान्त सहित कहते हैं—

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ।
जानतोऽग्रे तथाऽऽभासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥२३८॥

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या=उपस्थ में कुष्ठ रोग वाली वेश्या, **जानतः अग्रे**=उस दोष को जानने वाले के सामने, **विलासेषु**=विहार करने में, **विलज्जते**=जैसे लज्जित होती है, **तथा**=उसी

प्रकार, आभासः = चिदाभास भी, स्वप्रख्यातौ = अपने गुणों के प्रगट करने में, विलज्जते = लज्जित होता है ॥२३८॥

अब तीनों शरीरों से विवेचन किये हुए चिदाभास को उन शरीरों के साथ पुनः अभेद भ्रम नहीं होता है इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन्पुनः ।
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथाऽऽभासः शरीरकैः ॥२३९॥

म्लेच्छैः = म्लेच्छों के द्वारा, गृहीतः = पकड़ा हुआ, ब्राह्मणः = ब्राह्मण, प्रायश्चित्तं चरन् = उसका प्रायश्चित्त करता हुआ, पुनः-म्लेच्छैः = फिर से यवनों के साथ, न एव संकीर्यते = नहीं मिलाप करता है (सांकर्य को नहीं प्राप्त करता), तथा = उसी प्रकार, आभासः = चिदाभास भी, शरीरकैः = कुत्सित शरीर के साथ पुनः अभेद भ्रम नही करता ॥२३९॥

केवल अपने अपराध की निवृति के लिये साक्षी का अनुसरण किया जाता है इतनी ही बात नहीं किन्तु मुक्ति रूप महान् प्रयोजन की सिद्धि के लिये भी साक्षी का अनुसरण चिदाभास करता है इस बात को सिंहावलोकन न्याय से दृष्टान्त सहित कहते हैं—

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवाञ्छया ।
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ॥२४०॥

यौवराज्ये = युवराज पद में, स्थितः राजपुत्रः = स्थित राजपुत्र जैसे, साम्राज्य वाञ्छया = राज्य सुखादि की इच्छा से, राजानुकारी भवति = राजा के आज्ञाकारी अर्थात् राजा के समान प्रजा रञ्जन आदि गुणवान् होता है, तथा = उसी प्रकार, अयं = यह चिदाभास (ब्रह्मभाव रूप मुक्ति प्राप्ति के लिये), साक्ष्यनुकारी = साक्षी आत्मा का अनुकरण करने वाला होता है, ॥२४०॥

युवराज को राजा के अनुसरण करने पर साम्राज्य की प्राप्ति देखने में आती है परन्तु साक्षी के अनुसरण करने से चिदाभास को

साम्राज्य फल की प्राप्ति देखने में नहीं आती इसलिये साक्षी के अनुसरण में चिदाभास की व्यर्थ प्रवृत्ति क्यों होगी ऐसी आशंका के उत्तर में चिदाभास की प्रवृत्ति का प्रयोजन अर्थात् साफल्य प्रदर्शन करते हैं—

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिम् ।
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥२४१॥

यो ब्रह्म वेद=जो अधिकारी ब्रह्म को जानता है (ब्रह्म का साक्षात्कार करता है), **ब्रह्म एव भवति**=वह ब्रह्म ही हो जाता है, **एव**=यह बात निश्चित है, **इति श्रुतिं**=इस श्रुति वचन को, **श्रुत्वा**=सुन कर (श्रुति से उक्त फल ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिये) **तदेकचित्तः सन्**=ब्रह्म मात्र में चित्त स्थिर करता हुआ, **ब्रह्मवेत्ति**=साक्षी से अभिन्न ब्रह्म को ही जानता है, **इतरत् च न**=और दूसरे को जानने की इच्छा नहीं करता ॥२४१॥

ब्रह्मज्ञान से ब्रह्मभाव की प्राप्ति होने पर चिदाभास का स्वरूप जीवत्व का ही नाश हो जायेगा अतः अपने विनाश के लिये चिदाभास की प्रवृत्ति कैसे बन सकती अर्थात् नहीं बनेगी ऐसी आशंका के उत्तर में आगे का श्लोक कहते हैं—

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा ।
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वाञ्छति ॥२४२॥

यथा=जैसे इस लोक में, **देवत्वकामाः हि**=देवभाव प्राप्ति की इच्छा वाले मनुष्य, **अग्न्यादौ**=अग्नि आदि में, **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, **तथा**=इसी प्रकार, **स**=वह चिदाभास, **साक्षित्वेन**=साक्षी रूप से, **अवशेषाय**=स्थित होने के लिये, **स्वविनाशं**=अपने विनाश की, **वाञ्छति**=इच्छा करता है (इसलिये अपने स्वरूप के नाश का हेतु ब्रह्मज्ञान में ही चिदाभास की प्रवृत्ति बन सकती है) ॥२४२॥

तत्त्वज्ञान के द्वारा जीवभाव का यदि नाश हो जाता है तो तत्त्ववेत्ता के लिये यह मुक्त जीव है, इस प्रकार का जीवत्व

व्यवहार कैसे बनेगा, ऐसी आशंका करके-प्रारब्धक्षय पर्यन्त जीवत्व व्यवहार बन सकता है इस बात का दृष्टान्त सहित कथन करते हैं —

यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ।

यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥२४३॥

सः=अग्नि आदि में प्रविष्ट पुरुष, **यावत्स्वदेहदाहं**=अपने देह का दाह से नाश पर्यन्त, **नरत्वं**=नर व्यवहार योग्यता को, **न एव मुञ्चति**=नहीं त्यागता, **यावद् आरब्धदेहं**=उसी प्रकार प्रारब्धजन्य देह की स्थिति पर्यन्त अर्थात् प्रारब्ध क्षय पर्यन्त, **आभासत्वविमोचनं**=चिदाभासत्व (जीवत्व) व्यवहार की निवृत्ति, **न स्यात्**=नहीं होती है ॥२४३॥

अब कर्तृत्व भोक्तृत्वादि भ्रम का उपादान अज्ञान निवृत्त हो जाने से भोग की अनुवृत्ति कैसे होगी, अर्थात् भोग कैसे बना रहेगा और मैं मनुष्य हूँ इत्यादि विपरीत प्रतीति भी कैसे होगी इस आशंका का उत्तर दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा अग्रिम श्लोक में कहते हैं—

रज्जुज्ञानेऽपि कम्पादिः शनैरेवोपशाम्यति ।

पुनर्मन्दान्धकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ॥२४४॥

रज्जुज्ञाने अपि=रज्जु के ज्ञान होने पर (सर्पज्ञानादि की निवृत्ति के पश्चात्) भी, **कम्पादिः**=भय जनित कंप आदि, **शनैः एव**=धीरे-धीरे ही, **उपशाम्यति**=निवृत्त होता है, **पुनः मन्दान्धकारे**=फिर कदाचित् अल्पान्धकार में, **सा रज्जुः**=वह रज्जु, **क्षिप्ता**=क्षुब्ध होकर, **उरगी भवेत्**=भ्रम से सर्प हो जाता है ॥२४४॥

दृष्टान्त में कही हुई बात को दार्ष्टान्तिक में योजना करके दिखाते हैं—

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ।

भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥२४५॥

एवम्=उसी प्रकार, **आरब्ध भोग अपि**=प्रारब्ध कर्म का

भोग भी, शनैः शाम्यति=धीरे-धीरे समाप्त होता है, हठात् नो=एक दम नहीं होता, कदाचित् तु=कभी तो, भोग काले=प्रारब्ध भोग काल में, अहं मर्त्यः=मैं मनुष्य हूँ अर्थात् मैं कर्ता भोक्तारूप हूँ, इति भासते=इस प्रकार प्रतीति भी हो सकती है ॥२४५॥

ज्ञान के अनन्तर भी अहं भोक्ता इत्यादि बुद्धि की उत्पत्ति मानोंगे तो उससे तत्त्व ज्ञान का बाध हो जायेगा ऐसी आशंका का उत्तर देने के लिये अग्रिम श्लोक का अवतारण करते हैं -

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ।
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु ॥२४६॥

एतावता अपराधेन=इतने मात्र दोष से (कदाचित् मैं मनुष्य हूँ इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से), तत्त्व ज्ञानं=(आगम प्रमाण से उत्पन्न) यथार्थ ज्ञान (अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार तत्त्व ज्ञान), न विनश्यति=नहीं नष्ट होता है क्यों कि, इदं=यह (मनुष्यत्व-बुद्धि निराकण), जीवन्मुक्ति व्रतं=जीवन्मुक्ति (नियम से अनुष्ठान करने योग्य कोई) व्रत, न=नहीं हैं, किन्तु=परन्तु, खलु=निश्चय कर के, वस्तुस्थितिः=(तत्त्व ज्ञान से भ्रम ज्ञान की निवृत्ति रूप) वस्तु स्वभाव है (इस लिये कदाचित् मैं मनुष्य हूँ इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न होनें पर भी वह तत्त्व ज्ञान से बाध्य ही होती हैं) ॥२४६॥

रज्जु सर्पादि स्थल में भ्रम ज्ञान की निवृत्ति होने पर भी भ्रम ज्ञान का कार्य भयकम्पादि अनुवृत्त भले ही रहे किन्तु प्रकृत दृष्टान्त दशम पुरुष में तो दशम है इस प्रकार वाक्य के विचार से जन्य ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होने पर उसके कार्य की अनुवृत्ति नहीं देखने में आती है ऐसे पूर्वपक्ष के उत्तर में कहते हैं -

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुद्ध्वा न रोदिति ।
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ॥२४७॥

शिरस्ताडं=सिर पीट पीट कर, रुदन् अपि=रोदन करता हुआ भी, दशमः=दशम पुरुष ('दशमः त्वम् असि' इस वाक्य के विचार से), बुद्ध्वा=मैं दशमा हूँ ऐसा जान कर, न रोदिति=

शिरस्ताड़न पूर्वक रोदन नहीं करता, शिरोव्रणस्तु=परन्तु मस्तक का घाव तो, शनैः=धीरे धीरे, मासेन=मासावधि काल तक, शाम्यति=आराम होता है, तदा नो=तत्काल ही आराम नहीं आता ॥२४७॥

ज्ञान के अनन्तर संसार यदि बना रहेगा तो जीवन् मुक्ति का सुख न होने से और संसार दुःख की निवृत्ति भी न होने से जीवन् मुक्ति पुरुषार्थरूप कैसे बनेगी ऐसी आशंका के उत्तर में कहते है-कि मुक्ति प्राप्त होने से उत्पन्न हुआ जो हर्ष वह दुःख का आच्छादन करने वाला होने से जीवन् मुक्ति पुरुषार्थरूप बन सकती —

दशमामृतिलाभेन जातो हर्षो व्रणव्यथाम् ।
तिरोधत्ते भुक्तिलाभस्तथा प्रारब्धदुःखिताम् ॥२४८॥

दशमामृतिलाभेन=दशम पुरुष को अमरण के लाभ से, जातः हर्षः=उत्पन्न हुई तृप्ति, व्रणव्यथां=घाव की पीड़ा को, तिरोधत्ते=आच्छादन कर लेती है अर्थात् भुला देती है, तथा=उसी प्रकार, मुक्ति लाभः=मोक्ष की प्राप्ति (परमानन्द की प्राप्ति), प्रारब्ध-दुःखितां=प्रारब्ध जनित दुःख को दबा देती है ॥२४८॥

यह कोई जीवन्मुक्ति व्रत नहीं है इस प्रकार २४६ वें श्लोक में जीवन्मुक्ति को व्रतत्व रहित बताया ऐसा कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं —

व्रताभावाद्यदाऽध्यासस्तदा भूयो विविच्यताम् ।
रससेवी दिने भुङ्क्ते भूयो भूयो यथा तथा ॥२४९॥

व्रताभावात्=जीवन्मुक्ति कोई व्रतरूप न होने से, यदा अध्यासः=जब जब भ्रम होता है, तदा=तब तब, भूयः तथा=पुनः पुनः उसी तरह, विविच्यतां=विवेक करना चाहिए, यथा=जैसा कि, रस सेवी=रसादि औषध सेवन करने वाला मनुष्य, दिने=एक ही दिन में, भूयः भूयः=बारम्बार, भुङ्क्ते=(क्षुधा जन्य पीड़ा की निवृत्ति के लिये) भोजन करता है ॥२४९॥

ज्ञान से नहीं निवृत्त होने वाले प्रारब्ध कर्म फल की किस

साधन से निवृत्ति होगी ऐसी आशंका कर के उत्तर कहते हैं कि जैसे ताड़न जन्य घाव का औषध से निवारण होता है उसी प्रकार भोग से हीं प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति होगी—

शमयत्यौषधेनायं दशमः स्वं व्रणं यथा ।
भोगेन शमयित्वैतत्प्रारब्धं मुच्यते तथा ॥२५०॥

यथा=जैसे, **अयं दशमः**=यह दशम पुरुष, **स्वं व्रणं**=अपने घाव को, **औषधेन**=दवाई से, **शमयति**=शमन करता है, **तथा**=उसी प्रकार, **एतत्प्रारब्धं**=इस प्रारब्ध कर्म को, **भोगेन शमयित्वा**=भोग द्वारा समाप्त करके, **मुच्यते**=ज्ञानवान् मुक्त हो जाता है ॥२५०॥

'आत्मानं चेत्' इत्यादि श्रुति में उक्त जो जीव की दो अवस्थाएं अपरोक्ष ज्ञान तथा शोक निवृत्ति उन्हीं का व्याख्यान ४८ के श्लोक में कह आये हैं अब जीव की निरंकुश तृप्ति सातवीं अवस्था कहने के लिये अग्रिम ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं

किमिच्छन्निति वाक्योक्तः शोकमोक्ष उदीरितः ।
आभासस्य ह्यवस्थैषा षष्ठी तृप्तिस्तु सप्तमी ॥२५१॥

किमिच्छन्='किम् इच्छन्' (किस मिथ्या भोग वस्तु की इच्छा करता हुआ), **इति वाक्योक्तः**=इस श्रुति वाक्य से कहा हुआ, **शोकमोक्षः**=शोक नाश, **उदीरितः**=पूर्वोक्त ग्रन्थ से कहा गया है, **आभासस्य हि**=चिदाभास की ही, **एषा**=यह शोक नाश, **षष्ठी अवस्था**=छठवीं अवस्था है, **तृप्तिः तु**=और तृप्तिरूप, **सप्तमी**=सातवीं अवस्था अब आगे कही जाती है ॥२५१॥

अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न होने वाली तृप्ति निरंकुश अर्थात् निरतिशय होती है इस बात को विषयजन्य सांकुश अर्थात् सातिशय तृप्ति का प्रदर्शन पूर्वक कथन करते हैं—

साङ्कुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरङ्कुशा ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ॥२५२॥

विषयैः तृप्तिः=विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली तृप्ति,

साङ्कुशा=(अन्य विषय की कामना से कुण्ठित होने के कारण) सापेक्ष अर्थात् सातिशय है, **इयं तृप्तिः**=और यह ज्ञान जन्य तृप्ति, **निरङ्कुशा**=निरतिशय है, **कृत्यं कृतं**=सब कर्त्तव्य कर लिया है (जो कुछ करना था सो कर लिया), **प्रापणीयं प्राप्तं**=प्राप्त करने योग्य सब प्राप्त कर लिया (अब कुछ भी कर्त्तव्य अथवा प्राप्तव्य शेष नहीं रह गया,) **इति एव**=इस प्रकार से, **तृप्यति**=निरतिशय तृप्ति का अनुभव ज्ञानवान् करता है ॥२५२॥

कृतकृत्यता को ही आगे उपपादन करते हैं –

ऐहिकामुष्मिक व्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहु कृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥२५३॥

अस्य=इस तत्त्व ज्ञानी को, **पुरा ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै**=तत्त्वज्ञान से पूर्व इस लोक के तथा परलोक के इष्ट लाभ और अनिष्ट निवृत्ति के अर्थ, **मुक्तेः च सिद्धये**=और मोक्ष के साधन ज्ञान की सिद्धि के लिये, **बहु कृत्यं**=बहुविध कर्त्तव्य (कृषि, वाणिज्य आदि, याग उपासानादि तथा श्रवणादि रूप अनेक प्रकार का कर्त्तव्य), **अभूत्**=प्राप्त था, **अधुना**=अब, **तत्सर्वं**=कृषि याग श्रवण आदि सभी कर्त्तव्य, **कृतं**=कर लिये गये अर्थात् पूर्ण हो गये। (क्यों कि अब ज्ञानवान् को किसी भी सांसारिक फल की इच्छा नहीं रही और ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार भी प्राप्त हो गया है इस लिये अब अनुष्ठान करने योग्य कुछ रहा नहीं) ॥२५३॥

इस प्रकार कृतकृत्यता के उपपादन के अनन्तर उसका फल तृप्ति को कहते हैं –

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरः सरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥२५४॥

तद् एतत् कृतकृत्यत्वं=इस पूर्वोक्त कृत कृत्यता को (कृतार्थता को), **प्रतियोगिपुरः सरं**=अकृतकृत्यता स्मरण पूर्वक, **अनुसन्धत् एव**=स्मरण करता हुआ (अथवा विचार करता हुआ), **अयं**=यह ज्ञानवान्, **एवं**=वक्ष्यमाण प्रकार से, **नित्यशः तृप्यति**=सर्वदा तृप्ति का अनुभव करता है ॥२५४॥

पूर्वोक्त कृतकृत्यता के अनुसन्धान को ही अब विस्तार से कहते हैं --

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥२५५॥

दुःखिनः अज्ञाः=दुःखी अज्ञानी जन, पुत्राद्यपक्षेया=पुत्र धन आदि की आकांक्षा से, कामं=यथेष्ट, ससरन्तु=संसार गति को भले ही प्राप्त होवे, अहं=मैं तो,परमानन्द पूर्णः=निरतिशय आनन्द-रूप पूर्ण परमात्मा हूँ इस लिये, किम् इच्छया=किस मिथ्या वस्तु की इच्छा से, संसरामि=संसार गति को प्राप्त करूंगा अर्थात् कदापि नहीं प्राप्त करूँगा ॥२५५॥

अब स्वर्गादि के लिये कर्म अनुष्ठान करने वालों से तत्त्व-ज्ञानी में वैलक्षण्य दिखाते हैं—

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥२५६॥

परलोकयियासवः=स्वर्गादि परलोक के अर्थी (प्राप्त करने की इच्छा वाले), कर्माणि=यागादि कर्मों का, अनुतिष्ठन्तु=भले ही अनुष्ठान करें, सर्वलोकात्मकः=किन्तु (सर्वात्मक) सर्व लोक स्वरूप मैं, कस्मात्=किस प्रयोजन से, कथं किं=कैसे और किस कर्म का, अनुतिष्ठामि=अनुष्ठान करूँ ॥२५६॥

स्वप्रयोजन के लिये तत्त्ववेत्ता की प्रवृत्ति न होने पर भी दूसरे के उपकार के लिये प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी ऐसी आशंका होने पर अधिकार के अभाव से परार्थ प्रवृत्ति भी नहीं होती इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥२५७॥

अत्र ये अधिकारिणः=इस लोक के तथा परलोक के साधन कर्मों में जो अधिकारी है, ते शास्त्राणि व्याचक्षतां=वे शास्त्रों का

व्याख्यान करें, वा=अथवा, वेदान्=वेदों को, अध्यापयन्तु=पढ़ावें, तु=परन्तु, अक्रियत्वतः=मैं तो निष्क्रिय हूँ इस लिये, मे अधिकारः न=मेरा अधिकार उन कर्मों में नहीं है अतः परार्थ प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती ॥२५७॥

अपने शरीर के भरण पोषण के लिये भिक्षा आहरण आदि कर्म और परलोक के लिये स्नानादि कर्म करते हुए आप दीखते हैं इस लिये आप का अक्रियत्व असिद्ध है ऐसी आशंका होने पर वे सब तत्त्ववेत्ता की दृष्टि से है नहीं किन्तु दूसरे के द्वारा कल्पित है ऐसा उत्तर कहते हैं –

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥२५८॥

निद्राभिक्षे=निद्रा तथा भिक्षा आहरण, स्नानशौचे=स्नान तथा शुद्धि, न इच्छामि=इनकी इच्छा मुझे नहीं है, च न करोमि=और न मैं निद्रादि करता ही हूँ, चेत्=यदि, द्रष्टारः=देखने वाले अज्ञानी जन, कल्पयन्ति=इनकी कल्पना मुझ में करें तो, अन्यकल्पनात्=दूसरों की कल्पना से, मे किं स्यात्=मेरा क्या बिगाड़ हो सकता (अर्थात् दूसरे की कल्पना से निद्रा भिक्षादि क्रियां मेरे अन्दर नहीं सिद्ध हो सकते ॥२५८॥

दूसरे की कल्पना से भी तत्त्ववेत्ता के अन्दर अक्रियत्व का बाध हो सकता है ऐसी आशंका नहीं हो सकती इस बात को दृष्टान्त के द्वारा उत्पादन करते हैं –

गुञ्जापुञ्जादि दह्यते नान्यारोपित वह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥२५९॥

अन्यारोपित वह्निना=जैसे अन्य के द्वारा कल्पित अग्नि से गुञ्जापुञ्जादि=चिर्मियों का ढ़ेर, न दह्यते=नहीं दग्ध होता, एवम्=उसी प्रकार, अन्यारोपितसंसार धर्मान्=अज्ञानी के द्वारा कल्पित संसार धर्मों को, अहं न भजे=मैं नहीं प्राप्त होता हूँ ॥२५९॥

दूसरे फल की इच्छा न होने से कर्मानुष्ठान मत करें परन्तु

तत्त्व साक्षात्कार के लिये श्रवणादि तो अवश्य कर्त्तव्य होगा ऐसी आशंका होने पर अज्ञानादि के अभाव से श्रवणादि का कर्तापन भी तत्त्ववेत्ता में नहीं है इस प्रकार उत्तर कहते हैं —

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥२६०॥

अज्ञाततत्त्वाः=जिन्होंने ब्रह्म, और आत्मा का अभेदरूप तत्त्व को नहीं जाना, **ते शृण्वन्तु**=वे श्रवणरूप साधन करें, **अहं जानन्**=मैं तत्त्व को जानता हुआ, **कस्मात्**=किस प्रयोजन से, **शृणोमि**=वेदान्त श्रवण करूँ, **संशयापन्नाः**=तत्त्व में संशय वाले, **मन्यन्ताम्**=मनन करें, **अहं असंशयः**=मैं सन्देह रहित हूँ इस लिये, **न मन्ये**=मनन नहीं करता हूँ ॥२६०॥

श्रवण मनन अनावश्यक होने पर भी विपरीत भावना की निवृत्ति के लिये निदिध्यासन करना तो आवश्यक होगा ऐसी आशंका होने पर निदिध्यासन की अकर्तव्यता को समर्थन करते हैं कि देहादि अनात्मपदार्थों में आत्मत्वबुद्धिरूप विपर्यय ज्ञानवान् को है नहीं अतः उसके निवर्त्तक निदिध्यासन की भी आवश्यकता नहीं—

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥२६१॥

विपर्यस्तः=विपरीत भावना वाला, **निदिध्यासेत्**=निदिध्यासन करें, **अविपर्ययात्**=विपर्यय न होने के कारण, **ध्यानं किम्**=ध्यान की अर्थात् निदिध्यासन की क्या आवश्यकता है (अर्थात् विपर्यय का अभाव वाले के लिये ध्यान निरर्थक है), **अहं**=मैं, **देहात्मत्वविपर्ययासं**=देह में आत्मत्वबुद्धिरूप भ्रम को, **कदाचित्**=कभी भी, **न भजामि**=नहीं प्राप्त होता हूँ ॥२६१॥

विपर्यय का अभाव यदि है तो ज्ञानवान् का मैं मनुष्य हूँ इस प्रकार व्यवहार कैसे बन सकता है ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि संस्कार के अधीन बन सकता है—

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥२६२॥

अहं मनुष्यः=मैं मनुष्य हूँ, इत्यादिव्यवहारः=इस प्रकार का व्यवहार, अमुं विपर्यासं=इस पूर्वोक्त विपरीत भावना के, विना अपि=बिना भी, चिराभ्यस्तवासनातः=बहुत काल से अभ्यस्त वासना अर्थात् संस्कार से, अवकल्पते=बन सकता है ॥२६२॥

परन्तु व्यवहार की निवृत्ति के लिये निदिध्यासन अवश्य कर्तव्य होगा ऐसी आशंका होने पर प्रारब्ध क्षय बिना व्यवहार की निवृत्ति नहीं हो सकती इस प्रकार समाधान करते हैं--

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्त्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यान सहस्रतः ॥२६३॥

प्रारब्धकर्मणि क्षीणे=प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर, व्यवहारः=उक्त व्यवहार, निवर्तते=स्वयं ही निवृत्त हो जाता है. तु-कर्माक्षये=परन्तु कर्म के क्षय हुए बिना (जब तक प्रारब्ध कर्म का क्षय नहीं होता तब तक), असौ=उक्त व्यवहार, ध्यानसहस्रतः=हजार ध्यान से भी, न एव शाम्येत्=नहीं निवृत्त हो सकता ॥२६३॥

प्रारब्ध निमित्तक व्यवहार की विरलता (न्यूनता) के लिये ध्यान करना चाहिए ऐसी आशंका होने पर व्यवहार तत्त्वज्ञान का बाधक नहीं इस प्रकार निश्चय होने के कारण व्यवहार की विरलता के लिये भी ध्यान अनुष्ठेय नहीं ऐसा उत्तर कहते हैं—

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥२६४॥

व्यवहृतेः=व्यवहार की, विरलत्वं=अल्पता, चेत्=यदि, इष्टं=अभिलषित है, ते=तब तुम्हारे लिये, ध्यानम् अस्तु=ध्यान करना कर्तव्य है, व्यवहृतिं अबाधिकां=व्यवहार ज्ञान का बाधक नहीं, पश्यन्=ऐसा देखता हुआ, अर्थात् जानता हुआ, अहं कुतः=मैं किस लिये, ध्यायामि=ध्यान करूँ ॥२६४॥

ध्यान कर्तव्य न होने पर भी विक्षेप निवृत्ति के लिये समाधि तो कर्तव्य है ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि विक्षेप और समाधि दोनों मन के ही धर्म हैं, इस लिये विक्षेप निवर्त्तक समाधि में भी मेरा अधिकार नहीं—

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥२६५॥

यस्मात् मे विक्षेपः न अस्ति=जिस कारण से मुझे विक्षेप नहीं है, ततः मम=इस लिये मेरे लिये, समाधिः न=समाधि की भी आवश्यकता नही क्योंकि, विक्षेपः समाधिः वा=विक्षेप अथवा समाधि, विकारिणः मनसः स्यात्=विकारी मन की ही अवस्था है ॥२६५॥

तथापि समाधि का फल अनुभव सम्पादन करने योग्य है यह भी आशंका करने योग्य नहीं, क्योंकि अनुभव तो अपना स्वरूप ही है, इस लिये स्वतः सिद्ध होने से सम्पादन योग्य नहीं इस वार्ता को कहते हैं —

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥२६६॥

नित्यानुभवरूपस्य=नित्य अनुभवरूप अर्थात् चैतन्य रूप, मे पृथक् अनुभवः=अपने से पृथक् अनुभव, कः वा=कौनसा है (अर्थात् कोई नहीं है जिसका मैं सम्पादन करूँ), कृत्यं कृतं=जो कुछ कर्तव्य था सो कर लिया, प्रापणीयं प्राप्तं=जो कुछ प्राप्त करना था सो पा लिया, इति एव निश्चयः=इस प्रकार का दृढ़ निश्चय है ॥२६६॥

सर्व व्यवहार में कर्तृत्व का अनंगीकार करने पर ज्ञानवान् का व्यवहार अनियत अर्थात् उच्छृङ्खल होने लगेगा ऐसी आशंका होने पर प्रारब्धाधीन प्राप्त अनियत व्यवहार को भी अंगीकार करके आशंका का परिहार करते हैं—

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा ।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥२६७॥

लौकिकः वा=भिक्षा आहार आदि लौकिक व्यवहार अथवा, शास्त्रीयः वा=जप समाधि आदि शास्त्रीय व्यवहार, अन्यथा अपि वा व्यवहारः=अथवा हिंसा आदि निषिद्ध व्यवहार, अकर्तुः=अकर्ता अभोक्ता रूप, अलेपस्य मम=निर्लेप मेरे, यथारब्धम्=प्रारब्ध कर्मानुसार, प्रवर्ततां=होता रहे ॥२६७॥

इस प्रकार सिद्धान्त कथन करने के पश्चात् ❀(१) प्रौढिवाद को लेकर पूर्वोक्त शंका का समाधान करते हैं—

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥२६८॥

अथवा अहं=अथवा मैं, कृतकृत्यः अपि=यद्यपि कृत कृत्य हूँ अर्थात् मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा तथापि, लोकानुग्रहकाम्यया=प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से, शास्त्रीयेण एव=शास्त्रोक्त ही, मार्गेण=मार्ग से वर्ते=व्यवहार करूँ, मम का क्षतिः=इसमें मेरी क्या हानि है ?

(१) ❀सिद्धान्त में अंगीकार नहीं किये हुए अर्थ का भी बुद्धि के बल से प्रतिपादन द्वारा समाधान करना प्रौढिवाद है ॥२६८॥

शास्त्र विहित प्रवृत्ति अंगीकार करने पर उस का अभिमान निमित्तक विकार भी अवश्य प्राप्त होगा ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं—

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥२६९॥

वपुः=यह शरीर, देवार्चनस्नानशौच भिक्षादौ=देवता पूजन, स्नान, शुद्धि, भिक्षा आदि व्यवहार में, वर्ततां=प्रवृत्त होवें, वाक्=और वाग् इन्द्रिय, तारं=प्रणव का, जपतु=जप करें, तद्वत्=तथा, आम्नायमस्तकं=वेदान्त शास्त्र का, पठतु=पाठ करें ॥२६९॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥२७०॥

धीः विष्णुं ध्यायतु=और बुद्धि व्यापक परमात्मा का ध्यान करे, यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्=अथवा ब्रह्मस्वरूप आनन्द में लीन हो जावे, साक्षी अहं=साक्षी स्वरूप मैं ही, अत्र किंचित् अपि=इन व्यवहारों में कुछ भी, न कुर्वे=नहीं करता हूँ, न अपि कारये=और न करवाता ही हूँ ॥२७०॥

अब इसका निचोड़ अर्थात् फलिभूत अर्थ को कहते हैं—

एवं च कलहः कुत्र संभवेत् कर्मिणो मम ।
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥२७१॥

एवं च=इस प्रकार, पूर्वापरसमुद्रवत्=पूर्व और पश्चिम समुद्र की न्याईं, विभिन्नविषयत्वेन=भिन्न, भिन्न विषय होने से, कर्मिणः=कर्मी से (कर्मकाण्डी से), मम कलहः कुत्र=मेरा झगड़ा कहाँ, संभवेत्=संभव होगा (अर्थात् नहीं होगा) ॥२७१॥

उक्त विषय का ही स्पष्टीकरण करते हैं—

वपुर्वाग्धीषु निर्बन्धः कर्मिणो न तु साक्षिणि ।
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बन्धो नेतरत्र हि ॥२७२॥

कर्मिणः=कर्मकाण्डी का, वपुर्वाग्धीषु=शरीर वाग् आदि इन्द्रिय तथा बुद्धि में, निर्बन्धः=आग्रह अथवा अभिनिवेश है, तु=परन्तु, साक्षिणि न=साक्षी में नहीं है, ज्ञानिनः निर्बन्धः=और ज्ञानी का दृढ़ निश्चय तो, साक्ष्यलेपत्वे=साक्षी की असंगता में है, इतरत्र न हि=शरीरादि में नहीं है ॥२७२॥

कलह का निमित्त न होने पर भी जो ज्ञानी और कर्मी आपस में कलह करते हैं, वे दोनों तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा परिहास करने योग्य हैं—

एवं चान्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ बधिराविव ।
विवदेतां बुद्धिमन्तो हसन्त्येव विलोक्य तौ ॥२७३॥

एवं च=इस प्रकार विवाद का प्रसंग न प्राप्त होने पर भी, अन्योन्यवृत्तान्तानभिज्ञौ=परस्पर के वृतान्त नहीं जानने वाले, बधिरौ इव=दो बहरों की न्याईं जो, विवदेतां=ज्ञानी और कर्मी कलह करते हैं, तौ विलोक्य=उन दोनों को देख करके, बुद्धिमन्तः=आत्मवेत्ता, हसन्ति एव=हँसते ही हैं अर्थात् उनका परिहास ही करते हैं ॥२७३॥

वे परिहास योग्य क्यों है ऐसी आशंका होने पर निर्विषय कलहकारी होने से वे परिहास योग्य है ऐसा उत्तर दो श्लोकों से कहते हैं—

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ।
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥२७४॥

कर्मी=कर्मकाण्डी, यं साक्षिणं=जिस साक्षी को अर्थात् प्रत्यग् आत्मा को, न विजानाति=नहीं जानता है, तस्य=उस प्रत्यग् आत्मा को, ब्रह्मत्वं=ब्रह्म रूप करके, तत्त्ववित् बुध्यतां=तत्त्ववेत्ता बेशक जाने, तत्र=उसमें (तत्त्ववेत्ता के द्वारा साक्षी का ब्रह्मभाव जान लेने पर), कर्मिणः=कर्मकाण्डी की कर्मानुष्ठान में, किं विहीयते=क्या हानि है ॥२७४॥

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनानृतबुद्धितः ।
कर्मी प्रवर्ततामाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥२७५॥

ज्ञानिना=तत्त्ववेत्ता ने, अनृत बुद्धितः=मिथ्यात्व बुद्धि से, देहवाग्बुद्धयः=शरीर, वागिन्द्रिय तथा बुद्धि का, त्यक्ताः=त्याग कर दिया, कर्मी=कर्म काण्डी, आभिः=ज्ञानी के त्यागे हुए उन देहादियों के द्वारा, प्रवर्तताम्=बेशक कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होवे, अत्र=इस में (परित्यक्त देहादि द्वारा कर्मी के कर्मानुष्ठान में), ज्ञानिनः=ज्ञानी की, किं हीयते=क्या हानि है ॥२७५॥

कर्मानुष्ठान निष्प्रयोजन होने से ज्ञानी कर्मानुष्टान का अंगीकार नहीं करते इस आशंका का अनुवाद करते हुए प्रयोजनाभाव निवृत्ति में भी समान ही है, इस प्रकार परिहार करते हैं—

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ।
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्बुभुत्सायां तथेतरा ॥२७६॥

प्रवृत्तिः=कर्मानुष्ठानरूप प्रवृत्ति, उपयुक्ता न=ज्ञानी के लिये उपयोगी नहीं (अर्थात् अंगीकरणीय नहीं), चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, निवृत्तिः=कर्मत्यागरूप निवृत्ति का, क्व उपयुज्यते=कहां उपयोग है, निवृत्तिः=निवृत्ति, बोध हेतुः=ज्ञान का कारण है (इस लिये निवृत्ति उपयोग रहित नहीं किन्तु उपयोगी है), चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, इतरा=प्रवृत्ति भी, बुभुत्सायाम्=जिज्ञासा अर्थात् ज्ञानेच्छा में उपयोगी है (क्यों कि कर्मानुष्ठानरूप प्रवृत्ति चित शुद्धि द्वारा ज्ञान की इच्छा के प्रति कारण है) ॥२७६॥

तत्त्ववेत्ता को बोधेच्छा निवृत्त हो जाने से प्रवृत्ति अनुपयोगी है ऐसी आशंका का उत्थापन कर के एक बार तत्त्व को जिसने जान लिया उसके लिये, पुनः तत्त्व बोध की आवश्यकता न होने से उसका हेतु निवृत्ति भी तत्त्ववेत्ता के लिये निरर्थक है ऐसा उत्तर कहते हैं—

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ।
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥२७७॥

बुद्धः=ज्ञानवान् (जिस को ज्ञान प्राप्त हुआ वह), न बुभुत्सेत=ज्ञान की इच्छा नहीं करेगा (इस लिये प्रवृत्ति का उपयोग ज्ञानवान् के लिये नहीं है), चेत् असौ पुनः=यदि ऐसा कहो तो, वह ज्ञानवान् फिर से, न बुध्यते अपि=बोध भी नहीं प्राप्त करेगा (इस लिये बोधवान् के लिये निवृत्ति का भी कोई उपयोग नहीं), बोधः=वेद वाक्य रूप प्रमाण जन्य ज्ञान, अबाधात्=(बलवान् प्रमाण रूप) बाधक के अभाव से (अर्थात् न होने से), अनुवर्तेत=अनुवृत्त होता रहेगा (अर्थात् बना रहेगा), अन्यसाधनात्=दूसरे साधन से,

न तु=बोध की स्थिरता नहीं होती (अर्थात् ज्ञान की स्थिरता के लिये निवृत्तिरूप दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं किन्तु बाधकाभाव की ही अपेक्षा है ॥२७७॥

यद्यपि महावाक्यरूप वैदिक प्रमाण सब से बलवान् होने के कारण उससे उत्पन्न हुए ज्ञान का बाध दूसरे प्रमाण से नहीं हो सकता तथापि अविद्या से अथवा अविद्या के कार्य कर्तृत्व आदि अध्यास से बाध हो सकता है ऐसी आशंका का उत्तर हेतु सहित अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥२७८॥

न अविद्या=न तो अविद्या अर्थात् अज्ञान, न अपि तत्कार्य=और न ही अज्ञान का कार्य अध्यासादि, बोधं=ज्ञान को, बाधितुम्=बाधने में,- अर्हति=समर्थ है, यतः=क्योंकि, तत्त्वबोधेन=तत्त्व-ज्ञान से, ते उभे=अज्ञान और अज्ञान के कार्य दोनों, पुरा एव=पहिले ही, बाधिते=बाधित हो गये हैं ॥२७८॥

ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर भी अज्ञान के कार्य अध्यास आदि की प्रतीति होने से अज्ञान के कार्य का नाश सम्भव नहीं इस वास्ते अज्ञान के कार्य अध्यास आदि द्वारा ज्ञान का बाध सम्भव है, ऐसी आशंका होने पर उपादान अज्ञान की निवृति होने पर अज्ञान का कार्य भी बाधित हो जाता है इस वास्ते उस से ज्ञान के बाध की आशंका नहीं बन सकती, ऐसा उत्तर दृष्टान्त सहित देते हैं—

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात् कथं मृतः ॥२७९॥

बाधितम्=मिथ्यारूप से निश्चित जगत् को, अक्षैः=इन्द्रियों से, दृश्यतां=भले ही देखो, तेन=उस बाधित दृश्य से, बाधः=ज्ञान का बाध, न शक्यते=नहीं हो सकता, जीवन् आखुः=जीवित चूहा, मार्जारं=बिलाव को (बिडाल को,) न हन्ति=नहीं मार सकता,

मृतः=तो मरा हुआ चूहा, कथं हन्यात्=कैसे बिडाल को मारेगा ॥२७९॥

द्वैत दर्शन से तत्त्व बोध का बाध नहीं हो सकता इस बात को कैमुतिक न्याय के प्रदर्शन द्वारा दृढ़ करने के लिये अनुकूल दृष्टान्त कहते हैं –

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।

निष्फलेषुवितुन्नाङ्गो नङ्क्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥२८०॥

यः=अति सामर्थ्य वाला जो मनुष्य, पाशुपतास्त्रेण बिद्धः अपि=पाशुपत अस्त्र से बेधा हुआ भी, चेत् न ममार=अगर नहीं मरा तो, निष्फलेषुवितुन्नाङ्गः=शल्य रहित (लोहे के फलक रहित) बाण से व्यथित शरीर वाला हुआ वह मनुष्य, नङ्क्ष्यति=नष्ट हो जायेगा (अर्थात् मर जायेगा), इति अत्र का प्रमा=इसमें क्या प्रमाण है (अर्थात् कोई भी प्रमाण नहीं) ॥२८०॥

दृष्टान्त सिद्ध अर्थ को दार्ष्टान्तिक में योजना करके दिखाते हैं–

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भमाणया ।

युद्ध्वा बोधोऽजयत् सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम्॥२८१॥

आदौ चित्रैः=ज्ञानाभ्यास काल में अनेक प्रकार के, स्वकार्यैः=अपने कार्य के प्रमातृत्व आदि सहकृत (होने से), जृम्भमाणया अविद्यया=बढ़ने वाली अविद्या से (अज्ञान से), युद्ध्वा बोधः=लड़कर ज्ञान ने, अजयत्=अविद्या को जीत लिया है, सः सुदृढः=वह ज्ञान दृढ़ हुआ, अद्य कथम्=अब (अविद्या के नाश होने पर) कैसे, बाध्यतां=(अज्ञान के कार्य भ्रान्ति से) बाधित होगा अर्थात् किसी प्रकार से कदाचित् भी नहीं बाधित होगा ॥२८१॥

उपपादन किये हुए अर्थ को श्रोताओं की बुद्धि में आरूढ़ करने के लिये रूपक बांध कर कहते हैं—

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ।

न भीति बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥२८२॥

बोधेन मारिताः=बोध अर्थात् ज्ञानरूप सम्राट् के द्वारा मारे

हुए, **अज्ञानतत्कार्यशताः**=अज्ञान और अज्ञान के कार्य मुर्दे, **तिष्ठन्तु**=वेशक पड़े रहें, **बोधसम्राजः**=ज्ञानरूप चक्रवर्ती राजा को, **भीतिः न**=उन से कुछ भी भय नहीं होता, **प्रत्युत**=उलटा, **तैः**=उन मारे हुए अज्ञान आदि शत्रु से, **तस्य**=उस ज्ञान सम्राट् का, **कीर्तिः**=यश ही होता है ॥२८२॥

जैसा आपने कहा वैसा ही होवें, परन्तु प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं—

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥२८३॥

यः एवम्=जो मनुष्य उक्त प्रकार से, **अतिशूरेण**=अविद्या और अविद्याकार्य को मारने वाले अति बलवान्, **बोधेन**=ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान से, **न वियुज्यते**=कदापि अलग नहीं होता (अर्थात् सदा बोध युक्त रहता है), **अस्य**=उस मनुष्य को, **देहादिगतया**=देह इन्द्रिय आदि की, **प्रवृत्त्या वा**=प्रवृत्ति से, **निवृत्त्या वा**=अथवा निवृत्ति से, **किं**=क्या लाभ हानि है (अर्थात् कुछ भी इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं) ॥२८३॥

तब तो ज्ञानी की न्याई अज्ञानी को भी प्रवृत्ति में आग्रह नहीं होना चाहिये ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक से देते हैं—

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥२८४॥

बोधहीनस्य=अज्ञानी का, **प्रवृत्तौ**=प्रवृत्ति में अर्थात् कर्मानुष्ठान में, **आग्रहः**=अभिनिवेश, **सर्वथा**=सर्व प्रकार से, **न्याय्यः**=युक्त ही है, **यतः**=क्यों कि, **स्वर्गाय**=स्वर्ग के लिये, **वा अपवर्गाय**=अथवा मोक्ष के लिये, **नृभिः**=मनुष्यों के द्वारा, **यतितव्यम्**=अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥२८४॥

विद्वान् का कहीं पर भी आग्रह युक्तियुक्त नहीं यह पूर्व कहा किन्तु कर्मियों के मध्य में स्थित ज्ञानवान् को क्या करना उचित है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥२८५॥

विद्वान्=तत्त्वज्ञानवान्, तादृशां मध्ये=कर्मियों के बीच में, चेत् तिष्ठेत्=यदि निवास करते हैं तो, तद् अनुरोधतः=कर्मियों के अनुसार, कायेन=शरीर से, मनसा=मन से, वाचा=वाणी से, अखिलाः क्रियाः=सम्पूर्ण कर्म को, करोति एव=करते ही हैं, कर्मियों को निषेध नहीं करते ॥२८५॥

वही तत्त्ववेत्ता तत्त्व जिज्ञासुओं के बीच में जब स्थित होते हैं तब उनके कर्तव्य को कहते हैं—

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२८६॥

एषः=यह तत्त्ववेत्ता, बुभुत्सूनां मध्ये=जिज्ञासु अर्थात् मुमुक्षुओं के मध्य में, यदा तिष्ठेत्=जब ठहरे, तदा पुनः=तब फिर, एषां=जिज्ञासुओं के, बोधाय=तत्त्वज्ञान उत्पादन के लिये, सर्वाः क्रियाः=सम्पूर्ण कर्मों का, दूषयन्=दोष कीर्तन करते हुए, स्वयं त्यजतु=खुद भी कर्म का परित्याग करें ॥२८६॥

तत्त्व वेत्ता को ऐसा क्यों करना चाहिए ऐसी आकांक्षा का उत्तर कहते हैं—

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।
स्तनन्धयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥२८७॥

अविद्वदनुसारेण=अज्ञानियों के अनुसार बुद्धस्य=ज्ञानवान् का, वृत्तिः=वर्तना, युज्यते=उचित ही है (क्यों कि वह कृपालु है तथा अज्ञानियों के ऊपर अनुग्रह भी करना है), यतः=क्यों कि, स्तनन्धयानुसारेण=स्तनपान करने वाले शिशुओं के अनुसार ही, तत्पिता वर्तते=उनका पिता वर्तते हैं ॥२८७॥

पिता स्तनपायी शिशु का अनुसरण करता है इस बात को दिखाते हैं—

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥२८८॥

बालेन=शिशु के द्वारा, अधिक्षिप्तः=निन्दित, ताडितः वा=अथवा ताड़न किया हुआ, स्वपिता=शिशु का पिता, तदा=उस समय, न क्लिश्नाति=क्लेश नहीं मानता, न कुप्येत=और न क्रोध करता है, प्रत्युत=उल्टा, बालं=बालक को, लालयेत्=प्यार करता है या खिलाता है ॥२८८॥

अब दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं—

निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति ।
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाचरेत् ॥२८९॥

विद्वान्=उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता भी, अज्ञैः=अज्ञानियों के द्वारा, निन्दितः=निन्दित हुआ, स्तूयमानः वा=अथवा प्रशंसित हुआ, न निन्दति=खुद निन्दा नहीं करते, न स्तौति=और न स्तुति ही करते है, किन्तु=परन्तु, तेषां=अज्ञानियों का, यथा बोधः स्यात्=जिस प्रकार से तत्त्वज्ञात होवे, तथा आचरेत्=उसी प्रकार आचरण करे ॥२८९॥

इस प्रकार आचरण करने के प्रति निमित्त कथन करते हैं—

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधान्न वान्यत् कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥२९०॥

अयम्=यह अज्ञानी, अत्र=इस लोक में, येन=ज्ञानी के जिस प्रकार, नटनेन=आचरण करने से, बुध्यते=तत्त्व को जान सकेगा, तत्=वैसा आचरण, कार्यम् एव=तत्त्वज्ञानी को करना ही चाहिए, तद्विदः=क्यों कि तत्त्ववेत्ता का, अत्र=इस लोक में, अज्ञप्रबोधात्=अज्ञानी जनों को तत्त्व बोध कराने के सिवाय, अन्यत् कार्यं=दूसरा कर्तव्य, न एव अस्ति=है नहीं (इस लिये उनके अनुसरण द्वारा तत्त्व का बोधन करना उचित है) ॥२९०॥

अब अतीत और भविष्य वृतान्त का तात्पर्य कथन करते हैं—

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥२९१॥

असौ=वह विद्वान् पूर्वोक्त प्रकार से, **कृतकृत्यतया**=कृतकृत्यता के कारण, **तृप्तः**=हर्षित हो कर, **पुनः**=और वक्ष्यमाण प्रकार से, **प्राप्तप्राप्यतया**=प्राप्तप्राप्यता के कारण, **तृप्यन्**=तृप्ति को अनुभव करता हुआ, **स्वमनसा**=अपने मन से, **निरन्तरम् एवं मन्यते**=सदा इस प्रकार मानता है ॥२९१॥

वह तत्त्ववेत्ता किस प्रकार मानता है ऐसी आकांक्षा का उत्तर कहते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥२९२॥

अहं धन्यः=मैं कृतार्थ हो गया हूँ, **अहं धन्यः**=मैं कृतार्थ हो गया हूँ, **नित्यं**=क्यों कि निरन्तर, **स्वात्मानम्**=अपने निज स्वरूप को (देहादि उपाधि से रहित प्रत्यग् आत्मा को), **अञ्जसा वेद्मि**=साक्षात् जानता हूँ, **अहं धन्यः**=मैं कृतकृत्य हूँ, **अहं धन्यः**=मैं कृतकृत्य हूँ, **ब्रह्मानन्दः**=क्यों कि ब्रह्म स्वरूप आनन्द, **मे**=मुझे, **स्पष्टं विभाति**=स्पष्ट रूप से भासता है ॥२९२॥

इस प्रकार इष्ट की प्राप्ति से जो तृप्ति होती है उसका कथन करके अनिष्ट की निवृत्ति से भी होने वाली तृप्ति को कहते हैं—

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥२९३॥

अहं धन्यः=मैं धन्य हूँ, **अहं धन्यः**=मैं धन्य हूँ, **अद्य**=क्यों कि अब, **दुःखं**=दुःख स्वरूप, **सांसारिकं**=संसार को, **न वीक्षे**=मैं नहीं देखता हूँ (इस लिये कृतार्थ हूँ), **अहं धन्यः**=मैं धन्य हूँ, **अहं धन्यः**=मैं धन्य हूँ, **स्वस्य अज्ञानं**=क्यों कि अपने स्वरूप का अज्ञान, **क्व अपि पलायितं**=कहीं भाग गया है (अर्थात् नष्ट हो गया है) ॥२९३॥

अज्ञान की निवृत्ति का फल कृतकृत्यता को और प्राप्तप्राप्यता को दिखाते हैं —

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥२९४॥

अहं धन्यः=मैं कृतार्थ हूँ, **अहं धन्यः**=मैं कृतार्थ हूँ, **मे किंचित् कर्तव्यं**=मेरा कुछ भी कर्तव्य, **न विद्यते**=अब नहीं, **अहं धन्यः** इस लिये मैं धन्य हूँ, **अहं धन्यः**=मैं कृतकृत्य हूँ क्योंकि, **प्राप्तव्यं सर्वम्**=प्राप्त करने योग्य सम्पूर्ण वस्तु, **अद्य सम्पन्नं**=आज प्राप्त हो गई है ॥२९४॥

कृतकृत्यता आदि से उत्पन्न हुई निरतिशय तृप्ति है, इस बात को कहते हैं —

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥२९५॥

अहं धन्यः=मैं धन्य हूँ, **अहं धन्यः**=मैं धन्य हूँ, **मे तृप्तेः**=मेरी तृप्ति की, **उपमा लोके**=उपमा संसार में, **का भवेत्**=क्या होगी अर्थात् कोई भी उपमा नहीं, **अहं धन्यः**=मैं धन्य हूँ, **अहं धन्यः**=क्यों कि मैं कृतार्थ हूँ, **धन्यः धन्यः**=(केवल तृप्ति ही तृप्ति है इस लिये मैं धन्य हूँ) मैं धन्य हूँ; **पुनः पुनः धन्यः**=(और इससे अतिरिक्त कुछ करने का और अवशेष नहीं है इस लिये) बारम्बार मैं धन्य अर्थात् तृप्त हूँ ॥२९५॥

इन सब का कारण पुण्यपुञ्जों के परिपाक का अनुस्मरण करके भी तृप्ति होती है, इस बात को कहते है—

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥२९६॥

अहो पुण्यम् अहो पुण्यं=पूर्व जन्म के पुण्य पुञ्ज ही, **फलितं फलितं दृढम्**=अब दृढ़ रूप से फलिभूत होकर इस तृप्ति का हेतु बना इस वास्ते उस पुण्य के स्मरण से भी मैं तृप्त हूँ, **अस्य पुण्यस्य**=

ऐसे पुण्य के, सम्पत्तेः=सम्पादन से, अहो वयम्=हम तृप्त है, अहो वयम्=हम प्रसन्न हैं इस प्रकार पुण्य का सम्पादक आत्मानुस्मरण जन्य तृप्ति अनुभव करता हुआ तत्त्ववेत्ता अपनी कृतार्थता को प्रगट कर रहे हैं ॥२९६॥

अब सम्यक् ज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान के साधन शास्त्र और उपदेष्टा आचार्य का अनुस्मरण करके भी तृप्ति के अनुभव को प्रकट कर रहे हैं—

अहोशास्त्र महो शास्त्र महो गुरु रहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुख महो सुखम् ॥२९७॥

अहो शास्त्रम् अहोशास्त्रम्=यथार्थ तत्त्व ज्ञान के साधन शास्त्र भी धन्य हैं इस प्रकार स्मरण से भी मैं तृप्त हूँ, अहोगुरुः अहोगुरुः=और उस तत्त्व को उपदेश करने वाले आचार्य भी धन्य हैं (क्यों कि उनके बिना ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता था इस प्रकार गुरु का स्मरण करते हुए तृप्ति का अनुभव करते हैं), अहो ज्ञानम् अहोज्ञानम्=पुनः शास्त्राचार्य उपदेश जन्य ज्ञान को स्मरण करते हुए भी तृप्ति का अनुभव प्रगट करते हैं अहो ज्ञानम् अहो ज्ञानम् इत्यादि शब्द से, अहो सुखम् अहो सुखम्=और उक्त ज्ञान जनित निरतिशय सुख का अनुस्मरण करते हुए निरंकुश तृप्ति को प्रकट करते हैं—अहो सुखम् अहो सुखम् इत्यादि शब्द से ॥२९२॥

अब इस तृप्ति दीप नामक प्रकरण ग्रन्थ के अभ्यास का फल कहते हैं—

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ।
ब्रह्मानन्दे निमज्जन्तस्ते तृप्यन्ति निरन्तरम् ॥२९८॥

ये बुधाः=जो विवेकी बुद्धिमान् मनुष्य, इमं तृप्तिदीपम्=इस तृप्तिदीप का, नित्यं अनुसन्दधते=सर्वदा अनुसन्धान अर्थात् विचार करते हैं, ते ब्रह्मानन्दे=वे ब्रह्मस्वरूप निरतिशय सुख में, निमज्जन्तः=निमग्न होते हुए, निरन्तरम् तृप्यन्ति=सदा निरङ्कुश तृप्ति का अनुभव करते हैं ॥२९८॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि-
विरचितपञ्चदश्यां तृप्तिदीपाख्य सप्तम प्रकरणस्य
राष्ट्र भाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामिस्वतन्त्रानन्द-
गिरिमहाराज कथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथाऽष्टमं कूटस्थ दीप प्रकरणम्

नत्वा श्री भारती तीर्थ विद्यारण्य मुनीश्वरौ ।
कुर्वे कुटस्थ दीपस्य व्याख्यां तात्पर्यदीपिकाम् ॥

मुमुक्षु के अभिलषित मोक्ष के साधन ब्रह्मात्मैक्य का तत्त्वज्ञान तत् और त्वं पदार्थ शोधन पूर्वक हो सकता है, इसलिये तत् और त्वं पदार्थ के शोधन में तात्पर्य वाला इस कूटस्थ दीप नामक ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए आचार्य इस प्रकरण के आदि में त्वं पद का लक्ष्य कूटस्थ, और वाच्यार्थ जीव इन दोनों के स्वरूप दृष्टान्त सहित पृथक् पृथक् निरूपण करते हैं —

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्य दीप्तिवत् ।
कूटस्थ भासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥१॥

खादित्य दीपिते कुड्ये = आकाशस्थ सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित दिवाल पर, दर्पणादित्य दीप्तिवत् = दर्पणस्थ सूर्य की किरणों से जैसे दिवाल का पुनः प्रकाश होता है उसी प्रकार, कूटस्थ भासितः-देहः = निर्विकार चैतन्यरूप कूटस्थ से सामान्यतया प्रकाशित शरीर, धीस्थ जीवेन = बुद्धि में स्थित चिदाभासरूप जीव द्वारा, भाष्यते = विशेश रूप से प्रकाशित होता है ।

भाव यह है कि सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से दिवाल का अवभासक दो प्रकार का आदित्य प्रकाश है ।

उसी तरह देह का अवभासक भी दो चैतन्य हैं, एक निर्विकार कूटस्थ चैतन्य, और एक चिदाभास ॥१॥

जिस दिवाल पर खादित्य और दर्पणादित्य दोनों की दीप्ति है ऐसा मान रहे हो, वहाँ पर दर्पणादित्य की दिप्ति से अतिरिक्त

खादित्य की दीप्ति की प्रतीति नहीं होती, अतः दो दीप्ति कैसे मान सकते इस प्रकार की आशंका के उत्तर में खादित्य (आकाशस्थ सूर्य) की दीप्ति को पृथक् करके दिखाते हैं —

अनेक दर्पणादित्यदीप्तीनां बहु सन्धिषु ।
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते ॥२॥

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां=दिवाल पर अनेक दर्पणों से लौटी हुई सूर्य प्रभाओं के, **बहु सन्धिषु**=अनेक सन्धियों में (अर्थात् प्रत्येक दो दो प्रभा के मध्यस्थल में), **इतरा**=सामान्य प्रकाशरूप आकाशस्थ सूर्यप्रभा, **व्यज्यते**=अभिव्यक्त (स्पष्ट रूप से अनुभूत) होती है, **तासाम्**=उन दर्पण जन्य प्रभाओं के, **अभावे अपि**=अभाव दशा में भी अर्थात् न होने पर भी, **प्रकाशते**=वह सामान्य प्रकाश सर्वत्र स्वयं प्रकाशमान हुआ अनुभव में आता है, अतः आकाशस्थ सूर्य का सामान्य प्रकाश वहाँ पर भी है जहाँ दर्पणादित्य की प्रभा है ॥२॥

दृष्टान्त में कहे हुए अर्थ की दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं-

चिदाभास विशिष्टानां तथानेकधियामसौ ।
सन्धि धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम् ॥३॥

तथा=उसी प्रकार (जाग्रत् और स्वप्न अवस्था में), **चिदाभासविशिष्टानां**=चैतन्य के प्रतिबिम्ब से युक्त, **अनेकधियाम् सन्धि**=अनेक बुद्धि वृत्तियों की सन्धि को (अर्थात् मध्य अवस्था को अथवा अन्तराल को), **च धियाम् अभावं**=और बुद्धि वृत्तियों के सुषुप्ति अवस्था में अभाव को भी, **भासयन् असौ**=प्रकाश करता हुआ कूटस्थ को, **प्रविविच्यताम्**=बुद्धि वृत्ति सहित चिदाभास आदि से भिन्न कर के जानना चाहिये ॥३॥

अब देह के भीतर कूटस्थ और चिदाभास दोनों के भेद दिखाने के लिये देह से बाहर भी चिदाभास और ब्रह्म को विभाग करके दिखाते हैं—

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् ।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥४॥

घटैकाकार धीस्था = घट के आकार के सदृश आकार है जिस का (घट के आकार को धारण करने वाली) ऐसी बुद्धि वृत्ति में स्थित, चित् घटम् एव = चिदाभास घट का ही, अवभासयेत् = प्रकाश करता है (घट की ज्ञातता और अज्ञातता का प्रकाश नहीं करता), घटस्य ज्ञातता = उस घट की (ये घट ज्ञात हैं इस प्रकार व्यवहार का हेतु) ज्ञातता रूप धर्म, ब्रह्मचैतन्येन = (कल्पित घट का अधिष्ठान) ब्रह्म चैतन्य के द्वारा, अवभासते = प्रकाशित होता है ॥४॥

घट की ज्ञातता के प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य से ही घट की प्रतीति सम्भव होने पर घटाकार बुद्धि किस लिये मानते हो ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि घट की ज्ञातता और अज्ञातता के भेद की सिद्धि के लिये बुद्धि वृत्ति अर्थात् ज्ञान मध्य में मानना आवश्यक है

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात् पुरा ।
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥५॥

अयं घटः = यह घट, बुद्ध्युदयात् पुरा = घट ज्ञान उत्पन्न होने से पहले (घटाकार बुद्धि वृत्ति सहित चिदाभासरूप ज्ञान उत्पन्न होने से पहले), ब्रह्मणा एव = ब्रह्मचैतन्य के द्वारा ही, अज्ञातत्वेन ज्ञातः = अज्ञात रूप से प्रतीत होता है, उपरिष्टात् तु = और घटाकार वृत्ति सहित चिदाभासरूप ज्ञान की उत्पत्ति होने पर, ज्ञातत्वेन = ज्ञात रूप करके उसी ब्रह्मचैतन्य के द्वारा, असौ = वह घट प्रकाशित होता है, इति भिदा = इतना ही भेद है । अर्थात् ज्ञातता और अज्ञातता के भेद की सिद्धि के लिये मध्यमें घटका ज्ञान मानना आवश्यक हैं ॥५॥

एक ही घट के ज्ञातत्त्व और अज्ञातत्त्व द्विविध स्वरूप को समझाने के लिये ज्ञातत्त्व और अज्ञातत्त्व के प्रति क्रम से निमित्त ज्ञान और अज्ञान के स्वरूप को प्रथम दिखाते हैं--

चिदाभासान्तधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहान्त कुन्तवत् ।
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुम्भो द्विधोच्यते ॥६॥

चिदाभासान्त धीवृत्तिः = चिदाभास है अग्रभाग में जिस बुद्धि

वृत्ति के ऐसी चिदाभास से युक्त बुद्धि वृत्ति ही, ज्ञानं=ज्ञान का स्वरूप हैं, लोहान्तकुन्तवत्=जैसे लोहे का बना हुआ फलक है अग्रभाग में जिस के, वह वाण कहलाता हैं (उसी प्रकार पूर्वोक्त ज्ञान को जानना), जाड्यम् अज्ञानम्=और जड़ता को अर्थात् स्वतः स्फुरण रहितपने को अज्ञान कहते हैं, एताभ्याम्=इस ज्ञान और अज्ञान के द्वारा, व्याप्तः=क्रम से व्याप्त हुआ (सब ओर से सम्बन्ध वाला), कुम्भः द्विधा उच्यते=घट ज्ञात और अज्ञात दो प्रकार से कहा जाता है ॥६॥

अज्ञात घट अज्ञान से व्याप्त होने के कारण ब्रह्मचैतन्य के द्वारा प्रकाश्य भले ही होवे, परन्तु ज्ञान से व्याप्त जो ज्ञात घट है, वह ब्रह्म चैतन्य से भास्य क्यों होगा, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि जैसे अज्ञान अज्ञातता की उत्पत्ति करके क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान भी ज्ञातता मात्र को उत्पन्न करके चरितार्थ हो जाता है, (आगे वह ज्ञान ज्ञातता का अवभासक नहीं बनेगा) इस लिये अज्ञातता की न्याईं ज्ञातता भी, अर्थात् अज्ञात कुम्भ की न्याईं ज्ञात कुम्भ भी ब्रह्म चैतन्य के द्वारा प्रकाश्य है—

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुम्भस्तथा न किम् ।
ज्ञातत्व जननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥७॥

अज्ञातः कुम्भः=जैसे अज्ञान के द्वारा व्याप्त हुआ घट, ब्रह्मणा भास्यः=ब्रह्म चैतन्य से प्रकाशित होता है, तथा ज्ञातः=उसी प्रकार ज्ञान से व्याप्त हुआ घट, किम् न=ब्रह्म चैतन्य के द्वारा प्रकाशित क्यों नहीं होगा, अर्थात् अवश्य प्रकाशित होगा, क्योंकि, ज्ञातत्वजननेन=ज्ञातता का उत्पादन मात्र से ही, चिदाभासपरिक्षयः=चिदाभास का लय हो जाता है (अर्थात् चिदाभास का कार्य समाप्त हो जाता है, आगे ज्ञातता को प्रकाश नहीं कर सकता इस लिये, ज्ञातता का प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य को ही मानना पड़ेगा) ॥७॥

अज्ञातता की उत्पत्ति के लिये जैसे चिदाभास से रहित केवल अज्ञान ही कारण है, उसी प्रकार ज्ञातता की उत्पत्ति के लिये बुद्धि

वृत्ति ही पर्याप्त है, अतः चिदाभास का मानना निष्फल है ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ।
तादृग् बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ॥८॥

आभास हीनया बुद्धया=चिदाभास रहित केवल बुद्धि वृत्ति से, **ज्ञातत्वं न एव जन्यते**=घटादि में ज्ञातता नहीं उत्पन्न हो सकती, **तादृग् बुद्धेः**=आभास रहित बुद्धि वृत्ति का, **विकारिणः मृदादेः**=विकारी जड़ मृत्तिका आदि से, **कः विशेषः स्यात्**=क्या वैलक्षण्य हो सकता, अर्थात् जैसे अप्रकाशरूप मिट्टी आदि से घटादि में ज्ञातता की उत्पत्ति संभव नहीं, उसी प्रकार, चिदाभास रहित बुद्धि वृत्ति भी अप्रकाशरूप होने के कारण घट में ज्ञातता नहीं उत्पन्न कर सकती, अतः घटादि में ज्ञातता की उत्पत्ति के लिये चिदाभास मानना आवश्यक है ॥८॥

चिदाभास से रहित बुद्धि से व्याप्त घट की ज्ञातता नहीं बन सकती इस बात को दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं—

ज्ञात इत्युच्यते कुम्भो मृदालिप्तो न कुत्रचित् ।
धीमात्रव्याप्त कुम्भस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥९॥

कुत्रचित् कुम्भः=जैसे संसार में कहीं पर भी घट, **मृदा लिप्तः**=सफेद लाल मिट्टी से लेपन किया हुआ, **ज्ञातः इति न उच्यते**=ये घट ज्ञात है, इस प्रकार नहीं कहा जाता, **तथा**=उसी प्रकार, **धीमात्र व्याप्तकुम्भस्य**=चिदाभास से रहित केवल बुद्धि वृत्ति से व्याप्त घट की, **ज्ञातत्वं न इष्यते**=ज्ञातता का अङ्गीकार नहीं किया जाता ॥९॥

पूर्व विचार का निष्कर्ष बतलाते हैं अग्रिम श्लोक में—

ज्ञातत्वं नाम कुम्भेऽतश्चिदाभासफलोदयः ।
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात् प्रागपि सत्त्वतः ॥१०॥

अतः=(जिस कारण से केवल बुद्धि वृत्ति ज्ञातता उत्पन्न

करने में समर्थ नहीं इसलिये, **कुम्भे चिदाभासफलोदयः**=घट में चिदाभास रूप फल की उत्पत्ति ही, **ज्ञातत्वं नाम**=ज्ञातता नाम से प्रसिद्ध है, **ब्रह्मचैतन्यं**=ब्रह्मचैतन्य को, **फलं न**=घटादि का स्फुरण रूप फल नहीं कह सकते क्योंकि वह तो, **मानात् प्राग् अपि**=प्रमाण की (वृत्ति की) प्रवृत्ति से पहले भी, **सत्त्वतः**=विद्यमान है।

और फल तो प्रमाण प्रवृत्ति से पश्चात्भावी नियम से होता है इस प्रकार श्लोकके उत्तरार्ध से ब्रह्मचैतन्य को फल मानकर चिदाभासरूपफल की कल्पना नहीं करनी चाहिये इस आशंका की निवृत्ति करी ॥१०॥

ब्रह्म चैतन्य फल नहीं है यह सिद्धान्ती का कथन सुरेश्वराचार्य-कृत वार्तिक ग्रन्थ से विरुद्ध है, ऐसी शंका करके उत्तर में कहते हैं कि उसका तात्पर्य नहीं जानने वाले मनुष्य का यह पूर्वोक्त सन्देह हैं –

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता।
सम्वित् सैवेह मेयोर्थो वेदान्तोक्ति प्रमाणतः॥११॥

परागर्थ प्रमेयेषु=घटादि बाह्य पदार्थ प्रमाण के विषय होने पर, **या फलत्वेन, सम्मता सम्वित्**=जो प्रमाण के फलरूप करके, स्वीकृत ज्ञान है, **सा एव इह**=वही संवित्रूप ज्ञान वेदान्त शास्त्र में, **वेदान्तोक्ति प्रमाणतः**=वेदान्त वचनरूप प्रमाण से (तत्त्वमसि आदि वाक्यों से,) **मेयः अर्थः**=जानने योग्य पदार्थ है ॥११॥

वार्तिककारके अभिप्राय को अग्रिम श्लोक से स्पष्ट करते हैं-

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम्।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः॥१२॥

इति वार्तिककारेण=इस ११ वाँ श्लोक से वार्तिक ग्रन्थ के बनाने वाले सुरेश्वराचार्य ने, **चित्सादृश्यं**=ब्रह्म चैतन्य के सदृश चिदाभास को ही प्रमाण के फलरूप से, **विवक्षितं**=कहने की इच्छा की अर्थात् कहा है (ब्रह्म चैतन्य को नहीं), **यतः साहस्र्यां**=क्यों कि उपदेश साहस्री ग्रन्थ में वार्तिककार के गुरु भगवान् भाष्यकारों ने,

ब्रह्मचित्फलयोः भेदः=ब्रह्म चैतन्य तथा चिदाभास रूप फल का भेद, विश्रुतः=प्रतिपादन किया है ॥१२॥

प्रकृत में सिद्ध अर्थ को कहते हैं—

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद् घटे ।
तत्पुनर्ब्रह्मणा भास्यमज्ञातत्ववदेव ही ॥१३॥

तस्मात्=(जिस कारण से ब्रह्मचैतन्य और फल अर्थात् चिदाभास इन दोनों का भेद प्रसिद्ध है) इस लिये, घटे उदितः आभासः=घट में उत्पन्न हुआ चिदाभास, ज्ञातत्वं जनयेत्=घट में ज्ञातता को उत्पन्न करता है, तत् पुनः अज्ञातत्ववत्=वह ज्ञातता फिर से अज्ञातता की न्याईं, ब्रह्मणा एव=ब्रह्म चैतन्य के द्वारा ही, भास्यम् हि=प्रकाशित होती है, यह बात प्रसिद्ध है ॥१३॥

पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म और चिदाभास के भेद का उपपादन किया, उसी भेद को विषय के भेद प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं—

धीवृत्त्याभासकुम्भानां समूहो भास्यते चिदा ।
कुम्भमात्रफलत्वात् स एक आभासतः स्फूरेत् ॥१४॥

धीवृत्त्याभासकुम्भानां=बुद्धि वृत्ति, चिदाभास और घट इन तीनों का, समूहः=समुदाय अर्थात् यह तीनों, चिदा भास्यते=ब्रह्म-चैतन्य से प्रकाशित होते हैं, कुम्भमात्र फलत्वात्=चिदाभास केवल घट में स्थित फल रूप होने से, आभासतःस=उस चिदाभास के द्वारा वह घट, एकः स्फुरेत्=अकेला ही प्रकाशित होता है ।

इस प्रकार ब्रह्मचैतन्य, और चिदाभास का विषय भिन्न भिन्न होने से ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास का भेद होता है ॥१४॥

घट चिदाभास और ब्रह्म दोनों से भास्य है, इस में हेतु कहते हैं—

चैतन्यं द्विगुणं कुम्भे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ।
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥१५॥

अतः=ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास दोनों के द्वारा घट

प्रकाशित होने से, कुम्भे ज्ञातत्वेन=घट में ज्ञातता रूप से, चैतन्यं द्विगुणं स्फुरति=द्विगुण चैतन्य (ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास) भासता है, यथोदितं एतत् अन्ये=पूर्वोक्त इस ब्रह्मचैतन्य को ही नैयायिकों ने, अनुव्यवसायाख्यम् आहुः=अनुव्यवसाय नाम वाला दूसरा ज्ञान कहा है ॥१५॥

यह घट है तथा ज्ञात घट है, इस प्रकार व्यवहार के भेद से भी चिदाभास और ब्रह्मचैतन्य का भेद जान लेना चाहिये, इस बात को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥१६॥

अयं घटः=यह घट है, इति असौ उक्तिः=इस प्रकार का कथन रूप व्यवहार, आभासस्य प्रसादतः=चिदाभास की कृपा से होता है, विज्ञातो घटः=यह विज्ञात घट है, इति उक्तिः=इस प्रकार का कथन रूप व्यवहार, ब्रह्मानुग्रहतः भवेत्=ब्रह्मचैतन्य के अनुग्रह से होता है ।

इस प्रकार व्यवहार का भेद चिदाभास और ब्रह्मचैतन्य के भेद बिना नहीं बन सकता अतः ब्रह्मचैतन्य और चिदाभास का भेद सिद्ध होता है ॥१६॥

देह से बाहर की न्याईं देह के भीतर भी चिदाभास और कूटस्थ का विवेक करना चाहिये यह वार्ता अग्रिम श्लोक से कही जाती है—

आभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्वद्विवेचिते ।
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥१७॥

यद्वत् देहात् बहिः=जैसे शरीर से बाहर के देश में, आभास-ब्रह्मणी विवेचिते=चिदाभास और ब्रह्मचैतन्य का विवेक दिखाया गया, तद्वत् वपुषि अपि=उसी प्रकार देह के भीतर भी, आभास-कूटस्थौ विविच्येताम्=चिदाभास और कूटस्थ का विवेचन करना चाहिये ॥१७॥

देह से बाहर चिदाभास से व्याप्य घटाकार वृत्ति की न्यांई देह के भीतर, आन्तर-पदार्थ को विषय करने वाली अन्तः करण की वृत्ति नहीं होती, इस लिये वृत्तिव्यापक चिदाभास का अंगीकार कैसे करते हैं, इस प्रकार आशंका के उत्तर में, विषय गोचर वृत्ति का अभाव होने पर भी अहं इत्यादि वृत्ति विद्यमान है, इस लिये वृत्ति के व्यापक चिदाभास भी अंगीकार हो सकता है इस वार्ता को दृष्टान्त सहित कहते हैं--

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ।
संव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा ॥१८॥

यथा तप्ते लोहे वह्निः=जैसे तपे हुए लोह पिण्ड में अग्नि सब ओर से व्याप्त होकर स्थित होती है, **तथा अहं वृत्तौ**=उसी प्रकार अहमाकार वृत्ति में, **च कामक्रोधादिकासु**=और काम क्रोध लोभ आदि वृत्तियों में, **चिदाभासः संव्याप्य वर्तते**=चिदाभास सम्यक् प्रकार से व्याप्त होकर स्थित होता है ॥१८॥

और अहं (मैं हूँ) इत्यादि वृत्ति चिदाभास करके प्रकाश्य है, इस बात को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करके कहते हैं—

स्वमात्रं भासयेत् तप्तं लोहं नान्यत् कदाचन ।
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥१९॥

तप्तं लोहं स्वमात्रं भासयेत्=जैसे तपा हुआ लोहपिण्ड केवल अपने आपको ही प्रकाश करता है, **अन्यत् कदाचन न**=दूसरे को कभी भी नहीं प्रकाशित करता है, **एवं आभाससहिताः वृत्तयः**=उसी प्रकार चिदाभास सहित वृत्तियां, **स्वस्वभासिकाः**=अपने अपने को प्रकाशित करने वाली हैं ॥१९॥

इस प्रकार चिदाभास का प्रतिपादन करके आगे कूटस्थ के स्वरूप का निरूपण करने के लिये उसके उपयोगी वृत्ति के अभाव का अवसर अर्थात् स्थल प्रदर्शन करते हैं—

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः ।
सर्वा अपि विलीयन्ते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु ॥२०॥

अखिलाः वृत्तयः=सम्पूर्ण बुद्धि वृत्तियाँ जाग्रत् स्वप्न अवस्था में, **क्रमात् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते**=क्रम से पृथक् पृथक् उत्पन्न होती हैं, **सर्वा अपि**=और सब ही वृत्तियाँ, **सुप्तिमूर्छासमाधिषु**=सुषुप्ति मूर्च्छा और समाधि में, **विलीयन्ते**=लीन हो जाती हैं ॥२०॥

समाधि आदिस्थलो में वृत्ति का विलय वेशक होवे परन्तु इससे कूटस्थ का अनुभव कैसे होता है, इस प्रकार की शंका के उत्तर में कहते हैं कि वृत्तियों के अभाव का साक्षी रूप से वह कूटस्थ अनुभव में आता है—

सन्धयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः।
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥२१॥

अखिल वृत्तीनाम् सन्धयः=संपूर्ण वृत्तियों की सन्धियाँ, **अभावाश्च येन निर्विकारेण**=और उन के अभाव वे सब जिस निर्विकार चैतन्य से, **अवभासिताः**=प्रकाशित होते हैं, **असौकूटस्थः इति-च उच्यते**=वह चैतन्य कुटस्थ है, इस प्रकार कहा जाता है अर्थात् उसी को कूटस्थ जानना चाहिये ॥२१॥

पूर्वोक्त ग्रन्थ से सिद्ध प्रयोजन को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथाऽन्तरे।
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं सन्धितोऽधिकम् ॥२२॥

बाह्ये घटे यथा=बाह्य स्थित (शरीर से बाहर स्थित) घट में, जैसे, **द्विगुणचैतन्यं**=(घट मात्र का प्रकाशक चिदाभास और घट की ज्ञातता का प्रकाशक ब्रह्मचैतन्य) दो चैतन्य हैं, **तथा-आन्तरे**=उसी प्रकार देह के भीतर, **वृत्तिषु अपि**=बुद्धि वृत्तियों में भी दो चैतन्य (कूटस्थ चैतन्य और वृत्ति का प्रकाशक चिदाभास) हैं, **ततः**=(जिसकारण से द्विगुण चैतन्य है) इसलिये, **संधितः वैशद्यं**=संधि की अपेक्षा वृत्तियों में स्पष्टता, **अधिकम्**=अधिक देखने में आती हैं ॥२२॥

जैसे घटादियों में ज्ञातता और अज्ञातता का अवभासक ब्रह्म-चैतन्य है, उसी प्रकार वृत्तियों में भी ज्ञातता और अज्ञातता का अव-

भासक रूप से कूटस्थचैतन्य को अंगीकार करना चाहिये, ऐसी आशंका हो सकती है उसका उत्तर देने के लिये कहते हैं कि वृत्ति में ज्ञातता, अज्ञातता होती ही नहीं इसलिये ज्ञातता और अज्ञातता के अवभासक रूप से आन्तर विषय में कूटस्थ को मानना इष्ट नहीं हो सकता—

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ।
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥२३॥

घटवत्=घट की न्याई (अर्थात् जैसे घट में ज्ञातता अज्ञातता होती हैं उसी प्रकार), **वृत्तिषु क्वचित्**=वृत्तियों में कहीं पर भी, **ज्ञातता ज्ञातते न स्तः**=ज्ञातता और अज्ञातता नहीं होती हैं, **स्वस्य**=क्योंकि वृत्ति (स्वप्रकाश रूप होने से अर्थात् चिदाभास सहित होने के कारण अपने आपको प्रकाश करती हैं इसलिये), **स्वेन**=वृत्ति को (अपने आपको), **अगृहीतत्वात्**=विषय नहीं करती (अतएव ज्ञान द्वारा व्याप्त न होने से ज्ञातता नहीं), **च ताभिः**=और अपनी उत्पत्ति मात्र से वृत्ति, **अज्ञान नाशनात्**=स्वविषयक अज्ञान को निवृत्त कर डालती हैं (इसलिये अज्ञान द्वारा व्याप्त न होने से वृत्तियों में अज्ञातता भी नहीं हैं) ॥२३॥

कूटस्थ और चिदाभास दोनों में ही अवभासकपना अर्थात् चितपना समान ही है फिर एक को कूटस्थ दूसरे को अकूटस्थ मानना किस कारण से है, ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं कि चिदाभास का जन्म और नाश का अनुभव होता है, इसलिये चिदाभास अकूटस्थ है, और दूसरे का विकारी होने में कोई प्रमाण नहीं इस लिये वह कूटस्थ है—

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ।
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥२४॥

द्विगुणीकृतचैतन्ये=चिदाभास में,**जन्मनाशानुभूतितः**=उत्पत्ति और विनाश का अनुभव होता है इस लिये, **तद् अकूटस्थं**=वह चिदाभास कूटस्थ से भिन्न विकारी है, **अन्यत्तु अविकारतः**=चिदा-

भास से भिन्न ब्रह्म चैतन्य तो निर्विकार होने से, **कूटस्थं**= कूटस्थ कहा जाता है (क्यों कि कूटस्थ के विकारी होने में कोई प्रमाण नहीं) ॥२४॥

चिदाभास से अतिरिक्त कूटस्थ को अंगीकार करना आपकी नवीन कल्पना मात्र है ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्यों कि आचार्यों ने कूटस्थ का प्रतिपादन किया, इस अर्थ को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

अन्तः करण तद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥२५॥

अन्तःकरण तद्वृत्ति साक्षी=अन्तःकरण और अन्तःकरण वृत्ति का साक्षी, **इत्यादौ अनेकधा**=इत्यादि श्लोकों में अनेक प्रकार से, **पूर्वाचार्यैः सर्वत्र**=प्राचीन आचार्यों ने सब जगह, **कूटस्थ एव विनिश्चितः**=कूटस्थ चैतन्य का ही निर्णय किया है ॥२५॥

कूटस्थ से अतिरिक्त चिदाभास का भी आचार्यों ने वर्णन किया है यह वार्ता आगे के श्लोक में कहते हैं—

आत्माभासाश्रयाश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ।
गम्यन्ते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्चवर्णितः ॥२६॥

मुखाभासाश्रयाः=मुख (विम्व) आभास (अर्थात् मुख का प्रतिबिम्बे) और आश्रय (अर्थात् दर्पणादि), **यथा**=जैसे ये तीनों प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होते हैं, **एवं आत्माभासाश्रयाः च**=उसी प्रकार कूटस्थ आत्मा, चिदाभास और आश्रय अन्तःकरणादि भी, **शास्त्रयुक्तिभ्याम् गम्यते**=(१)शास्त्र प्रमाण से (२)तथा युक्ति से ज्ञात होते हैं, **इति आभासः च**=इसलिये आभास का भी वर्णन आचार्यों ने अवश्य वर्णन किया है (ऐसा मानना चाहिये) ।

(१) शास्त्र 'मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी' इत्यादि शास्त्र कूटस्थ का प्रतिपादक है । 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इत्यादि शास्त्र चिदाभास का प्रतिपादक है ।

(२) तथा युक्ति विकारित्व अविकारित्व आदि युक्ति पूर्व ही २४ श्लोक में कही गई हैं ॥२६॥

अब चिदाभास को माने बिना ही व्यवहार चल सकता है, इसलिये चिदाभास का मानना व्यर्थ है इस प्रकार आक्षेप करते हैं-

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकान्तरगमागमौ ।
कर्त्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥२७॥

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थः=(अधिष्ठान चैतन्य में कल्पित) बुद्धि द्वारा अवच्छिन्न कूटस्थ चैतन्य ही, **घटाकाशः इव**=घट द्वारा घटाकाश की न्यांई, **लोकान्तर गमागमौ**=बुद्धि द्वारा स्वर्गादि लोकान्तर में गमन और पुनः इस लोक में आगमन, **कर्त्तुं शक्तः**=करने को समर्थ है, **आभासेन किं**=फिर पृथक् पृथक् चिदाभास से (चिदाभास मानने से) क्या प्रयोजन है, **वद**=कहो (अर्थात् चिदाभास मानना निष्फल है) ॥२७॥

असंग स्वरूप कूटस्थ का बुद्धि द्वारा अवच्छेद मात्र से जीवभाव नहीं बन सकता, यदि बनता होवे तो वह जीवभाव घटादि अवच्छेद मात्र से घटादि अवच्छिन्न चैतन्य को भी प्राप्त होगा इस आशय से उत्तर कहते हैं—

शृण्वसङ्गः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ।
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥२८॥

शृणु=समाधान सुनो, **असङ्गः परिच्छेद मात्रात्**=कूटस्थ असंग आत्मा बुद्धि रूप परिच्छेद मात्र से, **जीवः न हि भवेत्**=जीव नहीं बन सकता, **अन्यथा**=नहीं तो (परिच्छेद मात्र से बन सकता होवे तो), **घटकुड्याद्यैः**=घट तथा दिवाल आदि से, **अवच्छिन्नस्य जीवता**=अवच्छिन्न चैतन्य भी जीव रूप बन जायेगा ॥२८॥

पूर्वार्ध में बुद्धि से अवच्छिन्न चैतन्य जीव बन सकता है, किन्तु घट कुड्यादि से अवच्छिन्न जीव नहीं बन सकता, क्योंकि बुद्धि स्वच्छ है और कुड्यादि स्वच्छ नहीं, इस प्रकार बुद्धि और कुड्यादि की विषमता की आशंका करके उत्तरार्ध से उसका समाधान करते

हैं, कि स्वच्छता परिच्छेद का प्रयोजक अर्थात् कारण नहीं—

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ।
अस्तु नाम परिच्छेदे किं स्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥२९॥

बुद्धिः स्वच्छत्वात्=बुद्धि निर्मल होने से, **कुड्य सदृशी न**=दिवाल के समान नहीं (इस लिये बुद्धि अवच्छिन्न चैतन्य जीव बन जायगा) (अस्वच्छ होने से घट अथवा दिवाल आदि से अवच्छिन्न चैतन्य जीव नहीं बन सकता), **इति चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **तथा अस्तु नाम**=बुद्धि में स्वच्छता और घटादि में अस्वच्छता बेशक होवे, **परिच्छेदे स्वाच्छ्येन**=परन्तु परिच्छेद करने में स्वच्छता से, **तव किं भवेत्**=तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ॥२९॥

उक्तार्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा न हि ।
विक्रेतुस्तण्डुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥३०॥

दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा=काठ के बनाए हुए अथवा काँसे के बनाए हुए, **प्रस्थेन**=प्रस्थ से (तोलने के पात्र विशेष से) तुले हुए, **विक्रेतुः तण्डुलादीनां**=बेचने वाले के चावल आदि अनाज के, **परिमाणं हि**=परिमाण में कुछ भी, **नहि विशिष्यते**=विलक्षणता नहीं होती । तात्पर्य यह है कि प्रस्थ की स्वच्छता अस्वच्छता अनाज के परिमाण में कमी वेशी का हेतु नहीं बनती ॥३०॥

काँसे के बने हुए प्रस्थ में चावल आदि के परिमाण की अधिकता नहीं होगी तो भी प्रतिबिंबरूप विशेषता तो होती हैं ऐसी शंका होने पर उत्तर कहते हैं कि, तब तो बुद्धि में भी चिदाभास को आपने मान ही लिया—

परिमाणाविशेषेऽपि प्रतिबिम्बो विशिष्यते ।
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ॥३१॥

कांस्ये=काँसे के प्रस्थ में, **परिमाणाविशेषे अपि**=तण्डुल परिणाम की अधिकता न होने पर भी, **प्रतिबिम्बः विशिष्यते**=प्रति-

बिम्बरूप अधिकता है, यदि तदा=अगर ऐसा कहते हो, तब तो, बुद्धौ अपि आभासः=बुद्धि में भी चिदाभास, बलात्=जबर दस्ति से अर्थात् अनिच्छा से भी, भवेत्=होगा ही, अर्थात् चिदाभास आप को भी मानना ही पड़ेगा ॥३१॥

प्रतिबिम्ब को अंगीकार करने पर चिदाभास का अंगीकार कैसे सिद्ध होगा, क्योंकि आभास और प्रतिबिम्ब तो एक नहीं है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि प्रतिबिम्ब शब्द और आभास शब्द का अर्थ एक ही है, अतः आभास का अंगीकार सिद्ध हो सकता है—

ईषद्भासनमाभास प्रतिबिम्बस्तथाविधः ।
बिम्बलक्षणहीनः सन् बिम्बवद्भासते स हि ॥३२॥

ईषद्भासनम्=अल्प (अर्थात् बिम्ब से भिन्न होकर) चैतन्य की तरह जो भासता है, आभासः=उस को चिदाभास कहते हैं, प्रतिबिम्बः तथाविधः=प्रतिबिम्ब भी उसी प्रकार होता है, हि बिम्बलक्षणहीनः सन्=क्योंकि बिम्ब के स्वरूप से भिन्न हो कर जो, बिम्बवत् भासते=बिम्ब की न्याईं भासता है, सः=वही प्रतिबिम्ब है उसी को बिम्बाभास (चिदाभास) भी कहते हैं ॥३२॥

जो ही आभास का लक्षण है वही लक्षण प्रतिबिम्ब में भी घटता है इसका स्पष्टी करण करते हैं—

ससङ्गत्वविकाराभ्यां बिम्बलक्षणहीनता ।
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिम्बवद्भासनं विदुः ॥३३॥

एतस्य=यह चिदाभास, ससङ्गत्वविकाराभ्यां=(असंग अविकारी चैतन्य रूप बिम्बके विरुद्ध) ससंग और विकारी होने से, बिम्बलक्षणहीनता=बिम्ब के लक्षण से रहित है, स्फूर्तिरूपत्वम्=और चिदाभास के स्फूरण को (प्रकाश को) विद्वानों ने, बिम्बवत्भासनं विदुः=बिम्ब के न्याईं भासना जाना है अर्थात् कहा है ॥३३॥

पूर्वोक्त प्रकार से चिदाभास की अप्रयोजकता का निवारण

करके अब बुद्धि से पृथक् चिदाभास का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष उठाते हैं, उत्तरार्ध से उसका उत्तर भी कहते हैं –

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ।
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥३४॥

धीभावभावित्वात् =बुद्धि के अस्तित्व के अधीन चिदाभास का अस्तित्व होने से (बुद्धि होने पर चिदाभास होता है, बुद्धि न हो तो चिदाभास नहीं होता, इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक युक्ति से), आभास धियः पृथक्=वह चिदाभास, बुद्धि अर्थात् अन्तःकरण से अलग, न हि अस्ति इति चेत्=नहीं है, यदि ऐसा कहते हो तो, अल्पम् एव उक्तं=तुमने थोड़ा सा ही कहा है, धीः अपि स्वदेहतः= बुद्धि भी अपने स्थूल शरीर से, एवम्=उसी प्रकार पृथक् नहीं है (यह भी तो कहना चाहिये क्योंकि स्थूल शरीर से अलग करके बुद्धि का दर्शन नहीं होता) ॥३४॥

उक्त अर्थ का परिहार के ऊपर आशंका करके पुनः समाधान करते हैं-

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति ।
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥३५॥

देहे मृते अपि बुद्धिः अस्ति=देह के नष्ट होने पर भी अन्तः-करण है, शास्त्रात् चेत्=यह बात (१) शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है, यदि ऐसा मानते हो, तथा सति=तब तो (श्रुति प्रमाण से स्थूल शरीर से अतिरिक्त बुद्धि को यदि स्वीकार करते हो तो), बुद्धेः अन्यः चिदा-भासः=बुद्धि से भिन्न चिदाभास, प्रवेश श्रुतिषु=परमात्मा (२) का जीव रूप से शरीर आदि में प्रवेश को कहने वाली श्रुति में, श्रुतः= सुना गया है अर्थात् कहा गया है (इस लिये श्रुति प्रमाण से चिदा-भास को भी पृथक् मानना चाहिये) ।

(१) स विज्ञानो भवति-इस शास्त्र प्रमाण से ।

(२) 'अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य' इस श्रुति प्रमाण से ॥३५॥

बुद्धि रूप उपाधि वाले का ही प्रवेश युक्त है, बुद्धि रहित का नहीं ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं--

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ।
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥३६॥

धी युक्तस्य=बुद्धि रूप उपाधि युक्त चिदाभास का, प्रवेशः=शरीर के अन्दर प्रवेश (मानना ठीक है) केवल चिदाभास का नहीं, चेत् न=यदि ऐसा कहते हो तो वह ठीक नहीं, ऐतरेये=क्योंकि ऐतरेय उपनिषद् में, धियः पृथक्=बुद्धि से अतिरिक्त (अर्थात् बुद्धि रूप उपाधिरहित), आत्मा प्रवेशं सङ्कल्प=परमात्मा प्रवेश का सङ्कल्प करके, प्रविष्ट इति गीयते=शरीर के अन्दर प्रवेश कर गये, इस प्रकार कहा गया है ॥३६॥

उसी श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं —

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात् ।
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥३७॥

अयं=यह परमात्मा, साक्षदेहं=इन्द्रिय और शरीर सहित=यह जड़ प्रपंच, मदृते=मुझ चैतन्य के बिना, कथं नु स्यात्=कैसे ठहरेगा (इस प्रकार विचार करके), मूर्ध सीमानं=मस्तक स्थित तीनों कपालो के मध्य देश को, विदार्य प्रविष्टः=भेदन करके शरीर के अन्दर प्रवेश कर गया, संसरति=और तत संसार गति को प्राप्त हुआ अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओं को अनुभव करने लगा, इति ईरणात्=इस प्रकार ऐतरेय उपनिषद् में कहा है, इस लिये बुद्धि सहित आत्मा का प्रवेश नहीं मानना चाहिये ॥३७॥

असङ्ग आत्मा का प्रवेश भी युक्ति विरुद्ध है, ऐसी आशंका श्लोक के प्रथम पाद से कहते हैं, और द्वितीय पाद से समाधान कहते हैं—

कथं प्रविष्टोऽसङ्गश्चेत्सृष्टिर्वास्य कथं वद ।
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥३८॥

असङ्गः=आत्मा असङ्ग है इस लिये, कथं प्रविष्टः=उसने शरीर में प्रवेश कैसे किया, चेत्=यदि ऐसा पूछते हो तो, अस्य-

सृष्टिः वा कथं=इस असङ्ग परमात्मा के द्वारा जगत् का सृजन-कैसे हुआ, वद=कहो। (सृष्टि कर्त्ता मायिक होने से उनके द्वारा सृष्टि वन सकती है, ऐसी आशंका का परिहार प्रवेशकर्ता को भी मायिक मानकर कहते हैं), तयोः मायिकत्वं तुल्यं=प्रवेश और सृजन के विषय में परमात्मा की मायिकता समान ही है, च तयोः=और (प्रवेश कर्ता और सृष्टि कर्ता) उन दोनों का, विनाशः समः=विनाश भी तुल्य ही है ॥३८॥

अब उपाधिकृत रूप के विनाश बताने वाली श्रुति का प्रतिपादन करते हैं=

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानु विनश्यति।
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥३९॥

एषः=यह प्रज्ञानघन आत्मा, भूतेभ्यः=पंचभूतों के कार्य देह इन्द्रिय उपाधिरूप निमित्त से, समुत्थाय=जीवत्व के अभिमान को प्राप्त होकर, तानि एव अनु=उन देह इन्द्रियादि के विनाश होने के साथ ही साथ, विनश्यति=उपाधि कृत जीवत्व अभिमान को त्यागता है, इति याज्ञवल्क्यः=इस प्रकार याज्ञवल्क्य ऋषि ने, मैत्रेय्यै=मैत्रेयी के प्रति (उपाधि वाले का विनाश होता है इस बात को), विस्पष्टं उवाच=स्पष्ट रूप से कहा है ॥३९॥

श्रुति भगवती ने पूर्वोक्त औपाधिक आत्मस्वरूप से भिन्न कूटस्थ के असंग स्वरूप का प्रदर्शन किया, इस वार्ता को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

अविनाश्यमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः।
मात्रासंसर्ग इत्येवमसङ्गत्वस्य कीर्तनात् ॥४०॥

अयं आत्मा अविनाशी=यह आत्मा नाश रहित अर्थात् नित्य है, इति कूटस्थः=इस श्रुति ने कूटस्थ को, प्रविवेचितः=जीव से पृथक् करके दिखाया, क्योंकि मात्रासंसर्गः=इस आत्मा का देह इन्द्रियादि मात्राओं से सम्बन्ध नहीं है, इति एवम् असङ्गत्वस्य=इस श्रुति वाक्य ने आत्मा की असंगता का, कीर्तनात्=कथन किया,

(इस लिये कूटस्थ अविनाशी आत्मा पूर्वोक्त औपाधिक और विनाशी आत्मा से पृथक् है) ॥४०॥

परन्तु किसी किसी श्रुति वाक्य ने इस औपाधिक आत्मा को भी विनाश रहित प्रतिपादन किया, ऐसी आशंका उठाकर ग्रन्थकार अग्रिम श्लोक से इस प्रकार समाधान करते हैं कि औपाधिक आत्मा अर्थात् जीव को अविनाशी कहने वाली श्रुति का तात्पर्य जीव के आत्यन्तिक विनाश के अभाव में नहीं, किन्तु वर्तमान देह के नाश से जीव का नाश नहीं होता किन्तु देहान्तर की प्राप्ति उसी जीव को होती है जो पूर्व देह में होता है इसमें तात्पर्य है—

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ।
इत्यत्र न विमोक्षोऽर्थः किन्तु लोकान्तरे गतिः ॥४१॥

जीवापेतं वाव=जीव से रहित हुआ ही (जीव द्वारा परित्यक्त), किल शरीरं म्रियते सः न=यह शरीर नष्ट हो जाता है वह जीव मरता नहीं, इत्यत्र= इस श्रुति वाक्य में, विमोक्षः अर्थः न= मुक्तिरूप अर्थ विवक्षित नहीं है, किन्तु लोकान्तरे गतिः=परन्तु जन्मान्तर में गमन कहा गया है, (इस प्रकार जीव का आपेक्षिक अविनाशित्व और आत्यन्तिक विनाशित्व का परस्पर विरोध नहीं) ॥४१॥

वस्तुतः जीव यदि विनाशी है तो अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार अविनाशी ब्रह्म से अभिन्नतया साक्षात्कार अपने स्वरूप का कैसे सम्भव होगा, इस प्रकार आशंका करके बाधसामानाधिकरण्य से सम्भव है ऐसा समाधान करते हैं—

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि सम्भवात् ॥४२॥

विनाशी सः= नाशवान् वह जीव, अहं ब्रह्म इति=मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार ब्रह्मरूप से अपने स्वरूप को, न बुध्येत=नहीं जानेगा (क्योंकि विनाशी जीव का अविनाशी ब्रह्म से अभेद विरुद्ध है), इति चेत् तत् न=यदि ऐसा कहते हो तो, वह ठीक नहीं, क्योंकि

बाधायाम् = कल्पित का बाध करके भी अधिष्ठान का अवशेष रखना। सामानाधिकरण्यस्य = इस प्रकार अभेदरूप बाध में सामानाधिकरण्य, संभवात् = बन सकता है अर्थात् अधिष्ठान के साक्षात्कार होते ही कल्पित पदार्थ (जीवभाव) के अभाव निश्चयरूप बाध द्वारा जीव और ब्रह्म का अभेद बन सकता है ।।४२।।

बाधसामानाधिकरण्य से महावाक्य के अर्थज्ञान का प्रकार वार्तिकार सुरेश्वराचार्य ने दृष्टांत सहित कथन किया है, इस वार्ता को उनके वाक्य का उदाहरण देकर दिखाते हैं—

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ।
ब्रह्मास्मीति धियाऽशेषाप्यहं बुद्धिर्निवर्त्यते ।।४३।।

यः अयं स्थाणुः एषः पुमान् = जो यह स्थाणु अर्थात् ठूठ है यह पुरुष है, पुंधिया = (इस प्रकार के) पुरुषत्वज्ञान से, स्थाणुधीः इव = (यह स्थाणु है इस प्रकार) स्थाणुत्व बुद्धि जैसे निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार, ब्रह्म अस्मि इति = ब्रह्म मैं हूँ इस प्रकार के धिया अहं बुद्धिः = ज्ञान से (मैं कर्ता भोक्ता हूँ) इस प्रकार अहं ज्ञान भी, अशेषा अपि निवर्त्यते = सम्पूर्ण ही निवृत्त हो जाता है ।।४३।।

इस प्रकार आचार्यों ने नैष्कर्म्यसिद्धि नामक ग्रन्थ में बाध में सामानाधिकरण्य स्पष्ट कहा है, इस फलितार्थ को अग्रिम श्लोक से ग्रन्थकार कहते हैं –

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ।
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ।।४४।।

एवं आचार्यैः = उस प्रकार से सुरेश्वराचार्यों ने, नैष्कर्म्यसिद्धौ अपि = नैष्कर्म्यसिद्धि ग्रन्थ में भी, सामानाधिकरण्यस्य = सामानाधिकरण्य का, बाधार्थत्वम् स्पष्टम् ईरितम् = बाधरूप अर्थ स्पष्ट ही कहा है, अतः = इसलिये महावाक्य में, तत् = सामानाधिकरण्य का बाधरूप अर्थ, अस्तु = हो अर्थात् मान लेना चाहिये ।।४४।।

नैष्कर्म्यसिद्धि में बाधसामानाधिकरण्य का कथन करने पर भी, श्रुतियों में बाधसामानाधिकरण्य कहीं पर भी देखने में नहीं

आया ऐसी आशंका के उत्तर में "सर्वं ह्येतत् ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों में बाधसामानाधिकरण्य देखा गया है इसलिये प्रकृत में भी बन सकता है इस वार्ता को अगले श्लोकों में कहते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ।
अहं ब्रह्मेति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् ॥४५॥

सर्वं ब्रह्म=यह संपूर्ण जगत् ब्रह्म ही है, इति जगता=इस श्रुति वाक्य में, जगत् का ब्रह्म के साथ, सामानाधिकरण्यवत्=जैसा बाध में सामानाधिकरण्य देखा गया है, अहं ब्रह्म इति=उसी प्रकार मैं ब्रह्म हूं इस महावाक्य में भी, जीवेन सामानाधिकृतिः=जीव का अधिष्ठान ब्रह्म से बाधसामानाधिकरण्य, भवेत्=हो सकता है ॥४५॥

यदि बाधसामानाधिकरण्यका अंगीकार करते हो तो विवरणाचार्यों ने बाधसामानाधिकरण्य का खण्डन क्यों किया ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि विवरणाचार्यों ने अहं शब्द से कूटस्थ को कहने की इच्छा से कूटस्थ और ब्रह्म का मुख्य अभेद मानकर बाधसामानाधिकरण्य का खण्डन किया—

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ।
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥४६॥

विवरणे=विवरण नामक ग्रन्थ में, कूटस्थस्यविवक्षया=अहं शब्द का अर्थ कूटस्थ को कहने की इच्छा से, सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं=सामानाधिकरण्य के बाधार्थत्व का, प्रयत्नतः निराकृतम्=बड़े यत्न से खण्डन किया ॥४६॥

पूर्व श्लोक में उक्त "कूटस्थस्य विवक्षया" इस अंश के अर्थ को विस्तार से व्याख्यान करते हैं—

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ।
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥४७॥

शोधितः=बुद्धि आदि से विवेक किया हुआ, त्वंपदार्थः यः=त्वं पद का लक्ष्यार्थ जो, कूटस्थः तस्य=निर्विकार चैतन्य है, उस का,

ब्रह्मरूपताम् = सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म से अभेद, वक्तुं विवरणे = कहने के लिये विवरण ग्रन्थ में, इतरत्र च = तथा अन्यत्र भी (अन्य ग्रन्थ में भी), तथा उक्तम् = बाधसामानाधिकरण्य का खण्डन करके मुख्य सामानाधिकरण्य कहा है ॥४७॥

अब अग्रिम श्लोक में कूटस्थ का ब्रह्म से एकत्व संभव है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिये कूटस्थशब्द से विवक्षित अर्थ कहते हैं—

देहेन्द्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ।
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थात्र विवक्षिता ॥४८॥

देहेन्द्रियादियुक्तस्य = देह इन्द्रिय मन आदि सहित (अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीर सहित), जीवाभासभ्रमस्य = चिदाभासरूप भ्रम का, या अधिष्ठानचितिः = जो अधिष्ठान चैतन्य है, सैषा अत्र = वही वेदान्त में, कूटस्था विवक्षिता = कूटस्थ शब्द से कहने को इष्ट है ।४८।

अब ब्रह्मशब्द के अर्थ को कहते हैं—

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ।
त्रय्यन्तेषु तदत्र स्याद् ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥४९॥

सर्वस्य जगत् भ्रमस्य = संपूर्ण जगत् की कल्पना का, अधिष्ठानम् यत् = अधिष्ठानरूप जो चैतन्य, त्रय्यन्तेषु ईरितम् = वेदान्तों में निरूपित किया गया है, तत् अत्र = वही चैतन्य यहाँ महावाक्य में, ब्रह्मशब्द विवक्षितम् स्यात् = ब्रह्मशब्द से कहा गया हैं ॥४९॥

जीवभ्रम का अधिष्ठान कूटस्थ है यह जो आपने कहा सो नहीं बन सकता क्योंकि जीव आरोपित है, इसकी सिद्धि अब तक नही हुई, ऐसी आशंका का समाधान करने के लिये जीव को कैमुतिक न्याय से सिद्ध करते हैं—

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ।
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥५०॥

एतस्मिन् एव चैतन्ये = इसी अधिष्ठान चैतन्य में ही, यदा

जगत् आरोप्यते=जब सम्पूर्ण जगत् आरोपित होता है, **तदा तदेकदेशस्य**=तब जगत् के एक देश, **जीवाभासस्य**=जीवरूप चिदाभास का आरोपित होने में, **का कथा**=क्या कहना है (अर्थात् चिदाभास भी आरोपित होगा इस विषय में क्या कहना हैं) ॥५०॥

सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान जो चैतन्य है वह एक होने के कारण, तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ का भेद न होने पर अर्थात् जब तत् त्वं पदार्थ का भेद है नहीं तो, एक ही अर्थ के वाचक तत् और त्वं दो पदों का कथन पुनरुक्ति दोष वाला है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ का औपाधिक भेद, और स्वरूपतः अभेद अंगीकार किया है, स्वरूपतः दोनों पदार्थ एक होने पर भी उपाधिकृत भेद को लेकर दो शब्दों का प्रयोग पुनरुक्ति-दोष से युक्त नहीं, और न ही अर्थों की पुनरुक्ति है—

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ।
तत्त्वं पदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥५१॥

जगत्तदेकदेशाख्य समारोप्यस्य भेदतः=जगत् और जगत् का एक देश चिदाभासरूप आरोपित उपाधि के भेद से, **तत् त्वं पदार्थौ भिन्नौस्तः**=तत् और त्वं इन दोनों पदों का अर्थ भी भिन्न भिन्न हैं, **वस्तुतः तु**=वास्तव में तो (स्वरूप से तो), **चितेः एकता**=चैतन्य का अभेद ही है ॥५१॥

शुक्ति में आरोपित मिथ्या रजत में अधिष्ठान शुक्ति का इदं अंश, और आरोप्य का अंश रजतत्व दोनों धर्म प्रतीत होते हैं-इस लिये सीपी में रजत को कल्पित मानते है, उसी प्रकार चिदाभास में भी अधिष्ठान कूटस्थ तथा आरोप्य दोनों का धर्म प्रतीत हुए बिना चिदाभास आरोपित कैसे बन सकेगा इस आशंका का उत्तर आगे के श्लोक में कहते हैं—

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान्स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ।
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥५२॥

कर्तृत्वादीन् बुद्धिधर्मान् = कर्तृत्व भोक्तृत्वादि आरोपित बुद्धि-रूप उपाधि के धर्म को, च स्फूर्त्याख्यां आत्मरूपताम् = और स्फूरण-रूप प्रधिष्ठान चैतन्य के स्वरूप को, दधत् = धारण करता हुआ चिदा-भास, पुरतः विभाति = सामने अर्थात् स्पष्ट ही भासता है, अतः आभासः = इस लिये चिदाभास (जीवाभास), भ्रमः भवेत् = भ्रम-रूप अर्थात् कल्पित है ॥५२॥

इस चिदाभास के भ्रम का हेतु बुद्धिके स्वरूप का अविवेक ही है, वह अनर्थ का हेतु होने से निवारणीय है इस अभिप्राय से कहते हैं

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्मात्र जगत्कथम् ।
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥५३॥

बुद्धिः का = बुद्धि कौन है (बुद्धिका स्वरूप क्या है), अयं आभासः कः = यह चिदाभास का स्वरूप क्या है, वा आत्मा कः = अथवा आत्मा का क्या स्वरूप है, अत्र जगत् कथम् = इस आत्मा में जगत् कैसे उत्पन्न हुवा, इति अनिर्णयतः = इस प्रकार इन्हों का विवेक न होने से ही, मोहः = अविवेकरूप मोह उत्पन्न होता है, सः अयं संसारः इष्यते = यही मोह संसार कहा जाता है ॥५३॥

पूर्वोक्त प्रकार से इस संसार का निवर्तक कौन है ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर बुद्धि आदि के स्वरूप का विवेक ही उस मोहरूप संसार का निवर्तक है, ऐसे अभिप्राय को लेकर विवेकी को ज्ञानवान् तथा उस ज्ञान से अनर्थ की निवृत्ति को कहते हैं—

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ।
स एव मुक्त इत्येवं वेदान्तेषु विनिश्चयः ॥५४॥

यः बुद्ध्यादीनां स्वरूपं = जो अधिकारी बुद्धि आदि अनात्म पदार्थ के स्वरूप को, विविनक्ति = अधिष्ठान चैतन्य से पृथक् करके विवेक द्वारा जानता है, स तत्त्ववित् स एव मुक्तः = वह तत्त्वज्ञानी है, वही मुक्त है, इति एवं वेदान्तेषु विनिश्चयः = इस प्रकार वेदान्त में निर्णय है ॥५४॥

बन्ध और मोक्ष उक्त प्रकार से यदि अविवेक से ही होवे तो अद्वैतवाद में कौन मुक्त है कौन बद्ध है इस प्रकार कुतर्क मूलक परिहास के खण्डन का उपाय बताते हैं—

एवं च सति बन्धः स्यात्कस्येत्यादिकुतर्कजाः ।
विडम्बना दृढं खण्ड्याः खण्डनोवित प्रकारतः ॥५५ ॥

एवं च= इस प्रकार (बन्ध और मोक्ष को अविवेक मूलक) सति= मान लेने पर (अद्वैतवाद में), कस्य बन्धः स्यात्= किसका बन्ध होगा (और किसकी मुक्ति होगी), इत्यादि कुतर्कजाः-विडम्बनाः= इत्यादि कुतर्क से उत्पन्न होने वाले परिहास विशेष, खण्डनोवित प्रकारतः= खण्डन ग्रन्थ में कही हुई युक्तियों से, दृढं खण्ड्याः= (पूर्वपक्षी को निरुत्तर बनाकर) अच्छी तरह खण्डन करने योग्य हैं ॥५५॥

श्रुति युक्तियों से कूटस्थ के स्वरूप की बुद्धि आदियों से विवेचन करने के पश्चात्, अब पुराणादि में भी कूटस्थ का विवेक दिखाया है इस बात को कहते हैं—

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ।
बुभुत्सायास्तथाज्ञोऽस्मी त्याभासाज्ञानवस्तुनः ॥५६ ॥

वृत्तेः च= (अन्तःकरण की कामादि) वृत्ति के और, वृत्तिप्रागभावस्य= (वृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व) वृत्तिप्रागभाव के, बुभुत्सायाः= जिज्ञासा अर्थात् जानने की इच्छा के, तथा अज्ञः अस्मि इति= तथा "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार, आभासज्ञानवस्तुनः= अनुभूयमान अज्ञान रूप वस्तु के भी, साक्षितया=साक्षिरूप से, स्थितः= शिव ही स्थित है (इस प्रकार कूटस्थ का विवेक दिखाया) ॥५६॥

अब उस कूटस्थरूप शिव को सत्य ज्ञानादिरूप से प्रतिपादन करने वाले पुराण वाक्यों का प्रदर्शन करते हैं—

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ।
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥५७॥

असत्यालम्बनत्वेन सत्यः= असत्य जगत् का अधिष्ठान होने से वह शिव सत्य है, **सर्वजडस्यतु**= और सम्पूर्ण जड़ पदार्थ का, **साधकत्वेन चिद्रूपः**= प्रकाशक होने से वह शिव चैतन्यरूप है, **सदा प्रेमास्पदत्वतः**= सर्वदा परम प्रेम का विषय होने से ॥५७॥

आनन्दरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ।
सर्वसम्बन्धवत्त्वेन सम्पूर्णः शिवसंज्ञितः ॥५८॥

आनन्दरूपः= वह शिव निरतिशय सुखस्वरूप है, **सर्वार्थ-साधकत्वेन हेतुना**= सम्पूर्ण जगत्का अवभासक होने के कारण, **सर्व सम्बन्धवत्त्वेन**= सर्व जगत् सम्बन्धी (सम्बन्ध वाला होने से) **शिवसंज्ञितः**= वह शिव नाम वाला कूटस्थ चैतन्य, **सम्पूर्णः**=सम्पूर्ण अर्थात् सर्वत्र व्याप्त कहा जाता है।

इस प्रकार यह शिव वृत्त्यादि दृश्य पदार्थों से उनका साक्षी होने के कारण भिन्न है, सर्वाधिष्ठान होने से सत्य है, जड़मात्रका अवभासक होने से चैतन्य रूप है, परम प्रेम का विषय होने से परमानन्द रूप है, और सर्व प्रकाशक होने से सबके साथ सम्बन्ध वाला है अतः सर्वत्र पूर्ण है ॥५८॥

अब पुराण वाक्यों का तात्पर्य कहते हैं –

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ।
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥५९॥

इति शैवपुराणेषु= इस प्रकार से सूत संहिता आदि पुराणों में, **जीवेशत्वादिरहितः**= जीव और ईश्वर भाव आदि की कल्पना से रहित, **केवलः स्वप्रभः**= अद्वितीय स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप शिवः **कूटस्थः**= शिवात्मक कूटस्थ का, **प्रविवेचितः**= अच्छी प्रकार विवेचन किया है ॥५९॥

कूटस्थ चैतन्य वास्तव में जीवभाव और ईश्वरभाव से रहित है यह पूर्व श्लोक से कहा गया, परन्तु किस कारण से इस कूटस्थ चैतन्य में जीवभाव और ईश्वरभाव नहीं है, ऐसी आशंका

करके उसका उत्तर देते हैं कि श्रुति ने स्वयं जीवभाव और ईश्वर-भाव को माया द्वारा कल्पित दिखाया है, इस वास्ते वस्तुतः कूटस्थ चैतन्य उन दोनों भावों से रहित है।

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ।
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुम्भवत् ॥६०॥

माया आभासेन= माया और अविद्या चिदाभास के द्वारा, **जीवेशौ करोति**= जीव और ईश्वर को निर्माण करती है, **इति श्रुतत्वतः**= इस प्रकार श्रुतियों से सुना गया है इस कारण से, **जीवेशौ मायिकौ एव**= जीव और ईश्वर दोनों मायिक ही कहे गये,

अर्थात् शुद्धसत्वगुणप्रधान माया में पड़ा हुआ चिदाभास ईश्वर और मलिनसत्वप्रधान अविद्या में पड़ा हुआ चिदाभास जीव है।

तौ काचकुम्भवत्= वे दोनों कांच के घड़े की न्याई, **स्वच्छौ**= शुद्ध है अर्थात् जैसे कांच का घड़ा और मिट्टी का घड़ा दोनों ही पृथिवी का कार्य है तथापि कांच का घड़ा शुद्ध (स्वच्छ) होता है, और मिट्टीका घड़ा अस्वच्छ होता है इसी प्रकार जीव, ईश्वर, तथा देहादिक यद्यपि मायिक ही है, तथापि जीवेश्वर स्वच्छ हैं और देहादि अस्वच्छ है। यह विलक्षणता सिद्ध हुई ॥६०॥

प्रसिद्ध घट और कांच का घड़ा इन दोनों का कारण विलक्षण विलक्षण-मिट्टी है; इस वास्ते उन दोनों की विलक्षणता बन सकती परन्तु देहादि जगत् तथा जीव और ईश्वर इनका कारण माया एक ही है, इस लिये जीव और ईश्वर की जगत् से विलक्षणता कहना उचित नहीं, किन्तु अनुचित है, ऐसी आशंका करके उत्तरकहते हैं कि एक ही अन्न से उत्पन्न होने वाले जैसे देह और मन विलक्षण विलक्षण देखने में आते हैं, उसी तरह एक ही माया से उत्पन्न होने वाले जीव और ईश्वर तथा देहादिक जगत् की विलक्षणता बन सकती हैं—

अन्नजन्यं मनो देहात् स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ ।
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात् स्वच्छतां गतौ ॥६१॥

यद्वत्-अन्न-जन्यं-मनः= जैसे अन्न से उत्पन्न हुआ भी मन, देहात् स्वच्छं= अन्न से उत्पन्न हुआ स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक निर्मल है, तथैव तौ= उसी प्रकार वे जीव और ईश्वर, मायिकौ अपि= मायिक होने पर भी, अन्यस्मात् सर्वस्मात्= अन्य सब से अर्थात् सम्पूर्ण जगत् की अपेक्षा से, स्वच्छतां गतौ= अधिक निर्मलता को प्राप्त हुए हैं ॥६१।

जीव ईश्वर कांचादि की न्याई स्वच्छ भले ही हो, परन्तु चैतन्यरूपता उन में कैसे सिद्ध हुई, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि अनुभव के बल से चैतन्यरूपता सिद्ध होती है, और चैतन्यरूप से अनुभव भी मायिक जीवेश्वर का नहीं होना चाहिये, यह आशंका नहीं बन सकती, क्योंकि दुर्घटनाकारी माया के बल से सब कुछ हो सकता है, यही दोनों वार्ता अगले श्लोक से कही जा रही है—

चिद्रूपत्वं च सम्भाव्यं चित्वेनैव प्रकाशनात् ।
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥६२॥

चित्वेन एव प्रकाशनात्= चेतन रूप करके अनुभव होने के कारण, चिद्रूपत्वं च सम्भाव्यं= जीव और ईश्वर चैतन्यरूप हो सकते हैं, सर्वकल्पनशक्तायाः= सब कुछ कल्पना करने की शक्ति वाली, मायायाः दुष्करं न हि= माया के लिये कुछ भी करना कठिन नहीं ॥६३॥

अब पूर्व कहे हुए अर्थ को कैमुतिक न्याय से दृढ़ करते हैं अस्मद् इत्यादि श्लोक के द्वारा—

अस्मन्निद्रापि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ।
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥६३॥

अस्मद् निद्रापि= जब कि हमारी निद्रा भी, स्वप्नगौ जीवेशौ= स्वप्न में होने वाले जीव और ईश्वर दोनों को, चेतनौ सृजेत्=चेतन रूप करके सृजन करती है तो, महामाया सब का मूल कारण माया (ईश्वर की शक्ति), एतौ सृजेत्=जीव और ईश्वर इन दोनों को चेतन रूप करके निर्माण करती है, इति अत्र ते किम्

आश्चर्यम्=इस विषय में तुम्हारे लिये क्या आश्चर्य की बात हैं।६३।

जब कि ईश्वर भी मायिक ही है तो जीव की न्याई ईश्वर का भी असर्वज्ञतादि होना चाहिये ऐसी आशंका का अवसर नहीं क्योंकि सर्वज्ञतादि धर्म की कल्पनाभी माया ही कर लेती है इस अर्थ को अग्रिम श्लोक से कहते है—

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ।
धर्मिणं कल्पयेद्यास्याः को भारो धर्मकल्पने ॥६४॥

च ईशे सर्वज्ञ त्वादिकं=और ईश्वर में सर्वज्ञत्वादि धर्मों की, कल्पयित्वा प्रदर्शयेत्=कल्पना करके, (माया ही) दिखातीहैया धर्मिणं कल्पयेत्=जो महामाया, धर्मी ईश्वर की कल्पना कर सकती, अस्याः धर्म कल्पने=इस महामाया के लिये, सर्वज्ञत्वादि धर्म की कल्पना करने में, कः भारः=क्या जोर पड़ता है (क्या बड़ी बात है)॥६४.।

जैसे जीव और ईश्वर मायिक है उसी प्रकार कूटस्थ भी मायिक होगा ऐसे प्रसंग की आशंका करके, कूटस्थ के मायिक होने में कोई प्रमाण नहीं, इसी लिये कूटस्थ मायिक नहीं सिद्ध होगा, इस प्रकार समाधान करते हैं—

कूटस्थेऽप्यतिशङ्का स्यादिति चेन्माऽतिशंक्यताम् ।
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं नहि विद्यते ॥६५॥

कूटस्थे अपि=कूटस्थ में भी, अतिशंका स्यात्=मायिकत्व की शंका (अर्थात् कूटस्थ भी मायिक ही है इस प्रकार सन्देह) प्राप्त होगा, इति चेत्=इस प्रकार यदि कहते हो तो, मा अतिशंक्यताम्=ऐसी शंका मत करो, क्यों कि, कूटस्थमायिकत्वे तु=कूटस्थ मायिक है इस विषय में तो, प्रमाणं नहि विद्यते=प्रमाण नहीं है ॥६५॥

कूटस्थ मायिक नहीं किन्तु वास्तव है, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं ऐसी शंका करने पर सब श्रुति वाक्य कूटस्थ पारमार्थिक है इसमें प्रमाण है इस प्रकार समाधान कहते हैं—

वस्तुत्वं घोषयन्त्यस्य वेदान्ताः सकला अपि ।
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहन्तेऽत्र किञ्चन ॥६६॥

सकलाः अपि वेदान्ताः=सब ही उपनिषद्रूप श्रुतियाँ, अस्य वस्तुत्वं घोषयन्ति=इस कूटस्थ को पारमार्थिक कहती है, अत्र= कूटस्थ पारमार्थिक है इसविषय में (श्रुतियाँ), सपत्नरूपं अन्यत् वस्तु =विरोधी दूसरी वस्तु (प्रतिकूल-तर्क आदि), किंचन न सहन्ते= कुछ भी सहन नहीं करती हैं ॥६६॥

कूटस्थ वास्तव है, जीव और ईश्वर मायिक है, इसकी सिद्धि के लिये उपनिषद्रूप श्रुतियों को ही प्रमाण रूप से कथन क्यों किया जाता है, और युक्तियों के द्वारा उसका प्रतिपादन क्यों नहीं किया जाता, ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर मुमुक्षुओं के प्रति श्रुति के अर्थ स्पष्ट करने के लिये प्रवृत्त होने के कारण तर्क युक्तियों का कथन नहीं किया गया, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किञ्चन ।
तेन तार्किकशङ्कानामत्र कोऽवसरो वद ॥६७॥

श्रुत्यर्थं विषदी कुर्मः=श्रुति के अर्थ को ही (मुमुक्षुके प्रति) हम स्पष्ट करते हैं, तर्कात् किञ्चन न वच्मि=तर्क से अर्थात् युक्ति से कुछ भी नहीं कहता हूँ, तेन तार्किक शंकानाम्=इसलिये तर्क करने वाले की शंकाओं का, अत्र कः अवसरः वद=यहां पर इस प्रसंग में क्या अवकाश है कहो ॥६७॥

इससे सिद्ध होने वाले प्रयोजन को तथा मुमुक्षु के द्वारा श्रुतियों का अर्थ कैसा विचारणीय है इस बात को अब कहते हैं—

तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ।
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥६८॥

तस्मात्=इसलिये (जिसलिए मुमुक्षु के प्रति श्रुति के अर्थ स्पष्ट करने के लिये हमारी प्रवृत्ति होने के कारण यहाँ तर्क का अवसर नहीं, इसलिये), मुमुक्षुः=मोक्षेच्छु अधिकारी, कुतर्कं सन्त्यज्य =श्रुति विरोधी तर्क का परित्याग करके, श्रुतिम् आश्रयेत्=श्रुति का आश्रय ले, श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोति=और श्रुति में तो

माया जीव और ईश्वर को बनाती है, इति प्रदर्शितम्=इस प्रकार का अर्थ दिखाया गया है, (यह अर्थ मुमुक्षु बार बार विचार करें यह तात्पर्य है) ॥३८॥

जीव और ईश्वर से कृत सृष्टि का विभाग दिखाते हैं—

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशकृता भवेत् ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकर्तृकः ॥६९॥

ईक्षणादिप्रवेशान्ता=ईक्षण रूप संकल्प से आदि लेकर जीवरूप से प्रवेश पर्यन्त, **सृष्टिः ईशकृता भवेत्**=सृष्टि ईश्वर के द्वारा की हुई है, **जाग्रदादि विमोक्षान्तः संसारः**=जाग्रत् से आदि लेकर मोक्ष पर्यन्त संसार, **जीवकर्तृकः**=जीवरूप कर्ता का रचा हुआ है ।

भावार्थ यह है कि—जगत् को सृजन करने के लिये परमेश्वर का जो ईक्षणरूप संकल्प होता हैं कि 'मैं जगत् का सृजन करूं' उससे आदि लेकर जीवरूप से शरीर में प्रवेश करना पर्यन्त सम्पूर्ण सृष्टि का कर्त्ता तो ईश्वर है, और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति बन्ध और मोक्षरूप संसार का कर्ता जीव है, क्योंकि जाग्रदादि अवस्था का जीव अभिमानी हैं ॥६९॥

मुमुक्षु को जो विचार कर्तव्य है, उसका निर्देश करते हैं—

असङ्ग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ।
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥७०॥

कूटस्थः असङ्गः एव=सर्वाधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य असगरूप ही है, **अस्य कश्चन**=इस कूटस्थ का कोई भी, **अतिशयः न भवति**=जन्म मरणादि संसाररूप अतिशय अर्थात् विकार नहीं है, **तेन मनसि एवं सर्वदा**=इसलिये मन में इसी प्रकार सर्वदा, **विचार्यताम्**=विचार करना चाहिये (अर्थात् कूटस्थ सर्वदा असंग पारमार्थिक निर्विकार सत्य वस्तु है और जन्मादिरूप संपूर्ण व्यवहार मिथ्या है, इस निर्णीत अर्थ का विचार मुमुक्षु सर्वदा करें ।) ॥७०॥

कूटस्थ की जन्मादि अतिशय अर्थात् विकार नहीं है यह किन

प्रमाणों से ज्ञात होता है ऐसी आकांक्षा के उत्तर में श्रुति वाक्यरूप प्रमाण से कूटस्थ की निर्विकारता सिद्ध होती है, इस अभिप्राय को लेकर श्रुतिवाक्य का उदाहरण देते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥७१॥

निरोधो न=वास्तव नाश नहीं है, **न च उत्पत्तिः**=और वास्तव जन्म भी नहीं है, **बद्धो न**=सुख दुःखादि धर्म वाला बद्ध भी कोई नहीं, उसी प्रकार, **साधकः च नः**=श्रवणादि साधन करने वाला भी कोई नहीं है, **मुमुक्षुः न**=मोक्ष की इच्छा वाला भी परमार्थ से कोई नहीं है, **न वै मुक्तः**=और न ही वस्तुतः कोई मुक्त है, **इति एषा परमार्थता**=यही वास्तव स्थिति हैं ॥७१॥

यदि कूटस्थ चैतन्य जन्मादि सर्व विकारों से रहित है, अतएव वास्तव तत्व है, तो श्रुतियों में जहां तहां जीव ईश्वर और जगत् के स्वरूप का प्रतिपादन किस प्रयोजन के लिये है इस आशंका का निवारण करते हैं कि वह कूटस्थ आत्मा मन वाणी का अगोचर होने से साक्षात् बोधन कराने योग्य नहीं, किन्तु जीवेश्वरादि प्रपञ्चरूप अध्यारोप के द्वारा ही आत्मा बोधन कराने योग्य है, इसलिये श्रुतियों में जीव ईश्वर आदि स्वरूप का प्रतिपादन किया गया इस अभिप्राय को अगले श्लोक में प्रगट करते हैं

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ।
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥७२॥

अवाङ्मनसगम्यं तं=मन और वाणी का अगोचर उस कूटस्थ आत्मा को, **बोधयितुं श्रुतिः**=बोधन कराने के लिये श्रुति, **जीवम् ईशं जगत् वा अपि**=जीव और ईश्वर को और जगत् को भी, **समाश्रित्य सदा प्रबोधयेत्**=आश्रय करके सर्वदा बोधन करती हैं ।७२।

जब तत्त्व सर्वत्र एक ही स्वरूप है, और वह भी श्रुति करके बोधन करने योग्य है, तो फिर श्रुतियों में परस्पर विरुद्ध कथन क्यों देखने में आता है, ऐसी आशंका के निवारण करने के लिये अगले

श्लोक से उत्तर कहते हैं कि तत्त्व के विषय में विरुद्ध अथवा भिन्न भिन्न प्रकार का कथन नहीं है, किन्तु तत्त्व बोधन की प्रक्रिया में भेद है, और यह भिन्न भिन्न प्रक्रिया भी मुमुक्षु लोगों के चित्त की विषमता के अनुसार है, जो कि सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात्साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥७३॥

यया यया पुंसां=जिस जिस प्रक्रिया से अधिकारी मनुष्यों को, **प्रत्यगात्मनि**=अन्तरात्मा में अर्थात् अन्तरात्मा विषयक, **व्युत्पत्तिः भवेत्**=ज्ञान होता होवे, **सा सा एव प्रक्रिया**=वही वही प्रक्रिया (उपाय), **इह साध्वी स्यात्**=वेदान्त में सही मानी जाती है, **इति आचार्य भाषितम्**=इस प्रकार सुरेश्वराचार्य ने कहा है ॥७३॥

सम्पूर्ण श्रुतियों का तात्पर्य तो एक ही तत्त्व कूटस्थ चैतन्य है, फिर उस तत्त्व के प्रतिपादक ग्रन्थों का, अथवा ग्रन्थकर्त्ताओं का परस्पर विरोध किस कारण से है, इस आशंका का उत्तर देते हैं कि, श्रुति के तात्पर्य का ज्ञान जिस को नहीं है, उन्हीं का आपस में विरोध है, और अभिप्राय जानने वाले विवेकियों का कोई विरोध नहीं है, इस अर्थ का अगले श्लोक से कहते हैं—

श्रुतितात्पर्यमखिलमबुद्ध्वा भ्राम्यते जड़ः ।
विवेकी त्वखिल बुद्ध्वा तिष्ठत्यानन्दवारिधौ ॥७४॥

अखिलं श्रुतितात्पर्यं=सम्पूर्ण श्रुति के तात्पर्य को (अभिप्राय को), **अबुद्ध्वा**=न जान कर के, **जड़ः भ्राम्यते**=विवेक हीन मनुष्य भ्रम में (चक्कर में) पड़ जाता है, **विवेकी तु**=और विवेकी मनुष्य तो, **अखिलं बुद्ध्वा**=निखिल श्रुति तात्पर्य को (श्रुति तात्पर्य के विषयीभूत अद्वितीय ब्रह्म को) जान कर, **आनन्दवारिधौ**=आनन्द समुद्र में (अर्थात् परमात्मा में), **तिष्ठति**=निमग्न रहता है ॥७४॥

अब विवेकी के निश्चय को दिखाते हैं—

मायामेघो जगन्निरं वर्षत्वेष यथा तथा ।
चिदाकाशस्य नो हानि र्न वा लाभ इति स्थितिः ॥७५॥

एष मायामेघः=यह मायारूपी बादल, **जगन्निरं यथा तथा वर्षतु**=जगत्‌रूपी जल को जैसा तैसा वर्षावे, **चिदाकाशस्य**=चैतन्य-रूपी आकाश को, **हानिः नो**=उससे कोई हानि नहीं, **न वा लाभः**=और न कोई लाभ ही है, **इति स्थितिः**=इस प्रकार विवेकी का दृढ़ निश्चय हैं ॥७५॥

कूटस्थदीप नामक ग्रन्थ के अभ्यास का फल कथन करते हैं—

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसन्धत्ते निरन्तरम् ।
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥७६॥

यः इमं=जो अधिकारी मनुष्य इस, **कूटस्थदीपं**=कूटस्थ-दीप प्रकरणका, **निरन्तर अनुसन्धत्ते**=सदा विचार अर्थात् अभ्यास करता है, **असौ स्वयं कूटस्थरूपेण**=वह खुद ही निर्विकार कूटस्थ चैतन्य रूप से, **निरन्तरम् दीप्यते**=सदैव प्रकाशमान रहता है ॥७६॥

इति श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री विद्यारण्य-
स्वामि विरचितपञ्चदश्यां कूटस्थदीपाख्याऽष्टम प्रकरणस्य
राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य-
श्रीस्वामिस्वतन्त्रानन्दगिरि महाराज कथिताऽन्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ नवमं ध्यानदीपप्रकरणम्

विवेक वैराग्यादि चार साधनों से युक्त अधिकारी को सम्यक् श्रवण मनन निदिध्यासन द्वारा तत्त्वं पदार्थ का विवेचन पूर्वक महावाक्य का अर्थ अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने पर ब्रह्मभावरूप मोक्ष होता है, ये वार्ता वेदान्त शास्त्र में पूर्व प्रतिपादित हुई है, तहाँ उपनिषद्रूप वेदान्त का श्रवण करने पर भी बुद्धिमन्दता आदि किसी प्रतिबन्ध से किसी अधिकारी को यदि महावाक्य का अर्थरूप अखण्ड ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान नहीं उत्पन्न होता होवे तो, ज्ञान उत्पादन द्वारा मोक्ष फल देने वाली उपासनाओं का प्रदर्शन कराने की इच्छा वाला ग्रन्थकार प्रथम दृष्टान्त सहित ब्रह्मतत्त्व की उपासना से मोक्ष होता है इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं—

सम्वादिभ्रमवद् ब्रह्मतत्त्वोपास्त्यापि मुच्यते ।
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥१॥

संवादि भ्रमवत्= संवादिभ्रम की न्याई (जैसे संवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए मनुष्य को अभिलषित वस्तु की प्राप्ति होती है उसी प्रकार), **ब्रह्मतत्त्व उपास्त्या अपि**= ब्रह्मतत्त्व की उपासना से भी, **मुच्यते**= मुक्त होता है (अभिलषित ब्रह्मभावरूप मुक्ति प्राप्त होती हैं), **अतः**= इसलिये (जिसलिये उपासना से भी मुक्ति होती है इसलिये), **उत्तरे तापनीये**= उत्तर तापनीय उपनिषद् में, **अनेकधा उपास्तिः**= अनेक प्रकार से ब्रह्म तत्त्व की उपासना, **श्रुता**= कही गई है (अर्थात् इस विषय में उपनिषद् रूप प्रमाण विद्यमान हैं) ॥१॥

पूर्व श्लोक में 'संवादिभ्रमवत्' यह दृष्टान्त कहा गया है, उसी प्रकार का विस्तार करने के लिये संवादिभ्रम प्रतिपादक वार्तिक का पाठ करते हैं—

मणि प्रदीप प्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥२॥

मणिप्रदीप प्रभयोः= मणि की प्रभा में और दीपक की प्रभा में, **मणि बुद्ध्या**= यह मणि है इस प्रकार मिथ्या ज्ञान से, **अभिधावतोः**= प्रवृत्त होने वाले दो मनुष्य का, **मिथ्या ज्ञानाविशेषेऽपि**= मिथ्या ज्ञान समान होने पर भी, **अर्थ क्रियां प्रति**= कार्य क्षमता में (इष्ट फल की प्राप्ति में), **विशेषः**= विषमता (अथवा भेद) है ॥२॥

अब उक्त वार्तिक का व्याख्यान करते हैं—

दीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ।
दृश्यते द्वार्यथाऽन्यत्र तद्वत् दृष्टा मणेः प्रभा ॥३॥

अपवरकस्य अन्तः= किसी मन्दिर में आवरक के अन्दर, **दीपः वर्तते**= दीप स्थित है, **तत् प्रभा बहिः**= उस दीपक का प्रकाश बाहर, **द्वारि**= द्वार प्रदेश में (अर्थात् दरवाजे के बाहर में), **दृश्यते**=रत्न की तरह गोलाकार दिखता है, **अथ अन्यत्र**=और दूसरे मन्दिर में आवरक के भीतर स्थित, **मणेः प्रभा**= रत्न का प्रकाश, **तद्वत् दृष्टा**= दरवाजे के बाहर प्रदेश में दीपक की प्रभा की न्याई रत्न के समान गोलाकार दिखता है ॥३॥

अब प्रवृत्त होने वाले दोनों पुरुषों का मिथ्याज्ञान समान ही है इस बात को दिखाते हैं—

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥४॥

प्रभाद्वयं दूरे दृष्ट्वा= उक्त प्रकार से दोनों प्रभाओं को दूर से देखकर, **मणि बुद्ध्या**= यह मणि है इस प्रकार भ्रम ज्ञान से, **अभिधावतोः द्वयोरपि**= दौड़ने वाले (प्रवृत्त हुए) दोनों मनुष्यों का भी, **प्रभायां मणि बुद्धिः तु**= प्रकाश में उत्पन्न हुआ मणि ज्ञान तो, **मिथ्या ज्ञानं**= मिथ्या ज्ञान (भ्रम ज्ञान ही है) ॥४॥

अब अर्थ क्रिया के प्रति विलक्षणता को दिखाते हैं—

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ।
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥५॥

दीप प्रभां प्रति= दीपक के प्रकाश की ओर, **अभिधावता मणिः न लभ्यते**= मणि करके दौड़ने वाला मनुष्य मणि को प्राप्त नहीं करता, **मणेः प्रभायां**= और मणि की प्रभा में, **धावता**= मणि बुद्धि करके दौड़ने वाले मनुष्य को, **मणिः अवश्यं लभ्यते एव**= रत्न अवश्य करके प्राप्त ही होता है ॥५॥

सुरेश्वराचार्यकृत वार्तिक के अर्थ का व्याख्यान करने के अनन्तर उससे सिद्ध होने वाले प्रयोजन को कहते हैं—

दीपप्रभामणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ।
मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते ॥६॥

दीपप्रभा मणिभ्रान्तिः= दीपक के प्रकाश में यह मणि है इसप्रकार मणि का भ्रम ज्ञान, **विसंवादिभ्रमः**= विसंवादी भ्रम, **स्मृतः**= कहा जाता है (क्योंकि वह भ्रमज्ञान मणि प्राप्तिरूप सफल प्रवृत्ति का जनक नहीं), **मणिप्रभा मणिभ्रान्तिः**= मणि की प्रभा में जो मणि का भ्रमज्ञान उसको, **संवादिभ्रमः**= संवादी भ्रम नाम से, **उच्यते**= विद्वान् लोग कहते हैं (क्योंकि वह मणि प्राप्तिरूप सफल प्रवृत्ति का जनक है) ॥६॥

उक्त प्रकार से प्रत्यक्षादि विषयक संवादी भ्रम को दिखाकर, अब अनुमान के विषय में भी संवादी भ्रम का प्रदर्शन करते हैं—

वाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्राङ्गारानुमानतः ।
वह्निर्यदृच्छया लब्धः सः संवादिभ्रमो मतः ॥७॥

वाष्पं धूमतया बुद्ध्वा= दूर देश में स्थित वाष्पों को धूमरूप से निश्चय करके, **तत्र**= उसी देश में, **अङ्गारानुमानतः**= अग्नि का अनुमान करके (यह प्रदेश अग्नि वाला है क्योंकि धूमवाला है ऐसा अनुमान करके) प्रवृत्त पुरुष को, **वह्निः यदृच्छया लब्धः**= अग्नि दैव गति से यदि प्राप्त हो जाय तो, **सः**= वह वाष्पविषयक

धूम ज्ञान (बाष्प में धूएं का भ्रम ज्ञान), संवादिभ्रमः मतः= संवादी भ्रम कहा जाता है ॥७॥

अब आगम अर्थात् शब्द के विषय में भी संवादी भ्रम को दिखाते हैं –

गोदावर्युदकं गङ्गोदकं मत्वा विशुद्धये ।
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥८॥

गोदावरी उदकं= गोदावरी के जल को, गङ्गोदकं मत्वा= भ्रम से गङ्गाजल समझ कर, विशुद्धये संप्रोक्ष्य= पवित्रता के लिये उसका छींटा देकर, शुद्धिम् आप्नोति= पवित्रता को प्राप्त करता है, सः= वह गोदावरीजल में गङ्गाजल का भ्रम, संवादि भ्रमः मतः= संवादी भ्रम कहा जाता है ॥८॥

आगम विषयक दूसरा उदाहरण भी कथन करते हैं

ज्वरेणाप्तः सन्निपातं भ्रान्त्या नारायणं स्मरन् ।
मृतं स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥९॥

ज्वरेण संनिपातं आप्तः= बुखार से तीनों धातुओं की विषमता को प्राप्त हुआ रोगी, भ्रान्त्या= भ्रम से (यह नारायण स्मरण स्वर्ग का साधन है ऐसे ज्ञान के विना भी सन्निपात वश) साधारण पुरुष समझकर, नारायणं स्मरन् मृतः= नारायण का स्मरण करता हुआ मर कर, स्वर्गं अवाप्नोति= स्वर्ग को प्राप्त करता है, सः=वह (नारायण के नाम को पुत्र का नाम समझना), संवादि भ्रमः मतः= संवादी भ्रम कहा जाता है ॥९॥

इस प्रकार त्रिविध संवादी भ्रम के उदाहरण से सिद्ध अर्थ को अब कहते हैं—

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ।
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः सन्ति हि कोटिशः ॥१०॥

प्रत्यक्षस्य अनुमानस्य= प्रत्यक्ष, अनुमान, तथा शास्त्रस्य गोचरे= और शब्द प्रमाण के विषय में, उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः=

पूर्वोक्त दृष्टान्त से संवादी भ्रम, कोटिशः हि सन्ति= करोडों प्रकार के ही है अर्थात् प्रसिद्ध हैं ॥१०॥

संवादी भ्रम के अनङ्गीकार पक्ष में बाधक दोष प्रदर्शन द्वारा उक्त अर्थ को (संवादी भ्रम मानना ही चाहिये इस अर्थ को) दृढ़ करते हैं—

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ।
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥११॥

अन्यथा= संवादी भ्रम अङ्गीकार नहीं करोगे तो मृत्तिका-दारुशिलाः= मिट्टी काष्ठ और पत्थर-फल सिद्धि के लिये, देवताः= देवतारूप से पूज्य, कथं स्युः= कैसे हो सकते है, क्योंकि मिट्टी आदि स्वरूप से देवता नहीं, वा= और स्वतः अग्निस्वरूप न होने पर भी, योषिदादयः अग्नित्वादिधिया= (१)❀ स्त्री आदि अग्नि-बुद्धि से, कथं उपास्याः= कैसे उपासना करने योग्य है ।

(१)❀ (आदि पद से मनो ब्रह्म इत्यादि उपासना में उक्त ब्रह्मत्वादि बुद्धि का ग्रहण करना) ॥११॥

बहुत ग्रन्थ के द्वारा उपपादन किये संवादिभ्रम को सरलता से बुद्धि में आरूढ़ करने के लिये अब संवादिभ्रम के स्वरूप का संक्षेप से दिखाते हैं—

अयथावस्तुविज्ञानात् फलं लभ्यत ईप्सितम् ।
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥१२॥

अयथावस्तुविज्ञानात्= जिस अयथार्थ वस्तु के ज्ञान से (अर्थात् भ्रम ज्ञान से), ईप्सितम् फलं= अभिलषित फल, काकता-लियतः लभ्यते= काकतालीय न्याय से (देवगति से) प्राप्त होता है, सः अयं संवादिभ्रमः उच्यते= वही यह संवादी भ्रम कहा जाता है ॥१२॥

ब्रह्म की उपासना अयथा वस्तु को विषय करने वाली होने से वह उपासना सम्यक् ज्ञान से सिद्ध होने वाली मुक्तिरूप फल को देने वाली कैसे बन सकती है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि संवादिभ्रम की न्याई बन सकती है—

स्वयंभ्रमोऽपि संवादी यथा सम्यक्फलप्रदः ।
ब्रह्मतत्त्वोपासनापि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥१३॥

यथा स्वयंभ्रमः अपि= जैसे, स्वरूप से भ्रान्तिरूप होते हुए भी, **संवादी सम्यक्फलप्रदः**= संवादी भ्रम अभिष्ट फल देने वाला है, **तथा ब्रह्मतत्त्व उपासना अपि**= उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व की उपासना यद्यपि भ्रमरूप है तथापि, **मुक्तिफलप्रदा**= मुक्तिरूप फल को देने वाली है ॥१२॥

ब्रह्मतत्त्व को जानकर पश्चात् उसकी उपासना की जाती है, अथवा न जानकर ? यदि जानकर उपासना की जाती है, यह प्रथम पक्ष स्वीकार करे तो उपासना निष्फल हो जायेगी, क्योंकि मुक्तिरूप फल को देने वाला ज्ञान उपासना से पहले विद्यमान है, और ब्रह्मतत्त्व को न जानकर यदि ज्ञान से पूर्व उपासना इष्ट है तो, उपासना का विषय ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान न होने के कारण अज्ञात विषयक उपासना बन ही नहीं सकेगी, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते है—

वेदान्तेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखण्डैकरसात्मकम् ।
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥१४॥

वेदान्तेभ्यः= उपनिषद् के वाक्यों से, **अखण्डैकरसात्मकम्**= अखण्ड एक रस, **ब्रह्मतत्त्वम् परोक्षम् अवगम्य**= ब्रह्मतत्त्व को परोक्ष रूप से जानकर, **एतत् अहम् अस्मि**= यह अखण्ड एकरस ब्रह्म मैं हूँ, **इति उपासते**= इस प्रकार उपासना कर सकते हैं ।

अभिप्राय यह है कि उपासना से पूर्व जीव और ब्रह्म के अभेद का अपरोक्ष ज्ञान, जो मोक्ष का साधन है, वह उत्पन्न न होने के कारण उपासना अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति द्वारा मुक्ति देने वाली होने से निष्फल नहीं है, और शास्त्र प्रमाण से परोक्षतया ज्ञान होने के कारण उपासना भी हो सकती है ॥१४॥

उपास्य ब्रह्मतत्त्व विषयक परोक्ष ज्ञान का क्या स्वरूप है, ऐसी आशंका के उत्तर में परोक्ष ज्ञान का स्वरूप कहते हैं—

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्णवादि मूर्तिवत् ।
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥१५॥

प्रत्यग्व्यक्तिम्= बुद्धि आदि के साक्षी आनन्दरूप आत्मा को, अनुल्लिख्य= साक्षात् विषय न करता हुआ, शास्त्रात्= शास्त्र वाक्य से (सत्यं ज्ञानं अनन्तम् इत्यादि वाक्य से), विष्णवादि-मूर्तिवत्= जैसे विष्णु आदि मूर्तिके बोधक शास्त्रजन्य ज्ञान परोक्ष ज्ञान है, ब्रह्म अस्ति इति=वैसे ब्रह्म है इस प्रकार का, सामान्य ज्ञानम् अत्र= उत्पन्न हुआ सामान्य ज्ञान इस उपासना में, परोक्ष धीः= परोक्ष ज्ञान विवक्षित हैं ॥१५॥

शास्त्र वाक्य से विष्णु आदि मूर्ति चतुर्भुज है, इस प्रकार विशेष प्रतीति होने से वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान क्यों, ऐसी आशंका होने पर शास्त्रजन्य चतुर्भुज आदि की विशेष प्रतीति होनेपर भी चक्षु आदि इन्द्रियों से विष्णु आदि मूर्ति को साक्षात् नहीं जानता हुआ पुरुष परोक्ष ज्ञानी ही होता है, इस प्रकार उत्तर युक्ति सहित कहते हैं—

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्त्तिमनुल्लिखन् ।
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥१६॥

चतुर्भुजाद्यवगतौ अपि=शास्त्र से चतुर्भुज आदि का विशेष ज्ञान होने पर भी, अक्षैः मूर्तिम्= चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा विष्णु आदि मूर्ति को, अनुल्लिखन्= विषय न करता हुआ (अर्थात् नहीं जानता हुआ पुरुष), परोक्षज्ञानी एव= परोक्ष ज्ञानवान् ही है क्योंकि, तदा विष्णुं= उपासना काल में उपास्य विष्णु का, न ईक्षते= इन्द्रिय द्वारा अनुभव नहीं करता हैं ॥१६॥

विष्णु आदि मूर्ति का ज्ञान इन्द्रिय द्वारक व्यक्तिविषयक न होने पर भी भ्रमरूप नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान शास्त्र प्रमाण से उत्पन्न हुआ है, इस बात को कहते हैं—

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ।
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्यमूर्तेर्विभासनात् ॥१७॥

परोक्षत्व अपराधेन= परोक्ष ज्ञान रूप अपराध से विष्णु मूर्ति का ज्ञान, अतत्त्ववेदनं न भवेत्= भ्रान्तिज्ञानरूप नहीं है क्योंकि, प्रमाणेन शास्त्रेण एव= शब्द प्रमाण रूप शास्त्र से ही, सत्य मूर्तेः विभासनात्= यथार्थ विष्णु आदि मूर्ति का ज्ञान हुआ हैं। तात्पर्य यह है कि परोक्ष ज्ञान होने से ही ज्ञान भ्रान्तिरूप होगा ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु ज्ञान का विषय यदि सत्य न हो तभी ज्ञान भ्रमरूप माना जाता है, प्रसंग में तो यथाभूत विष्णु आदि मूर्ति का ज्ञान शब्द प्रमाणरूप शास्त्र से उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह ज्ञान भ्रमरूप नहीं ॥१७॥

सच्चिदानन्द ब्रह्म को विषय करने वाला ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान शास्त्र प्रमाण से उत्पन्न हुआ भी परोक्ष ज्ञान हो सकता है, क्योंकि अपरोक्षता का हेतु प्रत्यग आत्मरूप से विषय नहीं करता है इस बात को कहते हैं –

सच्चिदानन्दरूपस्य शास्त्राद्भानेऽप्यनुल्लिखन् ।
प्रत्यञ्चं साक्षिणं तत्तु ब्रह्म साक्षान्न विक्षते ॥१८॥

शास्त्रात्= "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" इस शास्त्र के द्वारा, सच्चिदानन्दरूपस्य भाने अपि= सत् चित् आनन्द रूप ब्रह्म का ज्ञान होने पर भी, प्रत्यञ्चं साक्षिणं= उस ब्रह्म से अभिन्नतया प्रत्यक् आत्मरूप साक्षी को, अनुल्लिखन् तु= विषय नहीं करता हुआ, अर्थात् ब्रह्म को प्रत्यक् आत्मरूप नहीं जानता हुआ, तत् ब्रह्म= उस ब्रह्म को, साक्षात् न विक्षते= साक्षात् नहीं देखता है—

(इस वास्ते वह ज्ञान परोक्ष, किन्तु यथार्थ है) ॥१८॥

ब्रह्म को प्रत्यग्रूप से विषय न करने पर भी शास्त्रजन्य ब्रह्मज्ञान को तत्त्व ज्ञान क्यों कहते हो, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि, शब्द प्रमाण से जन्य होने से वह परोक्ष ज्ञान भी तत्त्व-ज्ञान ही है—

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानन्दनिश्चयात् ।
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥१९॥

तत् ज्ञानं= वह ज्ञान (सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है ऐसा ज्ञान), परोक्षम् अपि= परोक्ष होने पर भी, शास्त्रोक्तेन एव= शास्त्र में कहे हुए ही, मार्गेण= प्रकार से अर्थात् शास्त्र प्रमाण के अनुसार, सच्चिदानन्दनिश्चयात्= सच्चिदानन्द ब्रह्म के निश्चय का हेतु होने से, तत्त्वज्ञानं= यथार्थ ज्ञान ही है, न तु भ्रमः= कदापि भ्रम-रूप नहीं है ॥१९॥

सत्य ज्ञानादि वाक्य से जैसे ब्रह्म का सच्चिदानन्दरूपता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार-तत्त्वमसि आदि महावाक्य से ब्रह्म की प्रत्यगात्मरूपता का भी बोध होता है, इसलिये शास्त्रजन्य ज्ञान भी प्रत्यगात्मा को विषय करने वाला होने के कारण अपरोक्षरूप ही होना चाहिये, ऐसी आशंका का उत्तर कहत हैं—

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ।

महावाक्यैस्तथाप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥२०॥

यद्यपि शास्त्रेषु= यद्यपि वेदान्त शास्त्रों में, महावाक्यैः ब्रह्म= तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के द्वारा ब्रह्म का, प्रत्यक्त्वेन एव= कूटस्थरूप अन्तरात्मरूप से ही, वर्णितम् तथापि= वर्णन किया है अर्थात् उपदेश किया है फिर भी, एतत्= ब्रह्म की प्रत्यग् आत्म-रूपता (जो ब्रह्म है वही प्रत्यग् आत्मरूप है यह बात), अविचा-रिणः= तत्त्व पदार्थ के विवेक रहित पुरुषों के लिये, दुर्बोधम्= जानना अशक्य है। अतएव केवल वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता ॥२०॥

सम्यक्ज्ञान प्रमाण के और वस्तु के अधीन होता है, प्रकृत में भी तत्त्वमसि आदि वाक्यरूप प्रमाण, और ब्रह्म तथा आत्मा की एकतारूप वस्तु विद्यमान है, इसलिये विचार के बिना प्रत्यग् अभिन्न ब्रह्म दुर्विज्ञेय क्यों है, ऐसी आशंका का उत्तर देतेहैं –

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ।

ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मन्दधीत्वतः ॥२१॥

देहाद्यात्मत्वविभ्रान्तौ= जब तक देह इन्द्रिय आदि आत्मा

है, इस प्रकार भ्रम (जो अपरोक्षज्ञान का विरोधी है, वह), **जाग्रत्यां**= विद्यमान है तब तक, **पुमान् मन्दधीत्वतः**= पुरुष मन्द बुद्धि होने के कारण, **ब्रह्म आत्मत्वेन विज्ञातुं हठात्**= ब्रह्म को अपना ही स्वरूप करके जानने को एकदम, **न क्षमते**= समर्थ नहीं हो सकता (किन्तु विचार के द्वारा देहादि संघात में आत्मत्व-भ्रम को निवृत्त कर देने पर ब्रह्म को आत्मरूप से साक्षात्कार कर सकता है) इसलिये विचार अपेक्षित है ॥२१॥

देह इन्द्रियादि विषयक द्वैतभ्रम विद्यमान होने के कारण अद्वितीय ब्रह्म विषयक परोक्ष ज्ञान भी उत्पन्न नहीं हो सकता ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि अपरोक्ष द्वैतभ्रम परोक्ष अद्वैत ब्रह्म-ज्ञान का विरोधी नहीं है, इसलिये श्रद्धावान् मनुष्य को शास्त्र प्रमाण से अद्वितीय ब्रह्म का परोक्ष ब्रह्मज्ञान उत्पन्न हो सकता है—

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ।
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥२२॥

अपरोक्षद्वैतबुद्धिः= अपरोक्ष द्वैतभ्रम (द्वैत पदार्थ का अपरोक्ष भ्रान्ति ज्ञान), **परोक्ष अद्वैत बुद्ध्यनुत्**= परोक्ष अद्वैत ब्रह्मज्ञान का विरोधी नहीं है इस लिये, **श्रद्धालोः शास्त्र-दर्शिनः**= श्रद्धावान् तथा शास्त्र के तात्पर्य को जानने वाले पुरुषों के लिये, **ब्रह्म मात्रं**= केवल ब्रह्म को, **सुविज्ञेयं**= अनायास जानने को योग्य है, अर्थात् श्रद्धालु मनुष्य शास्त्र प्रमाण द्वारा अद्वैत ब्रह्म को परोक्ष रूप से जान सकता हैं ॥२२॥

अपरोक्ष भ्रम सम्यक् परोक्ष ज्ञान का विरोधी नहीं, इस में दृष्टान्त कथन करते हैं—

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ।
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥२३॥

अपरोक्षशिलाबुद्धिः= शालग्राम शिला में यह पत्थर है, इस प्रकार अपरोक्ष भ्रम ज्ञान, **परोक्षेशतां**= शास्त्र जन्य परोक्ष ईश्वर-बुद्धि को, (शालग्राम शिला विष्णु स्वरूप है, ऐसी सम्यक् ज्ञान को)

न नुदेत्= हटाता नहीं है, प्रतिमादिषु= जैसे प्रतिमा आदियों की, विष्णुत्वे= विष्णु अर्थात् नारायण स्वरूपता में, (अर्थात् विष्णु मूर्ति नारायण स्वरूप हैं, इस विषय में), कः वा विप्रतिपद्यते= कौन मनुष्य विरुद्ध ज्ञान प्राप्त करेगा, अथवा संशय करेगा, अर्थात् कोई नहीं करेगा ॥२३॥

कुछ-लोग प्रतिमा आदि के विष्णु आदि स्वरूप में संशय युक्त देखने में आते हैं, उसका कारण श्रद्धा का अभाव है, इसका कथन करते हैं—

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ।

श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥२४॥

अश्रद्धालोः अविश्वासः= श्रद्धाहीन मनुष्य की अनास्था (नास्तिक्यबुद्धि), उदाहरणं न अर्हति= उदाहरण के योग्य नहीं क्योंकि, सर्वत्र वैदिकेषु= संपूर्ण वेदोक्त अनुष्ठान में, श्रद्धालोः एव अधिकारतः= श्रद्धा वाले का ही अधिकार है ॥२४॥

इतने ग्रन्थ से परोक्ष ज्ञान में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आकांक्षा के उत्तर कहते हैं और कहे हुए अर्थ को लोकानुभव से दृढ़ करते है—

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ।

विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥२५॥

सकृत् आप्तोपदेशेन= केवल एक बार यथार्थ वक्ता के उपदेश से, परोक्षज्ञानम् उद्भवेत् हि= परोक्ष ज्ञान उत्पन्न हो सकता है क्योंकि, विष्णु मूर्ति उपदेशः= शालग्राम शिला में विष्णु मूर्ति का उपदेश, मीमांसम् न अपेक्षते= विचार की अपेक्षा नहीं रखता हैं ॥२५॥

विचार की अपेक्षा यदि नहीं है तो शास्त्रों में कर्म और उपासना सम्बन्धी विचार क्यों किए जाते है ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि अनुष्ठान करने योग्य कर्म और उपासना के स्वरूप

में संदेह संभव हैं, इसलिये उनके स्वरूप तथा अनुष्ठान के निर्णय के लिये विचार किए जाते हैं —

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ।
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ? ॥२६॥

अनुष्ठेयाविनिर्णयात्=अनुष्ठान करने योग्य कर्म और उपासना के प्रकार का निश्चय न होने से उनके निर्णय के लिये, **कर्मोपास्ती विचार्येते**=कर्म और उपासना का विचार किया जाता हैं क्योंकि, **बहुशाखाविप्रकीर्णं**=वेद की अनेक शाखाओं में पृथक् पृथक् विहित कर्म और उपासनाओं का, **निर्णेतुं**=एकत्र (संग्रह) करके निर्णय करने को, **कः नरः**=साधारण मनुष्यों में कौन मनुष्य, **प्रभुः**=समर्थ होगा अर्थात् कोई भी नहीं होगा ॥२६॥

जब कोई भी मनुष्य निर्णय करने को समर्थ नहीं है तो, कर्म और उपासना का अनुष्ठान करना ही संभव नहीं होगा, अर्थात् इनके अनुष्ठान का प्रसंग ही नहीं प्राप्त होगा, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं —

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावतास्तिकः ।
विचारमन्तरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमञ्जसा ॥२७॥

निर्णीतः अर्थः=जैमिनी आदि ऋषियों द्वारा निर्णय किया हुआ अनुष्ठान का प्रकार, **कल्पसूत्रैः ग्रथितः**=कल्प सूत्रादि ग्रन्थों से संग्रहित किया हुआ है, **तावता आस्तिकः**=उन संग्रहित प्रकारों से श्रद्धालु मनुष्य, **विचारम् अन्तरेण अपि**=विचार के बिना भी, **अंजसा**=अनायास ही, **अनुष्ठातुं शक्तः**=कर्मादिका सम्यक् अनुष्ठान करने को समर्थ है ॥२७॥

जैमिनी आदिक पूर्वाचार्य कृत मीमांसा, कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में उपासना का विचार तो किया नहीं गया, इसलिये उपासना का अनुष्ठान कैसे संभव हो सकेगा ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं-

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रन्थेषु वर्णितम् ।
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥२८॥

आर्ष ग्रन्थेषु=ऋषियों के द्वारा रचे हुए (ब्रह्मवाषिष्ठ आदि मन्त्र कल्प) ग्रन्थों में, उपास्तीनाम् अनुष्ठानम्=उपासना के अनुष्ठान के प्रकार, वर्णितम्=वर्णन किया हुआ है, विचाराक्षममर्त्याः च =विचार करने में असमर्थ मनुष्य, तत्= (कल्प शास्त्रों में कहे हुए) उपासनों को, गुरोः श्रुत्वा उपासते=गुरुमुख से जानकर उनका अनुष्ठान करते हैं ॥२८॥

पूर्वोक्त प्रकार से यदि उपासना संभव है तो आज कल के ग्रन्थकार वेदवाक्य का विचार क्यों करते हैं, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि अपनी अपनी बुद्धि के संतोष के लिये ही करते हैं, अनुष्ठान की सिद्धि के लिए नहीं—

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन् मीमांसतां जनः ।
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि सम्भवेत् ॥२९॥

वेदवाक्यानि निर्णेतुम्=वेद के वाक्यों के तात्पर्य निर्णय करने की, इच्छन् जनः=इच्छा करता हुआ मनुष्य (आधुनिक ग्रन्थकार), मीमांसतां=बुद्धि के परितोष के लिये विचार करें (अनुष्ठान के लिये वेद वाक्य का विचार आवश्यक नहीं), हि अनुष्ठानं=क्योंकि अनुष्ठान तो, आप्तोपदेशमात्रेण हि=यथार्थ वक्ता गुरु के उपदेश मात्र से ही, सम्भवेत्=सम्भव हो सकता है ॥२९॥

जैसे ब्रह्म की उपासना आप्त वाक्य मात्र से सम्भव है, उसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार भी आप्तोपदेश मात्र से सिद्ध क्यों नहीं हो सकता, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ।
आप्तोपदेशमात्रेण न सम्भवति कुत्रचित् ॥३०॥

तु एवं=परन्तु ब्रह्म की उपासना की न्याईं, ब्रह्म साक्षात्कृतिः विचारेण विना=ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान शास्त्रोक्त विचार के बिना,

आप्तोपदेशमात्रेण = केवल यथार्थ वक्ता के उपदेश से, नृणां कुत्रचित् न संभवति = मनुष्यों के लिये कहीं पर भी संभव नहीं ॥३०॥

पूर्वोक्त इस अर्थ में अब कारण बताते हैं —

परोक्ष ज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ।
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबन्धकः ॥३१॥

अश्रद्धा परोक्ष ज्ञानम् = क्योंकि अविश्वास परोक्ष ज्ञान का, प्रतिबध्नाति इतरत् न = बाधक है, दूसरा कोई परोक्ष ज्ञान का बाधक नहीं अर्थात् अविचार परोक्ष ज्ञान का बाधक नहीं, अविचारः अपरोक्षस्य ज्ञानस्य = अविचार अपरोक्ष ज्ञान का, प्रतिबन्धकः = बाधक है, अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिबन्धक अविचार (विचार प्रागभाव) है, इसलिये विचार के द्वारा अविचार की निवृत्ति के बिना अपरोक्ष ज्ञान सम्भव नहीं। अतः अपरोक्षज्ञानार्थ विचार कर्तव्य है ॥३१॥

विचार करने पर भी जब अपरोक्ष ज्ञान न उत्पन्न होता होवे, तब क्या कर्तव्य है, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं —

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ।
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥३२॥

विचार्य अपि = तत् और त्वं पदार्थ के सम्यक् विचार करने पर भी, ब्रह्मात्मानं = ब्रह्म से अभिन्न आत्मा को (तत्त्वमसि वाक्य के अर्थ को जीव ब्रह्म की एकता को), आपरोक्ष्येण चेत् न वेत्ति = अपरोक्ष रूप से यदि नहीं जानता है तब, आपरोक्ष्यावसानत्वात् = अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त, भूयः भूयः विचारयेत् = पुनः पुनः विचार करना चाहिये। क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान का हेतु विचार से अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है ॥३२॥

पुनः पुनः किये हुए विचार से इसी जन्म में साक्षात्कार की उत्पत्ति न होने पर विचार व्यर्थ हो जायगा (निष्फल हो जायगा) ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं—

भाव यह है कि यथार्थ वक्ता के उपदेश मात्र से उपासना अनुष्ठान में उपयोगी परोक्षज्ञान हो सकता है और अपरोक्ष ज्ञान तो विचार की अपेक्षा रखता है।

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ।
जन्मान्तरे लभेतैव प्रतिबन्धक्षये सति ॥३३॥

आमरणं विचारयन्=मरण पर्यन्त पुनः पुनः विचार करता हुआ भी, आत्मानं लभेत=आत्मा का लाभ अर्थात् साक्षात्कार, चेत् न एव=यदि नहीं उत्पन्न होता है तो, जन्मान्तरे प्रतिबन्धक्षये सति=दूसरे जन्म में प्रतिबन्ध का नाश हो जाने पर, लभेत एव=आत्मसाक्षात्कार अवश्य प्राप्त करेगा ॥

अथवा —

आमरणं विचारयन्=मरण पर्यन्त पुनः पुनः विचार करता हुआ भी, आत्मानं चेत्=आत्मा को यदि, न एव लभेत=नहीं प्राप्त करता है, अर्थात् नहीं साक्षात्कार करता है तो, जमान्तरे=दूसरे जन्म में, प्रतिबन्धक्षये सति=प्रतिबन्ध का नाश हो जाने पर, लभेत एव=आत्मसाक्षात्कार अवश्य करेगा ॥३३॥

प्रतिबन्ध न होने पर इसी जन्म में विचार द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है, और प्रतिबन्ध के विद्यमान होने पर यदि इस जन्म में आत्मज्ञान नहीं भी उत्पन्न भया तो दूसरे जन्म में प्रतिबन्ध के नाश होने पर अवश्य ही ज्ञान उत्पन्न हो कर आत्मप्राप्ति होती है, यह अर्थ पूर्व श्लोक में कहा गया है, यह सिद्धान्त ब्रह्मसूत्रकार भगवान् व्यास जी के कथन से और श्रुति वचन से ज्ञात होता है, ये वार्ता अगले श्लोक से कहते हैं —

इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ।
शृण्वन्तोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥३४॥

इह वा=इसी जन्म में (विचार द्वारा ज्ञान प्राप्त हो सकता, यदि कोई प्रतिबन्ध न रहे तो), अमुत्र वा विद्या=(यदि प्रतिबन्ध विद्यमान हो तो) जन्मान्तर में अपरोक्ष ज्ञान (श्रवणादिरूप विचार के द्वारा प्रतिबन्ध नाश होने पर) प्राप्त हो सकता है, इति एवं=इस प्रकार, सूत्रकृता=(१) ❀ ब्रह्मसूत्र के बनाने वालों ने (भगवान् वेदव्यास जीने) उदितं=कहा है, शृण्वन्तः अपि=वेदान्त शास्त्र

का श्रवण करते हुए भी, बहवः=बहुत से मुमुक्षुओं ने, यत् अत्र= जिस आत्मतत्त्व को इस जन्म में, न विद्युः=नहीं जाना है (अथवा नहीं जान सके), इति श्रुतिः=यह उपनिषद् का वचन भी (पूर्व उक्त अर्थ) इस में प्रमाण है ।

(१) "ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्" यह सूत्रका स्वरूप है, आत्मविद्या के विरोधी फलोन्मुख कर्म को प्रस्तुत प्रतिबन्ध कहते है, उसके अभाव होने पर ऐहिक अर्थात् इसी जन्म में आत्म-विद्या की उत्पत्ति श्रवणादिक उपाय से अवश्य होती है, परन्तु प्रतिबन्ध विद्यमान हो तो (अपि) अर्थात् दूसरे जन्म में भी ज्ञान की उत्पत्ति होती है, क्योंकि श्रुतियों में प्रतिबन्धरूप निमित्त से पूर्वोक्त नियम देखा गया है, यह सूत्र का अर्थ है ॥३४॥

इस जन्म में श्रवणादि विचार करने वाले को जन्मान्तर में अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है, इसके प्रतिपादक श्रुति को अर्थ से दृष्टान्त सहित कहते हैं—

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ।
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥३५॥

गर्भे एव शयानः सन् वामदेवः=माता के गर्भ में ही पड़े हुए वामदेव ने, पूर्वाभ्यस्त विचारेण=पूर्व जन्म में बार बार किये हुए श्रवणादिरूप विचार से, अवबुद्धवान्=आत्म तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया था (इस अर्थ के प्रतिपादक श्रुति- इस जन्म में श्रवणादि विचार करने वाले को यदि प्रतिबन्ध हो तो जन्मान्तर में अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, इस में प्रमाण हैं), यद्वद् अध्ययनादिषु=जैसे अध्ययनादि दृष्टान्त में देखा गया हैं ॥३५॥

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ।
दिनान्तरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥३६॥

बहुवारमधीते अपि=बहुत बार वेद का अध्ययन करने पर भी, चेत् तदा न आयाति=यदि उस समय वेद याद नहीं आता होवे

तो, पुनः दिनान्तरे अनधीत्य एव=फिर दूसरे दिन में अध्ययन विना किये ही, पुमान् पुर्वाधीतं स्मरेत्=पुरुष पहले दिन के पढ़े हुए वेद को स्मरण करता है ॥३६॥

"यद्वद् अध्ययनादिषु" यहां विद्यमान आदिपद से सूचित अन्य दृष्टान्त का कथन करते हैं और दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं –

कालेन परिपच्यन्ते कृषिगर्भादयो यथा ।
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥३७॥

यथा कृषिगर्भादयः=जैसे खेती और गर्भादि, **कालेन परिपच्यन्ते**=कुछ काल पाकर ही परिपक्व होते हैं, **तद्वत् आत्मविचारः अपि**=उसी प्रकार आत्मा का श्रवणादि विचार भी, **शनैः कालेन**=धीरे धीरे समय पाकर, **पच्यते**=पकता है अर्थात् फल देने के लिये तैयार होता है ॥३७॥

बारंबार तत्त्व के विचार करने पर भी प्रतिबन्ध के कारण तत्त्व साक्षात्कार नहीं उत्पन्न होता है, इस का निरूपण वार्तिक ग्रन्थ के निर्माण करने वाले सुरेश्वराचार्य ने किया है, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

पुनः पुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबन्धतः ।
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ॥३८॥

पुनः पुनःविचारे अपि=बार बार तत्त्व का विचार करने पर भी, **त्रिविध प्रतिबन्धतः**=तीन प्रकार के प्रतिबन्ध से, **तत्त्वं न वेत्ति**=तत्त्व को अपरोक्ष रूप से नहीं जानता है, **इति एतत् वार्तिके**=यह बात वार्तिक ग्रन्थ में सुरेश्वराचार्य जी ने, **सम्यक् ईरितम्**=भली भांति कही है ॥३८॥

अब उन वार्तिकों का उदाहरण देते हैं—

"कुतस्तज्ज्ञानम्" इस से आदि लेकर "भरतस्य त्रिजन्मभिः" इस श्लोक के अन्त तक सात श्लोक के द्वारा, इन में भी प्रथम (पहले) अनुत्पन्न ज्ञान की अब उत्पत्ति में कारणविषयक प्रश्न उठाकर उत्तर करते हैं, और प्रतिबन्ध का भेद कथन करते हैं—

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बन्धपरिक्षयात् ।
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथवा ॥३९॥

तज्ज्ञानं=वह ब्रह्मसाक्षात्कार (जो पहले नहीं उत्पन्न हुआ था), **कुतः**=अब किस कारण से उत्पन्न हुआ, **इति चेत्**=यदि ऐसा पूछते हो तो, उत्तर कहते हैं कि, **तत् हि**=वह अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान, **बन्धपरिक्षयात्**=प्रतिबन्ध के नाश से ही उत्पन्न होता हैं, **असौ अपि च भूतो वा**=और वह प्रतिबन्ध भी भूत प्रतिबन्ध, **भावी वा**=अथवा भविष्य प्रतिबन्ध, **अथवा वर्तते**=अथवा वर्तमान प्रति-बन्ध इस भेद से तीन प्रकार का होता हैं ॥३९॥

उक्त प्रकार से त्रिविध प्रतिबन्ध भले ही हो परन्तु उससे क्या अभिप्राय सिद्ध होता है, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं –

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ।
हिरण्यनिधिदृष्टान्तादिदमेव हि दर्शितम् ॥४०॥

अधीतवेदवेदार्थः अपि=अध्ययन किया है वेद जिसने तथा जानलिया है वेद के अर्थ जिसने ऐसा मनुष्य भी, **अत एव**=इसलिये (प्रतिबन्ध के होने से ही), **न मुच्यते**=मुक्त नहीं होता अर्थात् तत्त्वज्ञान को प्राप्त नहीं करता, **हि इदमेव**=क्योंकि इस बात को (अर्थात् प्रतिबन्ध होने पर ज्ञान उत्पन्न नहीं होता इस बात को) **हिरण्यनिधि दृष्टान्ताद्**=हिरण्यनिधि के दृष्टान्त से, **दर्शितम्**=श्रुति ने दिखाया है ।

उदाहृत श्रुति इस प्रकार है—

"तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्युढाः ॥४०॥

पूर्व बीती हुई वस्तु भी आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान के प्रति-बन्धरूप बन सकती है, इस प्रकार लोक में कहीं पर भी नहीं देखा गया, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबन्धतः ।
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥४१॥

अतीतेन अपि=पूर्व गृहस्थदशा में भी, **महिषी स्नेहेन**=पाली हुई भैंस में किये हुए स्नेह से, **प्रतिबन्धतः**=पश्चात् संन्यास के अनन्तर श्रवणादि साधन में प्रवृत्त हुआ भी पूर्वकृत अनुराग से उत्पन्न हुए प्रतिबन्ध के कारण, **भिक्षुः**=(संन्यास आश्रम में विद्यमान) वह संन्यासी, **तत्त्वं**=गुरु के उपदेश किये हुए भी ब्रह्मतत्त्व को, **न वेद**=(श्रवणादि साधन द्वारा भी) नहीं जान पाया, **इति गाथा लोके**=इस प्रकार की कथा लोक में, **प्रगीयते**=पुराणादि में कही जाती है, अर्थात् सुनी जाती है ॥४१॥

अतीत प्रतिबन्ध वाले अधिकारी को फिर ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होगी, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं--

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ।
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबन्धस्य संक्षयात् ॥४२॥

गुरुः स्नेहं=तत्त्व उपदेष्टा गुरु ने भैंस में उनके प्रेम को, **अनुसृत्य**=अनुसरण करके (जान करके), **महिष्यां तत्त्वं**=उसी भैंस में महिष उपाधि वाले ब्रह्म तत्त्व का, **उक्तवान्**=उपदेश किया, **ततः एषः**=उसी से यह भिक्षु, **प्रतिबन्धस्य संक्षयात्**=स्नेह रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति होने पर, **यथावत्**=गुरु से उपदिष्ट तत्त्व को शास्त्रोक्त प्रकार से, **वेद**=जान लिया ॥४२॥

इस प्रकार अतीत प्रतिबन्ध का प्रदर्शन करके वर्तमान प्रतिबन्ध का वर्णन अगले श्लोक से कहते हैं—

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ।
प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥४३॥

वर्तमानः प्रतिबन्धः=वर्तमान प्रतिबन्ध तो (चार प्रकार का है, उन में), **विषयासक्तिलक्षणः**=चित्त का विषय में अनुराग रूप प्रथम है, **प्रज्ञामान्द्यं**=बुद्धि की तीक्ष्णता न होना दूसरा है, **कुतर्कः**

च=श्रुति विरोधी तर्क तीसरा है और, विपर्ययदुराग्रहः= (आत्मा कर्तापन भोक्तापन आदि रूप संसार वाला है इस प्रकार) भ्रम ज्ञान में युक्ति रहित अभिनिवेश यह चौथा प्रतिबन्ध है (इन में से किसी एक प्रतिबन्ध के होने से भी ज्ञान उदय नहीं होता है) ॥४३॥

इस वर्तमान प्रतिबन्ध की निवृत्ति किस उपाय से होगी-ऐसी आशंका का निवर्तक उत्तर कहते हैं—

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ।
नीतेऽस्मिन्प्रतिबन्धेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥४४॥

शमाद्यैः च=शम, दम आदि जो साधन है और, श्रवणाद्यैः=श्रवण, मनन आदि जो उपाय है, इन में से, तत्र तत्र=तिस तिस प्रतिबन्ध की निवृत्ति में, उचितैः=योग्य साधन द्वारा (अर्थात् जिस प्रतिबन्ध के क्षय में जो शमादि साधन योग्य होवे, उस उस साधन के द्वारा), अस्मिन् प्रतिबन्धे=इस वर्तमान प्रतिबन्ध का, क्षयम् नीते=विनाश कर देने पर, अतः=प्रतिबन्ध के निवृत्त होने से ही, स्वस्य ब्रह्मत्वम्=अपना स्वरूप प्रत्यक् आत्मा का ब्रह्मभाव, अश्नुते=(अधिकारी) प्राप्त करता है (अर्थात् प्रतिबन्ध के नाश से अपने स्वरूप को ब्रह्मरूप से जानकर अधिकारी ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है) ॥४४॥

जन्मान्तर का हेतु प्रारब्ध शेषरूप भावी प्रतिबन्ध का स्वरूप दिखाते हुए, भोग के बिना उस प्रतिबन्ध का नाश न होने के कारण उसकी निवृत्ति में काल का नियम नहीं, इस बात को भी कहते हैं—

आगामिप्रतिबन्धश्च वामदेवे समीरितः ।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥४५॥

आगामिप्रतिबन्धः च=और आगामी प्रतिबन्ध तो (जन्मान्तर का हेतु जो प्रारब्ध शेष रहता है, उस को आगामी प्रतिबन्ध कहते है), वामदेवे समीरितः=वामदेव में सम्यक् कहा गया है, एकेन जन्मना क्षीणः=वह आगामी प्रतिबन्ध वामदेव का एक ही

जन्म से (जन्म लेने पर) नष्ट हो गया, भरतस्य=और राजा भरत का आगामी प्रतिबन्ध, त्रिजन्मभिः=तीन जन्म लेने पर नष्ट हुआ ॥४५॥

किसी के प्रतिबन्ध का नाश एक जन्म में और किसी के प्रतिबन्ध का नाश तीन जन्म में, इस प्रकार की उक्ति से आपने ही काल का नियम बतला दिया, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ।
प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥४६॥

गीतायाम् योगभ्रष्टस्य=भगवद्गीता में योगभ्रष्ट पुरुष के, बहुजन्मनि अतीते=बहुत से जन्म व्यतीत होने पर, प्रतिबन्धक्षयः प्रोक्तः=आगामी प्रतिबन्ध का नाश कहा गया है, विचारः अपि=इस लिये श्रवणादिरूप विचार भी, अनर्थकः न=निष्फल नहीं है (क्योंकि प्रतिबन्ध निवृत्ति होने के अनन्तर अपरोक्ष ज्ञानरूप फल प्राप्त होता है) ॥४६॥

गीता में प्रतिपादित किये हुए अर्थ को अगले श्लोक से ५० वां श्लोक तक दिखाते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥४७॥

आत्मतत्त्व विचारतः=योगभ्रष्ट पुरुष आत्म तत्त्व के विचार के बल से, पुण्यकृतां लोकान्=पुण्य करने वाले (अधिकारियों)को प्राप्त होने योग्य स्वर्गादि लोक, प्राप्य=प्राप्त होकर (और वहाँ बहुत काल तक सुख का अनुभव कर के, भोग समाप्ति के बाद), साभिलाषः=अभिलाषा अर्थात् भोग वासना युक्त यदि हो तो, शुचीनां=इस लोक में (मातृकुल पितृकुल से) शुद्ध, श्रीमतां गेहे=धनवानों के गृह में अर्थात् कुल में, अभिजायते=जन्म ग्रहण करता है ॥४७॥

योग भ्रष्ट का जन्मान्तर रूप दूसरे पक्ष का कथन करते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
निःस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥४८॥

अथवा=दूसरा पक्ष कहते हैं, **निः स्पृहः**=यदि वह योग भ्रष्ट स्पृहा रहित है तो (अर्थात् अति विरक्त है तो), **ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्**=ब्रह्म तत्त्व के विचार के बल से, **धीमतां**=आत्मतत्त्व के निश्चय वाले (अथवा आत्मतत्त्व के निश्चय का साधन विचार वाले), **योगिनाम्**=योगियों के (अर्थात् एकाग्र चित्त वाले के), **कुले एव भवति**=कुल में ही जन्म लेता है, **हि तत्**=क्योंकि योगी के कुल में जन्म, **दुर्लभं**=अल्प पुण्य से अलभ्य है-(इस लिये प्रथम पक्ष से यह दूसरा पक्ष उत्तम है) ॥४८॥

दूसरा पक्ष की दुर्लभता का उपपादन करते हैं—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥४९॥

हि तत्र=जिस कारण से उस जन्म में, **पौर्वदेहिकम्**=पूर्व देह में होने वाले, **तं बुद्धिसंयोगम्**=तत्त्व विचार विषयक बुद्धि सम्बन्ध को, **लभते**=शीघ्र ही प्राप्त करता है, **ततः च भूयः यतते**=और पूर्व प्रयत्न से भी अधिक प्रयत्न करता है, **तस्मात् एतत् दुर्लभम्**=इस लिये यह जन्म दुर्लभ है ॥४९॥

अधिक अभ्यास में कारण कहते हैं—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥५०॥

सः=वह योगभ्रष्ट पुरुष, **तेन पूर्वाभ्यासेन एव**=उस पूर्व अभ्यास के ही बल से, **अवशः अपि ह्रियते हि**=परवश होते हुए भी आकृष्ट होता है, **अनेकजन्म संसिद्धः**=इस प्रकार अनेक जन्मों में किये हुए अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, **ततः परां गतिम्**=उस तत्वज्ञान से परम गति अर्थात् मुक्ति को **याति**=प्राप्त करता है ॥५०॥

अब भावी प्रतिबन्ध के दूसरे भेद को दिखाते है —

ब्रह्मलोकाभिवाञ्छायां सम्यक्सत्यां निरुध्यताम् ।
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥५१॥

ब्रह्मलोक अभिवाञ्छायां=ब्रह्मलोक प्राप्ति की इच्छा, **सम्यक् सत्यां**=दृढ़ रूप से विद्यमान होने पर, **तां निरुध्य**=उस इच्छा को दबा कर, **यः आत्मानं विचारयेत्**=जो अधिकारी आत्मा का विचार करता है, **अयं तु**=यह अर्थात् ऐसा अधिकारी तो, **न साक्षात्करोति** =ब्रह्म साक्षात्कार नहीं करता हैं ॥५१॥

किसी दृढ़ वासना के कारण यदि आत्मसाक्षात्कार नहीं उत्पन्न होता तो, कदापि मुक्ति भी नहीं होगी, ऐसी आशंका करके उसका उत्तर शास्त्र प्रमाण को अवलम्बन करके अगले श्लोक से कहते हैं -

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः ।
ब्रह्मलोके स कल्पान्ते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥५२॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः=उपनिषद् के विचार से जिनको परोक्षरूप से प्रतिपाद्य अर्थ का निश्चय हो गया है, (परन्तु ब्रह्मलोक की इच्छारूप प्रतिबन्ध से अपरोक्ष ज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ) ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाले अधिकारी जन **इति शास्त्रतः**=इस मुण्डक उपनिषद्-रूप शास्त्र प्रमाण के बल से, **सः ब्रह्मलोके**=वह अधिकारी मनुष्य ब्रह्मलोक प्राप्ति के अनन्तर उस लोक में (ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करके), **कल्पान्ते ब्रह्मणा सह**=कल्प के अन्त में हिरण्यगर्भरूप कार्य-ब्रह्म के साथ, **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है ॥५२॥

इस प्रकार से तत्त्व का विचार करते रहने पर भी प्रतिबन्ध के कारण इसी जन्म में साक्षात्कार नहीं उत्पन्न होता यह कथन किया, अब अगले श्लोक में अति पापियों के लिये वह तत्त्वविचार भी दुर्लभ है इस बात को प्रमाण सहित कहते हैं -

केषाञ्चित् स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते ।
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥५३॥

यः बहुभिः=जो आत्मा अथवा परमात्मा बहुत से पापी पुरुषों को, **श्रवणाय अपि**=श्रवण करने के लिये भी, **न लभ्यः**=प्राप्त नहीं होता, अर्थात् श्रवणरूप विचार भी बहुतों के लिये दुर्लभ है, **इति श्रुतेः**=इस श्रुति प्रमाण से (ज्ञात होता है कि), **केषांचित्**=किसी किसी पापी पुरुषों के लिये, **स विचारः अपि**=वह श्रवणरूप विचार भी, **कर्मणा प्रतिबध्यते**=पाप रूप कर्म से प्रतिबद्ध हो जाता है ॥५३॥

पूर्वोक्त ग्रन्थ से यह कहा गया है कि प्रतिबन्ध विद्यमान होने पर तत्त्व साक्षात्कार और साक्षात्कार का साधन श्रवणादि रूप विचार सम्भव नहीं होता। अब अगले श्लोक से विचार करने में असमर्थ किन्तु परम पुरुषार्थ चाहने वाले अधिकारी का क्या कर्तव्य है, ऐसी आकांक्षा होने पर, इसी प्रकरण में (२८) वें श्लोक में पूर्व प्रतिज्ञात अर्थ का उपपादन करते हुए आकांक्षा की निवृत्ति करते हैं—

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद् वा सामग्र्या वाप्यसम्भवात् ।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥५४॥

अत्यन्तबुद्धिमान्द्यात् वा=बुद्धि की अत्यन्त मन्दता करके अथवा, **सामग्र्या वा अपि**=सामग्री के भी (उपदेश करने वाले गुरु अध्यात्मशास्त्र तथा देश और काल आदि सामग्री के), **असम्भवात्**=संभव न होने से, **यः विचारं न लभते**=जो पुरुष विचार को नहीं प्राप्त कर सकता, **सः ब्रह्म अनिशम् उपासीत**=वह निर्गुण ब्रह्म की निरन्तर उपासना करे ।५४॥

निर्गुण ब्रह्मतत्त्व गुण रहित होने से उसकी उपासना नहीं बन सकती, ऐसी आशंका का उत्तर करते हैं कि विजातीय वृत्ति से व्यवधान रहित सजातीय वृत्ति प्रवाहरूप ही उपासना है, वह उपासना सगुण ब्रह्म की न्याई निर्गुण ब्रह्म की भी बन सकती है—

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसम्भवः ।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसम्भवात् ॥५५॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य उपास्तेः=निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की उपासना, **असम्भवः न**=असम्भव अर्थात् अशक्य नहीं है (अर्थात् निर्गुण उपासना भी बन सकती है), **हि सगुण ब्रह्मणि इव**=क्योंकि सगुण ब्रह्म की उपासना की न्याई, **अत्र**=निर्गुण ब्रह्म में भी, **प्रत्ययावृत्तिसम्भवात्**=चित्त वृत्तियों की पुनः पुनः उदयरूप आवृत्ति सम्भव हैं ॥५५॥

निर्गुण ब्रह्म मन वाणी का विषय नहीं है, इसलिये उपास्य नहीं बन सकता, ऐसी आशंका करके निर्गुण ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान पक्ष में भी वह दोष समान ही है, इस प्रकार उत्तर कहते हैं

अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा ।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च सम्भवेत् ॥५६॥

अवाङ्मनसगम्यं=वाणी और मनका अविषय (होने से), **तत् उपास्यं न**=वह निर्गुण ब्रह्म उपासना का विषय नहीं हो सकता, **इति चेत्**=ऐसी आशंका हो तो (उत्तर कहते हैं), **तदा अवाङ्मनसगम्यस्य**=तब मन वाणी का अविषय निर्गुण ब्रह्म का, **वेदनं च न संभवेत्**=ज्ञान भी नहीं बन सकेगा ॥५६॥

ब्रह्म वाणी मन का अविषय है, इसी प्रकार से ब्रह्म जानने की शक्य है, ऐसी आशंका करके उत्तर देते है कि उसी प्रकार से उपासना भी बन सकती हैं —

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ।
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥५७॥

असौ यदि वागाद्यगोचराकारं=वह ज्ञानवान् अगर वागादि का अविषय रूप ब्रह्म है, **इति एवं वेत्ति**=इस प्रकार जानता होवे तो, अधिकारी उपासक, **वागाद्यगोचराकारं**=वाणी आदि का अविषयरूप ब्रह्म हैं, **इति कुतः नो**=इस प्रकार क्यों नहीं, **उपासीत**=उपासना कर सकेगा (क्योंकि वागादि अगोचर ब्रह्माकारा वृत्ति तो उभय पक्ष में समान ही हैं) ॥५७॥

ब्रह्म को यदि उपासना का विषय मानोगे तो ब्रह्म फिर निर्गुण नहीं रहेगा, किन्तु सगुण हो जाएगा, ऐसी आशंका करके समाधान करते है कि ब्रह्म को यदि ज्ञान का विषय मानोगे तो भी ब्रह्म सगुण ही होगा, और यदि लक्षणा का आश्रय करके ब्रह्म को वेद्य मानते हुऐ भी सगुणत्व प्रसंग का निवारण करोगे, तो उपासना पक्ष में भी लक्षणा का आश्रय करता हुआ ब्रह्म में सगुणपने का निवारण हो सकता है, यह सर्व बातें अगले श्लोक से कहते हैं –

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोऽपि तत् ।
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥५८॥

उपास्यत्वात्=उपास्य अर्थात् उपासना का विषय होने से, **सगुणत्वं**=वह (उपास्य ब्रह्म भी) सगुण हो जायेगा, **यदि**=अगर ऐसा कहते हो तो, **वेद्यत्वतः अपि**=वेद्य अर्थात् ज्ञेय मानने पर भी **तत्**=ब्रह्म का सगुणत्व ही हो जायेगा, **चेत्**=यदि ऐसा कहते हो कि, **लक्षणावृत्त्या वेद्यं**=लक्षणा वृत्ति से वह ब्रह्म ज्ञेय होता है (इसलिये उसमें सगुणत्व की प्राप्ति नहीं होगी) तो, **लक्षितं समुपास्यताम्**= लक्षणा का विषय ब्रह्म की उपासना भी करो ॥५६॥

ब्रह्म की उपासनाविषयता का श्रुति ने "नेदं यदिदमुपासते" इस वचन से निषेध किया है, ऐसी आशंका करते हैं—

ब्रह्म विद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ।
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ॥५९॥

त्वं तदेव=तुम् उसी को (जो मन वाणी का अगोचर है उसी को), **ब्रह्म विद्धि**=ब्रह्म जानो, **यत् तु इदं उपासते न**= और जिसकी इदंरूप से उपासना लोग करते हैं उसको ब्रह्म मत जानो, **इति श्रुतेः उपास्यत्वं**=इस श्रुति वाक्य से जो उपासना का विषय है, **ब्रह्मणः निषिद्धं**=वह ब्रह्म नहीं है इस प्रकार निषेध किया गया, **यदि**=ऐसा सन्देह हो तो (६०) वे श्लोक में उत्तर कहते हैं ॥५९॥

ब्रह्म का उपास्यत्व की न्याई वेद्यत्व का भी निषेध श्रुति ने

समान रूप से किया, इसलिये दोष का परिहार भी समान ही है, इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक से उक्त आशंका का समाधान करते है—

विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ।
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथाश्रुत्याप्युपास्यताम् ॥६०॥

विदितात् अन्यत् एव=वह ब्रह्म विदित अर्थात् ज्ञात से भिन्न है (अर्थात् जो ज्ञात होता है वह ब्रह्म नहीं), **इति श्रुतेः अस्य**= इस श्रुति से इस ब्रह्म की, **वेद्यत्वम् न**=ज्ञानविषयता नहीं हो सकती, अर्थात् ब्रह्म ज्ञेय नहीं हो सकता इस प्रकार निषेध किया गया, **यथा श्रुत्या एव**=और जिस प्रकार श्रुति ने कहा, उसी प्रकार से, **वेद्यं चेत्**=ब्रह्म ज्ञान का विषय होगा, यदि ऐसा कहते हो तो (पूर्वपक्षी का यह कहना है कि विदित अविदित अर्थात् जो ज्ञात है अथवा अज्ञात है दोनों से ब्रह्म भिन्न है, इसी श्रुति वचन के अनुसार ब्रह्म ज्ञात, अज्ञात से भिन्न रूप करके ज्ञान का विषय बन जायेगा), **तथा श्रुत्या अपि**=उसी प्रकार श्रुति के अनुसार, अर्थात् विदित और अविदित से भिन्न रूप करके भी, **उपास्यताम्**= ब्रह्म की उपासना करो ॥६०॥

वेद्यत्व धर्म ब्रह्म का वास्तव नहीं, यदि इस प्रकार पूर्वपक्षी कहता है, तो ब्रह्म का उपास्यत्व भी वास्तव नहीं, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ।
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत् समम् ॥६१॥

वेद्यता चेत् अवास्तवी=ब्रह्म में वेद्यता धर्म यदि कल्पित है तो, **उपास्यत्वं तथा किं न**=ब्रह्म में उपास्यता धर्म भी कल्पित क्यों नहीं, **वृत्तिव्याप्तिः चेत्**=ब्रह्माकार वृत्ति होना ही यदि, **वेद्यता**=ब्रह्म में वेद्यता का स्वरूप है तो, **उपास्यत्वे अपि**=ब्रह्म उपास्य है, इस पक्ष में भी, **तत् समम्**=ब्रह्म शब्द से ब्रह्माकार वृत्ति होना समान ही है ॥६१॥

युक्ति से रहित दोष का कथन तो तुम्हारे पक्ष में भी समान

ही है, इस बात को कहते हुए निर्गुण ब्रह्म की उपासना में श्रुति प्रमाण कहते हैं

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय ।
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहुश्रुतिषु दर्शनात् ॥६२॥

उपास्तौ ते का भक्तिः=उपासना में आपकी क्या भक्ति (अनुराग है), **चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **ते द्वेषः कः तत् ईरय**=आपका उपासना में द्वेष कैसा है उसे कहो, **अस्यां मानाभावः**=निर्गुण उपासना में कोई प्रमाण नहीं, **न वाच्यः**=ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि **बहुश्रुतिषु दर्शनात्**=बहुत श्रुति वचनों में उपासना उपलब्ध होती है ॥६२॥

बहुत श्रुतियों में उपासना पाई जाती है, इस उक्त अर्थ का विवरण करते हैं

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्य प्रश्नेऽथ काठके ।
माण्डूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥६३॥

उत्तरस्मिंस्तापनीये=उत्तर तापनीय उपनिषद् में, **शैब्य-प्रश्ने अथ काठके**=प्रश्न उपनिषद् के पञ्चम प्रश्न में, और कठोपनिषद् में, **च माण्डूक्यादौ**=और माण्डूक्य, तैत्तिरीय, मुण्डक आदि उपनिषदों में, **सर्वत्र निर्गुणोपास्तिः ईरिता**=सब जगह निर्गुण उपासना (निर्गुण ब्रह्म की उपासना) कही गई हैं ॥६३॥

निर्गुण ब्रह्म की उपासना किस प्रकार अनुष्ठान करने योग्य है, ऐसी आकांक्षा होने पर अनुष्ठान का प्रकार बतलाते हैं --

अनुष्ठान प्रकारोऽस्याः पञ्चीकरण ईरितः ।
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥६४॥

अस्याः अनुष्ठानप्रकारः=निर्गुण उपासना के अनुष्ठान का प्रकार, **पञ्चीकरणे ईरितः**=पञ्चीकरण नामक ग्रन्थ में कहा गया है, **एतत् ज्ञानसाधनम्**=यह उपासना ज्ञान का साधन है

(मुक्ति का साधन नहीं), चेत् = यदि ऐसी आशंका हो तो, अत्र = यहां पर (उपासना के प्रकरण में), न इति = उपासना ज्ञान का साधन नहीं, इस प्रकार, केन वारितम् = किसने निवारण किया ॥६४॥

सगुण ब्रह्म की उपासना ही सब लोग किया करते हैं, निर्गुण ब्रह्म की उपासना नहीं करते, ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं कि प्रमाण सिद्ध निर्गुण उपासना का निषेध करना युक्ति युक्त नहीं—

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन्मानुतिष्ठतु ।
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्यति ? ॥६५॥

कः अपि एतत् = कोई भी इस निर्गुण ब्रह्म की उपासना का, न अनुतिष्ठति = नहीं अनुष्ठान करता, इति चेत् = ऐसी यदि आशंका है तो (उत्तर यह है कि), मा अनुतिष्ठतु = मत उपासना करे, पुरुषस्य अपराधेन = अनुष्ठान करने वाले पुरुष के अपराध से, किम् उपास्तिः प्रदुष्यति = क्या उपासना दोषयुक्त हो जायेगी, किन्तु नहीं होगी (अर्थात् शास्त्र प्रमाण से सिद्ध उपासना का निषेध नहीं बन सकता) ॥६५॥

वेदादि प्रमाण से सिद्ध उपासना का अनुष्ठान यदि कोई नहीं करता है तो, इतने मात्र से उपासना का परित्याग नहीं करना चाहिये, इस में दृष्टान्त कहते हैं—

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मन्त्रान् वश्यादिकारिणः ।
मूढ़ा जपन्तु तेभ्योऽतिमूढ़ाः कृषिमुपासताम् ॥६६॥

इतः अपि = इससे भी (जैसे कालान्तर में फल देने वाले सगुण ब्रह्म की उपासना से), अतिशयं = वशीकरण आदि मन्त्रों में तत्काल फल देने की शक्तिरूप अतिशय उत्कर्षको, मत्वा मूढ़ाः = मान कर विवेक हीन लोग, वश्यादिकारिणः = मंत्रान् वशीकरण आदि मन्त्रों को, जपन्तु = जपते हैं (तथापि विवेकी जन सगुण उपासना का परित्याग नहीं करते), तेभ्यः = और जैसे नियम से अनुष्ठान की अपेक्षा रखने वाले उन मन्त्रों से भी कृषि आदि कर्म में अतिशय

अर्थात् नियम के पालन करने की अनावश्यकतारूप उत्कर्ष को देखकर, अतिमूढ़ाः=अत्यन्त अविवेकी जन, कृषिम् उपासताम्= कृषि कर्म का सेवन करते है। अतिमूढ़ों का पूर्व मन्त्र अनुष्ठान आदि में प्रवृत्ति न होने पर भी, मन्त्र अनुष्ठान आदि परित्याग नहीं करता।

(उसी प्रकार संसारिक फल चाहने वाले निर्गुण ब्रह्म की उपासना का अनुष्ठान नहीं भी करते हैं, तथापि मुमुक्षु निर्गुण ब्रह्म की उपासना का त्याग नहीं करते) ॥६६॥

इस प्रकार प्रसंग से आये हुए विचार को समाप्त करके अब प्रकृत निर्गुण उपासना का अनुसरण करते हैं –

तिष्ठन्तु मूढ़ाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ।
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान्गुणानत्रोपसंहरेत् ॥६७॥

मूढ़ाः तिष्ठन्तु=विवेक हीन मनुष्य वेशक रहे, अर्थात् विवेक हीन मनुष्यों की बात रहने दो, प्रकृता निर्गुणोपास्तिः ईर्यते=अब प्रकरण में प्राप्त निर्गुण उपासना को कहते हैं, विद्यैक्यात्=निर्गुण उपासना सर्वत्र एक ही रूप है, इस लिये, सर्वशाखास्थान्=सब ही वेद की शाखाओं में स्थित, अर्थात् पृथक् पृथक् कहे हुए, गुणान् अत्र=उपास्य गुणों का एक जगह, उपसंहरेत्=संग्रह करे अर्थात् संग्रह करके उपासना करना चाहिये ॥६७॥

उपासना में संग्रह करने योग्य गुण दो प्रकार के होते हैं. एक विधेय गुण, दूसरा निषेध्य गुण, इन दोनों में विधेय गुणों का संग्रह "आनन्दादयः प्रधानस्य" इस अधिकरण में (इस सूत्र में) ब्रह्मसूत्रकार व्यासजी ने कहा हैं—

आनन्दादेर्विधेयस्य गुणसङ्घस्य संहृतिः ।
आनन्दादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥६८॥

आनन्दादेः=आनन्दरूपता, विज्ञानरूपता, नित्यता, शुद्धता इत्यादि, विधेयस्य गुणसङ्घस्य=भावरूप गुण समूह का, संहृतिः=

उपसंहार अर्थात् संग्रह, आनन्दादयः = (१) ❀ "आनन्दादयः प्रधानस्य" इति अस्मिन् सूत्रे = इस सूत्र में (इस अधिकरणमें), व्यासेन वर्णिता = व्यासभगवान् ने (सूत्रकार ने) कहा है।

(१) ❀ आनन्दरूपता, विज्ञानघनता, सर्वगतता आदि ब्रह्म के धर्म सर्वत्र उपासना में जान लेना चाहिये, यह सूत्र का अर्थ है ॥६८॥

और जितने अस्थूलत्व अनणुत्व अह्रस्वत्वं आदि निषेध्य गुण है, उनका भी उपसंहार उपासना में कर लेना चाहिये, इस वार्ता को कहते हैं —

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः ।
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताक्षरधियां त्विति ॥६९॥

तथा अस्थूलादेः = और स्थूलता अह्रस्वता इत्यादि, निषेध्यस्य गुणसंघस्य = निषेध का विषय अभावरूप गुण समूह का, अक्षरधियां तु = (१) ❀ अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्य तद्भावाभ्याम् औपसदवत्तदुक्तम्", इति अस्मिन्सूत्रे = इस सूत्र में अर्थात् अक्षरधियां नामक अधिकरण में, व्यासेन उक्ता = वेदान्त सूत्रकार व्यासजी ने कहा।

(१) ❀ ब्रह्म में द्वैत निषेध कीबुद्धियों का उपसंहार (संग्रह) सर्वत्र निषेधश्रुतियों में करना युक्ति युक्त है, क्योंकि द्वैत निषेध द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन सर्वत्र समान है. तथा प्रतिपाद्य ब्रह्म का सर्वत्र एक रूप से प्रत्यभिज्ञान होता है, इस लिये भी एकत्र उपासना में गुणों का संग्रह आवश्यक है ॥६९॥

निर्गुण ब्रह्म की उपासना में गुणों का उपसंहार युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि गुण उपसंहार का निर्गुण उपासना से विरोध है, ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं-कि ब्रह्मसूत्रकार वेदव्यास जी के कहे हुए गुणोपसंहार का ही हम कथन कर रहे हैं, इस लिये यह प्रश्न व्यास जी के प्रति ही हो सकता है, हमारे प्रति नहीं —

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ॥
न युज्येतेत्युपालम्भो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥७०॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां=निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की उपासना में, **गुणसंहृतिः**=गुणों का उपसंहार, **न युज्येत**=युक्ति युक्त नहीं, किन्तु विरुद्ध है, **इति उपालम्भः**=इस प्रकार का दोषारोप, **व्यासं प्रति एव**=व्यास जी के प्रति ही हो सकता है, **मां तु न**=मेरे प्रति नहीं, क्योंकि व्यास जी ने ही गुणोपसहार के लिये कहा है, मैं तो उनके कथन का अनुवाद करने वाला हूँ ॥७०॥

हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुण विशिष्ट मूर्ति के अकथन से पूर्वोक्त उपासना निर्गुण उपासना ही है, इस प्रकार यदि तुम मानते हो तो हम सिद्धान्तियों का कोई विरोध नहीं, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादि मूर्तीनामनुदाहृतेः ।
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥७१॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादि मूर्तीनाम्=सुवर्णमय श्मश्रु वाले अर्थात् अवयव वाले सूर्यादि मूर्तियों का, **अनुदाहृतेः**=उपदेश न करने से, **निर्गुणत्वम्**=निर्गुण उपासना में गुणों का उपसंहार, **अविरुद्धं**=(गुणोपसंहार करने पर भी) विरुद्ध नही है, **इति चेत् त्वया तुष्यतां**=ऐसा यदि कहते हो तो तुम सन्तुष्ट रहो ॥७१॥

आनन्दादि तथा अस्थूलत्वादि गुणों का उपास्य के स्वरूप में अन्तः प्रवेश न होने से, तिस तिस गुण करके युक्त ब्रह्म की उपासना कैसे बनेगी, ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं कि उन गुणों का उपास्य ब्रह्म के स्वरूप के अन्दर प्रवेश न होने पर भी वे गुण लक्षक बन सकते हैं अतः उन गुणों के द्वारा ब्रह्म उपास्य बन सकता है—

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेऽन्तः प्रवेशनम् ।
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्मतत्त्वमुपास्यताम् ॥७२॥

गुणानां=पूर्वोक्त आनन्द अस्थूलता इत्यादि गुण, लक्षकत्वेन तत्त्वे=उपलक्षक होने से उपास्य ब्रह्म तत्त्व के, अन्तः प्रवेशनम् न=भीतर प्रवेश अर्थात् स्वरूप में प्रवेश गुणों का नहीं है, इति चेत् एवं एव अस्तु=ऐसा यदि कहते हो तो ऐसा ही हो, ब्रह्मतत्त्वं उपास्यताम्=अब उन गुणों से लक्षित ब्रह्म की उपासना करो ॥७२॥

जिस प्रकार से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये अब उस प्रकार को दिखाते हैं—

आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्मात्र लक्षितः ।
अखण्डैकरसः सोऽहमस्मीत्येकमुपासते ॥७३॥

अत्र अखण्डैकरसः आत्मा=इन श्रुतियों में जो अखण्ड एकरस आत्मा, आनन्दादिभिः=आनन्दादि विधेय गुणों से, च अस्थूलादिभिः=और अस्थूलादि निषेध्य गुणों से, लक्षितः=लक्षणा द्वारा बोधक हुआ, सः अहम् अस्मि=वह आत्मा मैं हूँ, इत्येवम् उपासते=इस प्रकार मुमुक्षु लोग उपासना करते है ॥७३॥

पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञान और उपासना का आकार समान ही मालूम पड़ता है, फिर उन दोनों का भेद किस कारण से है ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि ज्ञान प्रमेय वस्तु के अधीन हैं, और उपासना पुरुष के अधीन है, इस कारण दोनों का भेद सिद्ध होता है—

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ।
वस्तुतन्त्रो भवेद्बोधः कर्तृतन्त्रमुपासनम् ॥७४॥

बोधोपास्त्योः विशेषः कः=ज्ञान और उपासना इन दोनों का भेद क्या है, इति चेत् उच्यते शृणु=यदि ऐसा पूछते हो तो कहता हूँ सुनो, बोधः वस्तुतन्त्रः भवेत्=ज्ञान प्रमाण और प्रमेय वस्तु के अधीन होता है, उपासनम्=और उपासना, कर्तृतन्त्रम्=करने वाले उपासक के अधीन होती है, यही ज्ञान और उपासना के स्वरूप में भेद हैं ॥७४॥

अब ज्ञान और उपासना का दूसरा भेद सिद्ध करने के लिये ज्ञान के हेतु और फल को दो श्लोक से दिखाते हैं—

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छा यं न निवर्तयेत् ।

स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥७५॥

बोधः विचारात् जायते=ज्ञान वस्तुतत्त्व के विचार से उत्पन्न होता है, **यं**=विचार जन्य जिस बोध को, **अनिच्छा**=(ज्ञान मुझ को मत प्राप्त होवे इस प्रकार की) अनिच्छा, **न निवर्तयेत्**=नहीं निवारण कर सकती, **स्वोत्पत्तिमात्रात्**=उत्पन्न हुआ वह बोध, अपने जन्म मात्र से, **संसारे अखिलसत्यताम्**=संसार में सब प्रकार की सत्यता को, **दहति**=नाश कर डालता है ॥७५॥

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ।

जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥७६॥

तावता कृतकृत्यः सन्=तत्त्व ज्ञान की उत्पत्ति मात्र से कृतकृत्य हो कर, **नित्यतृप्तिम् उपागतः**=निरतिशय सुख को प्राप्त होता है, **जीवन्मुक्तिम् अनुप्राप्य**=जीवन्मुक्ति अवस्था को प्राप्त होकर, **प्रारब्धक्षयम् ईक्षते**=भोग द्वारा प्रारब्ध कर्म के नाश की प्रतिक्षा करता है ॥७६॥

अब उपासना का ज्ञान से भेद सिद्ध करने के लिये उपासना के हेतु और फल को दिखाते हैं-

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ।

चिन्तयेत्प्रत्ययैरन्यैरनन्तरितवृत्तिभिः ॥७७॥

श्रद्धालुः=श्रद्धायुक्त अधिकारी, **आप्तोपदेशं**=यथार्थ वक्ता गुरु के उपदेश को (उपास्य प्रतिपादक वाक्यों को), **विश्वस्य अविचारयन्**=विश्वास करके उस पर विचार नहीं करता हुआ, **अन्यैः प्रत्ययैः**=विजातीय घटादि विषय के चिन्तन से, **अनन्तरितवृत्तिभिः**=व्यवधान रहित सजातीय उपास्याकार वृत्तियों के द्वारा, **चिन्तयेत्**=उपास्य स्वरूप का निरन्तर ध्यान करे ॥७७॥

उपास्य स्वरूप का अभेद अभिमानरूप फल की उत्पत्ति तक चिन्तन करने के अनन्तर भी आमरण उस अभिमान को धारण करे इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं –

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥७८॥

यावत् स्वस्य=जब तक अपना, **चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः**=ध्येय स्वरूप का अभेद अभिमान, **जायते**=उत्पन्न होता है (मैं ध्येय स्वरूप हूं ऐसा अभेद अभिमान की उत्पत्ति तक), **तावत् विचिन्त्य पश्चात्**=तब तक ध्यान करके बाद में, **तथैव**=उसी प्रकार ध्येय स्वरूप के अभिमान को, **आमृति धारयेत्**=मरण पर्यन्त धारण करें ॥७८॥

उपासक के ध्येय स्वरूप के अभिमान को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं –

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युक्तः संवर्गविद्यया ।
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥७९॥

संवर्गविद्यया युक्तः=कोई संवर्गरूप प्राण की उपासना से युक्त, **ब्रह्मचारी भिक्षमाणः**=ब्रह्मचारी भिक्षाटन करता हुआ, **संवर्गरूपतां**=अपनी संवर्गरूपता को (अर्थात् मैं संवर्ग प्राणरूप हूँ इस प्रकार की भावना को), **चित्ते**=मन में, **धारयित्वा**=धारण करके (अर्थात् धारण की हुई संवर्गरूपता को प्रगट करके), **अभिक्षत**=भिक्षा की याचना की, **हि**=यह छान्दोग्य उपनिषद् में प्रसिद्ध गाथा हैं ॥७९॥

पूर्व श्लोक में उपास्य के स्वरूप से उपासक का अभेद अभिमान आमरण ध्यान करना चाहिये, यह वार्ता कही गई थी, इसमें निमित्त को दिखाते हुए अनिच्छा बोध को निवृत्त नहीं कर सकती, इस प्रकार पूर्वोक्त बोध के धर्म से उपासना में वैलक्षण्य दिखाते हैं--

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ।
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसन्ततिम् ॥८०॥

उपास्तिः पुरुषस्य इच्छया=उपासना उपासक की इच्छानुसार, कर्तुम् अकर्तुं=यथावत् करने को न करने को, अन्यथा कर्तुम् शक्या=अथवा दूसरे प्रकार से करने को शक्य है, अतः=इस लिये (अर्थात् उपासना पुरुष की इच्छा के अधीन होने से), प्रत्ययसंततिम्=ध्यान के प्रवाह को, अर्थात् उपासना को, नित्यं कुर्यात्=सर्वदा करें ॥८०॥

इस प्रकार सदा चिन्तन करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोऽधीते स्वप्नेऽधिवासतः ।
जपिता तु जपत्येव तथा ध्यातापि वासयेत् ॥८१॥

अप्रमत्तः वेदाध्यायी=प्रमाद रहित होकर सदा वेद पाठ करने वाले, जपिता तु=और सदा जाप करने वाले, अधिवासतः=दृढ़ वासना अर्थात् संस्कार के कारण, स्वप्ने अधीते=स्वप्न अवस्था में भी वेद पाठ करता है, जपति एव=अथवा जाप करता है, तथा ध्याता अपि=उसी प्रकार उपासक भी, वासयेत्=संस्कार दृढ़ होने पर स्वप्नादि में ध्यान करता है ॥८१॥

स्वप्नादि दूसरी अवस्था में ध्यान की अनुवृत्ति होती रहती है, इसमें कारण कहते हैं—

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरन्तर्येण भावयन् ।
लभते वासनावेशात् स्वप्नादावपि भावनाम् ॥८२॥

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा=विजातीय चिन्तन को त्याग करके, नैरन्तर्येण भावयन्=निरन्तर सजातीय चिन्तन करता हुआ, वासनावेशात् स्वप्नादौ अपि=संस्कार की दृढ़ता से स्वप्नादि अवस्था में भी, भावनाम् लभते=ध्यान कर सकता है ॥८२॥

प्रारब्ध कर्म वश विषयों का अनुभव करने वाले को निरन्तर

भावना कैसे हो सकती, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि अतिशय आस्था अर्थात् श्रद्धा होने पर विषयों में व्यसन करने वाली स्त्री की न्याई निरन्तर भावना की सिद्धि बन सकती हैं—

भुञ्जानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम् ।
ध्यातुं शक्तो न सन्देहो विषयव्यसनी यथा ॥८३॥

निजारब्धम्=अपने प्रारब्ध कर्म का (कर्म फल का), भुञ्जानः अपि=भोग करता हुआ भी, आस्थातिशयतः=अत्यन्त आस्तिक बुद्धि के कारण, अनिशम् ध्यातुं शक्तः=सर्वदा उपासक ध्यान कर सकता है, सन्देहः न=इसमें कोई संदेह नहीं, यथा विषयव्यसनी=जैसे विषयासक्त मनुष्य सर्वदा विषय का ध्यान करता है ॥८३॥

अब दृष्टान्त का विवरण करते हैं—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥८४॥

परव्यसनिनी नारी=जैसे दूसरे पुरुष में आसक्त स्त्री, गृहकर्मणि व्यग्रापि=अपने गृह कार्य में संलग्न हुई भी, तद् एव परसङ्गरसायनम्=उसी परपुरुष के संग जन्य सुख का, अन्तः आस्वादयति=भीतर ही भीतर आस्वादन अर्थात् अनुभव या स्मरण करती हैं ॥८४॥

परसंग आस्वादन करने पर गृह कार्य में कोई व्यवधान नहीं होता, इस बात को अगले श्लोक से कहते हैं—

परसङ्गं स्वादयन्त्या अपि नो गृहकर्म तत् ।
कुण्ठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥८५॥

परसङ्गं=पर पुरुष के सङ्ग जन्य सुख का, स्वादयन्त्या अपि=अनुभव अथवा स्मरण (आस्वादन) करने वाली भी उस स्त्री का, तत् गृह कर्म नो कुण्ठीभवेत्=वह गृह कार्य नहीं रुकता हैं, अपि तु एतत्=परन्तु यह कार्य, आपातेन एव वर्तते=उपर के मन से ही चलता रहता है ॥८५॥

'आपातेन एव वर्तते' इस पूर्वोक्त अर्थका अगले श्लोक से विवरण करते हैं —

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक् करोति तत् ।
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥८६॥

यथा गृहकृत्यव्यसनिनी=जैसे गृह कार्य में आसक्त स्त्री, **तत् सम्यक् करोति**=गृहकार्य सम्यक् प्रकार से करती है, **तद्वद् परव्यसनिनी**=उसी प्रकार से दूसरे पुरुष में आसक्त स्त्री, **सर्वथा न एव करोति**=सब कार्यों को भलि भांति नहीं कर सकती ॥८६॥

उक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में अर्ध श्लोक से योजना करते हैं, और तत्त्ववेत्ता लौकिक व्यवहार को लेश मात्र मन से नहीं करता हुआ भी सम्यक् रूप से करता है, क्योंकि लौकिक व्यवहार तत्त्वज्ञान का विरोधी नहीं, इस बात को अगले श्लोक से कहते हैं—

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ।
तत्त्ववित्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥८७॥

एवं ध्यानैकनिष्ठोपि=पूर्वोक्त प्रकार से केवल ध्यान परायण उपासक भी, **लेशात् लौकिकम् आरभेत्**=आपात मनसे लौकिक व्यवहार को करता है, **तु तत्त्ववित् लौकिकम्**=परन्तु तत्त्ववेत्ता (ज्ञानवान्) लोकव्यवहार को, **अविरोधित्वात्**=ज्ञान का विरोधी न होने से, **आचरेत् सम्यक्**=भलिभांति करता है ॥८७॥

पूर्व श्लोक में उक्त अविरोध को दिखाते हैं—

मायामयः प्रपञ्चोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ।
इति बोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥८८॥

अयम् प्रपञ्चः मायामयः=यह संसार मायिक है, **आत्मा चैतन्यरूपधृक्**=और आत्मा तो चैतन्य स्वरूप है, **इति बोधे**=ऐसा विवेक ज्ञान होने पर, **लौकिकव्यवहारिणः कः विरोधः**=लौकिक व्यवहार करने वाले ज्ञानी का क्या विरोध है ॥८८॥

उक्त विरोधाभाव का ही विस्तार अगले श्लोक से करते हैं —

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपञ्चस्य वस्तुताम् ।
नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव कांक्षति ॥८९॥

व्यवहृतिः प्रपञ्चस्य=लौकिक व्यवहार संसार की, **वस्तुताम् न अपेक्षते**=सत्यता की अपेक्षा नहीं रखता, **आत्मजाड्यं अपि न**=आत्मा की जड़ता की भी अपेक्षा नहीं रखता, **किन्तु एषा**=परन्तु यह लौकिक व्यवहार, **साधनानि एव**=शरीर, मन, वाणी आदि साधनों की ही, **काङ्क्षति**=अपेक्षा रखता है ॥८९॥

अब अगले श्लोक से व्यवहार में अपेक्षित साधन को दिखाते हैं—

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ।
तत्त्ववित्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥९०॥

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः=मन वाणी शरीर और बाह्य पदार्थ, अर्थात् गृह क्षेत्र आदि, **साधनानि**=व्यवहार के साधन हैं, **तान्**=उन साधनरूप मन आदि पदार्थों को, **तत्त्ववित् न उपमृद्नाति**=ब्रह्मवेत्ता स्वरूप से निवारण नहीं करता, **अस्य व्यवहारः**=इस लिये ज्ञानवान् का लोक व्यवहार, **कुतः नो**=क्यों नहीं हो सकता, किन्तु अवश्य हो सकता है ॥९०॥

विषयों का स्वरूप से निवारण न भी करें, तब भी चित्त का उपमर्दन तो तत्त्ववेत्ता को अवश्य करना चाहिये, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि चित्त का उपमर्दन करने पर वह तत्त्ववेत्ता नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि तत्त्ववेत्ता चित्त का निवारण नहीं करता, यही लोक में देखा गया है—

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्यातासौ न तु तत्त्ववित् ।
न बुद्धिं मर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥९१॥

चित्तं=तत्त्ववेत्ता मन को, **उपमृद्नाति**=निरोध करता होगा

(इस दशा में ज्ञानी से व्यवहार कैसे होगा), **चेत्**=यदि ऐसी आशंका हो तो (उत्तर कहते हैं), **असौ**=वह मन को उपमर्दन करने वाला, **ध्याता**=कोई ध्यान करने वाला उपासक होगा, **तु तत्त्ववित् न**=वह तो ज्ञानवान् नहीं, **घटतत्त्वस्य वेदिता**=क्योंकि घट के स्वरूप को जानने वाला, **बुद्धिम्**=बुद्धिको पीड़ा देकर, **मर्दयन् न दृष्टः**=उपमर्दन अर्थात् एकाग्र करता हुआ नहीं देखा गया ॥९१॥

घट स्थूल होने से स्पष्ट है, इसलिये उसके दर्शन में चित्त की एकाग्रता अपेक्षित नहीं भी हो, तथापि ब्रह्म स्थूल न होने के कारण घट जैसे स्पष्ट नहीं, इसलिये ब्रह्म के ज्ञान में चित्त की एकाग्रता अपेक्षित है, ऐसे पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं कि, ब्रह्म स्वयं प्रकाशरूप होने से घट से भी अधिक स्पष्ट है, इस लिये चित्तका निरोध अपेक्षित नहीं --

सकृत् प्रत्यय मात्रेण घटश्चेद् भासते सदा ।
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥९२॥

सकृत् प्रत्यय मात्रेण घटः=केवल एक ही वार ज्ञान होने से जड़ घट, **चेत् सदा भासते**=यदि सर्वदा भासते होवे तो, **अयम् स्वप्रकाशः आत्मा**=यह स्वयं प्रकाश आत्मा एक बार ज्ञात होने पर, **किं घटवत् च न भासते**=क्या जड़ घट की न्याई भी भासता ?

(इस लिये घट से भी अधिक स्पष्ट स्वयं प्रकाश आत्मरूप ब्रह्म के ज्ञान में चित्त का मर्दन अर्थात् निरोध अपेक्षित नहीं)॥९२॥

ब्रह्म स्वप्रकाश होने पर भी ब्रह्म को विषय करने वाली ब्रह्माकार चित्तवृत्ति ही तत्त्वज्ञान का स्वरूप है, वह चित्तवृत्ति क्षणिक होने से उसका बारंबार ब्रह्म में स्थापन आवश्यक है, यदि ऐसी अशंका होती है तो- यह प्रश्न घटादि विषय में भी समान ही है, इस प्रकार उत्तर देते हैं—

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिः तत्त्ववेदनम् ।
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥९३॥

स्वप्रकाशतया=ब्रह्म की स्वप्रकाशता (अर्थात् ब्रह्म स्वप्र-

काश है, इस बात से), ते किं=आपको क्या लेना, तद् बुद्धिः तत्त्व-वेदनम्=क्योंकि ब्रह्मगोचर बुद्धिवृत्ति ही ब्रह्मज्ञान का स्वरूप है, बुद्धिः च=और बुद्धि वृत्ति तो, क्षण नाश्या=प्रति क्षण नाश शील है (इस लिये पुनः पुनः करने योग्य है), इति चोद्यं=इस प्रकार का प्रश्न, घटादिषु तुल्यं=घटादि वेद्य पदार्थों में भी समान ही है ॥९३॥

घटादि का ज्ञान भी क्षणिक है, तथापि एक बार निश्चित हुए घटका सर्वदा व्यवहार बन सकता है, इसलिये घट में चित्त की स्थिरता सम्पादन करना अनावश्यक है, इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि, यह प्रश्न आत्मा के विषय में भी समान है=

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ।
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ॥९४॥

निश्चिते घटादौ=एक बार निश्चयरूप से ज्ञात घट में, अर्थात् घट को विषय करने वाली, बुद्धिः यदा नश्यति एव=बुद्धि-वृत्ति यद्यपि अवश्य नष्ट हो जाती है, तदा इष्टः घटः=तथापि अभिलषित घट, नेतुं शक्यः=अन्यत्र लेजाने को शक्य है (अर्थात् घटाकार बुद्धि वृत्ति का नाश होने पर भी सर्वदा घटविषयक व्यवहार किया जा सकता है), इति चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, समम् आत्मनि=आत्मा में भी सदा व्यवहार समान ही हो सकता है ॥९४॥

पूर्व श्लोक में उक्त "आत्मनि समम्" इस वाक्य के अर्थ का विस्तार अगले श्लोक से कहते हैं

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ।
वक्तुं मन्तुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित् ॥९५॥

हि आत्मानं सकृत् निश्चित्य=क्योंकि आत्मा का एक बार निश्चय कर लेने पर, तत्त्ववित् यदा अपेक्षा=तत्त्व वेत्ता जब जब आवश्यकता हो, तदा एव तम् वक्तुं=तब तब ही उस आत्मा को

कहने के लिये, **मन्तुं तथा ध्यातुं**=जानने के लिये और चिन्तन करने के लिये, **शक्नोति एव**=समर्थ हो सकता ही हैं ॥९५॥

तत्त्ववेत्ता भी उपासक की न्याई आत्मा का ध्यान करते हुए जगत् का स्मरण रहित होता हुआ दृष्ट होता है, ऐसी आशंका यदि हो तो, वह स्मरणभाव ध्यान से है, वेदन से नहीं, ऐसा उत्तर कहते हैं—

उपासक इव ध्यायँल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ।
विस्मरत्येव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥९६॥

उपासक इव=उपासक की न्याई (जैसे उपासक ध्यान काल में जगत् भूल जाता है, उसी प्रकार), **ध्यायन् लौकिकं**=तत्त्ववेत्ता भी आत्मा का ध्यान करता हुआ जगत् को, **यदि विस्मरेत् विस्मरति एव**=यदि भूल जाता है तो, वेशक भूल जावे, **तु सा विस्मृतिः**=परन्तु वह विस्मरण (भूल जाना), **ध्यानात् वेदनात् न**=ध्यान से होता है, ज्ञान से नहीं ॥९६॥

तत्त्ववेत्ता को भी मुक्ति की सिद्धि के लिये ध्यान कर्तव्य है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि ज्ञान मात्र से ही कैवल्य मोक्ष प्राप्त होता है, अन्य साधन की अपेक्षा नहीं, इस अर्थ के प्रतिपादक शास्त्र प्रमाण विद्यमान होने से तत्त्ववेत्ता को मोक्षार्थ ध्यान कर्तव्य नहीं—

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ।
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥९७॥

वेदनात् मुक्तिसिद्धितः=एक बार ज्ञान मात्र से ही मुक्ति ज्ञानवान् को प्राप्त ही है, **एतस्य ध्यानं तु**=इस कारण से तत्त्ववेत्ता के लिये ध्यान तो, **ऐच्छिकं**=इच्छा के अनुसार है, शास्त्रविधि के अधीन कर्तव्य रूप से नहीं, **ज्ञानात् एव तु कैवल्यम्**=केवल ज्ञान से ही तो कैवल्य मुक्ति सिद्ध है, **इति शास्त्रेषु**=इस प्रकार शास्त्रों में, **डिण्डिमः**=ढिंढोरा है (इसलिये तत्त्ववेत्ता को मोक्षसिद्धि के लिये ध्यान करना आवश्यक नहीं) ॥९७॥

तत्त्ववेत्ता के लिये ध्यान कर्तव्य है, इस बात को अङ्गीकार नहीं करोगे तो, ध्यान नहीं करने वाले तत्त्ववेत्ता को सर्वदा बहिर्मुखी प्रवृत्ति प्राप्त होगी, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि वह बहिर्मुखी प्रवृत्ति ज्ञान का बाधक न होने से प्रवृत्ति का अङ्गीकार करने में कोई दोष नहीं—

तत्त्ववित्यदि न ध्यायेत् प्रवर्तेत तदा बहिः ।
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ? ॥९८॥

तत्त्ववित् यदि न ध्यायेत्=तत्त्ववेत्ता (ब्रह्मवेत्ता) यदि ध्यान नहीं करेंगे, **तदा बहिः प्रवर्तेत**=तब तो बाह्य प्रवृत्तिकरेगें (ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं), **अयं सुखेन प्रवर्ततां**=यह तत्त्ववेत्ता सुख से प्रवृत्त होवे, **अस्य प्रवर्तने**=इस ज्ञानवान् की प्रवृत्ति में, **कः बाधः**=क्या बाधा है, अर्थात् कोई भी बाधा नहीं, ॥९८॥

तत्त्ववेत्ता के लिये बाह्य प्रवृत्ति का अङ्गीकार करने पर अतिप्रसंग दोष प्राप्त होगा, एसी आशंकापूर्वक तत्त्ववेत्ता के लिये विधिनिषेधशास्त्ररूप प्रसंग का निवारण नहीं हो सकता, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

अति प्रसंग इति चेत् प्रसग तावदीरय ।
प्रसंगोविधिशास्त्र चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ॥९९॥

अति प्रसंगः=(ज्ञानवान् की बाह्य प्रवृत्ति अङ्गीकार करने से) प्रसंग का उलंघन रूप दोष प्राप्त होगा, **इति चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **तावत् प्रसंगः ईरय**=पहले प्रसंग का स्वरूप कहो, **विधि शास्त्रं प्रसंगः**=विधि और निषेध रूप शास्त्र ही प्रसंग का स्वरूप है, **चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **तत् तत्त्ववित्दं प्रति**=वह विधिनिषेधरूप शास्त्र तत्त्ववेत्ता के प्रति, **न**=नहीं है, अर्थात् लागु नहीं है, किन्तु अज्ञानियों के प्रति लागु है ॥९९॥

विधि निषेध शास्त्र का विषय अज्ञानी में ही है-इसका प्रदर्शन करते हैं—

वर्णाश्रमवयोऽवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ।

तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥१००॥

यस्य=जिस अज्ञानी मनुष्य का, **वर्णाश्रमवयोऽवस्थाभिमानः विद्यते**=जाति, आश्रम, उमर और अवस्था (रुग्नावस्थादि) का अभिमान है, तस्य एव सकलाः निषेधाः=उसी के लिये सम्पूर्ण निषेध, च विधयः अपि=और विधि भी हैं ॥१००॥

तत्त्ववेत्ता भी देहधारी होने के कारण वर्णाश्रमादि अभिमान वाले होंगे इस प्रकार आशंका का उत्तर कहते हैं कि तत्त्ववेत्ता को अनात्मपदार्थ में आत्माभिमान नहीं होता—

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ।

नात्मानो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥१०१॥

देहे वर्णाश्रमादयः=शरीर में जाति, आश्रम, उमर आदिक, मायया परिकल्पिताः=माया से आरोपित है, बोधरूपस्य आत्मनः न=ज्ञानस्वरूप आत्मा के वे सब नहीं है, इति एवं तस्य विनिश्चयः=इस प्रकार तत्त्ववेत्ता का दृढ़ निश्चय है ॥१०१

तत्त्व का निश्चय बेशक रहे, तथापि शास्त्र तो तत्त्ववेत्ता के लिये कर्तव्य का प्रतिपादन करता है, ऐसी आशंका का समाधान करते हैं कि शास्त्र भी तत्त्ववेत्ता के लिये कर्तव्य के अभाव का बोधन करता है, कर्तव्य का नहीं—

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ।

हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥१०२॥

हृदयेनास्तसर्वास्थः मुक्त एव=जिसने बुद्धि द्वारा संपूर्ण आसक्तियों को त्याग दिया है, और, उत्तमाशयः=इसलिये निर्मल ज्ञानवान् जो तत्त्ववेत्ता है, **समाधिम् अथ कर्माणि मा करोतु**=वह समाधि को अथवा कर्मों को मत करे, **वा करोतु**=अथवा करे, (यह तो उनकी इच्छापर है, उनपर कोई विधि निषेध नहीं) ॥१०२॥

विद्वान् के लिये कोई भी कर्म बाकी नहीं, इस विषय में दूसरे शास्त्र वचनों का उदाहरण देते हैं—

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधान जप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥१०३॥

यस्य मनः निर्वासनं=जिसका मन वासना रहित हो गया है, तस्य नैष्कर्म्येण अर्थः न=उसके लिये कर्म त्याग से (कर्मराहित्य से) कोई प्रयोजन नहीं, कर्मभिः तस्य=कर्मों से भी उस तत्त्ववेत्ता के लिये, अर्थः न अस्ति=कोई प्रयोजन नहीं है, समाधान जप्याभ्यां =और समाधि तथा जप से भी, न=उनका कोई प्रयोजन नहीं ॥१०३॥

वासना की निवृत्ति के लिये विद्वानों के प्रति भी ध्यान शास्त्र-विहित कर्तव्य होना चाहिये, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्यक् ज्ञानवान् की वासना होती नहीं, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं –

आत्मासङ्गस्ततोऽन्यत्स्यादिन्द्रजालं हि मायिकम् ।
इत्यचञ्चलनिर्णिते कुतो मनसि वासना ॥१०४॥

आत्मा असङ्गः=अपना स्वरूप कूटस्थचैतन्य असङ्ग है, ततः अन्यत्=आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण जगत्, हि मायिकम्=जिसकारण से मायिक है इसलिये, इन्द्रजालं स्यात्=मायावी के कार्य के समान मिथ्या है, इति अचञ्चल निर्णिते=इस प्रकार दृढ़ निश्चय होने पर, मनसि वासना कुतः=मन में वासना किसी भी कारण से नहीं हो सकती ॥१०४॥

ऐसा होने पर भी प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

एवं नास्ति प्रसङ्गोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसञ्जनम् ।
प्रसङ्गो यस्य तस्यैव शङ्क्यतातिप्रसञ्जनम् ॥१०५॥

एवं=इस प्रकार तत्त्ववेत्ता को, प्रसङ्गः अपि न अस्ति=विधि निषेध की प्राप्तिरूप प्रसंग भी नहीं है तो, अस्य अति प्रसञ्जनम् कुतः=तत्त्व वेत्ता के लिये विधि निषेध का उल्लंघन कहां से होगा

क्योंकि, यस्य प्रसङ्गः=जिस अज्ञानी के लिये विधि निषेध लागू है, तस्य एव अति प्रसञ्जनम्=उसी के लिये ही विधि निषेध के उल्लंघन की, शङ्क्यते=शंका हो सकती है ॥१०५॥

पूर्व उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं और दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं (घटाकर दिखाते हैं) —

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसञ्जनम् ।
स्यात्कुतोऽतिप्रसङ्गोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥१०६॥

विध्यभावात् बालस्य=विधि के अभाव होने से बालक के लिये, अतिप्रसञ्जनम्=विधि निषेध का उल्लंघन भी, न दृश्यते=नहीं देखने में आता है, उसी प्रकार, विध्यभावे समे सति=विधि का अभाव समान होने पर, अस्य अति प्रसङ्गः=इस तत्त्ववेत्ता के लिये विधि आदि का उल्लंघन, कुतः स्यात्=कहाँ से होगा, अर्थात् नहीं होगा ॥१०६॥

बालक के लिये कोई विधि नहीं है, इस में प्रयोजक कारण बालक की अज्ञता है, विद्वान् में वह अज्ञता नहीं है, इसलिये विद्वान् को विधि का प्रसंग क्यों नहीं प्राप्त होगा, ऐसी शंका होने पर उसका उत्तर कहते हैं कि विद्वान् को यद्यपि अज्ञता नहीं है, तथापि विधि के लागु न होने में, अर्थात् अभाव के प्रति सर्वज्ञता कारण है, इस वार्ता को कहते हुए विधि के अधिकारी का निर्णय करते हैं —

न किञ्चिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ।
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥१०७॥

बालः किञ्चित्=नादान बच्चा कुछ भी, न वेत्ति=नहीं जानता है, (इसलिये उसको विधि आदि प्राप्त नहीं), चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, तत्त्ववित् सर्वं वेत्ति एव=तत्त्ववेत्ता सब कुछ जानता है अर्थात् सर्वज्ञ है, (इसलिये उसको भी विधि आदि प्राप्त नहीं होगा), अल्पज्ञस्य एव सर्वे विधयः स्युः=अल्पज्ञ के लिये ही संपूर्ण विधि निषेध है, न अन्ययोः द्वयोः=अल्पज्ञ से भिन्न, अज्ञ और सर्वज्ञ इन दोनों को विधि निषेध प्राप्त नहीं ॥१०७॥

व्यास आदि की न्याई शाप और अनुग्रह की शक्ति जिसकी है, वही तत्त्ववेत्ता है, और शाप, अनुग्रह की सामर्थ्य जिसके अन्दर नहीं है, वह तत्त्ववेत्ता नहीं, ऐसी आशंका को उठाकर उसका परिहार करते हैं—

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्ववित्तदि ।
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥१०८॥

यस्य शापानुग्रहसामर्थ्यम्=जिस मनुष्य को व्यास आदि की न्याई शाप और वरदान का सामर्थ्य प्राप्त है, **असौ तत्त्ववित्**=वही तत्त्ववेत्ता है, **यदि तत् न**=अगर ऐसा कहते हो तो, सो नहीं बन सकता,**यतः शापादि सामर्थ्यम्**=क्योंकि शाप और वरदान की शक्ति, **तपसः फलं स्यात्**=तप का अर्थात् तप से प्राप्त सिद्धि का फल है, ज्ञान का नहीं ॥१०८॥

व्यासादिक तत्त्ववेत्ताओं की शापादिशक्ति देखने में आती है, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं कि व्यासादि में शापादिसामर्थ्य तत्त्वज्ञान का फल नहीं, किन्तु तप का फल है, और दूसरे अर्ध श्लोक से तप के द्वारा ब्रह्म को जानना चाहिये, इस श्रुति वाक्य का तप से रहित पुरुष को तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, ऐसी आशंका का परिहार करते हैं—

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ।
शापादि कारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥१०९॥

व्यासादेः अपि तपसः बलात्=व्यासादिक तत्त्ववेत्ताओं का भी तप के बल से ही, **सामर्थ्यं दृश्यते**=वर शापादि देने का सामर्थ्य देखने में आता है तो, **शापादि कारणात्**=शापादि के साधन तप से, **अन्यत् तपः**=दूसरा विचारादिरूप तप, **ज्ञानस्य कारणम्**=ज्ञान का साधन है ॥ अतः—

'तप से ब्रह्म को जानो' इस श्रुति वाक्य का अर्थ विचाररूप तप ही है, और शापादि का कारण जो तप है, वह इस विचाररूप तप से अलग ही है, एक ही तप तत्त्वज्ञान और शापादि सामर्थ्य का

कारण नहीं- इस लिये साधन के अनुसार तत्त्ववेत्ता में शापादि सामर्थ्य होना आवश्यक नहीं ॥१०९॥

तब व्यासादिकों का तत्त्वज्ञान और शापादि दोनों कैसे देखने में आते हैं, इस आशंका का उत्तर कहते हैं कि व्यास आदिकों में उभय प्रकार का तप था, इस लिये दोनों देखे जाते हैं—

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ।

एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥११० ॥

यस्य द्वयं अस्ति=जिस पुरुष को दोनों प्रकार का तप है, (अर्थात् तप और विचार है), **तस्य एव सामर्थ्यज्ञानयोः जनिः**= उसको ही शापवरदान की शक्ति तथा ज्ञान दोनों उत्पन्न होते हैं, **ततः तु एकैकं**=इस कारण से ही एक एक साधन को, **कुर्वन्**= करता हुआ अर्थात् करने वाला, **एकैकं फलम्**=एक एक फल अर्थात् सामर्थ्य अथवा ज्ञानरूप फल, **लभते**=प्राप्त होता है ॥११०॥

जो शापादि सामर्थ्य रहित है, ऐसे तत्त्ववेत्ता के लिये यदि विधि का अभाव मानेंगे तो विहित कर्म का अनुष्ठान करने वालों के द्वारा वह तत्त्ववेत्ता निन्दनीय होगा, ऐसी आशंका करके, उत्तर देते हैं कि विषयलम्पट मनुष्य भी तो विहित कर्मानुष्ठान करने वाले की निन्दा करते हैं, ऐसी निन्दा करने वाले का कोई मूल्य नहीं

सामर्थ्यहीनो निन्द्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः ।

निन्द्यन्ते यतयोऽप्यन्यैरनिशं भोगलम्पटैः ॥ १११ ॥

सामर्थ्यहीनः विधिवर्जितः=शाप वरदानादिक शक्ति रहित ज्ञानी विधि रहित होने पर, **यतिभिः निन्द्यः चेत्**=संयमशील संन्यासी के द्वारा निन्दनीय होगा ऐसी आशंका हो तो, **अथवा विधिवर्जितः**=शास्त्र विधि से हीन ज्ञानवान्, **सामर्थ्यहीनः**=शाप वरदानादिक शक्ति रहित होने पर, **यतिभिः**=विधि के अनुसार

चलने वाले यति के द्वारा, निन्द्यः चेत्=निन्दनीय होगा यदि ऐसा कहते हो तो, यतयः अपि=विधि पालन करने वाले यति लोगों की भी, अन्यैर्भोगलम्पटैः=दूसरे विषयलंपट अर्थात् विषयासक्त मनुष्य, अनिशं निन्द्यन्ते=सर्वदा निन्दा करते हैं ॥१११॥

विरक्त यति लोग भी भोग तुष्टि के लिये विषयों का संपादन करेंगे ऐसी आशंका के उत्तर में, विषय संपादन करने पर उनका यतिपना ही नष्ट हो जायेगा, इस अभिप्राय से उपहास करते हैं—

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ।
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमन्थरम् ॥११२॥

एते भोग तुष्टये=ये यति लोग (विषयासक्त यति लोग) भोग जन्य तृप्ति के लिये, भिक्षावस्त्रादि=भिक्षान्न वस्त्रादि की, यदि रक्षेयुः=अगर रक्षा अर्थात् संग्रह करेंगे तो (सिद्धान्ती उपहास करते है कि), अहो एतेषां=अहो ऐसे मनुष्यों का (अर्थात् संग्रहित-विषयासक्त यतियों का), वैराग्यभरमन्थरम्=वैराग्य के भार से मन्द गति वाला, यतित्वम्=यतिपना बहुत उत्तम हैं ॥११२॥

विषयासक्त पामर पुरुष के द्वारा की हुई निन्दा से शास्त्र विहित कर्म परायण शिष्ट पुरुषों की कोई हानि नहीं होती, यदि इस प्रकार पूर्वपक्षी कहे तो, शरीर अभिमानी कर्मी पुरुषों के द्वारा की हुई निन्दा से भी तत्त्वज्ञानियों की कुछ भी हानि नहीं, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

वर्णाश्रमपरान् मूढ़ा निन्दन्त्वित्युच्यते यदि ।
देहात्ममतयो बुद्धं निन्दन्त्वाश्रममानिनः ॥११३॥

मूढ़ाः=मूढ़ पामर पुरुष, वर्णाश्रमपरान्=वर्णाश्रम परायण मनुष्यों की, (अर्थात् अपने अपने जाति तथा आश्रम योग्य क्रिया परायण मनुष्यों की), निन्दन्तु=बेशक निन्दा करें (उस क्रिया परायण मनुष्यों की कोई हानि नहीं, कोई पामरों के द्वारा की हुई निन्दा का भी मूल्य नहीं होता), यदि इति उच्यते=अगर इस प्रकार कहते हो तो, देहात्ममतयः=शरीर में आत्म-

वुद्धि करने वाले वर्णाश्रम के अभिमानी मनुष्य, बुद्धं निन्दन्तु= तत्त्ववेत्ता की वेशक निन्दा करें (उससे तत्त्ववेत्ता की कोई हानि नहीं हो सकती) ॥११३॥

प्रसंग से प्राप्त आई हुई वार्ता की परिसमाप्ति करके अब प्रकरण से प्राप्त विषय का अनुसरण करते हैं—

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ।
ज्ञानिनाचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ॥११४॥

तत्=(इस कारण से) इसलिये, इत्थं तत्त्वविज्ञाने=उक्त प्रकार से तत्त्व साक्षात्कार होने पर, साधनानुपमर्दनात्=लोकव्यवहार के साधन मन आदि की स्वरूप से हानि न होने से, ज्ञानिना= तत्त्वज्ञानी, राज्यादि लौकिकम्=राज्य परिपालन आदि लौकिक कर्म, सम्यक्=अच्छी प्रकार (तरह), आचरितुं शक्यं=अनुष्ठान कर सकते हैं ॥११४॥

तत्त्ववेत्ता की लौकिक व्यवहार में इच्छा ही नहीं उत्पन्न होगी, क्योंकि उन्होंने ससार को मिथ्यारूप से निश्चय किया, यदि ऐसी आशंका हो तो तत्त्वज्ञानी का अपने प्रारब्ध अनुसार प्रवृत्ति होती रहेगी ऐसा उत्तर कहते हैं—

मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि मास्तु तत् ।
ध्यायन् वाथ व्यवहरन् यथारब्धं वसत्वयम् ॥११५॥

मिथ्यात्वबुद्धया=मिथ्यापने के ज्ञान से (अर्थात् संसार मिथ्या है ऐसा निश्चय होने के कारण) ज्ञानवान् की, तत्र इच्छा न अस्ति= संसार में इच्छा नहीं होती है, चेत् तर्हि=यदि ऐसा कहो तब तो, तत् मा अस्तु=वह इच्छा मत होवे परन्तु, अयं यथारब्धं=ये तत्त्ववेत्ता प्रारब्ध कर्म के अनुसार, ध्यायन् वा=ध्यान करता हुआ अथवा, अथ व्यवहरन् वसतु=लोक व्यवहार करता हुआ स्थित होवे ॥११५॥

उपासक की तत्त्ववेत्ता से विषमता का साधकयुक्ति सहित दिखाते हैं—

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः ।
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥११६॥

उपासकः तु सततं=और उपासक तो सर्वदा, **ध्यायंन् एव वसेत्**=ध्यान करता हुआ ही स्थित होवे, **यतः तस्य ब्रह्मत्वं**=क्योंकि उपासक की ब्रह्मस्वरूपता, **ध्यानेन एव कृतं**=ध्यान से ही संपादित की हुई है (बनाई हुई है, पारमार्थिक नहीं), **विष्णुतादिवत्**=जैसे ध्यान के द्वारा संपादित विष्णुता आदि उपासक में पारमार्थिक नहीं होती ॥११६॥

ध्यान से संपादित ब्रह्मरूपता पारमार्थिक नहीं हो सकती क्योंकि ध्यान के अभाव हो जाने पर ब्रह्मरूपता का भी अभाव देखने में आता है, जैसे शास्त्र में वाग्धेनुत्वादि का अभाव देखने में आया, इसका कथन अगले श्लोक से करते हैं—

ध्यानोपादानकं यत्तद् ध्यानाभावे विलीयते ।
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥११७॥

यत्=जो वस्तु (ब्रह्मता विष्णुता आदि), **ध्यानोपादानकं**=ध्यानरूप उपादान कारण से बनाली जाती है, **तत् ध्यानाभावे**=वह वस्तु ध्यान का अभाव होने पर, **विलीयते**=नष्ट हो जाती है (अर्थात् नहीं रहती), **वास्तवी ब्रह्मता**=पारमार्थिक ब्रह्मरूपता (अर्थात् प्रमाण के द्वारा निश्चित अपनी ब्रह्मरूपता), **ज्ञानाभावे न एव**=ज्ञान के न रहने पर भी नहीं, **विलीयते**=नष्ट होती ॥११७॥

ब्रह्मरूपता वास्तव होने के कारण ही ज्ञान से जन्य नहीं, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ।
ज्ञापकाभावमात्रेण न ही सत्यं विलीयते ॥११८॥

अदः नित्यं=जिस कारण से वह ब्रह्मत्व नित्य है, **ततः ज्ञानं**=इसलिये (ब्रह्मरूपता पारमार्थिक है),ब्रह्मरूपता वास्तव अर्थात् नित्य होने से तत्त्वज्ञान, **अभिज्ञापकं**=उस ब्रह्मत्व का बोधक मात्र ही है,

न जनयति=ब्रह्मत्व को उत्पन्न नहीं करता अर्थात् ब्रह्मत्व का जनक ज्ञान नहीं हो सकता, **ज्ञापकाभावमात्रेण**=बोधक ज्ञान के नाशरूप अभाव मात्र से, **सत्यं न ही विलीयते**=नित्य वस्तु ब्रह्मत्व नष्ट नहीं होता ॥११८॥

ज्ञानी की न्याईं उपासक का भी ब्रह्मत्व वास्तव ही है, ऐसी आशंका अर्ध श्लोक से करके उसका उत्तर द्वितीयार्ध से कहते हैं—

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ।
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥११९॥

उपासकस्य अपि वास्तवी ब्रह्मता=उपासक की भी परमार्थिक नित्य ब्रह्मरूपता, **अस्ति एव**=स्वभावतः प्राप्त ही है (इसलिये ज्ञानवान् से उपासक का क्या भेद है), **इति चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो. **पामराणां च तिरश्चां**=पामर पुरुषों को और तिर्यग् योनि वालों का, **वास्तवी ब्रह्मता किम् न**=नित्य ब्रह्मरूपता क्या स्वभावतः प्राप्त नहीं है ? ॥११९॥

पामरादि कों का ब्रह्मत्व वस्तुतः विद्यमान है भी तथापि वह ब्रह्मत्व अज्ञात होने के कारण परम पुरुषार्थ के उपयोगी नहीं, यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उपासकों के लिये भी वह वास्तव ब्रह्मरूपता अज्ञात होने से पुरुषार्थ में उपयोगी नहीं हैं, इस प्रकार पामरादि और उपासकों के लिये समानता को दिखाते हुए, ऐसी दशा में उपासना का विधान किस प्रयोजन के लिये, अर्थात् निष्प्रयोजन है, इस आशंका का उत्तर कहते हैं कि दूसरे अनुष्ठानों की अपेक्षा उपासना श्रेष्ठ है, इस तात्पर्य से अनुष्ठान का विधान किया गया, इस अर्थ को दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं—

अज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत् समम् ।
उपवासाद् यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः ॥१२०॥

अज्ञानात्=ब्रह्म के अज्ञान से, **अपुमर्थत्वम्**=पुरुषार्थ उपयोगी अज्ञात ब्रह्मतत्त्व नहीं है, (ऐसी आशंका यदि हो तो उत्तर यह है), **तत्**=अज्ञात होने से पुरुषार्थ अनुपयोगिता, **उभयत्रापि समम्**=दोनों

में ही समान है, अर्थात् उपासक के लिये भी समान ही है, **यथा उपवासात् भिक्षावरं**= जैसे उपवास की अपेक्षा भिक्षा श्रेष्ठ है, **तथा अन्यतः**==उसी प्रकार अन्य अनुष्ठान की अपेक्षा, **ध्यानं**=ध्यान श्रेष्ठ है, इसलिये उपासना का विधान किया ॥१२०॥

उपासना अन्य उपायों के अनुष्ठान से श्रेष्ठ है, इसी को अगले श्लोक से दिखाते हैं—

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ।
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥१२१॥

पामराणां व्यवहृतेः=पामरों के यथेच्छ व्यवहार की अपेक्षा, **कर्माद्यनुष्ठितिः वरं**=कर्मादि का अनुष्ठान श्रेष्ठ है, **ततः अपि सगुणोपास्तिः**=कर्मादि के अनुष्ठान से भी सगुण ब्रह्म की उपासना श्रेष्ठ है, **ततः**=तिस सगुण ब्रह्म की उपासना से भी, **निर्गुणोपासना**=निर्गुण ब्रह्म की उपासना अधिक श्रेष्ठ है ॥१२१॥

पर पर साधन श्रेष्ठ है, इसमें कारण बताते हुए निर्गुण उपासना सर्वोत्तम है, इसमें कारण कहते हैं—

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावत् श्रैष्ठ्यं विवर्धते ।
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥१२२॥

यावद्विज्ञानसामीप्यं=जितनी जितनी तत्त्वज्ञान की समीपता होगी, **तावत् श्रैष्ठ्यं विवर्धते**=उतनी ही उतनी श्रेष्ठता अधिक अधिक बढ़ती है, **निर्गुणोपासनं शनैः**=निर्गुण ब्रह्म की उपासना धीरे धीरे परिपक्व हो कर, **साक्षात्**=साक्षात् ही (व्यवधान के बिना ही), **ब्रह्मज्ञानायते**=ब्रह्मज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है (इसी कारण से निर्गुण ब्रह्म उपासना सर्व श्रेष्ठ कही गई है) ॥१२२॥

पूर्वोक्त अर्थ को दृष्टान्त प्रदर्शन पूर्वक दृढ़ करते हैं—

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले प्रमायते ।
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेऽतिपाकतः ॥१२३॥

यथा संवादिविभ्रान्तिः फलकाले=जैसे संवादिभ्रम फल की

प्राप्ति के समय, **प्रमायते** =यथार्थ ज्ञान के रूप में परिणत हो जाता है, तथा **उपास्तिः**=उसी प्रकार निर्गुण उपासना भी, **अति पाकतः मुक्ति काले**=परिपाक के कारण मुक्ति के समय में, **विद्यायते**=ज्ञान-रूप से परिणत हो जाती है ॥१२३॥

संवादी भ्रम स्वयं तो प्रमारूप है नहीं, किन्तु संवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध से प्रमारूप यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसी आशंका करके उत्तर देते हैं कि निर्गुण उपासना भी निदिध्यासनरूप बन कर महावाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञान में कारण बनती है--

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ।

प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मान्तरे कारणायताम् ॥१२४॥

संवादि भ्रमतः प्रवृत्तस्य पुंसः=संवादी भ्रम से प्रवृत्त हुए पुरुष को, **अन्य मानतः प्रमा**=दूसरे प्रमाण से यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होता है, **इति चेत्**=इस प्रकार यदि कहते हो तो, **तथा उपास्तिः**=उसी प्रकार निर्गुण उपासना भी निदिध्यासनरूप होकर, **मान्तरे**=महावाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञान में, **कारणायताम्**=कारण बन जायेगी (जाती है) ॥१२४॥

निर्गुण उपासना की न्याई विष्णु आदि मूर्ति का ध्यान तथा मन्त्रादि का जाप भी चित्त की एकाग्रता उत्पादन द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का साधन होना चाहिये, ऐसी आकांक्षा की संमति देकर शान्त करते है, और निर्गुण उपासना की विलक्षणता को कथन करते हैं—

मूर्तिध्यानस्य मन्त्रादेरपि कारणता यदि ।

अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥१२५॥

मूर्तिध्यानस्य=देवता की मूर्ति का ध्यान, **मन्त्रादेः अपि**=तथा मन्त्रादि जाप आदि भी, **कारणता**=चित्त की ऐकाग्रता द्वारा ज्ञान में कारण है, यदि **अस्तु नाम**=अगर ऐसा कहते हो तो बेशक कारण होवे, **तथापि अत्र**=फिर भी निर्गुण उपासना में,

प्रत्यासत्तिः विशिष्यते=ज्ञान के प्रति समीपता ही श्रेष्ठता है ॥१२५॥

अब प्रत्यासत्ति का प्रकार अगले श्लोक से कहते हैं—

निर्गुणोपासनं पक्वं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ।
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥१२६॥

निर्गुणोपासनं पक्वं=निर्गुण ब्रह्म की उपासना जब परिपक्व होती है तब, शनैः समाधिः स्यात्=धीरे-धीरे सविकल्प समाधि होती है, ततः यः निरोधाख्यः=सविकल्प समाधि से जो निरोध नाम की, समाधिः=निर्विकल्प समाधि योगशास्त्र में कही हुई है, सः अनायासेन लभ्यते=वह समाधि सुख से प्राप्त होती है ॥१२६॥

निर्विकल्प समाधि के लाभ से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, ऐसी आकांक्षा का उत्तर कहते हैं—

निरोधलाभे पुंसोऽन्तरसङ्गं वस्तु शिष्यते ।
पुनः पुनर्वासितेऽस्मिन् वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥१२७॥

निरोधलाभे पुंसः अन्तः=निरोध समाधि प्राप्त होने पर पुरुष के भीतर, असङ्गं वस्तु शिष्यते=असंग चैतन्यरूप वस्तु अर्थात् ब्रह्म अवशिष्ट रहता है, अस्मिन् वाक्यात्=उस असङ्ग वस्तु की तत्त्वमसि आदि महावाक्य से, पुनः पुनः वासिते=बार बार भावना करने पर, तत्त्वधीः जायेत=अहं ब्रह्मास्मि, इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार उत्पन्न होता है ॥१२७॥

तत्त्वज्ञान के स्वरूप का अब विस्तार से वर्णन अगले श्लोक से करते हैं—

निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः ।
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहन्त्यविवादतः ॥१२८॥

निर्विकारासङ्गनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः= निर्विकारता असङ्गता नित्यता स्वप्रकाशता एकता और पूर्णता, शास्त्रोक्ताः=जो शास्त्र में कही गई हैं वे सब, बुद्धौ अविवादतः झटिति आरोहन्ति= बुद्धि में निर्विरोध रूप से अति शीघ्र आरूढ हो जाती है ॥१२८॥

निर्विकल्पक समाधि से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, इस विषय में अमृतविन्दु आदि श्रुतिवाक्य ही प्रमाण है, इस वार्ता को कहते हैं—

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिन्द्वादिषु श्रुतः ।
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥१२९॥

एतदर्थः तु=इस प्रयोजन के लिये (निर्विकल्प समाधि द्वारा अपरोक्ष आत्मज्ञान की प्राप्तिरूप प्रयोजन के लिये ही), योगाभ्यासः=योग का अर्थात् समाधि का अभ्यास, अमृतबिन्द्वादिषु=अमृतविन्दु आदि उपनिषदों में, श्रुतः=सुना गया अर्थात् कहा गया, एवं च=इस प्रकार (निर्गुण उपासना अपरोक्ष ज्ञान के अत्यन्त समीप हो सकती है, ऐसा मान लेने पर), दृष्टद्वारा अपि=निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति द्वारा तथा अदृष्ट द्वारा भी, हेतुत्वात्=ज्ञान का साधन होने से, अन्यतः वरम्=सगुण उपासना आदि अन्य साधनों से निर्गुण उपासना श्रेष्ठ है ॥१२९॥

पूर्वोक्त प्रकार से निर्गुण उपासना अपरोक्ष ज्ञान का साधन है, यह सिद्ध होने पर, उस उपासना का परित्याग करके अन्य साधनों में प्रवृत्त मनुष्यों का वृथा श्रम होता है, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ।
पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥१३०॥

तत् उपेक्ष्य=ऐसे निर्गुण उपासना का परित्याग कर के, तीर्थयात्राजपादीन् एव=तीर्थ यात्रा मन्त्र जप पूजा पाठ आदि अवान्तर साधनों को ही, कुर्वताम्=करने वाले के लिये, पिण्डं समुत्सृज्य करं लेढि=पिण्ड (लड्डु) को फेंक कर हाथ के तलवे को चाटता है, इति न्यायः=यह लौकिक न्याय अर्थात् दृष्टान्त, आपतेत्=प्राप्त होगा। अर्थात् उपासना को छोड़ कर अन्य साधनों में श्रम करना व्यर्थ है ॥१३०॥

आत्मतत्त्व का विचार को छोड़ कर निर्गुण उपासना करने

वाले के लिये भी पूर्व श्लोक में उक्त यह न्याय समान ही प्राप्त होगा, ऐसी आशंका होने पर उस का अंगीकार करते हैं —

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ।
बाढं तस्माद्विचारस्यासम्भवे योग ईरितः ॥१३१॥

विचार त्यागतः=आत्मतत्त्व का विचार परित्याग करने से, **उपासकानाम् अपि**=निर्गुण उपासना करने वाले के लिये भी, **एवं**=पूर्व उक्त न्याय प्राप्त होगा, **यदि**=अगर ऐसा कहते हो तो, **बाढ़ं**=तुमने ठीक कहा, हम को भी अङ्गीकार है, **तस्मात्**=(जिस कारण से उक्त न्याय प्राप्त होता है) तिस कारण से ही, **विचारस्यासंभवे**=आत्मतत्त्व विचार संभव न होने पर, **योगः ईरितः**=उपासना करने के लिये कही गई है ॥१३१॥

विचार संभव न होने में हेतु बताते हैं —

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ।
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥१३२॥

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्=अधिकव्याकुल चित्त वालों को विचार से, **तत्त्व धीः न हि**=आत्मतत्त्व साक्षात्कार नहीं प्राप्त हो सकता, **ततः**=इस लिये (तत्वज्ञान के योग्य [जनक] विचार संभव न होने से), **तेषां**=व्याकुल चित्त वालों के लिये, **योगः मुख्यः**=उपासना प्रधान साधन है, **तेन**=क्योंकि उस योगरूप उपासना से, **धीदर्पः नश्यति**=बुद्धि का दर्प अर्थात् विक्षेप नष्ट हो जाता है ॥१३२॥

इस प्रकार बहु व्याकुल चित्त वाले मनुष्यों के लिये निर्गुण उपासना मुख्य साधन है, यह कहा गया, अब जिनका चित्त व्याकुल नहीं है, उनके लिये विचार ही मुख्य साधन है, इस वार्ता को कहते हैं —

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ।
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥१३३॥

अव्याकुलधियां=जिन का चित्त विक्षिप्त नहीं (जिनका चित्त शुद्ध तथा एकाग्र है), **मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम्**=और केवल अविवेक से जिनका स्वरूप आवृत है (अर्थात् केवल अज्ञान आवरणदोष वाले अधिकारी के लिये), **सांख्यनामा**=सांख्य नाम वाला (अर्थात सांख्य शब्द का अर्थ तत्वविचार ही मुख्य है), **विचारः मुख्यः स्यात्**=आत्मविचार ही प्रधान साधन है क्योंकि, **झटिति**=अति शीघ्र वह विचार, **सिद्धिदः**=तत्त्वसाक्षात्काररूप सिद्धि को देने वाला है ॥१३३॥

उपासना रूप योग तथा सांख्य नाम तत्त्वबिचार दोनों ही तत्त्वज्ञान द्वारा मुक्ति का साधन है, इस विषय में गीतावाक्य प्रमाण-रूप से कथन करते हैं -

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥१३४॥

यत् स्थानं=जो पद (तत्त्वज्ञान द्वारा मोक्ष पद), **सांख्यैः प्राप्यते**=आत्मविचाररूप उपाय से प्राप्त होता है, **तत्**=वही पद (तत्त्वज्ञान द्वारा), **योगैः अपि गम्यते**=उपासनाओं से भी प्राप्त होता है, **यः सांख्यं**=जो बुद्धिमान् मनुष्य आत्मविचार, **च योगंच**=तथा उपासना को भी, **एकं पश्यति सः**=फलतः (फल की दृष्टि से) एक अर्थतः अभिन्न देखता है वही, **पश्यति**=शास्त्र के अर्थ को यथार्थरूप से देखता है अर्थात् जानता हैं ॥१३४॥

केवल गीतावाक्य ही प्रमाण नहीं, किन्तु गीतावाक्य का मूल भी श्रुति प्रमाण ही हैं-इस बात को अर्ध श्लोक से कहते हुए सांख्य और योग दोनों ही तत्त्वज्ञान द्वारा मुक्ति का साधन है, ऐसा अंगीकार करने पर, सांख्य और योगशास्त्र में प्रतिपादन किये हुए तत्त्वों को भी अंगीकार करना हागा, इस आशंका का समाधान भी श्लोक के उत्तरार्ध से कहते हैं—

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः ।
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥१३५॥

तत्कारणं=उस मुक्ति का कारण तत्त्वज्ञान (अथवा संपूर्ण जगत् का कारण परमात्मा परब्रह्म), सांख्ययोगाधिगम्यं=आत्मविचार और उपासना से प्राप्त होने योग्य है, इति हि श्रुतिः=इस प्रकार का श्रुतिवचन, पूर्वोक्त गीतावचन का मूल है, यः तु श्रुतेः विरुद्धः=और जो तो श्रुति से प्रतिकूल है, सः सांख्ययोगयोः=वह विचार और उपासना का, आभासः=आभास है अर्थात् युक्ति से बाधित है, अर्थात् श्रुति विरुद्ध अर्थ अंगीकार करने योग्य नहीं हैं ॥१३५॥

उपासना करने वालों को तत्त्वज्ञान से पहले मरण हो जाये तो मुक्ति नहीं प्राप्त होगी, ऐसी आशंका का परिहार करते हैं--

उपासनं नापि पक्वमिह यस्य परत्र सः ।
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥१३६॥

यस्य उपासनं इह पक्वं न अपि=जिस की उपासना इसी शरीर में परिपक्व नहीं हुई है,सः मरणे परत्र=वह मृत्यु प्राप्त होने पर जन्मान्तर में, ब्रह्मलोके वा=अथवा ब्रह्मलोक में जाकर, तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते=तत्त्व का साक्षात्कार करके मुक्त हो जाता है ॥१३६॥

मरण काल में उत्पन्न ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है, इस में प्रमाण कहते हैं--

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥१३७॥

यं यं वा अपि स्मरन् भावं=जिस जिस पदार्थ का स्मरण करता हुआ, अन्ते कलेवरम् त्यजति=अन्तकाल में शरीर को (उपासक) त्यागता है, तं तम् एव=उस उस पदार्थ को (आत्मा अथवा अनात्मा को), एति=वह प्राप्त करता है, इस गीतावाक्य से तथा, यत् चित्तः=जैसा संकल्प होता है (मरणकाल में जिस विषय की भावना वाला मनुष्य होगा), तेन याति=उसी से वैसा पदार्थ को प्राप्त करता है, इति शास्त्रतः=इस श्रुति वचनरूप शास्त्र से भी मरणकाल में ज्ञान होने पर मुक्ति हो सकता है, यह बात जानी जाती हैं.॥१३७॥

कहे हुए श्रुति स्मृति वाक्यों से अन्त्य भावना के अनुसार भावी जन्म का कथन किया है, ज्ञान से मुक्ति का कथन नहीं किया है ऐसी आशंका का अक्षरतः भावी जन्म का कथन अंगीकाररूप उत्तर करते हुए, यदि भावी जन्म का कथन अंगीकार करते हो तो मरण-काल में ज्ञान के द्वारा मोक्ष होता है, इस विषय में उक्त दोनों श्रुति स्मृति वाक्य प्रमाणरूप से कहे गये इस आशंका का भी उत्तर कहते हैं —

अन्त्यप्रत्ययतो नूनं भाविजन्म तथा सति ।
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात् सगुणोपासने यथा ॥१३८॥

अन्त्य प्रत्ययतो नूनं=अन्तिम भावना से निश्चय करके, भाविजन्म=भविष्य जन्म प्राप्त होता है, तथा सति=अन्त काल की भावना से भविष्य जन्म का निश्चय होता है, ऐसा मानने पर, सगुणोपासने=सगुण उपासना करने पर, यथा=जैसे मरणकाल में पूर्वाभ्यास वश सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार उत्पन्न होता है,उसी प्रकार, निर्गुण प्रत्ययः=निर्गुण ब्रह्म के उपासक को निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार, अपि स्यात्=भी प्राप्त होता है ॥१३८॥

पूर्वोक्त नियमानुसार निर्गुणप्रत्यय से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति ही होगी, मुक्ति प्राप्त नहीं होगी, ऐसी आशंका का उत्तर कहते है कि, ब्रह्म प्राप्ति और मुक्ति इन दोनों का शब्द मात्र से ही भेद है, अर्थ दोनों का एक ही है, अर्थ में भेद नहीं—

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ।
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥१३९॥

तत् नित्यनिर्गुणरूपं=वह ब्रह्म नित्य निर्गुण स्वरूप है, इस प्रकार, नाम मात्रेण गीयताम्=केवल नाम मात्र से ही कहते हो, अर्थतः=वास्तव अर्थ के विचार से तो, एषः मोक्ष एव=यह निर्गुण ब्रह्म मोक्ष स्वरूप ही है, मतः=यह विद्वानों को संमत है, क्योंकि शास्त्रों में स्वरूपावस्थिति को ही मुक्तिरूप कथन किया, संवादिभ्रमवत्=जैसे संवादी भ्रम नाम मात्र से ही भ्रम कहा जाता है वास्तव में तो तत्त्वज्ञान ही हैं ॥१३९॥

निर्गुण उपासना मानस क्रियारूप है, उसको मुक्ति का साधन कहना विरुद्ध है, ऐसी आशंका का परिहार करते हैं, उपासना जन्य ज्ञान को मोक्ष का साधन कहा गया है, इसलिये विरोध नहीं—

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ।

अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥१४०॥

अविमुक्तोपासनेन=सगुण ब्रह्म की उपासना के बल से, **तारकब्रह्मबुद्धिवत्**=जैसे तारक ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है, उसी प्रकार, **तत्सामर्थ्यात्**=निर्गुण उपासना के बल से, **मूलाविद्यानिवर्तिका**=मूल अज्ञान को निवृत्त करने वाला, **धीः जायते**=ब्रह्मसाक्षात्कार उत्पन्न होता है ॥१४०॥

निर्गुण उपासना का फल मोक्ष है, इस में प्रमाण कहते हैं—

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिन्द्रियः ।

अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥१४१॥

सः अकामः=वह निर्गुण उपासक कामना रहित, **निष्कामः इति**=अनात्मवासना रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है, इस शास्त्र से तथा, **अशरीरः हि निरिन्द्रियः**=शरीर रहित इन्द्रिय रहित आत्मरूप होकर, **अभयं हि**=अभय पद को प्राप्त करता है, **इति**=इत्यादि वचनों से, **तापनीये**=तापनीय उपनिषद् में निर्गुण उपासना का, **मुक्तत्वं फलं श्रुतं**=मुक्तिरूप फल सुना गया है ॥१४१॥

उपासना से मुक्ति होती है, यदि ऐसा मानते हो तो "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (मोक्ष के लिये तत्त्वज्ञान से अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञान ही एकमात्र उपाय है) इस श्रुतिका विरोध होगा, ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं कि, तत्त्वज्ञान द्वारा उपासना आदि को भी मोक्षप्रद कहने से विरोध नहीं होता—

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योपत्तिर्भवेत्ततः ।

नान्यः पन्था इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥ १४२ ॥

उपासनस्य सामर्थ्यात्=उपासना के बल से, **विद्योत्पत्तिः भवेत्**

=तत्त्वसाक्षात्कार की उत्पत्ति होती है, ततः=तिस कारण से, अन्यः पन्था न=ज्ञान से अतिरिक्त दूसरा उपाय मुक्ति के लिये नहीं है, इति एतद् शास्त्रं हि=इस प्रकार का यह वेदवचनरूप शास्त्र, न एव विरुध्यते=विरुद्ध नहीं पड़ता ॥१४२॥

"मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते"—(श्लोक संख्या १३६), यहां पूर्व अर्थ में श्रुति प्रमाण कहते है—

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ।

ब्रह्मलोकः सकामस्य शैव्य प्रश्ने समीरितः ॥ १४३ ॥

निष्कामोपासनात् मुक्तिः=निष्काम उपासना से मोक्ष होता है यह बात, तापनीये समीरिता=तापनीय उपनिषद् में कही गई है, सकामस्य ब्रह्मलोकः=सकाम उपासक को ब्रह्म लोक की प्राप्ति, शैव्य प्रश्ने=प्रश्नोपनिषद् के शैव्य ऋषि के प्रश्न में (प्रश्न के उत्तर में), समीरितः=कही गई है ॥१४३॥

अब उसी शैव्यप्रश्नरूप उपनिषद् वाक्य को अर्थ से पाठ करते हैं, और ब्रह्मलोक की प्राप्ति के अनन्तर तत्त्वसाक्षात्कार प्राप्त करता है, एतदर्थक श्रुति वाक्य का पाठ भी करते हैं—

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ।

स एतस्माज्जीवघनात् परं पुरुषमीक्षते ॥ १४४ ॥

यः=जो अधिकारी पुरुष, त्रिमात्रेण उपास्ते=तीन मात्राओं के सहित ओंकार की सकाम उपासना करता है, स ब्रह्मलोके नीयते =वह उपासक हिरण्यगर्भलोक में जाता है, सः=ब्रह्मलोक में गया हुआ वह उपासक, एतस्मात् जीवघनात्=इस जीवसमष्टिरूप हिरण्यगर्भ से भी, परं पुरुषम्=परम उत्कृष्ट शुद्ध चैतन्यरूप परमात्मा का, ईक्षते=साक्षात्कार करता है ॥१४४॥

ब्रह्मसूत्रकार भगवान् वेदव्यास जी ने भी अप्रतीक आलंबन अधिकरण में कामना के अनुसार ही फल प्राप्ति होती है, इस प्रकार प्रतिपादन किया, इसलिये भी सकाम उपासक को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः ।
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥ १४५ ॥

अप्रतीकाधिकरणे=अप्रतीक अधिकरण में (अर्थात् ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय तृतीयपाद पन्द्रवाँ सूत्र में), तत्क्रतुन्यायः=कामना के अनुसार फल की प्राप्ति होती है, ईरितः=इस प्रकार प्रतिपादन किया, तस्मात् सकामस्य=इसलिये भी सकाम उपासक को, ब्रह्मलोकफलं=ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप फल होती है, इति वर्णितम्=ऐसा कहा हैं ॥१४५॥

तब सकाम पुरुष के लिये-तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न होगा, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—निर्गुण उपासना के बल से—

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ।
पुनरावर्तते नायं कल्पान्ते च विमुच्यते ॥ १४६ ॥

निर्गुणो पास्ति सामर्थ्यात्=निर्गुण उपासना के बल से, तत्र तत्त्वम् अवेक्षते=ब्रह्मलोक में तत्त्व साक्षात्कार करता है, अयं=यह निर्गुण उपासक (ब्रह्मलोक प्राप्त होकर तत्त्व साक्षात्कार कर लेने पर), पुनः न आवर्तते=फिर से इस संसार में लौटकर नहीं आता; च कल्पान्ते=और कल्प के अन्त में (जब ब्रह्मलोक का नाश होगा तब), विमुच्यते=हिरण्यगर्भ के साथ ही मुक्त हो जायेगा ॥१४६॥

अब प्रणव उपासना के प्रसंगवश बुद्धिस्थ (स्मृत) प्रणव उपासना के दो प्रकारों को दिखाते हैं—

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ।
क्वचित्सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥ १४७

वेदगाः=वेद में कही हुई, प्रणवोपास्तयः=प्रणव अर्थात् ओंकार की उपासनायें, प्रायः निर्गुणाः एव=अधिकतर निर्गुण उपासना ही हैं, क्वचित् प्रणवोपासनस्य=कहीं कहीं पर प्रणव की उपासना, सगुणता अपि उक्ता हि=सगुण भी बतलाई है यह बात प्रसिद्ध है ॥१४७॥

उक्त द्विविध भेद में अर्थात् दो प्रकारों में प्रमाण कहते हैं—

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ।
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥ १४८ ॥

पिप्पलादेन मुनिना पृच्छते=पिप्पलाद नाम के मुनि ने पूछने वाले, सत्यकामाय परापरब्रह्मरूपः=सत्यकाम के प्रति निर्गुण तथा सगुण ब्रह्मरूप,ओंकारः उपवर्णितः=ओंकार का उपदेश किया ।१४८।

कठोपनिषद् में धर्मराज ने भी नचिकेता के प्रति उभय प्रकार की प्रणव उपासना का उपदेश किया है, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥१४९

यमेन अपि=यमराज ने भी कठोपनिषद् में, पृच्छते नचिकेतसे =पूछने वाले नचिकेता के प्रति, एतदालंबनं=इस ओंकाररूप आलंबन को, अर्थात् प्रतीक को, ज्ञात्वा=जानकर अथवा ध्यान करके, यो=जो अधिकारी (निर्गुण अथवा सगुण उपासक), यद् इच्छति= जिस निर्गुण अथवा सगुण ब्रह्म को प्राप्त करना चाहता है, तस्य तत् =उस अधिकारी के लिये वही प्राप्त होता है, इति प्रोक्तं=इस प्रकार के वचन से दो भेद (प्रणव उपासना का) बताया है ॥१४९॥

इह वा मरणे वास्य ब्रह्मलोकेऽथ वा भवेत ।
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासिनस्य निर्गुणम् ॥१५० ॥

निर्गुणम् सम्यक्=निर्गुण ब्रह्म को शास्त्रोक्त प्रकार से, उपासीनस्य अस्य=उपासना करने वाले इस अधिकारी को, इह वा मरणे वा अथवा ब्रह्मलोके=इसी शरीर में, अथवा मरण काल में, अथवा ब्रह्मलोक में जाकर, ब्रह्मसाक्षात्कृतिः भवेत्=ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त होता है ॥१५०॥

विचार से जिसको तत्त्वज्ञान नहीं उत्पन्न हुआ, ऐसे अधिकारी के लिये निर्गुण ब्रह्म ध्यान में अधिकार है, यह अर्थ आत्मगीता में

भली प्रकार से कहा गया है, इस बात को अगले श्लोक से कहते हैं-

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ।

विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥१५१॥

विचाराक्षमः=विचार में असमर्थ अधिकारी, **आत्मानम्**=आत्मा का अर्थात् निर्गुण ब्रह्म का, **संततम् उपासीत**=निरन्तर ध्यान करें, **इति अयम् अर्थः**=इस प्रकार यह अर्थ, **आत्मगीतायाम् अपि**=आत्मगीता में भी, **स्पष्टं उदीरितः**=निःसंशयरूप से कहा गया है ॥१५१॥

अब आत्मगीता के वाक्यों का उदाहरण देते हैं—

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिन्तयेन्मामशङ्कितः ।

कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥१५२॥

साक्षात् कर्तुम्=निर्गुण ब्रह्मरूप मेरा साक्षात्कार करने को, **अशक्तः अपि**=(केवल विचार द्वारा साक्षात्कार करने को) असमर्थ भी अधिकारी, **अशङ्कितः माम् चिन्तयेत्**=संशय रहित होकर निर्गुण ब्रह्मरूप मेरा ध्यान करें, **कालेन अनुभवारूढः**=काल पाकरके साक्षात्कार का विषयरूप, **फलितः ध्रुवम्**=फल वाला निश्चय करके अवश्य ही, **भवेयं**=(मैं) होऊँगा। भावार्थ यह है कि उपासना परिपक्व होने पर भगवत्तत्त्व साक्षात्कार उत्पन्न होता है और इस प्रकार उपासना सफल हो सकती है ॥१५२॥

ध्यान सम्यक् ज्ञान का उपाय है, इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं—

यथाऽगाधनिधेर्लब्धो नोपायः खननं विना ।

मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिन्तां मुक्त्वा न चापरः ।१५३।

यथा अगाधनिधेः लब्धौ=जैसे पृथ्वी में गड़े हुए धन की प्राप्ति में, **खननं विना उपायः न**=खोदने के बिना (सिवाय) दूसरा उपाय नहीं है, **तथा मल्लाभे अपि**=उसी प्रकार मेरी प्राप्ति में भी अर्थात् मेरे साक्षात्कार के प्रति भी, **स्वात्मचिन्तां**=अपने आत्मा अर्थात्

स्वरूप का ध्यान, मुक्त्वा अपरः न च=छोड़कर दूसरा उपाय नहीं हैं ॥१५३॥

व्यतिरेकमुख से कहे हुए अर्थ को अब अन्वयमुख से कहते हैं-

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात् पुनः ।
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥१५४॥

बुद्धिकुद्दालकात्=बुद्धिरूपी कुदाली से, देहोपलम् अपाकृत्य=शरीर रूपी आवरक पत्थर को हटाकर, पुनः मनोभुवं खात्वा=मनोरूपी पृथ्वी को खोदकर, भूयः पुमान्=फिर अधिकारी मनुष्य, मां निधिं गृह्णीयात्=मुझ परमात्मारूप धन को प्राप्त करें ॥१५४॥

ज्ञान में असमर्थ पुरुष का ध्यान में अधिकार है, इस विषय में दूसरा वाक्य भी कहते हैं, और ध्यान से ब्रह्म प्राप्ति में कैमुत्तिक न्याय भी दिखाते हैं

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम् ।
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥१५५॥

अनुभूतेः अभावे अपि=अनुभव के न होने पर भी, ब्रह्मास्मि इत्येव चिन्त्यताम्=मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार ही ध्यान करना चाहिये क्योंकि, ध्यानात् असत् अपि=ध्यान से पूर्व अविद्यमान देवभाव भी, प्राप्यते=उपासक को प्राप्त हो जाता है, किं पुनः नित्यप्राप्तं ब्रह्म=फिर उपासक का स्वरूप होने से नित्य प्राप्त सर्वात्मक ब्रह्म के संबन्ध में तो क्या कहना है ॥१५५॥

ब्रह्मध्यान का फल अनात्मबुद्धि की शिथिलता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं, इसलिये भी ध्यान अवश्य कर्तव्य है, इस अर्थ को अब कहते है—

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने ।
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥१५६॥

दिने दिने ध्यानात् अनात्मबुद्धिशैथिल्यं=प्रतिदिन ध्यान से अनात्मबुद्धि की शिथिलतारूप, फलं पश्यन् अपि=फल को प्रत्यक्ष

देखता हुआ भी, चेत् न ध्यायेत्=यदि ध्यान नहीं करता है तो, अस्मात् अपरः पशुः कः वद=इससे भिन्न दूसरा पशु कौन है, कहो ॥१५६॥

उपपादन किये हुए अर्थ को अब अगले श्लोक से कहते हैं —

देहाभिमानं विध्वंस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ।
पश्यन् मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१५७॥

देहाभिमानं=अनित्य शरीर में अहं अभिमान को, ध्यानात् विध्वंस्य अद्वयम्=ध्यान से परित्याग करके अद्वितीयरूप, आत्मानम् पश्यन्=आत्मा को साक्षात्कार करता हुआ, मर्त्यः अमृतः=मरणशील जीव अमृत स्वरूप, भूत्वा=होकर (मरण रहित होकर) अत्र हि= इसी शरीर में निश्चय करके, ब्रह्म समश्नुते=अपना ही स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म को प्राप्त करता हैं ॥१५७॥

अब ध्यानदीप प्रकरण के विचार का फल कहते हैं —

ध्यानदीपमिमं सम्यक् परामृशति यो नरः ।
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥१५८॥

यो नरः इमम् ध्यानदीपम्=जो अधिकारी मनुष्य इस ध्यानदीप का, सम्यक् परामृशति=अच्छी तरह अनुसन्धान करता हैं, अयं मुक्तसंशयः ब्रह्म एव=वह संशय रहित होकर ब्रह्म का ही, संततं ध्यायति=निरन्तर ध्यान करता है, और ध्यान का फल तत्त्व साक्षात्कार प्राप्त करके मुक्त हो जाता है ॥ इति ॥१५८॥

इति श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री भारतीतीर्थ विद्यारण्य-
मुनि विरचितपञ्चदश्यां ध्यानदीपाख्यनवम प्रकरणस्य
राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य-
श्रीस्वामिस्वतन्त्रानन्दगिरि महाराज कथिताऽन्वय व्याख्या समाप्ता ॥

—:००:—

ॐ

अथ दशमं नाटकदीपप्रकरणम्

—❁—

नत्वा श्री भारती तीर्थं विद्यारण्यमुनीश्वरौ ।
अर्थो नाटकदीपस्य मया संक्षिप्य वक्ष्यते ॥१॥

विघ्ननाश पूर्वक ग्रन्थ की समाप्ति के लिये तत्त्व का स्मरण रूप वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण करते हुये, मन्दाधिकारियों को भी शुद्ध ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञान की प्राप्ति अर्थ आत्मा में अध्यारोप का कथन पहले करते हैं—

परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया ।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥१॥

पूर्वं=सृष्टि से पहले, अद्वयानन्दपूर्णःपरमात्मा=अद्वितीय परमानन्दरूप परिपूर्ण परमात्मा, स्वमायया=अपनी माया शक्ति से,स्वयमेव जगद्भूत्वा=खुद ही संसाररूप बनकर(जगत् के आकार को प्राप्त होकर), जीवरूपतः प्राविशत्=जीव रूप से सब शरीरों में प्रविष्ट हुए ॥१॥

एक ही परमात्मा यदि सर्व शरीरों में प्रविष्ट है,तो कोई पूज्य है, कोई पूजक है, इस प्रकार प्रतीयमान जो उत्तम-अधम भाव है, सो कैसे बनेगा, इस प्रकार की आशंका के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहते हैं—

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥२॥

विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु=विष्णु, ब्रह्मा, रुद्रादि उत्तम शरीरों में,

प्रविष्टः = प्रवेश करते हुए वह परमात्मा, देवता भवेत् = पूज्य देवता अर्थात् उत्तम भाव को प्राप्त होते हैं, मर्त्याद्यधमदेहेषु = और मनुष्य आदि अधम शरीरों में, स्थितः = वर्तमान होकर, मर्त्यताम् भजति = मनुष्यादि अधम भाव को प्राप्त होता है।

टि०-तात्पर्य यह है कि यह उत्तम अधम भाव स्वाभाविक नहीं है, किन्तु शरीरादि उपाधि निमित्तक है, इसलिये एक परमात्मा का भी उत्तम, अधम भाव विरुद्ध नहीं ॥२॥

इस प्रकार आत्मा में संक्षेप से अध्यारोप को पूर्व दो श्लोकों में दिखाकर अब साधन सहित उसका अपवाद संक्षेप से दिखाते हैं—

अनेक जन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥३॥

अनेक जन्मभजनात् = बहु जन्मों में किये हुए कर्मों का ब्रह्म में समर्पणरूप भजन से, स्वविचारं = ब्रह्मरूप अपनी आत्मा के ज्ञान का साधन श्रवणादिरूप विचार, चिकीर्षति = करने की इच्छा करता है, विचारेण = और आत्मा के विचार से अर्थात् विचार जन्य ज्ञान से मायायां = आवरण रूप अविद्या का, विनष्टायां = नाश होने पर, स्वयम् = अद्वय आनन्द परिपूर्ण स्वरूप परमात्मा ही, शिष्यते = अवशिष्ट रहता है ॥३॥

श्रुतियों ने बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष को ही ज्ञान का फल बताया है, इस लिये परमात्मा का अवशेष रहना ज्ञान का फल है इस प्रकार का कथन सिद्धान्ती के लिये अयुक्त है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं —

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ।
बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥४॥

अद्वयानन्दरूपस्य = अद्वितीय परमानन्दरूप परमात्मा का, सद्वयत्वं च = द्वैत सहित होना और, दुःखिता = दुःखी होना (जगत्-रूप द्वैत और दुःख का भ्रम से अपने में समझना ही), बन्धः प्रोक्तः = बन्ध कहा गया है, स्वरूपेण = और अपने स्वरूप से, स्थितिः मुक्तिः

=अवस्थानरूप बन्ध की निवृत्ति ही मुक्ति है, इति ईर्यते=इस प्रकार कहा जाता है।

भाव यह है कि, अद्वितीय ब्रह्म में वास्तव बन्ध और मोक्ष का निरूपण तो हो नहीं सकता, इसलिये मैं दुःखी हूँ इत्यादि भ्रम ही बन्ध है, और ज्ञान के द्वारा उस बन्ध की निवृत्तिरूप स्वस्वरूप से अवस्थिति ही मोक्ष है, इसलिये सिद्धान्ती का कहना अयुक्त नहीं ॥४॥

कर्म के द्वारा ही जनकादियों ने सिद्धि प्राप्त की है-इस गीता स्मृति के अनुसार मोक्ष का साधन कर्म है इस प्रकार ज्ञात होता है, इस लिये विचारजन्य ज्ञान से क्या प्रयोजन है, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं—

अविचारकृतो बन्धो विचारेण निवर्तते।
तस्माज्जीव परात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥५॥

अविचारकृतः बन्धः=जिस कारण से विचार उत्पन्न होने स पहले वर्तमान अज्ञान अर्थात् विचारप्रागभाव सहित अज्ञान का किया हुआ बन्ध अर्थात् संसार है इस लिये वह बन्ध, **विचारेण निवर्तते**=विचार जन्य ज्ञान से ही निवृत्त होता है, विचार जन्य ज्ञान से अतिरिक्त कर्मादि साधन से निवृत्त होता नहीं, **तस्मात्**=इस लिये, **जीवपरात्मानौ**=जीवात्मा और परमात्मा का, **सर्वदा एव विचारयेत्**=सदा ही विचार करना चाहिए जब तक तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता तब तक।

टि०-उदाहृत गीता स्मृति में संसिद्धि शब्द से चित्त शुद्धि कही गई है, मोक्ष नहीं यह भाव है ॥५॥

पूर्व श्लोक में उक्त जीव और परमात्मा दोनों के मध्य में जीव के स्वरूप का निरूपण प्रथम करते हैं—

अहमित्यभिमन्ता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम्।
मनस्तस्य क्रिये अन्तर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥६॥

यः=जो चिदाभास विशिष्ट अहंकार, **अहम् इति अभिमन्ता**=

व्यवहार दशा में देहादियों में मैं हूँ इस प्रकार अभिमान करने वाला है, असौ कर्ता=वह कर्तृत्व धर्म वाला जीव है, तस्य=उस कर्ता नाम जीव का, साधनं मनः=करण मन है (अन्तःकरण की संकल्पादि वृत्तिरूप मन है), तस्य=उस मन की, क्रिये=दो प्रकार की क्रियाऐं हैं, अन्तर्बहि वृत्ती=एक तो अन्तर्मुखी वृत्ति और दूसरी बहिर्मुखी वृत्ति, क्रमोत्थिते=वे क्रम से उत्पन्न होती हैं ॥६॥

अन्तर्मुखी तथा बहिर्मुखी वृत्तियों का स्वरूप तथा विषय को विवेचन पूर्वक दिखाते हैं—

अन्तर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ।
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥७॥

अहम् इति एषा=मैं हूँ इस प्रकार यह, अन्तर्मुखा वृत्तिः=अन्तर्मुखी वृत्ति, कर्तारम् उल्लिखेत्=जीव को विषय करती है, इदम् इति एषा=ये है इस प्रकार यह, बहिर्मुखा=बहिर्मुखी वृत्ति, बाह्यं वस्तु=देह से बाहर विद्यमान घटादि वस्तु को, इदम् उल्लिखेत्=इदंरूप से उल्लेख अर्थात् विषय करती है ॥७॥

मन से ही संपूर्ण व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, फिर चक्षु आदि इन्द्रिय व्यर्थ पड़ेगी ऐसी आशंका के उत्तर में अग्रिम श्लोक कहते हैं—

इदमो ये विशेषाः स्युर्गन्धरूपरसादयः ।
असांकर्येण तान्भिन्द्याद् घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम् ॥८॥

इदमो=इदं के (इदंरूप से सामान्यतया ज्ञायमान पदार्थों के), ये विशेषाः=जो अलग अलग व्यक्ति,गन्धरूपरसादयः स्युः=गन्ध, रूप, रस, स्पर्श, शब्द विषय हैं, तान्=उन विषयों को, घ्राणादीन्द्रियपञ्चकम्=घ्राण, चक्षु, रसना, त्वग्, श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ,असांकर्येण=पृथक् पृथक् कर के, भिन्द्यात्=ग्रहण करती है। इसलिये इन्द्रियाँ व्यर्थ नहीं हैं ॥८॥

उपकरण के सहित जीव के स्वरूप का निरूपण करने के अनन्तर अब परमात्मा का निरूपण करते हैं—

कर्तारं च क्रियां तद्वद्व्यावृत्तविषयानपि
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥९॥

कर्तारं च=पूर्वोक्त अहंकाररूप जीव को और, क्रियां=इदंरूप मनोवृत्ति को, तद्वद्व्यावृत्तविषयान् अपि=तथा परस्पर विलक्षण गन्धादि विषयों को भी, एकयत्नेन=एक ही साथ, यः चिद्वपुः=जो चैतन्यस्वरूप आत्मा, स्फोरयेत्=प्रकाश करता है, असौ अत्र=वह चैतन्य वेदान्तशास्त्र में, साक्षी=(परमात्मा) साक्षी कहा गया है ॥ ९ ॥

साक्षी युगपत् ही सब के स्फुरण का कर्ता है इस बात को अंगुली निर्देश से अर्थात् साक्षात् दिखाते हैं—

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ।
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥१०॥

अहम् ईक्षे=मैं रूप देखता हूँ, शृणोमि=शब्द सुनता हूँ, जिघ्रामि=गन्ध सूंघता हूँ, स्वादयामि=रस का स्वाद लेता हूँ, स्पृशामि=स्पर्श का अनुभव करता हूँ, इति सर्वं=इस प्रकार द्रष्टा, दर्शन, दृश्य इत्यादि सब त्रिपुटी को, भासयते=एक साथ ही साक्षी प्रकाश करता है, नृत्यशालास्थदीपवत्=जैसे नाटक का स्थान नृत्यशाला में स्थित दीपक एक साथ सब को निर्विकार रहता हुआ भी प्रकाशता है ॥१०॥

अब दृष्टान्त का स्पष्टीकरण अगले श्लोक से करते हैं—

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥११॥

नृत्यशालास्थितः दीपः=नृत्य शाला में स्थित दीपक, प्रभुं=मालिक को, सभ्यांश्च=और सभा में बैठे हुए सभ्यों को, नर्तकीम्=और नृत्य करने वाली को, अविशेषेण=तारतम्य के बिना अर्थात् विकार रहित हो कर समान भाव से सबको, दीपयेत्=प्रकाशता है, तद् अभावे अपि=और उन सब के न रहने पर भी, दीप्यते=स्वयं प्रकाशमान रहता है ॥११॥

दार्ष्टान्तिक में दृष्टान्तोक्त अर्थ योजना करके दिखाते हैं—

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत् ।
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥१२॥

साक्षी=उसी प्रकार साक्षी भी, अहंकारं=पूर्वोक्त अहंकार-रूप जीव को, धियं=बुद्धि को, विषयान् अपि=शब्द, स्पर्श आदि विषयों को भी, भासयेत्=एक ही साथ निर्विकाररूप रह कर भी प्रकाशता है और, अहंकारादि अभावे अपि=सुषुप्ति में अहंकार आदि के अभाव होने पर भी, स्वयं=उसके साक्षीरूप से स्वयं, पूर्ववत्=पहले की न्याईं, भाति एव=प्रकाशमान ही रहता है ॥१२॥

प्रकाशरूप बुद्धि ही अहंकारादि सर्व वस्तुओं का भासक बन सकती है, इस लिये बुद्धि से अतिरिक्त साक्षी की कल्पना निरर्थक है, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक में कहते हैं—

निरन्तरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ।
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥१३॥

कूटस्थे=निर्विकार साक्षी, ज्ञप्तिरूपतः=स्वप्रकाश चैतन्य-रूप से, निरन्तरं भासमाने=सदा प्रकाशमान रहने पर, इयं बुद्धिः=यह बुद्धि, तद्भासा=उस साक्षीस्वरूप चैतन्य से, भास्यमाना=प्रकाशित होती हुई, अनेकधा=अनेक प्रकार से, नृत्यति=नृत्य करती है (अर्थात् यह घट है; यहां पर है इत्यादि अनेक ज्ञानाकार से विकृत होती है) ।

भाव यह है कि बुद्धि विकारी होने से जड़ है, इसलिये स्वरूप से स्फुरण रहित होने के कारण प्रकाशक नहीं बन सकती; अतएव बुद्धि से अतिरिक्त, सब का अवभासक साक्षी चैतन्य अंगीकार करना चाहिये ॥१३॥

पूर्वोक्त अर्थ को बुद्धि अनायास ग्रहण कर सके इस अभि-प्राय से नाटक के रूप से निरूपण करते हैं—

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ।
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥१४॥

अहंकारः प्रभुः=(१) अहंकार प्रभु है, विषयाः सभ्याः=(२) शब्दादि विषय सभ्य है, मतिः नर्तकी=(३) बुद्धि नर्तकी है, अक्षाणि तालादि धारीणि=(४) इन्द्रियां बाजे बजाने वाले ताल धारी है, साक्षी अवभासकः दीपः=(५) साक्षी सबका प्रकाशक दीपक के समान है ।

(१)-विषयभोग की पूर्णता, अपूर्णता का अभिमाननिमित्तक हर्ष विषाद वाला होने से नृत्याभिमानी प्रभु की तुल्यता अहंकार में है, इस लिये अहंकार को प्रभु कहा ।

(२)-जैसे सभास्थ पुरुष (दर्शक) चारों तरफ बैठे हुए होते हैं और प्रभु की न्याई अभिमान उनको होता नहीं; उसी प्रकार शब्द, स्पर्शादि विषय भी चारों ओर विस्तृत रहते हुए अभिमान रहित होते हैं, इस सादृश्य के कारण विषयों को सभ्य बताया ।

(३)-अनेक प्रकार विकार युक्त होने से नर्तकी की तुल्यता बुद्धि में है, इस लिये बुद्धि को नर्तकी बताया ।

(४)-बुद्धि के विकारों के अनुकूल व्यापार वाले होने से तालादिधारी की समानता इन्द्रियों में है, इस कारण से इन्द्रियों को तालधारी कहा ।

(५)-सर्वावभासक होनें से साक्षी और दीपक का सादृश्य है, इस वास्ते साक्षी की दीपकरूप से कल्पना की ॥१४॥

साक्षी को ही अहंकारादि का अवभासक मान लेने पर तिस तिस अहंकारादि से साक्षी के सम्बन्ध का योग और वियोगरूप विकार साक्षी में मानना होगा, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक में कहते हैं—

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा ।
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरन्तः प्रकाशयेत् ॥१५॥

दीपः यथा=दीपक जैसे, स्वस्थानसंस्थितः=गमनादि विकार

रहित होकर अपने स्थान में स्थित हुआ ही समीपस्थ, **सर्वतः भासयेत्**=सब पदार्थों को प्रकाश करता है, तथा साक्षी=उसी प्रकार कूटस्थ चैतन्यरूप साक्षी भी, स्थिर स्थायी=निर्विकाररूप से स्थिर होकर, **बहिरन्तः प्रकाशयेत्**=बाहर भीतर सबको प्रकाशता है ॥१५॥

साक्षी बाहर और भीतर सब का प्रकाशक है ऐसा कहना सम्भव नहीं, क्योंकि "अनन्तरम् अबाह्यम्" इत्यादि श्रुति में साक्षी को बाह्य आन्तर विभाग से रहित कथन किया है, ऐसी आशंका का उत्तर अग्रिम श्लोक से देते हैं—

बहिरन्तर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ।
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यान्तरहंकृतिः ॥१६॥

अयं बहिरन्तर्विभागः=यह बाहर और भीतर देश का विभाग **देहापेक्षः**=शरीर की अपेक्षा से ही है, **साक्षिणि न**=चैतन्यरूप साक्षी में यह बाह्यान्तर विभाग नहीं है, **विषयाः**=शब्द स्पर्शादि विषय, **बाह्यदेशस्थाः**=शरीर से बाहर देश में स्थित हैं, **देहस्यान्तः**=और शरीर के भीतर, **अहंकृतिः**=अहंकार स्थित है ॥१६॥

स्थिरस्थायी विकार रहित साक्षी बाहर भीतर सबका अवभासक है ऐसा आपका पूर्व कथन (१५वे श्लोक में) युक्ति युक्त नहीं है क्योंकि "अहं घटं पश्यामि" (मैं घट को देखता हूँ) यहां पर अह पद के अर्थ अन्तर अहंकार के साक्षीरूप से प्रथम भासक चैतन्य का, बाद में घटं पश्यामि इस प्रकार घटाकार वृत्ति के अवरणरूप से बाहर निकलना अनुभव सिद्ध है, ऐसी आशंका का समाधान अगले श्लोक से करते हैं—

अन्तःस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ।
भास्यबुद्धिस्थ चाञ्चल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥१७॥

अन्तःस्था धीः=देह के भीतर स्थित बुद्धि, **अक्षैः सह एव**=इन्द्रियों के साथ ही अर्थात् इन्द्रिय द्वारा, **पुनः पुनः बहिर्याति**=बारम्बार रूप आदि विषय ग्रहण के लिये बाहर जाती है, **भास्य-**

बुद्धिस्थ चाञ्चल्यं=दृश्य (प्रकाश्य) बुद्धि की चंचलता, साक्षिणि=निर्विकार प्रकाशक साक्षी में, वृथा आरोप्यते=व्यर्थ ही कल्पित होती है (इस लिये साक्षी की वास्तव चञ्चलता नहीं सिद्ध होती है) ॥१७॥

प्रकाशक में प्रकाश्य की चञ्चलता का आरोप होता है यह कहाँ देखा गया, ऐसी आशंका का उत्तर कहने के लिये अग्रिम श्लोक है—

गृहान्तरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ।
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥१८॥

गवाक्षात्=खिड़की के छिद्र में से, गृहान्तरगतः=घर के भीतर आई हुई, स्वल्पः आतपः=थोड़ी सी धूप, अचलः=अचंचल ही होती है, तत्र=परन्तु उस धूप में, हस्ते नर्त्यमाने=हाथ को हिलाने पर, यथा आतपः=जैसे वह धूप, नृत्यति इव=नाचती हुई जैसी प्रतीत होती है, पर वास्तव में नहीं चलती ॥१८॥

अब दार्ष्टान्तिक में योजना करके दिखाते हैं—

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरन्तर्गमागमौ ।
अकुर्वन् बुद्धिचाञ्चल्यात्करोतीव तथा तथा ॥१९॥

तथा=उसी प्रकार, निजस्थानस्थितः साक्षी=अपने ही स्थान में स्थित हुआ साक्षी, बहिरन्तर्गमागमौ=बाहर, भीतर गमन, आगमन, अकुर्वन्=नहीं करता हुआ भी, बुद्धिचाञ्चल्यात्=बुद्धि की चञ्चलता से, तथा करोति इव=गमनागमन करते हुए की न्याई प्रतीत होता है, वस्तुतः गमनागमनरूप चञ्चलता साक्षी में है नहीं ॥१९॥

साक्षी का निज स्थान में स्थित होना, बाह्यादि देश में स्थित होना अर्थ नहीं, इस बात को हेतु सहित कहते हैं—

न बाह्यो नान्तरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ।
बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥२०॥

साक्षी=कूटस्थ चैतन्यरूप उदासीन द्रष्टा, न बाह्यः=न तो बाहर देश में स्थित है, न आन्तरः=और न ही शरीर के अन्दर स्थित कहा जा सकता है, हि तौ उभौ देशौ बुद्धेः=क्योंकि वे दोनों बाह्य और आन्तर देश बुद्धिके ही है, बुद्ध्याद्यशेषसंशान्तौ=बुद्धि, इन्द्रियां सब का उपसम हो जाने पर अर्थात् इनकी प्रतीति न रहने पर, सः यत्र भाति=वह साक्षी जहाँ प्रतीत होता है, तत्र अस्ति=वहीं है ॥२०॥

सर्व व्यवहार शान्त हो जाने पर देश का अनुभव ही नहीं होता, इस लिये जिस देश में साक्षी प्रतीत होता है ऐसा आप का कहना अयुक्त है, ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्ती अपने अभिप्राय को प्रगट करते हैं—

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ।
सर्वदेशप्रक्लृप्त्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥२१॥

कः अपि देशः=अन्तःकरणादि की उपरति होने पर कोई भी देश, **यदि न भासेत**=अगर नहीं भासता होवे, **तर्हि अदेशभाक् अस्तु**=तब किसी भी एक देश में नहीं रहने वाला वह साक्षी होगा, **सर्वदेशप्रक्लृप्त्या एव**=सम्पूर्ण देश के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही अथवा सर्व देश की कल्पना होने से ही उसकी अपेक्षा करके **सर्वगत्वं**=साक्षी सर्वगत कहा जाता है, **स्वतः तु न**=स्वभाव से तो अद्वितीय असंग होने के कारण साक्षी सर्वगत नहीं कहा जा सकता ॥२१॥

सर्वगतत्व की न्याई सर्वसाक्षित्व भी नहीं, इस बात को कहते हैं—

अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत् ।
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥२२॥

बुद्धिः=बुद्धि, **अन्तर्बहिर्वा सर्वं वा**=अन्तर्देश, अथवा बाह्य देश, अथवा सर्व देश, **यं देशं परिकल्पयेत्**=जिस देश की भी कल्पना करती है, **साक्षी तद्देशगः**=साक्षी उसी देश में स्थित

समझा जाता है, तथा वस्तुषु योजयेत्=उसी प्रकार दृश्य वस्तुओं में भी समझ लेना चाहिये ॥२२॥

"तथा वस्तुषु योजयेत्" इस पूर्वोक्त वाक्य का विस्तार आगे के श्लोक में करते हैं—

यद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ।
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ॥२३॥

बुद्ध्या यद् यत्=बुद्धि के द्वारा जिस जिस, रूपादि कल्प्येत=रूपादि दृश्य वस्तु की कल्पना होती है, तत्तत्प्रकाशयन्=तिस तिस रूपादिक दृश्य वस्तु का प्रकाश करता हुआ वह चैतन्य, तस्य तस्य=तिस तिस रूपादि का, साक्षी भवेत्=साक्षी होता है (कहा जाता है), स्वतः=स्वभाव से वह चैतन्य, वाग्बुद्ध्यगोचरः=वाणी और बुद्धि का विषय नहीं है ॥२३॥

वाणी और मन का अविषय साक्षी को मुमुक्षु ग्रहण नहीं कर सकेगा ऐसी आशंका और उसका उत्तर आगे के श्लोक में कहते हैं—

कथं तादृङ्मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ।
सर्वग्रहोपसंशान्तौ स्वयमेवावशिष्यते ॥२४॥

तादृक्=वाणी और बुद्धि का अगोचर वह आत्मा, मया कथं ग्राह्यः=मुझ से कैसे ज्ञात होगा, इति चेत्=ऐसी यदि आशंका करते हो (तो उत्तर यह है), मा एव गृह्यताम्=मत ज्ञात होवे सर्वग्रहोपसंशान्तौ=तथापि (आत्मा से भिन्न सब द्वैत पदार्थ के मिथ्यापने के निश्चय से) संपूर्ण प्रतीति शान्त हो जाने पर, स्वयम् एव=अपना स्वरूप आत्मा ही, अवशिष्यते=सत्यरूप से शेष रह जाता है ॥२४॥

यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार से साक्षीस्वरूप आत्मा परिशेष से ज्ञात होता है, तथापि उसके अपरोक्षज्ञान के लिये कोई न कोई प्रमाण तो अपेक्षित होगा, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं—

न तत्र मानापेक्षास्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ।
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥२५॥

स्वप्रकाशस्वरूपतः=आत्मा स्वप्रकाशरूप होने से, तत्र=आत्मा के अपरोक्षज्ञान के लिये, मानापेक्षा न अस्ति=प्रमाण की अपेक्षा नहीं है, तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेत्=ऐसी प्रतीति की सिद्धि के लिये प्रमाण की अपेक्षा यदि कहोगे तो, गुरोर्मुखात्=गुरु मुख से, श्रुतिं पठ=उपनिषद् पढ़ो ॥२५॥

उक्त प्रकार से उत्तम अधिकारी के प्रति साक्षीरूप आत्मा के अनुभव का उपाय कथन करके अब मन्द अधिकारी के प्रति आत्मानुभव का उपाय बताते हैं—

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ।
शरणं तदधीनोऽन्तर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥२६॥

यदि सर्वग्रह त्यागः अशक्यः=अगर संपूर्ण द्वैत प्रतीति का त्याग नहीं बन सकता, तर्हि धियं शरणं व्रज=तब बुद्धि की शरण जाओ, तद् अधीनः=बुद्धि के अधीन, अन्तर्बहिः वा=भीतर अथवा बाहर, (बुद्धि के द्वारा जो जो वस्तु कल्पित होती है उसके साक्षी-रूप से), एषः=इस आत्माभिन्न परमात्मा का, अनुभूयताम्=अनुभव करो ॥२६॥

इति श्री मत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री भारतीतीर्थ विद्यारण्य-
मुनि विरचितपञ्चदश्यां नाटकदीपाख्यदशम प्रकरणस्य
राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य-
श्रीस्वामिस्वतन्त्रानन्दगिरि महाराज कथिताऽन्वय व्याख्या समाप्ता ॥

—:००:—

ॐ

अथ एकादशं ब्रह्मानन्दे योगानन्दप्रकरणम्

—❀—

नत्वा श्री भारतीतीर्थं विद्यारण्यमुनीश्वरौ।
ब्रह्मानन्दाभिधं ग्रन्थं व्याकुर्वे बोधसिद्धये ॥१॥

चिकीर्षित ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये विघ्न-निवारणार्थ इष्टदेवता तत्त्वानुसंधानरूप मंगलाचरण करते हुए श्रोताओं की प्रवृत्ति की सिद्धि के लिये प्रयोजन सहित प्रतिपाद्य विषय का कथन पूर्वक ग्रन्थारम्भ की प्रतिज्ञा करते हैं—

ब्रह्मानन्दं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः।
ऐहिकामुष्मिकानर्थ ब्रातं हित्वा सुखायते ॥१॥

ब्रह्मानन्दं=ब्रह्मस्वरूप जो आनन्द तथा उस ब्रह्मानन्द का प्रतिपादक जो ग्रन्थ (ब्रह्मानन्द का प्रतिपादक होने से ग्रन्थ को भी ब्रह्मानन्द कहते हैं, ऐसे ब्रह्मानन्दरूप ग्रन्थ) उस को, प्रवक्ष्यामि=मैं कहता हूं, तस्मिन्=उस प्रतिपाद्य ब्रह्मानन्द तथा ब्रह्मानन्द प्रतिपादक ग्रन्थ के, ज्ञाते=ज्ञान होने पर, ऐहिकामुष्मिकानर्थब्रातं=इस लोक में होने वाले (देहपुत्रादिकों में मैं मेरा इस प्रकार अभिमान से उत्पन्न होने वाले तापों का) तथा परलोक में होने वाले तापों का जो समूह है उसको, अशेषतः हित्वा=निःशेष परित्याग करके, सुखायते=सुखरूप ब्रह्म ही हो जाता है।

टि०—"निर्विशेष परब्रह्म के साक्षात्कार करने में असमर्थ जो मन्दाधिकारी हैं, उन पर सविशेष ब्रह्म निरूपण द्वारा अनुग्रह किया जाता है, "इस आचार्योक्ति के अनुसार सविशेष ब्रह्मरूप देवताओं के तत्त्व का निर्विशेष ब्रह्मरूप से कथन किया, और ब्रह्म

को श्रुतियों में आनन्दरूप वर्णन किया, इस हेतु से "ब्रह्मानन्द" इस मूलोक्त शब्द के द्वारा ब्रह्मवाचक शब्द प्रयोग करने से ब्रह्मानुसन्धानरूप मंगलाचरण सिद्ध हुआ। ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य होने से वेदान्त प्रकरणरूप इस योगानन्द प्रकरण ग्रन्थ का भी वही ब्रह्म प्रतिपाद्य विषय है, इस प्रकार ब्रह्मशब्द प्रयोग द्वारा विषय का सूचन किया गया, और श्लोक के उत्तरार्ध से अनिष्ट निवृत्ति तथा इष्ट प्राप्तिरूप प्रयोजन भी साक्षात् कहा गया है ॥१॥

ब्रह्मज्ञान दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति का हेतु है, इस विषय में बहुत श्रुति स्मृति वाक्य प्रमाणरूप विद्यमान है, इस वार्ता को प्रदर्शन करने की इच्छा से "ब्रह्मविदाप्नोति परं", "तरतिशोकमात्मवित्" इत्यादि श्रुति वाक्यों का अर्थतः पाठ श्लोक के प्रथमार्ध से करते हैं और उत्तरार्ध से आनन्द प्राप्ति का हेतु भी वही ब्रह्मज्ञान है, इस अर्थ का प्रतिपादक श्रुतिवाक्य का अर्थतः पाठ करते है -

ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ।
रसो ब्रह्म रसं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति नान्यथा ॥२॥

ब्रह्मवित् परम् आप्नोति=ब्रह्मवेत्ता निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है, **च आत्मवित्**=और अपरिच्छिन्न भूमाशब्दवाच्य आत्मा को जानने वाला, **शोकं तरति**=संसार को तर जाता है, **रसः**=आत्मा ही आनन्द स्वरूप ब्रह्म है, **रसं ब्रह्म**=उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को, **लब्ध्वा**=प्राप्त करके (मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार ज्ञान के द्वारा प्राप्त करके), **आनन्दी भवति**=अपरिच्छिन्न निरतिशय सुखवान् होता है, **अन्यथा न**=ब्रह्म और आत्मा का अभेदज्ञान छोड़कर दूसरे साधन से आनन्दी अर्थात् निरतिशय सुखी नहीं हो सकता ॥२॥

इस प्रकार अन्वयमुख से इष्ट प्राप्ति अनिष्ट निवृत्ति प्रतिपादक श्रुतिवाक्य का प्रदर्शन करके, अब अन्वय व्यतिरेक उभय प्रकार से अनर्थ निवृत्ति प्रदर्शक दो श्रुतिवाक्यों का अर्थ से अनुक्रमण करते हैं—

प्रतिष्ठां विन्दते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः ।
कुरुतेऽस्मिन्नन्तरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥३॥

यदा स्वस्मिन्=जिस समय मुमुक्षु अपने स्वरूप में प्रतिष्ठां=भली भान्ति संशय विपर्यय रहित होकर मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार की स्थिति को, विन्दते=प्राप्त करता है (गुरुमुख से श्रवणादि साधन द्वारा प्राप्त करता है), अथ सः अभयः=उस समय वह विद्वान् भय रहित, स्यात्=होता है अर्थात् मोक्षरूप अद्वितीय ब्रह्म को प्राप्त होता है, चेत् अस्मिन्=और यदि इस प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म में (भेद दर्शी), अन्तरं कुरुते=भेद भाव करता है, अथ तस्य=तब उस भेद-दर्शी को, भयं भवेत्=संसार में भय होता है अर्थात् संसार निमित्तक दुःख होता है ॥३॥

भेद दर्शी को भय अर्थात् दुःख होता है इस बात को दृढ़ करने के लिये ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानरहित वायु आदिकों के भय का प्रदर्शन करने वाले मन्त्र का अर्थतः पाठ करते हैं—

वायुः सूर्यो वह्निरिन्द्रो मृत्युर्जन्मान्तरेऽन्तरम् ।
कृत्वा धर्मं विजानन्तोऽप्यस्माद्भीत्या चरन्ति हि ॥४॥

वायुः सूर्यः वह्निः इन्द्रः=वायु, सूर्य, अग्नि, इन्द्र, मृत्युः=यमराज यह पांचों देवता (यद्यपि जगत् का नियामक है, तो भी), जन्मान्तरे धर्मं=पहले जन्म में धर्म को (इष्टापूर्तादिरूप धर्म को) विजानन्तः अपि=जानकर अनुष्ठान किये हुए भी, अन्तरं कृत्वा=प्रत्यक् आत्मा और ब्रह्म का भेद भाव करके, अस्मात् भीत्या=इस ब्रह्म से डर कर, चरन्ति=अपने अपने कार्य में सदा प्रवृत्त होते रहते हैं, हि=यह बात कठ आदि अनेक श्रुतियों में प्रसिद्ध है ॥४॥

"तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मानन्दज्ञान अनर्थनिवृत्ति का हेतु है, यह वार्ता स्पष्ट भासती नहीं है, ऐसी आशंका के उत्तर में उक्त ज्ञान के अनर्थनिवृत्ति हेतुपने का प्रतिपादन करने वाले श्रुतिवाक्य का उदाहरण देते हैं। और श्लोक के

उत्तरार्ध से तत्त्ववेत्ता को किसी से भी भय नहीं होता इस अर्थ के प्रतिपादक श्रुतिवाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं —

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ।
एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता ॥५॥

ब्रह्मणः आनन्दं=ब्रह्म के स्वरूपभूत आनन्द को (सुख को, विद्वान्=अपरोक्ष रूप से जानने वाला पुरुष, कुतश्चन=किसी से भी (इस लोक में सर्प, व्याघ्र आदि से होने वाले और परलोक में होने वाले पापादियों से) न बिभेति=नहीं डरता है, कर्माग्निसंभृता=पुण्य पाप कर्मरूप (१) अग्नि से उत्पन्न हुई, एषाचिन्ता=यह चिन्ता (मैंने पुण्य क्यों नही किया, पाप क्यों किया इस प्रकार की चिन्ता), एतम् एव=इस तत्त्ववेत्ता को ही, न तपेत्=संतप्त नही करती (तत्त्व वेत्ता से भिन्न अज्ञानी को तो यह चिन्ता सन्तप्त करती है) ।

(१) पुण्य के अनुष्ठान न करने करके, और पाप का अनुष्ठान करने से अग्नि की न्याई वह पुण्य पाप रूप कर्म मनुष्य को संन्तप्तं करता है। इस लिये पुण्य पाप को अग्निरूप कहा है ॥५॥

पुण्य और पाप विद्वान् के लिये दुःखद नहीं बन सकते, इस में हेतु प्रदर्शक श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं —

एवं विद्वान् कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ।
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥६॥

एवं=जो भी कोई मनुष्य उक्त प्रकार से (जो ही इस व्यष्टि अध्यात्मपुरुष में है, और जो समष्टि अधिदैव आदित्य में है, वह एक ही है, इस श्रुत्युक्त प्रकार से), विद्वान्=जानता हुआ प्रवृत्त वह, द्वे-कर्मणी हित्वा=दोनों (पाप पुण्य रूप)कर्मों को परित्याग करके, आत्मानं सदा=ब्रह्म से अभिन्न प्रत्यागात्मा को सर्वदा, स्मरेत्=स्मरण करता है (अभिप्राय यह है कि पुण्य पाप दोनों मिथ्या है, और मैं असङ्ग हूं इस विचार से दोनों कर्मों का परित्याग विद्वान् ने कर दिया इसलिये उनको पुण्य पाप की चिन्ता ही उत्पन्न नहीं होती, तो चिन्तानिमित्तक दुःख कहां उत्पन्न होगा ।), च एषः=और यह विद्वान्, कृते=

देह इन्द्रयादि की प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए, कर्मणी=पुण्य पाप रूप दोनों कर्मों को, स्वात्म रूपेण एव =अपने स्वरूप आत्मरूप करके ही, पश्यति=देखता है, अर्थात् जानता है (अतः अपने आत्मा से अभिन्न होने के कारण वे पुण्य पाप विद्वान् को सन्तप्त नहीं करते ॥६॥

भोग दिये बिना शतकोटि कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं होता इस अर्थ का बोधक शास्त्र विद्यमान है, इसलिये अनादि संसार में बहुजन्म कृत पुण्यपापरूप असंख्यात कर्म-जो अप्रसिद्ध होने के कारण आत्मरूप से अनुसन्धान करने योग्य नहीं हो सकते-वर्तमान होने पर तद्विषयक चिन्ता विद्वान् को क्यों नहीं होगी, ऐसी आशंका के उत्तर में-कारण अज्ञान सहित उन कर्मों का तत्त्वज्ञान से विनष्ट हो जाने से वे नष्ट हुए कर्म विद्वान् के लिये चिन्ता जनक नहीं हो सकते, इस अभिप्राय को लेकर-हृदयग्रन्थि आदि की निवृत्ति प्रतिपादक मुण्डकादि उपनिषदों में स्थित वाक्य का पाठ करते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥७॥

परावरे=पर अर्थात् हिरण्यगर्भ है अवर अर्थात् निकृष्ट जिस परमात्मा से, उस परमात्मा परब्रह्म को परावर कहते हैं, तस्मिन् दृष्टे=उस परमात्मा के साक्षात्कार कर लेने पर, अस्य=साक्षात्कार वाले ब्रह्मवेत्ता का, हृदयग्रन्थिः=बुद्धि और चिदात्मा का परस्पर अध्यास अर्थात् अभेदभ्रम, भिद्यते=नष्ट हो जाता है, सर्वसंशयाः छिद्यन्ते=सब (१) सन्देह मिट (२) जाते हैं क्योंकि तत्त्वतः साक्षात्कार की हुई वस्तु में संशयविपर्यय देखने में नहीं आता है, च कर्माणि=और पुण्य पाप रूप संपूर्ण संचितकर्म, क्षीयन्ते= (कारण अज्ञान के नाश से) नष्ट हो जाते है।

टि०(१) आत्मा देहादियों से अतिरिक्त है अथवा नहीं, देहादियों से पृथक् हुआ भी कर्ता भोक्तारूप है अथवा नहीं, अकर्ता अभोक्ता हुआ भी आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है कि नहीं, ब्रह्म से अभिन्न हुआ भी उस आत्मा का ज्ञान कर्मादि सहित हुआ मुक्ति का साधन

है, अथवा अकेला ही मुक्ति का साधन है इत्यादि सर्व संशय। (२) क्योंकि तत्त्वतः साक्षात्कार की हुई वस्तु में संशय, विपर्यय नहीं देखने में आता) ॥७॥

बहुत सी श्रुति स्मृतियों के वाक्य से केवल कर्म अथवा ज्ञान-सहितकर्म मुक्ति का हेतु मालूम पड़ता है, तथापि विचार करने पर केवल ज्ञान ही मुक्ति का एकमात्र निरपेक्ष साधन है, केवल कर्म अथवा ज्ञान सहित कर्म मुक्ति का साधन नहीं, इस अभिप्राय से ज्ञान अतिरिक्त साधनान्तर का निषेध करने वाले श्वेताश्वतर श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं, और उत्तरार्ध से-पूर्वार्ध में उक्त श्रुति वाक्यों से अन्वय व्यतिरेक युक्ति द्वारा इस लोक के अनिष्ट की निवृत्ति ही मुख्यरूप से प्रतीत होती है, पारलौकिक अनिष्ट की निवृत्ति नहीं भासती, इस आशंका का उत्तर कहने के लिये भावीजन्म पूर्वक ही होने वाले आमुष्मिक अनिष्ट के निदान सहित अभाव का (अज्ञान सहित अभाव का) प्रतिपादक 'ज्ञात्वा देवं' इत्यादि श्वेताश्वतर वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं -

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पन्था न चेतरः।
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥८॥

तम् विद्वान् एव=पूर्वोक्त परमात्मा को साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्मवेत्ता ही, **मृत्युं अत्येति**=संसार को तर जाता है, **इतरः**=ज्ञान से भिन्न दूसरा (कर्म अथवा कर्म ज्ञान का समुच्चयरूप दूसरा), **पन्था न च**=उपाय (मोक्ष का उपाय) नहीं है, **देवं**=स्वयं प्रकाश प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म का, **ज्ञात्वा**=साक्षात्कार करके स्थित ब्रह्मवेत्ता के, **पाशहानिः**=काम क्रोधादिरूप सर्व बन्धनों का नाश हो जाता है, **क्लेशैः क्षीणैः**=रागादि क्लेशों के विनष्ट हो जाने से (जन्म हेतु कर्म का अभाव होने पर), **जन्मभाक् न**=पुनः जन्म का भागी ब्रह्मवेत्ता नहीं होता ॥८॥

आत्मज्ञान का शोक तरणादि फल केवल सुनने में ही आता है अनुभव में तो आता नहीं, क्यों कि ज्ञानवानों की भी इष्टप्राप्ति

अनिष्ट परिहार के लिये प्रवृत्ति देखी जाती है, ऐसी आशंका उठा कर उत्तर में-दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानियोंके लिये उसके अभाव को प्रतिपादन करने वाली कठश्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं, और उत्तरार्ध से उसी अर्थ में कुछ विशेषता दिखाने वाले याज्ञवल्क्य ब्राह्मण वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ।
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥९॥

धैर्यवान्=ब्रह्मचर्यादि साधन सम्पन्न धैर्य शाली अधिकारी, देवं मत्वा=सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म को साक्षात्कार करके, अत्र एव=इसी जन्म में अर्थात् इसी शरीर में, हर्षशोकौ जहाति=हर्ष और शोक दोनों को परित्याग करता है, कृताकृते=पूर्व किये हुए अथवा नहीं किये हुए, पुण्य पापे एनं=पुण्य अथवा पाप इस तत्त्ववेत्ता को, क्वचित् न तापयतः=कभी भी नहीं सन्तप्त करते हैं।

टि०—पहले यह कहा गया था कि अकृत पुण्य और कृत पाप तत्त्ववेत्ता के ताप का हेतु नहीं होता। और इस श्लोक में यह विशेषता कही गई है कि कृत अथवा अकृत पुण्य, तथा कृत अथवा अकृत पाप तत्त्ववेत्ता के ताप का हेतु नहीं होता। यहाँ चित्तविकार विशेष का नाम ताप है। कृतपुण्य हर्षरूप विकार की और अकृतपुण्य विषादरूप विकार की, तथा कृतपाप विषादरूप विकार की और अकृतपाप हर्षरूप विकार की उत्पत्ति का हेतु है, परन्तु तत्त्ववेत्ता के लिये वे दोनों किसी प्रकार भी विकार के हेतु नहीं बनते, क्योंकि तत्त्ववेत्ता अपने आप को अविक्रिय ब्रह्मरूप जानते हैं ॥९॥

पूर्वोक्त अर्थ में और भी बहुत से श्रुति वाक्य तथा पुराणस्मृति-वाक्य प्रमाणरूप विद्यमान है, इस वार्ता को पूर्वार्ध से कहते हुए उन श्रुति स्मृति पुराण वाक्यों का तात्पर्य द्वितीयार्ध से कहते हैं—

इत्यादिश्रुतयो बह्व्यः पुराणैः स्मृतिभिः सह ।
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिमानन्दं चाप्यघोषयन् ॥१०॥

इत्यादिश्रुतयः बह्व्यः=इस से आदि लेके बहुत सी श्रुतियां,

पुराणैः स्मृतिभिः सह=पुराणों के और स्मृतियों के वचन के सहित मिल कर, ब्रह्मज्ञाने=ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर, अनर्थहानिम्=सर्व दुःखों की निवृत्ति को, च आनन्दम् अपि=और निरतिशय आनन्द प्राप्ति को भी, अघोषयन्=घोषणा करती है ॥१०॥

प्रथम श्लोक में "ब्रह्मानन्द" यहाँ पर आनन्दपद का विशेषण ब्रह्मपद देने से यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मानन्द से भिन्न भी कोई दूसरा आनन्द है, वह आनन्द कितने प्रकार का और कैसे स्वरूप वाला है ऐसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर आनन्द के भेद प्रदर्शन पूर्वक ब्रह्मानन्द के विवेचन की प्रतिज्ञा करते हैं—

आनन्दस्त्रिविधो ब्रह्मानन्दो विद्यासुखं तथा ।
विषयानन्द इत्यादौ ब्रह्मानन्दो विविच्यते ॥११॥

ब्रह्मानन्दः तथा विद्यासुखं=ब्रह्मानन्द और विद्यानन्द, विषयानन्दः इति=और विषयानन्द इस भेद से, आनन्दस्त्रिविधः=आनन्द तीन प्रकार का है, ब्रह्मानन्दः=विद्यानन्द और विषयानन्द का मूल होने से ब्रह्मानन्द का, आदौ=सर्व प्रथम तीन अध्यायों से, विविच्यते=विवेचन किया जाता है अर्थात् विद्यानन्द और विषयानन्द से पृथक् करके दिखाया जाता है ॥११॥

तैत्तिरीय श्रुति का तात्पर्य विचार करने पर आनन्दस्वरूप ही ब्रह्म अवगत होता है, इस अभिप्राय से अब प्रथम भृगुवल्ली का अर्थ संक्षेप से दिखाते हैं—

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद् ब्रह्मलक्षणम् ।
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनन्दं विजज्ञिवान् ॥१२॥

भृगुः पुत्रः=भृगु नामक पुत्र, पितुः वरुणात्=अपने पिता वरुणऋषि से, ब्रह्मलक्षणम्=ब्रह्म का लक्षण (जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण ब्रह्म है इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण), श्रुत्वा=सुन कर, अन्नप्राणमनो बुद्धीः=अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय इन चारों कोशों को, त्यक्त्वा=त्याग करके (अर्थात् इन चारों कोशों में ब्रह्म का लक्षण न घटने से ये चारों ब्रह्म नहीं है इस

प्रकार निश्चय करके), आनन्दं=आनन्दमय कोश के अन्दर बिम्ब-रूप आनन्द को, विजज्ञिवान्= (ब्रह्म के लक्षण को घटाकर) ब्रह्म-रूप से जान लिया ॥१२॥

आनन्दमय कोश के अन्तर्गत आनन्द में ब्रह्मलक्षण की योजना के प्रकार को प्रदर्शन करने वाली श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं--

आनन्दादेव भूतानि जायन्ते तेन जीवनम् ।
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानन्दो न संशयः ॥१३॥

आनन्दात् एव=ग्राम्यधर्मनिमित्तक आनन्द से ही, भूतानि जायन्ते=सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, तेन=उत्पन्न हुए प्राणियों का विषय भोगादि निमित्तक उस आनन्द से ही, जीवनं=प्राणियों का जीवन बना रहता है, तेषां लयः च=और उन प्राणियों का लय भी, तत्र=उस सुषुप्ति कालीन स्वरूपभूत आनन्द में ही होता है क्योंकि उस समय आनन्द के अतिरिक्त किसी का अनुभव होता नहीं, अतः= इसलिये (ब्रह्म का लक्षण घटने से), आनन्दो ब्रह्म=आनन्द ब्रह्मस्वरूप ही है, न संशयः=इस में कोई संशय नहीं करना चाहिए ॥१३॥

इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के विचार से ब्रह्म की आनन्दरूपता दिखा कर, अब छान्दोग्य श्रुति के विचार से भी ब्रह्म की आनन्द-रूपता को दिखाने की इच्छा युक्त ग्रन्थकार सनत्कुमारनारदसंवाद-रूप सप्तम अध्याय में स्थित भूमारूप ब्रह्मप्रतिपादक श्रुति वाक्यार्थ को संक्षेप से कहते हैं, और उत्तरार्ध से द्वैतवर्जन का उपपादन करते हैं —

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् ।
ज्ञातृ ज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥१४॥

भूतोत्पत्तेः पुरा=आकाशादि पंचभूतों की, और उनके कार्य जरायुज, अण्डज आदि शरीरों की उत्पत्ति से पूर्व, त्रिपुटीद्वैतवर्जनात् =ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटीरूप द्वैत के अभाव से, भूमा=देश, काल, वस्तुपरिच्छेद रहित परमात्मा ही था, हि ज्ञातृ ज्ञान ज्ञेयरूपा=क्यों-

कि ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप, त्रिपुटी=तीनों आकार, प्रलये नो=प्रलय काल में नहीं है (यह बात वेदान्त सम्मत है) ॥१४॥

अब ज्ञाता आदि के स्वरूप को दिखाते हैं --

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ।

ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत् त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥१५॥

उत्पन्नः=परमात्मा से उत्पन्न हुआ, **विज्ञानमयः ज्ञाता**= बुद्धि उपाधि वाला जीव विज्ञानमय ज्ञाता है, **मनोमयः ज्ञानं**= मनोमय शब्द का वाच्य मन में प्रतिबिंबित चैतन्य ज्ञान है, **शब्दादयः ज्ञेयाः**=शब्द, स्पर्शादि विषय वेद्य पदार्थ है, **एततत्रयम्** उत्पत्तितः **पुरा**=ये तीनों कार्य होने से अपनी उत्पत्ति से पहले, **न**=नहीं है (अर्थात् कारण से अतिरिक्त नहीं हैं) ॥१५॥

पूर्णात्मा के अनुभव का स्थल तथा सुषुप्ति आदि में अद्वैत-सिद्धि के उदाहरण का दार्ष्टान्तिक में सिद्ध प्रयोजन को कहते है —

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ।

समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥१६॥

समाधि सुप्तिमूर्च्छासु=जैसे समाधि, सुषुप्ति और मूर्च्छा अवस्थाओं में, **त्रयाभावे तु**=ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इन तीनों के अभाव होने पर तो, **निर्द्वैतः**=द्वैत रहित, **पूर्णः एव**=सर्वत्र व्यापक परमात्मा ही, **अनुभूयते**=अनुभव में आता है, **तथा सृष्टेः पुरा**=उसी प्रकार सृष्टि (उत्पत्ति) से पहले भी, **पूर्णः**=द्वैत के अभाव के कारण आत्मा पूर्ण ही अवस्थित रहता है ॥१६॥

ब्रह्म की पूर्णता सिद्ध होने पर भी आनन्दरूपता में क्या आया, ऐसी आशंका के उत्तर में अन्वय व्यतिरेक द्वारा भूमा-स्वरूप ब्रह्म की सुखरूपता को दिखाने वाले छान्दोग्य श्रुति के वाक्य को अर्थ से अनुक्रमण करते हैं —

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि ।

सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥१७॥

यः भूमा=जो पूर्वोक्त अपरिच्छिन्न परमात्मा है, सः सुखम्= वही सुखरूप है, त्रेधाविभेदिनि=ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय त्रिविध भेद वाली, अल्पे=परिच्छिन्न वस्तु में, सुखं न=सुख नहीं है, एवं सनत्कुमारः=इस प्रकार सनत्कुमार ने, अतिशोकिने=अत्यन्त शोक युक्त, नारदाय प्राह=नारद जी के लिये उपदेश किया ॥१७॥

नारद जी अतिशय शोकातुर थे इस विषय में हेतुकहते हैं

सपुराणान्पञ्च वेदान् शास्त्राणि विविधानि च ।
ज्ञात्वाप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥१८॥

नारदः=नारद जी, सपुराणान्=पुराणों के सहित,पञ्चवेदान् च=चार वेदों को कुल मिलाकर पांच और, विविधानि शास्त्राणि= अनेक प्रकार के शास्त्रों को, ज्ञात्वा अपि=जान करके भी, अनात्म-वित्त्वेन=आत्मज्ञान रहित होने के कारण, अतिशुशोच ह=अत्यन्त शोक को प्राप्त हुए थे ॥१८॥

वेद शास्त्र विषयक ज्ञान शोक का निवर्त्तक यह प्रसिद्ध है, फिर नारद के लिये वह ज्ञान अतिशोक का हेतु कैसे हुआ, इस शंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ।
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैश्च शोकिता ॥१९॥

वेदाभ्यासात् पुरा=वेद शास्त्र के पढ़ने से पहले, तापत्रय-मात्रेण=केवल तीन ताप से ही, शोकिता=शोक होता था, पश्चात् तु=और बाद में तो, अभ्यासविस्मारभङ्गगर्वैः च=(पढ़े हुए का) बारम्बार पढ़ना, पढ़ने पर भी भूल जाना, पराजय (तिरस्कार) और जय प्राप्त होने से उत्पन्न हुए अहंकार से, शोकिता=अधिक शोक नारद जी को प्राप्त हुआ था ॥१९॥

सर्वज्ञ भी नारद जी को अतिशोक प्राप्त हुआ था यह वार्ता नारद जी के ही वचन से ज्ञात होती है, इस अभिप्राय से तथा शोक निवृत्ति का उपाय पूछने पर सनत्कुमार ने भूमा शब्द का वाच्य

सुखरूप ब्रह्म ही ज्ञात हुआ शोकनिवृत्ति का उपाय है, इस प्रकार उपदेश किया इस वार्ता को कहते हैं—

सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ।
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ॥२०॥

विद्वन्=हे ब्रह्मवेत्ता सनत्कुमार जी, **सः अहं प्रशोचामि**=वह मैं अत्यन्त शोकातुर हूँ, **माम्**=ऐसे मुझ को, **अत्र शोकपारं**=अब शोक के परम पार को, **नय**=प्राप्त कराइये अर्थात् मुझको शोक रहित करिये, **इति उक्तः**=इस प्रकार नारद जी के द्वारा पूछे हुए, **ऋषिः**=सनत्कुमार जी ने, **सुखम् एव**=सुखरूप ब्रह्म ही ज्ञान का विषय हुआ, **अस्य पारम्**=इस शोक का परम पार है अर्थात् शोकनिवृत्ति का उपाय है, **इति अभ्यधात्**=इस प्रकार उपदेश किया ॥२०॥

स्रगादि (माला चन्दन आदि) से जन्य बहुत प्रकार के सुख विद्यमान होने पर अल्प अर्थात् परिच्छिन्न पदार्थ में सुख नहीं है, इस प्रकार सनत्कुमार का वचन यद्यपि युक्ति विरुद्ध मालूम पड़ता है तथापि सांसारिक सुख दुःख के सम्बन्ध से विषलिप्त अन्न की न्याईं अत्यन्त दुःखरूप है, इस प्रकार सनत्कुमार मुनि के अभिप्राय को वर्णन करते हैं—

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ।
दुःखमेवेति मत्वाह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥२१॥

वैषयिकं सुखं=विषयजन्य सुख, **शोक सहस्रेण**=हजारों दुःखों से, **आवृतत्वतः**=युक्त होने के कारण, **दुःखम् एव**=दुःखरूप ही है, **इति मत्वा**=इस प्रकार जानकर, **असौ अल्पे**=सनत्कुमार जी ने परिच्छिन्न पदार्थ में, **सुखं न अस्ति**=सुख नहीं है, **इति आह**=इस प्रकार कहा है ॥२१॥

द्वैत में सुखाभाव का अङ्गीकार करता हुआ पूर्वपक्षी अद्वैत में भी सुखाभाव की आशंका अर्थात् सुख की अनुभवरूप अनुपलब्धि

प्रमाण से करते है, और अद्वैत में सुखानुभव होता है इस पक्ष में अद्वैत हानिरूप दोष भी कहते हैं –

ननु द्वैते सुखं मा भूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ।
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥२२॥

ननु द्वैते=शंका करते हैं कि द्वैत में, सुखं मा भूत्=सुख मत होवे, अद्वैते अपि=किन्तु अद्वैत में भी, सुखं नो अस्ति=सुख नहीं है, चेत् अस्ति=यदि अद्वैत में सुख है तो, उपलभ्येत=अनुभव में आना चाहिये, परन्तु आता नहीं, इस लिये अद्वैत में सुख नहीं, तथा च=तब तो (और अनुभव में आने पर तो), त्रिपुटी=अनुभव करने वाला, अनुभव और अनुभव का विषय अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयरूप त्रिपुटी, भवेत्=सिद्ध हो जायेगी ॥२२॥

अद्वैत (ब्रह्म) में सुख नहीं है (अद्वैत ब्रह्म सुख का अधिकरण नहीं) इस प्रकार निषेध का अङ्गीकार सिद्धान्ती हेतु प्रदर्शन पूर्वक करता हुआ अद्वैत सुखरूप है, इस विषय में क्या प्रमाण है इस आशंका का अनुवाद पूर्वक स्वयंप्रकाश होने से प्रमाण का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता इस प्रकार उत्तर कहते हैं –

माऽस्त्वद्वैते सुखं किंतु सुखमद्वैतमेव हि ।
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकांक्षा स्वयंप्रभे ॥२३॥

अद्वैते=अद्वैत ब्रह्म में, सुखं मा अस्तु=सुख मत होवे, किन्तु=परन्तु, हि अद्वैतम् एव= जिस कारण से अद्वितीय ब्रह्म ही सुखं=सुखरूप है (इस लिये सुख का अधिकरण ब्रह्म नहीं), किं मानं=अद्वैत ब्रह्म ही सुखरूप है इस में क्या प्रमाण है, इति चेत्=यदि ऐसी शंका हो तो (उत्तर यह है कि), स्वयंप्रभे=स्वयंप्रकाश ब्रह्म में, मानाकांक्षा न अस्ति=प्रमाण की अपेक्षा नहीं है ॥२३॥

ब्रह्मानन्द की स्वप्रकाशरूपता में क्या प्रमाण है, इस प्रकार आशंका होने पर पूर्वपक्षी का वचन ही प्रमाण है इस प्रकार उत्तर सिद्धान्ती कहते हैं –

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ।
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्सुखं नास्तीति भासते ॥२४॥

स्वप्रभत्वे=ब्रह्म की स्वयंप्रकाशता में, भवद्वाक्यं मानं=आप पूर्वपक्षी का वाक्य ही प्रमाण है, यस्मात् भवान्=क्योंकि आप, इदम् अद्वैतम्=इस अद्वितीय (तत्त्व को) ब्रह्म को, अभ्युपेत्य=(प्रमाण की अपेक्षा रक्खे बिना ही) स्वीकार करके, अस्मिन् सुखं न अस्ति=इस अद्वैत ब्रह्म में सुख नहीं है, इति भासते=इस प्रकार आक्षेप करते हो (इसलिये अद्वैत ब्रह्म स्वयं प्रकाश सिद्ध हुआ) ॥२४॥

मैंने अद्वैत का अंगीकार नहीं किया, किन्तु सिद्धान्ती के द्वारा उक्त अद्वैत का अनुवाद करके दूषण कहा, इसलिये आपकी कही हुई अद्वैत की स्वप्रकाशता की सिद्धि नहीं होती, इस प्रकार पूर्वपक्षी आशंका करते हैं, और उक्त शंका के उत्तर में विकल्प सहन करने में अशक्त होने से अद्वैत अनंगीकार पूर्वपक्षी का बनता नहीं, इस प्रकार मानने वाला सिद्धान्ती पूर्वपक्षी से प्रश्न करता है, उत्तरार्ध के तदेत्यादि ग्रन्थ से—

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं त्वद्वचोऽनूद्य दूषणम् ।
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद् द्वैततः पुरा ॥२५॥

अहम् अद्वैतं=मैं अद्वैत ब्रह्म को, न अभ्युपैमि=अंगीकार नहीं कर रहा हूँ, किन्तु, त्वद्वचः=आपके वचन का अर्थात् आपके कहे हुए अद्वैत का, अनूद्य=अनुवाद करके अद्वैत में, दूषणं वच्मि=दोष कथन करता हूं, इति चेत्=ऐसा यदि कहते हो, तदा द्वैततः पुरा=तब द्वैत से पूर्व, किम् आसीत्=क्या था, ब्रूहि=कहो ॥२५॥

पूर्व श्लोकोक्त 'किं' शब्द से सूचित विकल्पों को दिखाकर पूर्वपक्षी को अद्वैत मनवाते हैं—

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरन्तिमः ।
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥२६॥

किम् अद्वैतं=(द्वैत सृष्टि से पहले) क्या अद्वैत था, उत द्वैतं

=अथवा द्वैत था, अन्यो वा=अथवा द्वैत अद्वैत से विलक्षण तीसरा ही पदार्थ था, अन्तिमः कोटिः=तीसरा पक्ष तो. अप्रसिद्धः=प्रसिद्ध न होने से नहीं बन सकता, द्वितीयः न=दूसरा पक्ष भी (द्वैत था यह पक्ष भी) नहीं बन सकता क्योंकि, अनुत्पत्तेः=सृष्टि से पहले द्वैत की उत्पत्तिही नहीं हुई, अग्रिमः=अतएव प्रथम पक्ष (अद्वैत था यह पक्ष) शिष्यते=परिशेष से सिद्ध होता है ॥२६॥

उक्त प्रकार से अद्वैत युक्ति के बल से ही सिद्ध होता है, अनुभव से नहीं, इस प्रकार प्रश्न पूर्वपक्षी का उठा कर उसका उत्तर देने के लिये सिद्धान्ती विकल्प करता है—

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद ।
निर्दृष्टान्ता सदृष्टान्ता वा कोट्यन्तरमत्र नो ॥२७॥

अद्वैतसिद्धिः=अद्वैत ब्रह्म की सिद्धि, युक्त्या एव=युक्ति के बल से ही की गई है, अनुभूत्या न=अनुभव के द्वारा अद्वैत की सिद्धि नहीं हुई, इति चेत्=इस प्रकार यदि कहते हो तो, निर्दृष्टान्ता वा=युक्ति दृष्टान्त रहित है, अथवा, सदृष्टान्ता, वद=दृष्टान्त सहित है, यह कहो, अत्र कोट्यन्तरं=यहाँ पर तीसरा पक्ष (पूर्व उक्त दो पक्ष से अतिरिक्त तीसरा पक्ष), नो=बन नहीं सकता ॥२७॥

सिद्धान्ती उपहास पूर्वक प्रथमपक्ष का निराकरण करते हुए, द्वितीय विकल्प में वादी प्रतिवादी उभय सम्मत दृष्टान्त पूर्वपक्षी को कहना चाहिये, इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते है—

नानुभूतिर्न दृष्टान्त इति युक्तिस्तु शोभते ।
सदृष्टान्तत्वपक्षे तु दृष्टान्तं वद मे मतम् ॥२८॥

अनुभूतिः न=अद्वैत की सिद्धि युक्ति से ही है, अनुभव से नहीं इस प्रकार कह कर आपने अनुभव का अंगीकार नहीं किया, और, दृष्टान्तः न=युक्ति पक्ष में दृष्टान्त कोई नहीं है, इस प्रकार आपका कथन अयुक्त हैं, क्योंकि दृष्टान्त दिखाए बिना युक्ति कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकती, इस लिये युक्ति दृष्टान्त रहित है, इति युक्तिः तु=ऐसी आपकी युक्ति तो, शोभते=बहुत सुन्दर हैं, सदृष्टान्तत्वपक्षे=

युक्ति दृष्टान्त सहित होती है इस पक्ष में, तु मे मतम्=तो मेरे सम्मत, दृष्टान्तं वद=दृष्टान्त कहो ॥२८॥

उभय सम्मत दृष्टान्त कहो, ऐसा सिद्धान्ती के कहने पर दृष्टान्त से ही अद्वैत को सिद्ध करता हूँ, इस प्रकार आशंका पूर्वपक्षी करते हैं, और सिद्धान्ती विकल्प पूर्वक उसका खण्डन करते हैं—

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलम्भेन सुप्तिवत् ।

इति चेत्सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय ॥२९॥

प्रलयः=प्रलय अवस्था, अद्वैतः=द्वैत रहित है, द्वैतानुपलम्भेन=क्योंकि वहाँ द्वैत का अनुभव नहीं होता, सुप्ति वत्=जैसे सुषुप्ति अवस्था है, इति चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, सुप्तिः=सुषुप्ति, अद्वैता=द्वैत रहित अद्वैतरूप है, इति अत्र=इस में, दृष्टान्तं ईरय=दूसरा दृष्टान्त कहो।

टि०—अद्वैत सिद्ध करने वाले पूर्वपक्षी के लिये स्वसुषुप्ति दृष्टान्त है, अथवा परसुषुप्ति दृष्टान्त है, प्रथम पक्ष में स्वसुषुप्तिरूप दृष्टान्त दूसरे के लिये असिद्ध होने के कारण उसकी सिद्धि के लिये दूसरा दृष्टान्त कहना चाहिए, इस अभिप्राय से सिद्धान्ती ने कहा "सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टान्तमीरय" ॥२९॥

पूर्वपक्षी के अभिमत अद्वैत साधक युक्ति में परसुप्ति ही दृष्टान्त है, यह द्वितीय विकल्प यदि अंगीकार किया जाये तो, वह परसुप्तिरूप दृष्टान्त पूर्वपक्षी के लिये अप्रसिद्ध होने से उसका दृष्टान्तीकरण बन नहीं सकता, इस अर्थ को सिद्धान्ती उपहास पूर्वक कहते हैं—

दृष्टान्तः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ।

यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥३०॥

परसुप्तिः दृष्टान्तः=दूसरे की सुषुप्ति दृष्टान्त है, चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, अहो ते=वाह वाह तुम्हारी, महत् कौशलं=बड़ी भारी चतुरता है (दृष्टान्त कहने में), यः=जो आप पूर्वपक्षी, स्वसुप्तिं न वेत्ति=अपनी सुषुप्ति को भी नहीं अनुभव करते हो,

अस्य=ऐसे आपको, परसुप्तौ तु=दूसरे की सुषुप्ति में (अर्थात् दूसरे की सुषुप्ति को आप नहीं अनुभव कर सकते हो इस विषय में), का कथा=कहना ही क्या है ॥३०॥

अनुमान प्रमाण के बल से परसुप्ति की सिद्धि अर्थात् निश्चय हो सकता है, इस प्रकार पूर्वपक्षी की आशंका का कथन करके सिद्धान्ती उत्तर देते हैं कि तब तो दृष्टान्तरूप तुम्हारी सुषुप्ति स्वप्रकाशरूप ही सिद्ध होती है—

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तो यथाऽहमिति चेत्तदा ।
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥३१॥

परः सुप्तः=दूसरा मनुष्य सोया हुआ है, निश्चेष्टत्वात्=प्राणादि होते हुए भी चेष्टा रहित होने से, यथा अहं=जैसे मैं हूँ, इति चेत्=यदि ऐसा कहते हो, तदा उदाहर्तुः=तब तो दृष्टान्त करने वाले, ते सुषुप्तेः=तुम्मारी अपनी सुषुप्ति की, स्वप्रभत्वं=स्वयं-प्रकाशरूपता, बलात्=बलात्कार से (अर्थात् अपनी सुषुप्ति को उदाहरण के रूप में कहने के सामर्थ्य से), भवेत्=सिद्ध होती है ॥३१॥

मेरी सुषुप्ति स्वप्रकाशरूप कैसे बलात्कार से सिद्ध होती है, ऐसी आशंका का उत्तर आगे के श्लोक से कहते हैं—

नेन्द्रियाणि न दृष्टान्तस्तथाप्यङ्गीकरोषि ताम्
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥३२॥

इन्द्रियाणि न=सुषुप्ति का साधक इन्द्रियाँ भी सुषुप्ति काल में नहीं है (क्योंकि उस समय इन्द्रियां अज्ञान में लय हो गई हैं), दृष्टान्तः न=हम दोनों के सम्मत दृष्टान्त भी नहीं हैं, तथापि तां=फिर भी सुषुप्ति को, अङ्गीकरोषि=तुम स्वीकार करते हो, साधनैः विना=इस प्रकार ज्ञान के साधनों के बिना ही, यद् भानं=जो स्फुरण है, अर्थात् ज्ञान है, इदम् एव स्वप्रभत्वं=यही (सुषुप्ति की) स्वप्रकाशरूपता है ! अतः बलात् स्वप्रकाशरूपता सुषुप्ति की सिद्ध हुई है॥३२॥

पूर्वोक्त प्रकार से सुषुप्तिदृष्टान्त से प्रलय की अद्वैतरूपता तथा स्वयंप्रकाशरूपता की सिद्धि करके अब प्रलय में सुख की सिद्धि के लिये प्रथम सुषुप्ति सुख के साधनार्थ पूर्वपक्षी की आशंका उठा कर समाधान करते हैं—

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ।

शृणु, दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥३३॥

सुप्तौ=सुषुप्ति में, अद्वैतस्वप्रभत्वे=अद्वैतरूपता और स्वयं-प्रकाशरूपता दोनों, स्तां=भले ही रहे परन्तु, सुखं=सुखरूपता कथं वद=कैसे सिद्ध हुई कहो, शृणु=सुनों, तदा=सुषुप्ति काल में, दुःखं न अस्ति=दुःख नहीं है, ततः सुखं=इस लिये सुख ही, ते=तुम्हारे पक्ष में, शिष्यते=परिशेष से सिद्ध होता है (जैसे परस्पर विरोधी अन्धकार और प्रकाश दोनों में अन्धकार का निषेध करने पर प्रकाश सिद्ध होता है) ॥३३॥

सुषुप्ति में दुःख नहीं रहता इस में क्या प्रमाण है, ऐसी आकांक्षा के उत्तर में श्रुति और अनुभव प्रमाण कहते हैं –

अन्धः सन्नप्यनन्धः स्याद्विद्धोऽविद्धोऽथ रोग्यपि ।

अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ॥३४॥

अन्धः सन् अपि=(जाग्रत् अवस्था में) देह अभिमान से प्रयुक्त अन्ध होता हुआ भी, अनन्धः स्यात्=(सुषुप्ति अवस्था में अभिमान रहित होने के कारण) पुरुष अन्धत्व दोष से रहित होता है, विद्धः=उसी प्रकार वाणादि से पीडित हुआ भी, अविद्धः, अथ=पीड़ा रहित हो जाता है, और, रोगी अपि=रोग वाला भी, अरोगी=रोग रहित हो जाता है, इति श्रुतिः=इस प्रकार श्रुति ने, प्राह=कहा है (अर्थात् देहाभिमान के कारण प्राप्त अन्धत्व आदि दोषों का सुषुप्ति में निषेध श्रुति करती है), तत् च=उस बात को (अर्थात् रोगादि से पीडित भी मनुष्य सुषुप्ति में दुःख का अनुभव नहीं करता इस बात को) सर्वे जनाः विदुः=सभी मनुष्य अनुभव करते हैं ॥३४॥

जहाँ दुःख नहीं वहाँ सुख होता है ऐसा नियम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जड़ लोष्टादि में उस नियम का व्यभिचार है ऐसी आशंका करके उसका परिहार करते हैं -

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ।
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ॥३५॥

दुःखाभावमात्रेण=केवल दुःखाभावरूप हेतु से, सुखं न=सुख सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि, लोष्टशिलादिषु=मिट्टी का डेला तथा पाषाण आदियों में, द्वयाभावस्य=सुखाभाव तथा दुःखाभाव दोनों ही, दृष्टत्वात्=देखे गये हैं, इति चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, वचः=तुम्हारा दृष्टान्तरूप वचन, विषमं=विरुद्ध है (अर्थात् दार्ष्टान्ति के अनुकूल नहीं) ॥३५॥

दार्ष्टान्तिक के अनुकूल दृष्टान्त नहीं इस बात का उपपादन करते हैं -

सुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ।
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥३६॥

परदुःखसुखोहनम्=दूसरे में होने वाले दुःख अथवा सुख की कल्पना क्रम से, सुखदैन्यविकासाभ्यां=सुख की विषण्णता अथवा प्रसन्नतारूप हेतु से होती है, लोष्टे=मिट्टी के डेले आदिकों में, दैन्याद्यभावतः=सुख की विषण्णता अथवा प्रसन्नता के अभाव होने से, दुःखाद्यूहः=दुःख सुख की कल्पना, न सम्भवेत्=सम्भवती नहीं (इस लिये लोष्टादिकों में दुःखाभाव का निश्चय नहीं हो सकता)। अतः दृष्टान्त विषम है ॥३६॥

अब अन्यदीय सुख दुःख से स्वकीय सुख दुःख की विलक्षणता दिखाते है—

स्वकीये सुख दुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ।
भावो वेद्योऽनुभूत्यैव तदभावोऽपि नान्यतः ॥३७॥

स्वकीये सुख दुःखे तु=अपने सुख दुःख तो अनुभव सिद्ध

होने के कारण, ऊहनीये न=अनुमान द्वारा जानने योग्य नहीं है, ततः तयोः=इस लिये सुख दुःख का, भावः=सद्भाव (विद्यमानता) तद्भावः अपि=और सुख दुःख का अभाव भी, अनुभूत्या एव वेद्यः=अनुभव से ही (प्रत्यक्ष से ही) जानने योग्य है, अन्यतः न=अनुमानादि अन्य प्रमाण से नहीं ॥३७॥

इस श्लोक के पूर्वार्ध से सिद्ध अर्थ को कहते हैं, और उत्तरार्ध से पूर्वार्ध से सिद्ध प्रयोजन को भी कहते हैं—

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः ।
विरोधिदुःखराहित्यान्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥३८॥

तथा सति=अपने सुख दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञात होता है ऐसा मान लेने पर, स्वसुप्तौ च=अपनी सुषुप्ति में भी, दुःखाभावः अनुभूतितः=दुःख का अभाव प्रत्यक्ष अनुभव से ही सिद्ध होता है, विरोधिदुःखराहित्यात्=सुषुप्ति में सुख विरोधी दुःख के अभाव होने से, निर्विघ्नम् सुखं इष्यताम्=बाध रहित सुख स्वीकार करना चाहिये ॥३८॥

शय्यादि सुखसाधन के संपादन की अन्यथा अनुपपत्ति से भी सुषुप्ति में सुख है, ऐसा जाना जाता है, इस बात को अग्रिम श्लोक से कहते हैं—

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ।
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥३९॥

तत्र सुप्तौ=उस सुषुप्ति अवस्था में, सुखं चेत् नो भवेत्=सुख यदि नहीं होता होवे तो, महत्तर प्रयासेन=बड़े भारी यत्न से मृदुशय्यादिसाधनम्=कोमल बिस्तर आदि सुखसाधन, कुतः सम्पाद्यते=क्यों संग्रह किया जाता है ॥३९॥

पूर्व श्लोकोक्त अन्यथा अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण की अन्यथा उपपत्ति की आशंका करते हैं - चेत् तक ग्रन्थ से और अग्रिम ग्रन्थ से उस आशंका का निवारण करते हैं —

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा ।
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ॥४०॥

एतत्=मृदु शय्या आदि साधन, दुःखनाशार्थं एव=दुःख के अभाव के लिये है ही, इति चेत्=यदि ऐसा कहते हो तो, रोगिणः=रोगी के लिये, तथाभवतु=ऐसा भले हो होवे, तु=परन्तु, अरोगिणः=रोग रहित पुरुष के लिये, एतद् सुखाय एव=पूर्व उक्त साधन सुख के लिये ही है, इतिनिश्चिनु=इस प्रकार निश्चय करो क्योंकि अरोगी के लिये निवृत्त करने योग्य दुःख है ही नहीं ॥४०॥

सुषुप्ति कालीन सुख यदि शय्यादि साधन से जन्य होवे तो वह सुख आत्मस्वरूप नहीं हो सकता, इस प्रकार विरोध की आशंका करते हैं, और सिद्धान्ती विकल्प पूर्वक उसका खण्डन करते है—

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ।
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥४१॥

तर्हि सुखं=तब तो वह सुख, साधनजन्यत्वात्=शय्यादि साधन से उत्पन्न होने वाला होने से, वैषयिकं=सांसारिक अनित्य सुख, भवेत्=होगा (आत्मसुख नहीं) ऐसी शंका होने पर उत्तर कहते हैं, अत्र=इस प्रसंग में, निद्रायाः पूर्वं=निद्रा से पहले, शय्यासनादिजम्=कोमल बिस्तर आदि साधनों से उत्पन्न होने वाला जो सुख है, भवतु एव=वह तो वैषयिक सुख है ही ॥४१॥

सुषुप्ति से पूर्वकालीन सुख विषय जन्य कहते हो अथवा सुषुप्ति कालीन सुख को विषय जन्य कहते हो ऐसा विकल्प पूर्वक प्रथम पक्ष में इष्टापत्तिद्वारा शंका का समाधान किया और अब दूसरे पक्ष का निराकरण करते हैं—

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ।
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥४२॥

तु निद्रायां=परन्तु सुषुप्ति में, यत् सुखं=जो सुख होता है

तद् केन हेतुना=वह सुख किस साधन से, जन्यते=उत्पन्न होता है (अर्थात् किसी भी साधन से उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस काल में किसी भी साधन का ज्ञान होता नहीं), आदौ=निद्रा से पूर्व सुखाभिमुखधीः=जीव साधन जन्य सुख के अभिमुख बुद्धि वाला होता है, पश्चात्=पीछे अर्थात् निद्राकाल में, परे सुखे=उत्तम स्वरूपसुख में, मज्जेत्=लीन होता है (इसलिये अनुभव करने वाला जीव सुषुप्ति में लीन हो जाने से विषय सुख की तरह निद्राकालीन सुख का अनुभव नहीं करता)।

उत्तरार्ध से निद्राकालीन सुख यदि है तो विषय सुख की न्याई निद्राकालीन सुख का अनुभव क्यों नहीं होता ऐसी आशंका का समाधान करते है कि निद्राकाल में अनुभव करने वाला निद्रानिमग्न होने के कारण विषय सुख की न्याई सुषुप्तिकालीन आत्मसुख का अनुभव नही होता ॥४२॥

संक्षेप से कहे हुए अर्थ को अगले तीन श्लोकों से विस्तार पूर्वक कहते हैं—

जाग्रद्व्यापृत्तिभिः श्रान्तो विश्रम्याथ विरोधिनि ।
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥४३॥

जाग्रद्व्यापृत्तिभिः=जाग्रत् अवस्था में किये जाने वाले व्यापारों से, श्रान्तः=थका हुआ यह जीव, विश्रम्य अथ=कोमल शय्या आदि पर शयन करने के अनन्तर, विरोधिनि=परिश्रम जनित दुःख के, अपनीते=निवारण हो जाने पर, स्वस्थचित्तः=व्याकुलता रहित चित्त वाला हुआ, विषये=कोमल शय्यादि विषयों में, सुखं=उत्पन्न होने वाले सुख को, अनुभवेत्=अनुभव करता है ॥४३॥

अब विषय सुख कैसा है इस प्रकार आकांक्षा उत्पन्न होने पर वैषयिक सुख का स्वरूप प्रदर्शन करते हुए, परम सुख में निमग्न होने के निमित्त होने के कारण उस अनुभव में भी श्रम दिखाते हैं—

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानन्दः प्रतिबिम्बति ।
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रान्तिमाप्नुयात् ॥४४॥

आत्माभिमुखधीवृत्तौ=आत्मा की तरफ मुख है जिसका ऐसी बुद्धिवृत्ति में अथवा अन्तर्मुख बुद्धिवृत्ति में, स्वानन्दः=अपना ही स्वरूप आत्मानन्द, प्रतिबिंबति=प्रतिबिंबित होता है (जैसे अपने अभिमुख दर्पण में मुख का प्रतिबिंब पड़ता है) वह प्रतिबिंबित आनन्द ही विषयानन्द है, अत्र अपि=उस दशा में भी (उस काल में भी), एनं अनुभूय=उस विषयानन्द का अनुभव करके, त्रिपुट्या=अनुभव करने वाला, अनुभव और अनुभव का विषय इस त्रिपुटी के कारण, श्रान्तिं आप्नुयात्=श्रम को वह जीव प्राप्त करता है ॥४४॥

इस से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी आकांक्षा का उत्तर कहते हैं—

तच्छ्रमस्यापनुत्यर्थं जीवो धावेत् परात्मनि ।
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानन्दः स्वयं भवेत् ॥४५॥

तच्छ्रमस्य=त्रिपुटी दर्शन जन्य थकावट की, अपनुत्यर्थं=निवृत्ति के लिये, जीवः परात्मनि धावेत्=जीव आनन्दरूप ब्रह्म में शीघ्र गमन करता है, तेन=और जाकर उस ब्रह्म से, ऐक्यं प्राप्य=एकता को प्राप्त करके, स्वयं तत्रत्यः=खुद भी सुषुप्ति अवस्था में विद्यमान, ब्रह्मानन्दः भवेत्=ब्रह्मानन्दस्वरूप ही हो जाता है ॥४५॥

इस प्रकार उपपादन किये हुए इस सौषुप्तानन्द में शकुनि आदि बहुत से दृष्टान्त श्रुति के द्वारा कहे हुए विद्यमान हैं, इस वार्ता को अब कहते हैं—

दृष्टान्ताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ।
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानन्दे श्रुतीरिताः ॥४६॥

सुप्त्यानन्दे=सुषुप्ति में स्थित ब्रह्मानन्द के विषय में, शकुनिः=शकुनि पक्षी और, श्येनः=बाज पक्षी, च कुमारः=और छोटा बालक, महानृपः=चक्रवर्ती राजा और, महाब्राह्मणः=ब्रह्मवेत्ता, इति एते दृष्टान्ताः=ये सब बहुत से दृष्टान्त, श्रुतीरिताः=श्रुति के कहे हुए विद्यमान हैं।

टि०—शकुनि आदि दृष्टान्तों से सुषुप्ति में आनन्द का उप-

पादन द्वारा 'सुषुप्ति में सुख नहीं है' इस मत का निराकरण किया ॥४६॥

अब आदि में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक प्रतिपादन करने वाले छान्दोग्यश्रुतिवाक्य के अर्थ को संक्षेप से दो श्लोकों द्वारा दिखाते हैं—

शकुनिः सूत्रबद्धः सन्दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ।
अलब्ध्वा बन्धनस्थानं हस्तस्तम्भाद्युपाश्रयेत् ॥४७॥

सूत्रबद्धः सन्=सूत से बन्धा हुआ, शकुनिः=शकुनि पक्षी (आहारादि ग्रहण के लिये), दिक्षु=नाना दिशाओं में, व्यापृत्य=व्यापार, अर्थात् चेष्टा करके, विश्रमम्=आकाश में विश्राम के स्थान, अलब्ध्वा=प्राप्त न होकर थका हुआ, बन्धनस्थानं=बन्धन का आधार, हस्तस्तम्भादि=हाथ अथवा खम्भे आदि को, उपाश्रयेत्=जैसे आश्रय करता है ॥४७॥

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माऽधर्मफलाप्तये ।
स्वप्ने जाग्रति च भ्रान्त्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥४८॥

तद्वत् जीवोपाधिमनः=उसी प्रकार जीव की उपाधि मन भी, धर्माधर्म फलाप्तये=पुण्य पाप के फल सुख दुःख अनुभव के लिये, स्वप्ने च=स्वप्नावस्था में तथा, जाग्रति भ्रान्त्वा=जाग्रत् अवस्था में भ्रमण करके, कर्मणि क्षीणे=भोग देने वाले कर्म के क्षय होने पर, लीयते=अपने उपादान कारण अज्ञान में लीन हो जाता है (मन उपाधि के लय हो जाने पर मन से उपहित जीव भी परमात्मारूप ही हो जाता है) ॥४८॥

अब श्येन के दृष्टान्त को विस्तार पूर्वक कहने वाले बृहदारण्यक् श्रुति वाक्य का अर्थ संक्षेप से कहते हैं—

श्येनो वेगेन नीडैकलम्पटः शयितुं व्रजेत् ।
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद् ब्रह्मानन्दैकलम्पटः ॥४९॥

श्येनः=जैसे (आकाश में उड़ता हुआ) श्येन नामा बाज

पक्षी, शयितुं=(प्राप्त श्रम निवारणार्थ) शयन करने के लिये, नीड़ैकलम्पटः=घोंसले की ही इच्छा वाला हुआ, वेगेन व्रजेत्=वेग से शीघ्र (नीड़ के प्रति) गमन करता है, तथा जीवः=उसी प्रकार मन उपधिवाला चिदाभासरूप जीव भी, ब्रह्मानन्दैकलम्पटः=केवल ब्रह्मानन्द की ही अभिलाषा करता हुआ, सुप्त्यै=सुषुप्ति के लिये अर्थात् विश्राम के लिये, धावेत्=(हृदयाकाश के प्रति) शीघ्र गमन करता है ॥४९॥

अब आगे के श्लोक से कुमारादि तीन दृष्टान्तों को दिखाने वाले बालाकीब्राह्मण में स्थित वाक्य का तीन श्लोकों से व्याख्यान करते हैं—

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ।
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानन्दैकस्वभावभाक् ॥५०॥

अति बालः=जैसे बिलकुल छोटाबच्चा, स्तनं=पेट भर माता के स्तन, पीत्वा मृदुशय्यागतः=पीकर अर्थात् पिलाया हुआ, और कोमल शय्या पर सुलाया हुआ, हसन्=हंसता हुआ, रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेः=(अपना पराया ज्ञान रहित होने से) रागद्वेष आदि की उत्पत्ति न होने के कारण (अर्थात् रागादि रहित हुआ), आनन्दैकस्वभावभाक्=आनन्दमूर्ति होकर (आनन्द स्वरूप से) स्थित है ॥५०॥

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ।
मानुषानन्द सीमानं प्राप्याऽनन्दैकमूर्तिभाक् ॥५१॥

सार्वभौमः महाराजः=अथवा जैसे चक्रवर्ती महाराजा, सर्वभोगतःसन्तृप्तः=सम्पूर्ण भोगों से सन्तुष्ट होकर, मानुषानन्दसीमानंप्राप्य=मर्त्य लोक के सुख की अवधि को प्राप्त हुआ, आनन्दैकमूर्तिभाक्=रागादि रहित सुख स्वरूप से स्थित होता है ॥५१॥

महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ।
विद्यानन्दस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥५२॥

महाविप्रः ब्रह्मवेदी=अथवा जैसे महाब्राह्मण जीवाभिन्न ब्रह्म-

साक्षात्कार करने वाला ब्रह्मवेत्ता कृतकृत्यत्वलक्षणां=कृतकृत्यतारूप, विद्यानन्दस्य=विद्या सुख की, परमां काष्ठां प्राप्य=परम अवधि को अर्थात् जीवन मुक्ति को प्राप्त हुआ, अवतिष्ठते=परमानन्द ब्रह्मरूप होकर स्थित होता है (उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में लीन हुआ जीव भी ब्रह्मानन्द स्वरूप होकर अवस्थित होता है) ॥५२॥

कुमारादि तीनों का ही क्यों दृष्टान्त रूप से कथन किया अन्य शकुनि और श्येन का क्यों नहीं, इसका तात्पर्य कथन करते हैं—

मुग्ध बुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ।
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥५३॥

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां=विवेक रहित बालक, विवेकियों में चक्रवर्ती राजा, और अतिविवेकियों में सुखरूप आत्मा के साक्षात्कार करने वाला ब्रह्मवेत्ता इन तीनों की, लोके सुखात्मता सिद्धा=संसार में सुखरूपता अर्थात् ये तीनों सुखी हैं यह बात प्रसिद्ध ही है, उदाहृतानां अन्येतु=उदाहरण अर्थात् दृष्टान्त में कहे गये तीनों से भिन्न सब तो, दुःखिनः=(सर्वदा रागादि वाले होने से) दुःखी ही हैं, सुखात्मकाः न=सुखी नहीं (इस लिये उनका दृष्टान्त नहीं कहा गया) ॥५३॥

ये तीनों सुखी भले ही होवे प्रकृत में अर्थात् सुषुप्त पुरुष की ब्रह्मानन्दरूपता में क्या आया इस आशंका का निवारण दार्ष्टान्तिक श्रुति वाक्य के तात्पर्य कथन द्वारा करते है, और उत्तरार्ध से सुषुप्त पुरुष ब्रह्मानन्दैकतत्पर है इस विषय में युक्ति प्रदर्शन करने वाले ज्योतिर्ब्राह्मण में स्थित वाक्य का अर्थ से अनुक्रमण करते हैं —

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानन्दैकतत्परः ।
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चान्तरम् ॥५४॥

कुमारादिवत् एव अयं=जैसे कुमार आदि सुखी हैं, उसी प्रकार ही यह सुषुप्त जीव भी, ब्रह्मानन्दैकतत्परः=ब्रह्म स्वरूप आनन्द के भागी है, स्त्री परिष्वक्तवद्=जैसे संसार में प्रिय स्त्री के द्वारा आलिङ्गन प्राप्त हुआ कामी पुरुष, न बाह्यं च=न तो बाह्य और

न अपि आन्तरम्=न ही भीतर के विषय को (वस्तु को), वेद=जानता है अर्थात् बाह्य आन्तर विषयज्ञान रहित हुआ सुखरूप से स्थित होता हैं, उसी प्रकार सुषुप्ति में प्राज्ञरूप परमात्मा से एकता को प्राप्त हुआ जीव बाह्य आन्तर विषयज्ञान के अभाव से ब्रह्मानन्द स्वरूप ही होकर स्थित होता है ॥५४॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक वाक्यों में बाह्य और आभ्यन्तर शब्द का विवक्षित अर्थ को क्रम से दिखाते हैं—

बाह्यं रथ्यादिजं वृत्तं गृहकृत्यं यथान्तरम् ।
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आन्तरः ॥५५॥

यथा बाह्यं=जैसे दृष्टान्त में बाह्य शब्द का अर्थ, रथ्यादिजं वृत्तं=गली, सड़क आदियों में होने वाला वृत्तान्त है, आन्तरं=और आन्तर शब्द का अर्थ गृह का कार्य है, तथा=उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में, जागरणं बाह्यं=जाग्रत् को बाह्य कहते हैं, नाडीस्थः=और जाग्रत् की वासना से नाड़ी के मध्य में प्रतीत होने वाला, स्वप्नः आन्तरः=स्वप्न प्रपञ्च को आन्तर कहते हैं ॥५५॥

जीव सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्मानन्दरूपेण अवस्थित होता है इस में युक्ति प्रदर्शन करने वाली श्रुति का तात्पर्य कथन करते हैं—

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ।
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥५६॥

सुप्तौ पिता अपि=सुषुप्ति अवस्था में पिता भी, अपिता=पितृत्व धर्म रहित हो जाता है, इत्यादौ=इत्यादि श्रुति वचन में, जीवत्ववारणात्=जीव के धर्म पितृत्व आदि का निषेध श्रुति ने ही किया है इसलिये, सुप्तौ संसारित्वासमीक्षणात्=सुषुप्ति में जन्म, मरण संसाररूप जीवधर्म की प्रतीति न होने के कारण सौषुप्त पुरुष, जीवः नो=जीव नहीं है, ब्रह्म एव=किन्तु ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है ॥५६॥

पितृत्वादि का अभिमान उस काल में न रहने पर भी सुख-दुःखादि संसार क्यों नहीं रहेगा, अर्थात् संसारी जीव सुषुप्ति अवस्था

में विद्यमान रहेगा, फिर वह ब्रह्मरूप कैसे, इस आशंका का निवारण करने के लिये, संसार देहाभिमानमूलक होने से अभिमान न रहने पर संसार भी नहीं रहेगा, अतएव जीव ब्रह्मरूपेण अवस्थित होता है, इस प्रकार मानता हुआ सिद्धान्ती इस अर्थ के प्रतिपादक समनन्तर श्रुतिवाक्य के तात्पर्य को कहते हैं—

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ।
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ॥५७॥

यः पितृत्वाद्यभिमानः=जीव में जो, मैं पिता हूँ, माता हूँ इस प्रकार अभिमान है, सः हि=वह अभिमान ही, सुखदुःखाकरः=सुख दुःखादि संसार का खान अर्थात् मूल है, तस्मिन् अपगते=वह अभिमान निवृत्त होने पर, अयं सर्वान् शोकान्=यह जीव सब शोकों से, तीर्णः भवति=उत्तीर्ण हो जाता है। अतएव सुषुप्ति में जीव का ब्रह्मरूप से अवस्थान सम्भव हैं ॥५७॥

कही गई श्रुतियों से सुखरूप ब्रह्म की प्राप्ति कण्ठतः नहीं कही गई ऐसी आशंका के उत्तर में कण्ठतः सुखप्राप्ति को कहने वाले कैवल्य श्रुतिवाक्य का अर्थ से पाठ करते हैं—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृतः ।
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥५८॥

सुषुप्तिकाले=सुषुप्ति अवस्था में, सकले विलीने=जाग्रत् आदि संपूर्ण प्रपञ्च तमःप्रधान प्रकृति में लय प्राप्त होने पर, तमसा आवृतः=उसी प्रकृति से अर्थात् अज्ञान से आच्छादित हुआ जीव, सुखरूपम् उपैति=सुखस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है, इति हि आथर्वणी श्रुतिः=इस प्रकार अथर्ववेद की कैवल्य उपनिषद्रूप श्रुति, ब्रूते=कहती है ॥५८॥

यह सुप्तिसुखरूप अर्थ केवल श्रुतिप्रसिद्ध ही नहीं किन्तु सर्वानुभव सिद्ध भी है इस वार्ता को अगले श्लोक से कहते हैं—

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ।
इति सुप्ते सुखाज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥५९॥

उत्थितः=सुषुप्ति अवस्था से उठा हुआ पुरुष, अहम् अत्र=मैं सुषुप्ति अवस्था में, सुखम् अस्वाप्सं=सुख से सोया था, वै किंचित् न अवेदिषं=और कुछ भी नहीं जानता था, इति सुप्ते=इस प्रकार निद्राकालीन, सुखाज्ञाने=सुख और अज्ञान दोनों को, परामृशति च=स्मरण करता है (इस लिये सुषुप्ति में सुख है यह अनुभव से सिद्ध हुआ) ॥५९॥

परामर्श अर्थात् स्मरण अप्रमाणरूप होने से उस स्मरण के बल से सुख की सिद्धि कैसे हो सकती, ऐसी आशंका का उत्तर इस अभिप्राय से कहते हैं कि स्मरण प्रमाण न होने पर भी स्मरण का मूल अनुभव प्रमाण के बल से सुख की सिद्धि होती हैं—

परामर्शोऽनुभूतेऽस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ।
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥६०॥

परामर्शः अनुभूते अस्ति=स्मरण ज्ञान अनुभव किये हुए विषय का ही होता है, इति तदा=इस लिये सुषुप्ति काल में, अनुभवः आसीत्=सुखानुभव था, सुखं=ब्रह्मस्वरूप सुख, चिदात्मत्वात्=स्वयं प्रकाश चैतन्य रूप होने से, स्वतः भाति=स्वभाव से (दूसरे की अपेक्षा न रखते हुए) भासता है, ततः=और उसी स्वयं प्रकाश सुख के द्वारा ही, अज्ञानधीः=अज्ञान की प्रतीति भी होती है।

टि०-सुषुप्ति में मन सहित ज्ञान के कारण इन्द्रियों का लय हो जाने से सुषुप्ति में अनुभव की सिद्धि कैसे, अथवा वहां अज्ञान के अनुभव का भी साधन कहां, इन दोनों आशंकाओं का निवारण श्लोक के उत्तरार्ध से किया कि सुख तो स्वयं प्रकाश चिद्रूप होने से अपने अनुभव में करण की अपेक्षा नहीं रखता और स्वयंप्रकाश सुख के बल से ही आवरण अज्ञान की प्रतीति सिद्ध हो सकती है, अतः अज्ञान के भान में भी करणापेक्षा नहीं ॥६०॥

सुषुप्ति कालीन सुख स्वयंप्रकाश सुखरूप होने पर भी ४५ वें श्लोक में उक्त वह ब्रह्म सुखरूप है यह सम्भव नहीं, क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं ऐसी आशंका उठाकर समाधान करते हैं—

कि 'विज्ञानम् आनन्दम्' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति वाक्य प्रमाण विद्यमान है इस वास्ते सौषुप्त सुख ब्रह्मरूप सुख हो सकता है—

ब्रह्म विज्ञानमानन्दमिति वाजसनेयिनः ।

पठन्त्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्म एव नेतरत् ॥६१॥

विज्ञानम् आनन्दं=स्वयं प्रकाश चैतन्य सुखरूप, **ब्रह्म इति**=ब्रह्म है इस प्रकार, **वाजसनेयिनः पठन्ति**=वाजसनेयी शाखा वाले पढ़ते हैं अर्थात् कहते हैं, **अतः स्वप्रकाशं**=इसलिये स्वयं प्रकाश चैतन्यरूप, **सुखं ब्रह्म एव**=सौषुप्त सुख ब्रह्म स्वरूप ही है, **इतरत् न**=ब्रह्म से भिन्न दूसरा नहीं ॥६१॥

मैं सुख से सोया था और कुछ भी नहीं जानता था, इस प्रकार सौषुप्त सुख और अज्ञान का स्मरण विज्ञानमयशब्द का वाच्य जीव को होता है, इस लिये उसी को सुखादि का अनुभवकर्ता कहना चाहिये, क्योंकि स्मरण और अनुभव एक ही अधिकरण में होते हैं, ऐसा नियम है, परन्तु प्रकृत में तो अनुभव और स्मरण का अधिकरण प्राज्ञ अर्थात् आनन्दमय और विज्ञानमय दो ज्ञात होते हैं, इस वास्ते स्मरण कैसे बनेगा, इस आशंका का निवारण करते है कि अज्ञान में विलयावस्था वाला विज्ञानमय आनन्दमय से अभिन्न होकर अनुभव कर्ता है, और वही जाग्रत् में अभिव्यक्त हो कर स्मरण करता है, इस वास्ते कोई अनुपपत्ति नहीं—

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ।

तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥६२॥

यत् अज्ञानं=जो अज्ञान सुषुप्ति काल में विद्यमान है, **तत्र तौ**=उस अज्ञान में प्रमाता और प्रमाणरूप से प्रसिद्ध दोनों, **विज्ञानमनोमयौ**=विज्ञानमय और मनोमय, **लीनौ**=लय प्राप्त हुए स्थित हैं (इस लिये सुषुप्ति में बुद्धि उपाधिक विज्ञानमय जीव अज्ञान का अनुभव करने वाला नहीं हो सकता), **हि तयोः**=क्योंकि विज्ञानमय और मनोमय दोनों की, **विलयावस्था हि**=लय की दशा ही, **निद्रा**=निद्रा कही जाती है (अर्थात् सुषुप्ति कही जाती है), सा

एव च अज्ञानं=और वह निद्रा ही अज्ञान है इस प्रकार विद्वान् लोग कहते हैं ॥६२॥

सौषुप्त सुखादि के अनुभव काल में लीन होने से असत् विज्ञानमय को जाग्रत् में सुखादि का स्मरण कैसे होगा, ऐसी आशंका के उत्तर में कहते हैं कि विलयावस्था में भी विज्ञानमय का स्वरूप से नाश न होने के कारण, विलयावस्थारूप उपाधि वाले आनन्दमय के रूप से विज्ञानमय का ही अनुभवकर्त्तृत्व, और विज्ञानमय शब्द का वाच्य घनीभावरूप उपाधि युक्त उसी विज्ञानमय का स्मरण-कर्तृत्व (दोनों) एक ही के बन सकते हैं—

विलीनघृतवत् पश्चात् स्याद्विज्ञानमयो घनः ।
विलीनावस्थ आनन्दमयशब्देन कथ्यते ॥६३॥

विलीनघृतवत्=जैसे अग्नि के सम्बन्ध से पिघला हुआ घृत पश्चात्=बाद में वायु आदि के सम्बन्ध से फिर घनीभूत हो जाता है, (जम जाता है) उसी प्रकार (जाग्रतादि के भोग देने वाले कर्मों के क्षय होने से निद्रारूप से लय प्राप्त हुआ अन्तःकरण पुनः भोग देने वाले कर्म के वश से उत्थान को प्राप्त होने पर बुद्धि अर्थात् विज्ञान के रूप में घनीभूत हो जाता है, उस) घनीभूत विज्ञानरूप उपाधि वाला आत्मा भी, विज्ञानमयः घनः स्यात्=विज्ञानमय जीव घन हो जाता है, विलीनावस्थः=और वही विज्ञानमय पूर्व लया-वस्थारूपउपाधि वाला होकर, आनन्दमयशब्देन कथ्यते=आनन्द-मय शब्द से कहा जाता है ॥६३॥

विलीनावस्थ विज्ञानमय ही आनन्दमय है इस पूर्वोक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं—

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिम्बिता ।
सैव तद्बिम्बसहिता लीनानन्दमयस्ततः ॥६४॥

सुप्तिपूर्व क्षणे=सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में, या=जो अन्तर्मुखीन, बुद्धि वृत्तिः=बुद्धि की वृत्ति, सुखबिम्बिता=स्वरूप सुख के प्रतिबिम्बयुक्त होती है, ततः=अनन्तर अर्थात् उसके बाद,

तद्बिंबसहिता=उस प्रतिबिंब के सहित, सा एव लीना=वह बुद्धि-वृत्ति ही निद्रारूप से लय प्राप्त हो कर, आनन्दमयः=आनन्दमय कहा जाता है ॥६४॥

पूर्वोक्त प्रकार से आनन्दमय के स्वरूप का प्रदर्शन कर के उसी आनन्दमय का जाग्रत् अवस्था में विज्ञानमयरूप से स्मरण-कर्तृत्व सिद्ध करने के लिये सुषुप्ति अवस्था में सुखानुभव का उप-पादन करते हैं—

अन्तर्मुखो य आनन्दमयो ब्रह्मसुखं तदा ।
भुङ्क्ते चिद्बिम्बयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥६५॥

अन्तर्मुखः=स्वरूपसुख के प्रतिबिम्ब सहित अन्तर्मुख बुद्धि-वृत्ति से उत्पन्न संस्कार सहित, यः आनंदमयः=जो अज्ञान उपाधि वाला आनन्दमय है, वह, तदा ब्रह्मसुखं=सुषुप्ति में स्वरूप सुख को, चिद्बिम्बयुक्ताभिः=चिदाभास सहित, अज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः भुङ्क्ते=अज्ञान से उत्पन्न हुई सुखादिविषयक वृत्तियों से अनुभव करता है ॥६५॥

आशंका करते हैं कि जैसे जागरण में मैं सुख का अनुभव करता हूँ ऐसा अभिमान होता है, उसी प्रकार अभिमान सुषुप्ति में क्यों नहीं होता, इसका समाधान यह है कि सुषुप्ति काल में अविद्या की वृत्तियाँ जाग्रत् कालीन बुद्धिवृत्ति की न्याईं स्पष्ट नहीं होती, इस वास्ते अभिमान नहीं होता, इस अभिप्राय से अगले श्लोक का कथन है—

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ।
इति वेदान्तसिद्धान्तपारगाः प्रवदन्ति हि ॥६६॥

अज्ञानवृत्तयः=सुषुप्तिकाल में वे अज्ञान की वृत्तियाँ, सूक्ष्माः=सूक्ष्म होती है (इसलिये सुखानुभव का अभिमान नहीं होता), बुद्धिवृत्तयः=और जाग्रत् अवस्था में बुद्धि की वृत्तियाँ, विस्पष्टाः=अत्यन्त स्पष्ट होती हैं (इस लिये मैं सुख का अनुभव करता हूँ ऐसा अभिमान बन सकता है), इति वेदांतसिद्धांतपारगाः=इस प्रकार

वेदान्त सिद्धान्त के पारंगत ब्रह्मवेत्ता लोग, प्रवदन्ति हि=कहते ही हैं ॥६६॥

अब आनन्दमय सूक्ष्म अविद्यावृत्तियों के द्वारा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, इस विषय में प्रमाण कहते हैं—

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ।
आनन्दमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानन्दे च भोग्यता ॥६७॥

माण्डूक्यतापनीयादिश्रुतिषु=माण्डूक्य तथा तापनीय आदि उपनिषदों में, एतत् अतिस्फुटम्=यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से कही गई है कि, आनंदमयभोक्तृत्वं=आनन्दमय (ब्रह्मानन्द का) भोक्ता है, च ब्रह्मानंदे=और ब्रह्मानन्द अर्थात् स्वरूपसुख, भोग्यता =भोग्य है ॥६७॥

अब माण्डूक्यादि श्रुति का वाक्य अर्थतः पाठ करते हैं—

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ।
आनन्दमय आनन्दभुक्चेतोमयवृत्तिभिः ॥६८॥

सुषुप्तस्थः=सुषुप्ति में स्थित अर्थात् सुषुप्ति अभिमानी, आनंदमयः=आनन्दमय, एकीभूतः=एकीभाव को प्राप्त हुआ, प्रज्ञानघनतां गतः=प्रज्ञानघन स्वरूप हुआ, चेतोमयवृत्तिभिः=चिदाभास सहित अज्ञान वृत्तियों के द्वारा, आनन्दभुक्=स्वरूपानन्द का उपभोग करने वाला होता है ॥६८॥

अब एकीभूत इस पद का अर्थ कहते हैं-

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतण्डुलपिष्टवत् ॥६९॥

यः पुरा=जो आत्मा जागरण अवस्था में, विज्ञानमयमुख्यैः= विज्ञानमय मनोमय आदि, रूपैः युक्तः=आकारों से विशिष्ट था, सः अधुना=वही आत्मा अब सुषुप्ति काल में, लयेन=विज्ञान, मन आदि उपाधि के लय होने से, एकतां प्राप्तः=अभेद को प्राप्त होता

है। बहुतण्डुलपिष्टवत्=जैसे बहुत चावलों से उत्पन्न हुई पिठ्ठी है, उसी प्रकार ॥६९॥

एकीभूत पद के अर्थ कहने के अनन्तर प्रज्ञानघन शब्द का अर्थ कहते हैं—

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोऽथ घनोऽभवत् ।
घनत्वं हिमबिन्दूनामुदग्देशे यथा तथा ॥७०॥

पुरा=जागरण अवस्था में, प्रज्ञानानि=प्रज्ञान शब्द के अर्थ, बुद्धिवृत्तयः= जो घटादिविषयक बुद्धिवृत्तियाँ थी, अथ= अब सुषुप्तिकाल में (घटादि विषय के अभाव होने पर), घनः अभवत्= चैतन्य के साथ एकरूप हो गई, यथा हिमबिन्दूनां=जैसे ओषों की बूंदे, उदग्देशे=जल देश में जल के रूप प्राप्त हुई, घनत्वं=घनावस्था प्राप्त हो जाती है, तथा=उसी प्रकार दार्ष्टान्तिक में भी जानना ॥७०॥

अब अगले श्लोक से प्रज्ञानघन शब्द के अर्थ निरूपण के प्रसंग से स्मृति में आये हुए कुछ और अर्थों को भी कहते हैं—

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाऽभावं प्रचक्षते ।
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥७१॥

साक्षिभावं=वेदान्त में जो साक्षी स्वरूप, तद्घनत्वं=प्रज्ञानघन कहा गया है उसी को, लौकिकाः=शास्त्र संस्कार रहित मनुष्य, तार्किकाः=तथा तर्ककुशल नैयायिक लोग, दुःखाभावं प्रचक्षते= दुःखाभावरूप कहते हैं, यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात्=क्योंकि उस समय सम्पूर्ण दुःखाकार वृत्तियों का लय हो जाता है। (अथवा दुःखरूप वृत्तियों का) लय हो जाता है ॥७१॥

अब पूर्वोक्त श्रुति वाक्य के चेतोमुख शब्द का और ६८वें श्लोक में उक्त चेतोमय शब्द का अर्थ कहते हैं—

प्रज्ञानबिम्बिता चित्स्यान्मुखमानन्दभोजने ।
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥७२॥

आनन्दभोजने=सुषुप्ति कालीन ब्रह्मसुख का आस्वादन करने में, मुखं=साधन, अज्ञानबिम्बिता=अज्ञान की वृत्तियों में प्रतिबिंबित, चित् स्यात्=चैतन्य ही है (अर्थात् अज्ञानवृत्ति सहित चिदाभास सुषुप्ति काल के ब्रह्मानन्द अनुभव का साधन है), कर्मणा=(पुण्य-पाप रूप कर्म के पाश से बन्धा हुआ होने के कारण) कर्म द्वारा प्रेरित जीव, भुक्तं ब्रह्मसुखं=अनुभव किये हुए ब्रह्मानन्द को, त्यक्त्वा=छोड़ कर, अथ बहिर्याति=अनन्तर जागरण आदि को प्राप्त करता है ॥७२॥

कैवल्य श्रुति वाक्य से इस अर्थ का निश्चय होता है ऐसा मान कर कैवल्य श्रुति वाक्य का अर्थ से पाठ करते हुए उसका अभिप्राय कथन करते हैं—

कर्म जन्मान्तरेऽभूद्यत्तद्योगाद्बुध्यते पुनः ।
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ॥७३॥

जन्मान्तरे=दूसरे अर्थात् पूर्व जन्म में, यत् कर्म अभूत्=जो कर्म (पुण्य, पापरूप कर्म) था, तद्योगात् पुनः=उसी से युक्त हुआ फिर, बुध्यते=जागरण को प्राप्त होता है, इति कैवल्यशाखायाम्=इस प्रकार कैवल्य उपनिषद् में, बोधः कर्मजः ईरितः=जागरण को कर्माधीन कहा है ॥७३॥

सुषुप्ति अवस्था में ब्रह्मानन्द का अनुभव हुआ था, उसमें हेतु कहते हैं—

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानन्दस्य वासना ।
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥७४॥

प्रबुद्धस्य कञ्चित्कालं=जागे हुए मनुष्य को स्वल्पकाल पर्यन्त, ब्रह्मानन्दस्य=(सुषुप्ति में अनुभव कीये हुए) ब्रह्मसुख का, वासना अनुगच्छेत्=संस्कार अनुगत रहता है, यतः निर्विषयः=क्योंकि जाग्रत् में (जाग आने पर) विषयानुभव रहित हुआ भी, सुखी तुष्णीम् आस्ते=सुखी होकर चुपचाप पड़ा रहता है (इस से जाना जाता है कि सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव हुआ था) ॥७४॥

तब उसी तूष्णीं भाव अवस्था में क्यों नहीं स्थित रहता है इ आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ।
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानन्दमेषोऽखिलो जनः ॥७५॥

कर्मभिः प्रेरितः=पूर्वोक्त कर्मों से प्रेरित हुआ, एषः अखिलो जनः=यह सम्पूर्ण मनुष्य, पश्चात् नानादुःखानि=बाद में अनेक प्रकार के दुःखों का, भावयन्=स्मरण या चिन्तन करता हुआ, ब्रह्मानन्दं शनैः=ब्रह्मसुख को धीरे धीरे, विस्मरति=भूल जाता है। इस लिये तूष्णीम् स्थिति दीर्घ काल तक नहीं रहती ॥७५॥

वक्ष्यमाण हेतु से भी सुषुप्तिकालीन ब्रह्मानन्द के विषय में विवाद नहीं करना चाहिये इस बात को कहते हैं—

प्रागूर्ध्वं मपि निद्रायाः पक्षपातो दिने दिने ।
ब्रह्मानन्दे नृणां तेन प्राज्ञोऽस्मिन्विवदेत कः ॥७६॥

दिने दिने नृणां=प्रतिदिन मनुष्यों का, निद्रायाः प्राक्=निद्रा-से पहले, ऊर्ध्वम् अपि=और निद्रा के पश्चात् भी, ब्रह्मानन्दे पक्षपातः=ब्रह्मसुख में स्नेह देखने में आता है, तेन=तिस कारण से, अस्मिन् कः प्राज्ञः=इस ब्रह्मानन्द के विषय में कौन बुद्धिमान्, विवदेत=विवाद करेगा अर्थात् कोई नहीं करेगा ॥७६॥

इस पर पूर्वपक्षी शंका करते हैं—

ननु तूष्णींस्थितौ ब्रह्मानन्द इचेद्भाति लौकिकाः ।
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ॥७७॥

ननु=शंका करते है, तुष्णींस्थितौ ब्रह्मानन्दः=चुपचाप स्थित होने मात्र से ब्रह्मसुख, चेत् भाति=यदि प्राप्त होवे तो, लौकिकाः=शास्त्रसंस्कार से रहित यथेच्छ व्यवहार करने वाले मनुष्य, अलसाः चरितार्थाः स्युः=आलसी मनुष्य अनायास ही कृतकृत्य हो जायेंगें (पुनः) अत्र शास्त्रेण गुरुणा=ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में शास्त्र से, और

गुरु से, किम्=क्या प्रयोजन है अर्थात् गुरु शुश्रूषा करते हुये श्रवणादि साधन वृथा ही होगा ॥७७॥

यह ब्रह्मानन्द है इस प्रकार जान लेनें पर तो कृतार्थता अवश्य होती है परन्तु वह ब्रह्मानन्द का ज्ञान गुरुशुश्रूषादि के बिना सम्भव नहीं इस वार्ता को कहते हैं –

बाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ।
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥७८॥

बाढं ब्रह्मइति=तुमने जो कहा सो ठीक है, यह ब्रह्मानन्द है इस प्रकार, चेत् विद्युः=यदि जान लिया तो, तावता एव=उतने मात्र से ही (अर्थात् जानने मात्र से ही), ते कृतार्थाः=वे जानने वाले कृतकृत्य हैं, परन्तु, अत्यन्तं गम्भीरं ब्रह्म=अत्यन्त दुर्ज्ञेय ब्रह्म को, गुरुशास्त्रे विना=गुरु और शास्त्र को छोड़कर (दूसरे उपाय से), कः वेत्ति=कौन जान सकता अर्थात् कोई नहीं जान सकता ॥७८॥

आपके वाक्य से पूर्वोक्त ब्रह्मानन्द को जानने वाले मुझको कृतार्थता नहीं प्राप्त हुई ऐसी आशंका का अनुवाद करके उपहास सहित उत्तर करते हैं—

जानाम्यहं त्वदुक्त्याऽद्य कुतो मे न कृतार्थता ।
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥७९॥

अहं अद्य=मैं अब, त्वदुक्त्या=आप के वचन से,जानामि मे=ब्रह्मानन्द को जान गया हूं तथापि, मेरी, कृतार्थता कुतः न=कृतकृत्यता क्यों नहीं हुई (इस आशंका का उत्तर देते हैं कि). अत्र=इस विषय में,त्वादृशः कस्यचित्=तुम्हारे जैसे किसी, प्राज्ञंमन्यस्य=अपने आप को विद्वान् मानने वाले का, वृत्तं शृणु=वृत्तान्त सुनों ॥७९॥

उसी वृत्तान्त को दिखाते हैं—

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ।
वेदाश्चत्वार इत्येवं देहि मे दीयतां धनम् ॥८०॥

चतुर्वेदविदे देयं=चारों वेदों के वेत्ता के लिये यह धन देना चाहिए, इति शृण्वन्=ऐसे वचन को सुनता हुआ किसी ने, अवोचत वेदाः चत्वारः=कहा कि वेद चार ही हैं, इति एवं वेद्मि=इस प्रकार मैं जानता हूँ,मे धनं दीयतां=इसलिये मेरे को धन दे दो ॥८०॥

वेद चार हैं इस प्रकार जानने वाला वेद की संख्या ही को जानता है, वेदों के स्वरूप को नहीं जानता, अतएव वह दानपात्र नहीं इस प्रकार पूर्वपक्षी के प्रश्न का समाधान समता दिखाकर कहते हैं—

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ।
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥८१॥

एष संख्याम् एव जानाति=यह संख्या को ही अर्थात् गिनती को ही जानता है, न तु वेदान् अशेषतः=परन्तु वेदों के स्वरूप को पूर्णतया नहीं जानता है, यदि तर्हि एवं त्वम् अपि=यदि ऐसा कहते तो उसी प्रकार तुम भी,ब्रह्म अशेषं नहि वेत्सि=ब्रह्म को पूर्णतया निश्चय करके नहीं जानते हो इस वास्ते कृतार्थता नहीं प्राप्त होगी ॥८१॥

जैसे संख्यातिरिक्त वेद के स्वरूप का भेद है, उसी प्रकार स्वगतादि भेद रहित सुखरूप निरंश ब्रह्म में अज्ञायमान अंश है नहीं, इस लिये मैं अपूर्ण ज्ञानी हूँ यह उपालम्भ मेरे में नहीं घटता है, इस प्रकार प्रश्न पूर्वपक्षी करते हैं—

अखण्डैकरसानन्दे मायातत्कार्य वर्जिते ।
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥७२॥

मायातत्कार्यवर्जिते=माया और माया के कार्य प्रपञ्च से रहित,अखण्डैकरसानन्दे=अद्वितीय समरस ब्रह्मानन्द में, अशेषत्व-सशेषत्ववार्तावसरः एव=पूर्णता, अपूर्णता कहने का अवकाश ही, कः=क्या हैं (इस लिये ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान न होने से कृतार्थता नहीं ऐसा कहना असंगत है) ॥८२॥

अब ब्रह्मज्ञान में अशेषत्वादि दिखाने के लिये मैं ब्रह्म को

जानता हूँ इस प्रकार कहने वाले पूर्वपक्षी के प्रति सिद्धान्ती विकल्प पूर्वक प्रश्न करते हैं—

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ।

शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥८३॥

शब्दान् एव=केवल शब्दों को (अखण्ड एकरस अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है इत्यादि शब्दों को) ही केवल, पठसि=पढ़ते हो अर्थात् रटते हो, आहो तेषां=अथवा उन शब्दों के, अर्थं च=अर्थ को भी (भेदराहित्य को भी), पश्यसि=देखते हो अर्थात् समझते हो, शब्द पाठे=यदि शब्दों का रटना यह प्रथम पक्ष स्वीकार करते हो तो, ते अर्थबोधः=तुम्हारे लिये अर्थज्ञान, सम्पाद्यत्वेन शिष्यते=हासिल करने को अभी तक बाकी है ॥८३॥

अर्थ को भी जानते हो इस द्वितीय पक्ष में भी सांशत्व को भी दिखाते हैं और ज्ञान की पूर्णता की अवधि को भी कहते हैं—

अर्थे व्याकरणाद्बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ।

स्यात्कृतार्थत्वधीर्यावत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥८४॥

व्याकरणात्=संस्कृत व्याकरण के बल से, अर्थे बुद्धे=अर्थ का परोक्ष ज्ञान हो जाने पर भी, साक्षात्कारः=अपरोक्ष ज्ञान, अवशिष्यते=संपादन करने को बाकी रहता है, यावत् कृतार्थत्वधीः=जब तक कृतार्थताबुद्धि (मैं कृतकृत्य हूँ इस प्रकार की बुद्धि), स्यात्=उत्पन्न हो (तब ज्ञान की पूर्णता जानना), तावत्=इस लिये तब तक (कृतार्थताबुद्धि तक), भोः गुरुं उपास्व=हे वादी ! गुरु की (तुम्) उपासना करो ॥८४॥

इस प्रकार प्रसंग प्राप्त विषय को समाप्त करके प्रकरण प्राप्त ब्रह्मानन्द का अनुसरण करते हैं—

अस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ।

तत्र सर्वत्र विदध्येतां ब्रह्मानन्दस्य वासनाम् ॥८५॥

एतत् आस्तां=इस अप्रकृत प्रसङ्ग को रहने दो (अब प्रकृत प्रसंग को कहते है कि), यत्र यत्र=जिस जिस काल में अर्थात् तूष्णीं भावादिक में, विषयैः विना=विषयानुभव के बिना, सुखं स्यात्=सुख होता है, तत्र सर्वत्र=उस सर्वकाल में, ब्रह्मानन्दस्य=ब्रह्मसुख की, एतां वासनाम्=इस वासना को, विद्धि=जानना, अर्थात् विषय से उत्पन्न नहीं होने वाला जो सुख है, उस सुख को ब्रह्म का वासनानन्द जानना। (क्योंकि तूष्णींभावादिक अवस्था में ब्रह्मानन्द का संस्काररूप लेश अनुभव का विषय होता है) ॥८५॥

पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मानन्द और वासनानन्द का स्वरूप दिखाकर अब आनन्द के तीन भेद अर्थात् त्रिविध आनन्द का नियम करने के लिये ४४वे श्लोक में "आत्माभिमुखधीवृत्तौ" यहां पर उक्त विषयानन्द का अनुवाद करते हैं—

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति।
अन्तर्मुखमनोवृत्तावानन्दः प्रतिबिम्बति ॥८६॥

विषयेषु अपि लब्धेषु=अभिलषित वस्तु के भी प्राप्त होने पर, तदिच्छोपरमे सति=उस विषय की इच्छा जब निवृत्त होती है तब, अन्तर्मुखमनोवृत्तौ=अन्तर्मुखीन् मनोवृत्ति में (अर्थात् मन अन्तर्मुख होने पर उस में), आनन्दः=जो आत्मानन्द, प्रतिबिंबति=प्रतिबिंबित होता है अर्थात् आत्मानन्द का जो प्रतिबिंब पड़ता है वह विषयानन्द है ॥८६॥

विषयानन्द का अनुवाद करके अब फलितार्थ को कहते है—

ब्रह्मानन्दो वासना च प्रतिबिम्ब इति त्रयम्।
अन्तरेण जगत्यस्मिन्नानन्दो नास्ति कश्चन ॥८७॥

ब्रह्मानन्दः च=सुषुप्ति अवस्था में स्वप्रकाशरूप से भासमान जो ब्रह्मानन्द है, और, वासना=तुष्णीं स्थिति में विषयानुभव के बिना प्रतीत होता है, जो वासनानन्द, प्रतिबिंबः=तथा इष्ट वस्तु की प्राप्ति से अन्तर्मुख हुए मन में प्रतिबिम्बरूप जो विषयानन्द है, इति त्रयं=इन तीनों आनन्द से, अन्तरेण=अतिरिक्त, अस्मिन्

जगति = इस जगत् में, कश्चन आनन्दः न अस्ति = कोई भी आनन्द (सुख) नहीं है ॥८७॥

इस अध्याय में ब्रह्मानन्द का ही विवेचन करना था, फिर दूसरे वासनानन्द और विषयानन्द का प्रतिपादन असंगत है, ऐसी आशंका का उत्तर इस अभिप्राय से देते हैं, कि वासनानन्द और विषयानन्द दोनों ब्रह्मानन्दजन्य है, इस लिये ब्रह्मानन्द के बोध में उपयोगी होने से कोई असंगति नहीं—

तथा च विषयानन्दो वासनानन्द इत्यमू ।
आनन्दौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानन्दः स्वयंप्रभः ॥८८॥

तथा च = उक्त प्रकार से आनन्द का तीन भेद सिद्ध होने पर उन में, स्वयंप्रभः = जो स्वयंप्रकाश आनन्द, विषयानन्दः वासनानन्दः = विषयानन्द, वासनानन्द, इति अमू = इस प्रकार इन दोनों, आनन्दौ जनयत् = आनन्दों को उत्पादन करता हुआ, आस्ते = स्थित होता है, ब्रह्मानन्दः = वह ब्रह्मानन्द ही है (ऐसा जानना) ॥८८॥

पूर्व बीते हुऐ के कथन पूर्वक उत्तर ग्रन्थ का अवतारण करते हैं —

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ।
ब्रह्मानन्दे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥८९॥

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः = पूर्वोक्त श्रुतिप्रमाण और युक्तिप्रमाण अर्थात् अनुमान प्रमाण तथा अनुभव प्रमाण से, सुप्ति काले = सुषुप्ति काल में, स्वप्रकाशचिदात्मके = स्वयंप्रकाश चैतन्यरूप, ब्रह्मानन्दे सिद्धे सति = ब्रह्मानन्द सिद्ध होने पर अब, अन्यदा = जागरण अवस्था में भी, शृणु = (जो ब्रह्मानन्द के अनुभव का उपाय आगे कहा जायेगा उसको) सुनों ॥८९॥

पूर्व श्लोक में ब्रह्मानन्दज्ञान के उपाय की प्रतिज्ञा की थी, उस उपाय को दिखाने के लिये उसके उपोद्घातरूप से जीव की दो अवस्था प्राप्ति को निमित्त सहित दिखाते हैं—

य आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥९०॥

सुप्तौ=सुषुप्ति अवस्था में लयभाव को प्राप्त हुआ आनन्दमय शब्द का वाच्य, यः आनन्दमयः=जो पूर्वोक्त आनन्दमय है, सः विज्ञानमयात्मताम्=वही आनन्दमय (विज्ञान शब्द का वाच्य बुद्धिरूप उपाधि वाला होने से) विज्ञानमयभाव को, गत्वा=प्राप्त हो कर, स्थानभेदतः=नेत्र कण्ठादि स्थान के सम्बन्ध से, स्वप्नं=स्वप्नावस्था को, वा प्रबोधं=अथवा जागरण को, प्राप्नोति=कर्मानुसार प्राप्त करता है ॥९०॥

अब जाग्रत् आदि अवस्था के उपयोगी स्थानों को दिखाते हैं और नेत्र शब्द का अभिप्रेत अर्थ का भी कथन करते है —

नेत्रे जागरणं कण्ठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदम्बुजे ।
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥९१॥

नेत्रे जागरणं=चक्षुस्थान में जाग्रत् अवस्था होती है, कण्ठे स्वप्नः=कण्ठ देश में स्वप्नावस्था होती हैं, हृदम्बुजे सुप्तिः=हृदय कमल में सुषुप्ति होती है (नेत्र शब्द से सम्पूर्ण स्थूल शरीर समझना चाहिये इस अभिप्राय से आगे कहते हैं), चेतनः आपादमस्तकं=जीव पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त, देहं व्याप्य=स्थूल शरीर को व्याप्त होकर जागर्ति=जागता रहता है ॥९१॥

पूर्व श्लोक में उक्त "देहं व्याप्य" इस शब्द से कहने के इष्ट अर्थ को दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा स्पष्ट करते हैं —

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायःपिण्डवत्ततः ।
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥९२॥

तप्तायःपिण्डवत्=तपाये हुए लोहे की तरह (जैसे तपाया हुआ लोहा और अग्नि दोनों का अभेदभाव हो जाता है उसी प्रकार), देहतादात्म्यं=स्थूल शरीर के साथ मिथ्या अभेदभाव को, आपन्नः=प्राप्त हुआ यह जीव, ततः अहं मनुष्यः=अनन्तर (बाद में) मैं

मनुष्य हूँ, इति एवं निश्चित्य एव=इस प्रकार संशयादि रहित निश्चयरूप ज्ञान से स्थूल शरीर को आत्मरूप से ग्रहण कर के ही, अवतिष्ठते=स्थित होता है ॥९२॥

देह में तादात्म्य अभिमान है हेतु जिन में, ऐसी अन्य अवस्थाओं को भी दिखाते हैं, और उत्तरार्ध से सुख, दुःख कर्मजन्य हैं इस वार्ता को भी कहते हैं—

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ।
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥९३॥

असौ उदासीनः=वह देहाभिमानी जीव मैं उदासीन हूँ, सुखी दुःखी=मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ, इति अवस्थात्रयम्=इस प्रकार तीन अवस्थाओं को, एति=प्राप्त करता है, सुख दुःखे=उन तीनों में सुख दुःख ये दोनों, कर्म कार्ये=कर्म के द्वारा किये हुए हैं, तु औदासीन्यं=परन्तु उदासीन अवस्था तो, स्वभावतः= स्वभाव से सिद्ध है ॥९३॥

निमित्त भेद से सुखदुःख दो प्रकार का है, और उन दोनों के अभावदशा में उदासीनता रहती है इस वार्ता को अब कहते हैं—

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते ।
सुखदुःखान्तरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥९४॥

बाह्य भोगात्=बाह्य भोग रूप निमित्त से, मनोराज्यात्=और मनोराज्यरूप निमित्त से, सुख दुःखे=सुख और दुःख, द्विधा मते=दो प्रकार के सम्मत हैं, सुख दुःखान्तरालेषु=सुख दुःख के मध्यवर्ती अवकाश में (अर्थात् जिस समय सांसारिक सुखदुःखविद्यमान नहीं है उस समय), तूष्णीम् अवस्थितिःभवेत्=उदासीन अवस्था होती है ॥९४॥

जिस प्रयोजन के लिये जाग्रत् आदि का कथन किया, उस प्रयोजन को अब दिखाते हैं—

न कापि चिन्ता मेऽस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ।
औदासीन्ये निजानन्दभानं वक्त्यखिलो जनः ॥९५॥

अखिलः जनः=सभी मनुष्य, अद्य मे=अब मेरी, का अपि चिन्ता= कोई भी गृह आदि विषयक चिन्ता, न अस्ति=नहीं इस लिये, सुखं आसे=सुख से मैं स्थित हूँ, इति ब्रूवन्=इस प्रकार कहता हुआ, औदासीन्ये=उदासीन अवस्था में, निजानन्दभानं= स्वरूप आनन्द के स्फुरण को, वक्ति=कहते हैं (इस लिये जागरण अवस्था में भी निजानन्द का भान होता है, यह जानना चाहिए) ॥९५॥

उदासीन अवस्था में भासमान आनन्द यदि निजानन्दरूप है तो, वह आनन्द ब्रह्मानन्दरूप होने से वह वासनानन्दरूप नहीं होगा, ऐसी आशंका का समाधान करते हैं कि सामान्य अहंकार से आवृत होने के कारण वह ब्रह्मानन्दरूप नहीं किन्तु वासनानन्दरूप है —

अहमस्मीत्यहंकार सामान्याच्छादितत्वतः ।
निजानन्दो न मुख्योऽयं किंत्वसौ तस्य वासना ॥९६॥

अहं अस्मि इति=मैं हूँ इस प्रकार, अहंकारसामान्याच्छादितत्वतः=(१) सामान्य अहंकार से आवृत होने के कारण, अयं निजानन्दः=यह निजानन्द, मुख्यो न=मुख्य नहीं है, किन्तु असौ= परन्तु वह निजानन्द, तस्य वासना=ब्रह्मानन्द की वासना है (अर्थात् ब्रह्मानन्द से जन्य संस्कार लेशरूप वासना है)।

(१) मैं देवदत्त हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ इत्यादि अहंकार को विशेष अहंकार कहते हैं; और इस से भिन्न केवल अहम् अहम् इस प्रकार के अहंकार को सामान्य अहंकार कहते हैं ॥९६॥

मुख्य आनन्द से अतिरिक्त वासनानन्द है इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

नीरपूरितभाण्डस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ।
किंतु नीरगुणस्तेन नीरसत्ताऽनुमीयते ॥९७॥

नीर पूरित भाण्डस्य=जल से पूर्ण घट के, बाह्ये=बाहर देश में (अर्थात् बाहर के भाग को स्पर्श करने से), शैत्यं=अनुभव में आने

वाली जो शीतलता है, तत् जलं न=वह शीतलता जल नहीं है, किन्तु नीरगुणः=परन्तु जल का गुण है, तेन नीरसत्ता अनुमीयते= उस गुण से घट में जल की विद्यमानता का अनुमान जन्य ज्ञान होता है ॥९७॥

अब प्रकृत में दृष्टान्त को घटाते हैं—

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः ।

तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानन्दोऽनुमीयते ॥९८॥

अभ्यासयोगतः=श्रुत्युक्त निरोध समाधि के अभ्यास से, यावत्-यावत्=जहां तक (जितना जितना), अहंकारः विस्मृतः=अहम् आदि वृत्तियों का विस्मरण अर्थात् विलय होता हैं, तावत् तावत्-सूक्ष्मदृष्टेः= उतना ही उतना चित्तकी सूक्ष्मता उत्पन्न होने पर, निजानन्दः=निजानन्द का आविर्भाव होता है इस प्रकार, अनुमीयते =अनुमान प्रमाण द्वारा ज्ञात हो सकता है ॥९८॥

बुद्धि की सूक्ष्मता की अवधि साक्षात्कार है इस बात को कहते हैं —

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ।

अलीनत्वान्न निद्रैषा ततो देहोऽपि नो पतेत् ॥९९॥

सर्वात्मना=सम्पूर्ण रूप से, विस्मृतः सन्=अहंकार का विस्मरण अर्थात् सर्व वृत्तियों का विलय होने पर, परमां सूक्ष्मतां= चित्त की निरतिशय सूक्ष्मता, व्रजेत्=हो जाती है, अर्थात् चित्त अत्यन्त सूक्ष्मता प्राप्त करता है, अलीनत्वात्=सर्व वृत्तियों का विलय होने पर भी अन्तःकरण का लय न होने से, एषा निद्रा न= यह निद्रा अर्थात् सुषुप्ति अवस्था नहीं है, ततः देहः अपि=उसी कारण से शरीर भी, नो पतेत्=नहीं गिरता (अर्थात् शरीर के न गिरने से यह निश्चय होता है कि वृत्तियों की विलयावस्था निद्रा-वस्था नहीं है) ॥९९॥

अब फलीभूत अर्थ को कहते हुए उसमें भगवान् कृष्ण के वाक्य को प्रमाण कहते हैं—

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ।
स ब्रह्मानन्द इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥१००॥

द्वैतं न भासते=जिस काल में द्वैत नहीं भासता है, निद्रा-अपि न=निद्रा भी नहीं आती, तत्र यत् सुखं अस्ति=उस काल में प्रतीयमान जो सुख है, सः ब्रह्मानन्दः=वही ब्रह्मानन्द है, इति-अर्जुनं प्रति=इस प्रकार अर्जुन के प्रति, भगवान् आह=भगवान् ने कहा है ॥१००॥

जिन जिन श्लोकों से भगवान् ने यह उपदेश किया, उन श्लोकों का अर्थ क्रम के अनुसार पाठ करते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥१०१॥

धृति गृहीतया बुद्ध्या=धैर्ययुक्त बुद्धि से, शनैः शनैः=धीरे धीरे क्रम से (एकदम नहीं), उपरमेत्=मन का निरोध करना चाहिए, मनः आत्मसंस्थं कृत्वा=मनको आत्मा में सम्यक् स्थापित करके, किं चिदपि=कुछ भी अनात्मवस्तु का, न चिन्तयेत्=नहीं चिन्तन करना (यही योग की परम अवधि है)॥१०१॥

इस योग के सम्पादन के लिये प्रवृत्त हुआ अधिकारी आरम्भ में क्या साधन करें ऐसी आकांक्षा का उत्तर कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चल मस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥१०२॥

चंचलं=स्वभाव दोष से चपल, अस्थिरं मनः=इसी लिये अस्थिर किसी एक विषय में नहीं ठहरने वाला मन, यतः यतः=जिस जिस शब्दादिविषयरूप निमित्त से, निश्चरति=निकल कर भागता है, ततः ततः=तिस तिस शब्दादि विषयों से, नियम्य=मन को निरोध कर के(अर्थात् शब्दादि विषयों के मिथ्यापने का चिन्तन कर के वैराग्यभावना द्वारा मन का निरोध करके),एतत् आत्मनि एव=इस मन को आत्मा में ही, वशं नयेत्=वश करे (अर्थात्

आत्मा के चिन्तन में ही लगावें, इस प्रकार अभ्यास करने पर मन आत्मा में ही उपशम प्राप्त होता है) ॥१०२॥

मन शान्त होने पर क्या प्रयोजन सिद्ध होता है, इसका उत्तर कहते हैं—

प्रशान्तमानसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥१०३॥

शान्तरजसं=क्षीण हो गया है मोहादि क्लेशरूप मलिनता जिस में से, **प्रशान्तमानसं**=अत्यन्त शान्त हो गया है मन जिसका, **ब्रह्मभूतं**=ब्रह्मस्वरूप जीवन्मुक्त, **अकल्मषं**=तथा निष्पाप, **एनं योगिनं हि**=ऐसे योगी को ही, **उत्तमं सुखं**=नित्य निरतिशय सुख, **उपैति**=स्वतः ही प्राप्त होता है ॥१०३॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥१०४॥

चित्तं यत्र=मन जिस काल में, **योगसेवया निरुद्धं**=योगानुष्ठान के द्वारा संपूर्ण विषयों से निरोध प्राप्त हुआ अर्थात् निवृत्त हुआ, **उपरमते**=उपशम को प्राप्त होता है, **च यत्र आत्मना**=और जिसकाल में शुद्ध अन्तःकरण से, **आत्मानं**=स्वयं प्रकाश चैतन्यरूप आत्मा का, **पश्यन्**=अनुभव करता हुआ यह अधिकारी, **आत्मनि एव**=अपने स्वरूप आत्मा में ही, **तुष्यति**=परम सन्तोष को प्राप्त होता है ॥१०४॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥१०५॥

यत्र=और जिसकाल में आत्मनिष्ठ योगी, **आत्यन्तिकं बुद्धिग्राह्यं**=केवल शुद्धबुद्धि से ग्रहण करने योग्य, **अतीन्द्रियम् यत् सुखं**=बाह्य इन्द्रियों का अविषय जो सुख है, **तत् वेत्ति**=उस सुख को अनुभव करता है, **च स्थितः**=और आत्मा में स्थित हुआ, **अयं तत्त्वतः**=यह योगी उस आत्मस्वरूप से, **न एव चलति**=कदापि नहीं चलायमान होता है ॥१०५॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥१०६॥

च यं लब्ध्वा=और जिस आत्मतत्त्व को प्राप्त हो कर, अपरं लाभं=दूसरे किसी भी लाभ को, ततः अधिकं न मन्यते=उस से अधिक नहीं मानता है, यस्मिन् स्थितः=तथा जिस आत्मतत्त्व में स्थित होकर योगी, गुरुणा दुःखेन अपि=महान् दुःख से भी, न विचाल्यते=चलायमान नहीं होता ॥१०६॥

अब उपपादित योग का निगमन करते हैं—

तं विद्याद् दुःख संयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥१०७॥

तं दुःखसंयोगवियोगं=उस पूर्वोक्त दुःख के सम्बन्ध के वियोग को (दुःखाभाव को), योगसंज्ञितम् विद्यात्=योग नाम वाला जानना चाहिए, स योगः=वह पूर्वोक्त योग, निश्चयेन=निश्चय के साथ, अनिर्विण्णचेतसा=खेद रहित चित्त से, योक्तव्यः=अनुष्ठान करने योग्य है ॥१०७॥

अब उपपादित योग का उपसंहार करते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं मत्यन्तं सुखमश्नुते ॥१०८॥

विगत कल्मषः=निष्पाप अर्थात् योग के विघ्न रहित, योगी सदा आत्मानं=योगी सदा आत्मा का, एवं युञ्जन्=पूर्वोक्त प्रकार से अनुसन्धान करता हुआ, सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम्=अनायास ही ब्रह्म-स्वरूप, अत्यन्तं सुखम् अश्नुते=नित्य निरतिशय सुख प्राप्त करता है ॥१०८॥

अनिर्वेद अर्थात् खेद रहित होकर किया जाने वाला 'योगाभ्यास फल पर्यन्त (फल पर्यवसायी) होता है इस वार्ता को दृष्टान्त सहित कहते हैं—

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैक बिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥१०९॥

कुशाग्रेण=कुश के अग्र भाग से उठाई हुई, एक बिन्दुना=एक एक बिन्दु कर के किया जाने वाला, उदधेः=समुद्र का, उत्सेकः=जल बाहर फेंक कर समुद्र का शोषण करना, यद्वत्=(खेद न होने पर) जैसे सम्भव है, तद्वत् मनसः निग्रहः=उसी प्रकार मन का निग्रह भी, अपरिखेदतः=खेद रहित होकर किया जाये तो, भवेत्=कालान्तर में सिद्ध हो सकता है। इसमें ग्रन्थकार ने टिट्टिभ का दृष्टान्त मन में रख कर इस श्लोक को कहा है ॥१०९।

इस अर्थ को केवल गीता में ही नहीं कहा, किन्तु इसी अर्थ को मैत्रायणीय शाखा में भी कहा गया इस वार्ता को ग्रन्थकार कहते हैं—

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ।
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्ति पुरःसरम् ॥११०॥

मैत्राख्य शाखायां=मैत्रायणीय नामक यजुर्वेद की शाखा में, शाकायन्यः=शाकायन्य नाम का, मुनिः बृहद्रथस्य=किसी ऋषि ने अपने शिष्य बृहद्रथ-नामक, राजर्षेः सुखं=राजर्षि के प्रति ब्रह्मसुख का, समाध्युक्ति पुरःसरं=समाधि के कथन पूर्वक, प्राह=उपदेश किया था ॥११०॥

जिस प्रकार से उपदेश किया उसके प्रतिपादक उसी शाखा के मन्त्रों का पाठ करते हैं —

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥१११॥

निरिन्धनः=काष्ठ को जलाकर इन्धन रहित, वह्निः स्वयोनौ=अग्नि अपनें कारण तेज में, यथा उपशाम्यति=जैसे उपशम प्राप्त होती है अर्थात् शान्त हो जाती है, तथा चित्तं=उसी प्रकार अन्तःकरण भी, वृत्ति क्षयात्=वृत्ति के निरोध के अभ्यास (वृत्ति के नाश

होने) से, स्वयोनौ=अपने कारण सत्त्व मात्र में, उपशाम्यति=शान्त हो जाता है अर्थात् सत्त्वमात्र रूप से अवशिष्ट रह जाता है ।।१११।।

अब उसके प्रयोजन का कथन करते हैं —

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः ।
इन्द्रियार्थ विमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ।।११२।।

सत्यकामिनः=सत्यस्वरूप आत्मा में कामना वाले अर्थात् इच्छा वाले, स्वयोनौ=इसी कारण से अपने (मनका) कारण सत्त्वमात्र में, उपशान्तस्य=उपशम को प्राप्त हुए, इन्द्रियार्थ विमूढस्य =और उपशम के कारण इन्द्रिय के विषय शब्दादियों के प्रति विमुख अर्थात् विषयज्ञान रहित, मनसः कर्मवशानुगाः=मन के कर्माधीन साधन सहित सुख दुःखादि मायिक, अनृताः=तत्त्वज्ञान से मिथ्या-रूप हो जाते हैं ।।११२।।

चित्त उपशान्त होने पर जगत् मिथ्या हो जाता है यह बातें नहीं बन सकती, क्योंकि जगत् का उपादान चित्त नहीं है, ऐसी आशंका का उत्तर श्लोक के प्रथमार्ध से कहते हुए, आत्मा की मुक्ति के लिये आत्मा का शोधन करना चाहिये न कि चित्त का, ऐसी आशंका का भी समाधान उत्तरार्ध से करते हैं —

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ।।११३।।

चित्तम् एव संसारः=स्वरूप से जगत् का उपादान कारण चित्त न होने पर भी, जगत् के भोग्यत्व के प्रति चित्त ही कारण है, इसलिये चित्तरूप ही संसार है, हि=और यह बात सर्वानुभव सिद्ध है, क्योंकि सुषुप्ति में चित्त का लय होने पर भोग देखा जाता नहीं, इसलिये चित्तात्मक संसार है, तिस कारण से, तत् प्रयत्नेन=चित्त को ही अभ्यास वैराग्यादिरूप प्रयत्न से, शोधयेत्=रजः तमः से रहित करके एकाग्र करना चाहिये, मर्त्यः=जो मनुष्य अर्थात् देही जीव, यच्चित्तः=जिस पुत्रादि विषय में चित्तवाला होता है, तन्मयः=वह (तादात्म्य अभिमान के कारण तिस तिस पुत्रादिस्वरूप) अर्थात्

तादात्म्यरूप हो जाता है, एतत् सनातनम् गुह्यम्=यही अनादि-सिद्ध रहस्य है।

तात्पर्य यह है कि स्वभाव से शुद्ध आत्मा का चित्त के सम्बन्ध से सर्व संसार प्रतीत होता है इसलिये चित्त के शोधन से आत्मा का संसार निवृत्त हो सकता है ॥११३॥

अनादि जन्मपरम्परा द्वारा उपार्जित सुखदुःखप्रद पुण्य पाप कर्म जब तक विद्यमान है, तब तक चित्त के शोधन से भी कैसे आत्मा की संसार से निवृत्ति होगी इस शंका का परिहार करते है कि चित्त की शुद्धि से उपलक्षित ब्रह्मानुसंधान से सकल कर्मों का क्षय होने पर संसार की निवृत्ति हो सकती है—

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाऽशुभम् ।

प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥११४॥

चित्तस्य प्रसादेन=चित्त के शोधन से अधिकारी मनुष्य, शुभाशुभं कर्म=धर्म अधर्मरूप कर्म का, हन्ति हि=क्षय करता है यह बात श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है, प्रसन्नात्मा=शोधित चित्तवाला अधिकारी, आत्मनि= अपना स्वरूप अद्वितीय सुखरूप ब्रह्म में, स्थित्वा= स्थित होकर अर्थात् (अद्वयानन्द ब्रह्मरूप ही मैं हूँ ऐसे निश्चय द्वारा सम्पूर्ण दृश्य का परिहार करके चिन्मात्ररूप से अवस्थित होकर), अक्षय्यं सुखं=अविनाशी स्वरूपसुख को, अश्नुते= प्राप्त करता है ॥११४॥

अब 'प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा' इस पूर्व श्लोकोक्त अर्थ को दृष्टान्त कथन पूर्वक दृढ़ करते हैं —

समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।

यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥११५॥

जन्तोः चित्तं=प्राणियों का मन, विषयगोचरे=इन्द्रियों के विषय शब्दादियों में, यथा समासक्तं=जैसे स्वभाव से ही अनुरक्त है, तत् ब्रह्मणि यदि=वह चित्त प्रत्यग् अभिन्न परमात्मा में

अगर, एवं स्यात्=वैसे ही अनुरक्त हो तब, कः बन्धनात्=कौन मनुष्य संसार से, न मुच्येत=नहीं मुक्त होगा ॥११५॥

उसी अर्थ की दृढ़ता के लिये मन का आवान्तर भेद कहते हैं —

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥११६॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं=चित्त तो दो प्रकार कहा गया है, शुद्धं च अशुद्धम् एव च=एक तो शुद्ध मन है और दूसरा अशुद्ध मन है, कामसंपर्कात् अशुद्धं=कामक्रोधादि दोष के सम्बन्ध से मन अशुद्ध, कामविवर्जितं शुद्धं=और कामादि दोष से रहित मन शुद्ध कहा जाता है ॥११६॥

अब द्विविध मन की क्रम से संसार और मोक्ष के प्रति हेतुता दिखाते हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥११७॥

मनुष्याणां बन्धमोक्षयोः=मनुष्यों के बन्धन और मुक्ति दोनों का, कारणं मनः एव=कारण मन ही है, विषयासक्तं=संसार के विषयों में अनुरक्त मन, बन्धाय=बन्धन के लिये अर्थात् बन्धन का कारण है, निर्विषयं=और संसार के विषयों का सम्बन्ध रहित शुद्ध मन, मुक्त्यै स्मृतं=मुक्ति का कारण कहा गया है ॥११७॥

११४ वें श्लोक के उत्तरार्ध से कहे हुए अर्थ को श्रुति स्वयं ही विस्तार पूर्वक कहती है —

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते ॥११८॥

आत्मनि निवेशितस्य=प्रत्यक् स्वरूप आत्मा में स्थापित, समाधिनिर्धूतमलस्य=तथा समाधि के द्वारा अर्थात् प्रत्यक् आत्मा की अभेद विषयक वृत्ति के अभ्यास से पूर्णतया निवृत्त हो गया है रज और तम मल जिससे, चेतसः=ऐसे चित्त को अर्थात् शुद्ध चित्त को, यत् सुखं भवेत्=जो सुख प्राप्त होता है, तदा तत् गिरा=समाधि काल में उत्पन्न वह सुख वाणी के द्वारा, वर्णयितुं न शक्यते=कहने को अर्थात् व्यक्त करने को शक्य नहीं किन्तु, स्वयं=वह प्रत्यक् स्वरूप अलौकिक सुख, अन्तःकरणेन गृह्यते=अन्तः करण से ग्रहण किया जाता है ॥११८॥

यह समाधि दुर्लभ होने के कारण इससे ब्रह्मानन्द का निश्चय कैसे संभव होगा इस आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ।
तथापि क्षणिको ब्रह्मानन्दं निश्चाययत्यसौ ॥११९॥

यद्यपि असौ समाधिः=यद्यपि वह समाधि, नृणाम्=मनुष्यों के लिये, चिरं कालं दुर्लभः=दीर्घकाल तक दुष्प्राप्य है, तथापि क्षणिकः असौ=फिर भी क्षण भर की भी वह समाधि, ब्रह्मानन्दं निश्चाययति=ब्रह्मानन्द का निश्चय करा देती है ॥११९॥

आत्मदर्शन के लिये श्रवणादि साधनों में प्रवृत्त हुए भी कई मनुष्य आनन्द के निश्चय से रहित बहिर्मुख ही रहते हैं, ऐसे आक्षेप का समाधान करते हैं कि श्रद्धा रहित मनुष्यों का ऐसा होने पर भी, श्रद्धालु को ब्रह्मानन्द का निश्चय अवश्य होता है—

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ।
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन्विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥१२०॥

अत्र यः=इस समाधि में जो मनुष्य, श्रद्धालुः=श्रद्धा वाला है, व्यसनी=तथा व्यसन वाला है अर्थात् कार्य सम्पादन करने की दृढ़ इच्छा वाला मनुष्य है वह, सर्वथा एव=अवश्य ही, निश्चिनोति=उस ब्रह्मानन्द का निश्चय कर लेता है, तस्मिन्=उस ब्रह्मानन्द के, सकृत् निश्चिते=एक बार भी क्षणिक समाधि में निश्चय हो जाने

पर, तु अयं=तो, एक बार निश्चय करने वाला, अन्यदा अपि=अन्य काल में भी, विश्वसिति=ब्रह्मानन्द है इस प्रकार निश्चय कर सकता है ॥१२०॥

इस से सिद्ध प्रयोजन को कहते हैं—

तादृक् पुमानुदासीन कालेऽप्यानन्दवासनाम् ।
उपेक्ष्य मुख्यमानन्दं भावयत्येव तत्परः ॥१२१॥

तादृक् पुमान्=पूर्व उक्त मनुष्य अर्थात् श्रद्धा आदि पूर्वक एक बार निश्चय युक्त मनुष्य, उदासीने काले अपि=उदासीन अवस्था में भी, आनन्द वासनाम्=तत्काल अनुभव का विषय पूर्वोक्त वासनानन्द की, उपेक्ष्य=उपेक्षा करके, तत्परः=तन्निष्ठ होकर (ब्रह्मानन्दनिष्ठ होकर), मुख्यम् आनन्दं एव=मुख्य ब्रह्मानन्द को ही, भावयति =भावना करता रहता है ॥१२१॥

इस प्रकार व्यवहार काल में भी निजानन्दरूप ब्रह्मानन्द की भावना करते रहते हैं इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ।
तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम् ॥१२२॥

गृहकर्मणि=गृह के कार्यों में, व्यग्रा अपि=व्यस्त अर्थात् लगी हुई भी, परव्यसनिनी नारी=परपुरुष में आसक्त स्त्री, तत् एव परसङ्गरसायनम्=उसी परपुरुष के संग से जन्य सुख को, अन्तः आस्वादयति=जैसे भीतर ही भीतर आस्वादन करती है ॥१२२॥

अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक में घटाते हैं—

एव तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः ।
तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥१२३॥

एवं शुद्धे=उसी प्रकार अविद्यादि मल से रहित शुद्ध, परे तत्त्वे=परम ब्रह्मरूप सुख में, विश्रान्तिमागतः=उपशम प्राप्त हुआ, धीरः=धैर्यशाली बुद्धिमान् अधिकारी, बहिः व्यवहरन् अपि =बाहर व्यवहार करता हुआ भी, अन्तः=भीतर ही भीतर,

तत् एव=उसी ब्रह्मसुख का, आस्वादयति=आस्वादन करता है ॥१२३॥

अब "धीरः" शब्द के अर्थ-को कहते हैं—

धीरत्वमक्षप्राबल्येऽप्यानन्दास्वादवाञ्छया ।
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिन्तायां प्रवर्तनम् ॥१२४॥

अक्षप्राबल्ये अपि=इन्द्रियों का सामर्थ्य रहने पर भी (विषय की अभिमुखता करके पुरुष को आकर्षण करने में इन्द्रियों का सामर्थ्य होने पर भी), आनन्दास्वादवाञ्छया=स्वरूपसुख के स्मरण की इच्छा से, अखिलाक्षाणि तिरस्कृत्य=सब इन्द्रियों को तुच्छ करके, तच्चिन्तायां=सुख के अनुचिन्तन में ही, प्रवर्तनम्=प्रवृत्त होना, धीरत्वं=धीरता है, अर्थात् धीर पुरुष का लक्षण है ॥१२४॥

अब विश्रान्तिशब्द का विवक्षित अर्थ दृष्टान्त सहित कथन करते हैं—

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वाऽऽस्ते विश्रमं गतः ।
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥१२५॥

भार वाही=जैसे संसार में बोझ ढोने वाला मनुष्य, शिरोभारं=शिर पर रक्खे हुए थकाने वाले बोझ को, मुक्त्वा=फेंक कर, विश्रमं गतः=श्रम से रहित होकर, आस्ते=स्थित होता है उसी प्रकार, संसारव्यापृतित्यागे=संसार के काम धन्धों का त्याग कर देने पर, तादृग्बुद्धिःतु=श्रम से रहित होकर मैं सुख से स्थित हूँ इस प्रकार जो बुद्धि, वही, विश्रमः=पूर्वोक्त विश्रान्तिशब्द का अर्थ है ॥१२५॥

अब फलितार्थ को कहते हैं—

विश्रान्तिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ।
सुखदुःखदशायां च तदानन्दैकतत्परः ॥१२६॥

परमां = निरतिशय, **विश्रान्ति** = पूर्व श्लोक में कही हुई विश्रान्ति को, **प्राप्तः तु** = प्राप्त हुआ मनुष्य तो, **औदासीन्ये** = उदासीन दशा में, **यथा** = जैसे परमानन्द के आस्वादन में तत्पर होता है, **तथा सुखदुःख दशायां च** = उसी प्रकार सुख दुःख के हेतु व्यवहार काल में भी, **तदानंदैकतत्परः** = व्यवहार का स्मरण छोड़ कर स्वरूपानन्द के आस्वादन करने मात्र में ही तत्पर हो जाता है ॥१२६॥

दुःख प्रतिकूल होने के कारण दुःखानुसन्धान की इच्छा न होने पर भी वैषयिक सुख अनुकूल होने से उस को सभी मनुष्य चाहते हैं, इस लिये वैषयिक सुखानुसन्धान की इच्छा क्यों नहीं होगी, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि वैषयिक सुख विषयसंपादन आदि द्वारा अत्यन्त बहिर्मुखता आपादन द्वारा निजानन्द अनुसन्धान का विरोधी होने से वैषयिक सुखेच्छा भी नहीं उत्पन्न होती है, और इस में दृष्टात का भी कथन करते हैं—

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृङ्गारे यादृशी तथा ।
धीरस्योदेति विषयेऽनुसंधानविरोधिनि ॥१२७॥

अग्निप्रवेश हेतौ = अग्नि में प्रवेश करने का हेतु शीघ्र देहत्याग की इच्छा दृढ़ होने पर, **शृङ्गारे** = देह त्याग में विलम्ब का कारण अलंकारादियों में, **यादृशी धीः** = अग्नि प्रवेश करने वाले की जैसी वैरस्यबुद्धि होती है, **तथा** = उसी प्रकार, **अस्य** = वैराग्य आदि साधन सम्पन्न विवेकी की, **अनुसंधानविरोधिनि** = ब्रह्मानन्द स्मरण के विरोधी, **विषये** = विषयसुख में भी, **धीः उदेति** = वैरस्यबुद्धि उत्पन्न होती है ॥१२७॥

विरोधिविषय में सुखेच्छा मत होवे, बिना प्रयत्न सुलभ तथा बहिर्मुखता का हेतु जो नहीं है ऐसे विषय में सुखेच्छा क्यों नहीं होगी, इस शंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं--

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानन्दे च गमागमौ ।
कुर्वन्त्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥१२८॥

एषा बुद्धिः=यह बुद्धि, अविरोधिसुखे=ब्रह्मानुसन्धान के विरोधी जो नहीं हैं ऐसे सुख में, स्वानंदे च=और स्वरसभूत ब्रह्मानन्द में भी, गमागमौ=गमन तथा आगमन को, क्रमात् कुर्वन्ती=क्रम से करती हुई, आस्ते=स्थित होती है, इतस्ततः काकाक्षिवत्=जैसे बायें से दायें और दायें से बायें इधर उधर फिरने वाली कौए की चक्षुरिन्द्रिय है ॥१२८॥

अब दृष्टान्त का विवरण करते हैं—

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ।
यात्यायात्येवमानन्दद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥१२९॥

काकस्य दृष्टिः=जैसे कौए की दर्शनसाधना चक्षु इन्द्रिय एका एव=एक ही है, वामदक्षिणनेत्रयोः=और वह इन्द्रिय बायें दाहिने नेत्रगोलकों में, याति आयाति=क्रम से गमन, आगमन करती है, एवं=उसी प्रकार, तत्वविदः मतिः=विवेकी की बुद्धि भी, आनंद द्वये=विषयानन्द और ब्रह्मानन्द दोनों में गमन आगमन करती है ॥१२९॥

अब दार्ष्टान्तिक का विस्तार पूर्वक कथन करते हैं—

भुञ्जानो विषयानन्दं ब्रह्मानन्दं च तत्त्ववित् ।
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥१३०॥

तत्त्ववित्=तत्त्वज्ञानी विवेकी पुरुष, भुञ्जानः=विषयों का उपभोग करता हुआ, विषयानंदं=विषयानुभव जनित विषयानन्द को, ब्रह्मानन्दं च=और उपनिषद् वाक्य से ज्ञात ब्रह्मानन्द को, लौकिक वैदिकौ उभौ=लोक प्रसिद्ध और वेद प्रसिद्ध दोनों को (विषयानन्द और ब्रह्मानन्द को), द्विभाषाभिज्ञवत्=दो भाषियों के समान, विद्यात्=जानते रहते हैं ॥१३०॥

दुःख की अनुभवदशा में व्याकुलता होने पर निजानन्द का अनुभव कैसे हो सकता है इस बात को दृष्टान्त सहित अगले श्लोक से कहते हैं—

दुःखप्राप्तौ न चोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ।
गङ्गामग्नार्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥१३१॥

यतः=जिस कारण से, द्विदृक्=विवेकी लौकिक और वैदिक दोनों व्यवहारों का ज्ञाता है इस लिये, दुःख प्राप्तौ=दुःख की प्राप्ति दशा में भी, यथा पूर्वं=अज्ञानदशा की न्याईं, उद्वेगः न च=विवेकी को व्याकुलता नहीं होती, यथा गङ्गामग्नार्धकायस्य=जैसे गंगा में डूबा हुआ है आधा शरीर जिसका ऐसे, पुंसः शीतोष्णधीः=पुरुष को ठंड और गरम स्पर्श का ज्ञान एक ही काल में होता है (उसी प्रकार दुःखानुभव काल में भी ब्रह्मानन्द का अनुभव अथवा स्मरण एक ही काल में विवेकी के लिये सम्भव है) ॥१३१॥

अब फलितार्थ को कहते हैं--

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ।
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ॥१३२॥

इत्थं=पूर्वोक्त प्रकार से, जागरणे=जाग्रत् अवस्था में, तत्त्वविदः=तत्त्व वेत्ता को, ब्रह्म सुखं=ब्रह्मानन्द, सदा भाति=सर्वदा अर्थात् सुख दुःख अनुभव काल में तथा तूष्णीं स्थिति में प्रतीत होता है, तद्वासनाजन्ये=और जाग्रत् की वासना से उत्पन्न होने वाले (होने से), स्वप्ने=स्वप्नावस्था में भी, तत्=वह ब्रह्मसुख, तथा भासते=जाग्रत् अवस्था की न्याईं ही भासता है ॥१३२॥

स्वप्न यदि आनन्द अनुभव की वासना से जन्य है तो आनन्द ही भासना चाहिये, दुःख नहीं ऐसी आशंका उठा कर उत्तर देते हैं--

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ।
स्वप्ने मूर्खवदेवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥१३३॥

अविद्या वासना अपि=अविद्या की वासना अर्थात् संस्कार भी, अस्ति=स्वप्न का कारण विद्यमान है, इत्यतः=इस कारण से तद्वासनोत्थिते=अविद्या की वासना से उत्पन्न, स्वप्ने=स्वप्न में, एषः=यह तत्त्ववेत्ता, मूर्खवत्=अज्ञ पुरुष की न्याईं, सुखं दुःखं च=

लौकिक सुख और दुःख को भी, वीक्षते एव=अनुभव करता ही है ॥१३३॥

इस प्रकार से उक्त अर्थ का निगमन करते हैं--

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे ब्रह्मानन्द प्रकाशकम्।
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥१३४॥

ब्रह्मानन्दाभिधे=ब्रह्मानन्द नामक, ग्रन्थे=पाँच अध्यायरूप इस ग्रन्थ में अर्थात् ग्रन्थ के, अस्मिन्=इस योगानन्द प्रकरणरूप, प्रथमे अध्याये=प्रथम अध्याय में, ब्रह्मानन्द प्रकाशकं=समाधि आदि सर्वावस्था में स्वयं प्रकाश चैतन्यरूप ब्रह्मानन्द का प्रकाशक अर्थात् अभिव्यञ्जक, योगिप्रत्यक्षं=योगी अर्थात् तत्त्ववेत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव (तथा शास्त्रवाक्य भी) प्रमाणरूप से, उदीरितं=कहा गया है ॥१३४॥

टि०--यहां प्रत्यक्ष शब्द से शास्त्र अनुमानादि प्रमाणों का भी संग्रह करना, क्यों कि वे भी इस प्रकरण में दिखाये गये हैं ॥१६४॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि-विरचितपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे योगानन्दाख्यैकादशप्रकरणात्मक-प्रथमाध्यायस्य राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यस्वामि-स्वतन्त्रानन्दगिरिमहाराज कथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

—●—

ॐ

अथ ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दो नाम द्वितीयोऽध्यायः, द्वादशं ब्रह्मानन्दे आत्मानन्द प्रकरणम् ॥

—❀—

ब्रह्मानन्द के अन्तर्गत पूर्वोक्त योगानन्द नामक प्रथम अध्याय में योगरूप उपाय से विवेकी को निजानन्द का अनुभव जिस प्रकार से होता है, उसका प्रदर्शन करके अब अविवेकी जिज्ञासु के लिये आत्मानन्दशब्द के वाच्यार्थ त्वंपदार्थ के विवेचन द्वारा ब्रह्मानन्द के प्रकार का प्रदर्शन करने के लिये आत्मानन्द प्रकरण नामक द्वितीय अध्याय का आरम्भ करते हुए, प्रथम शिष्य के प्रश्न की अवतारणा करते हैं —

नन्वेवं वासनानन्दाद्ब्रह्मानन्दादपीतरम् ।
वेत्तु योगी निजानन्दं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥१॥

ननु एवं योगी=शंका करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से विवेकी पुरुष योग द्वारा, **वासनानन्दात् ब्रह्मानन्दात् अपि**=वासनानन्द से और ब्रह्मानन्द से भी, **इतरम् निजानन्दं वेत्तु**=भिन्न निजानन्द को भले ही अनुभव करें परन्तु, **मूढ़स्य अत्र**=अविवेकी जिज्ञासु मनुष्य की निजानन्द के विषय में, **का गतिः अस्ति**=क्या गति है अर्थात् अविवेकी मनुष्य निजानन्दरूप ब्रह्मानन्द को कैसे अनुभव करेगा॥१॥

शिष्य के द्वारा इस प्रकार पूछा हुआ गुरु अतिमूढ़ का विद्या में अधिकार ही नहीं है इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ।
पुनः पुनर्देहलक्षैः किं नो दाक्षिण्यतो वद ॥२॥

एषः धर्माधर्मवशात्=यह अतिमूढ़ पुरुष (अनादि संसार में बीते हुए जन्मों में अनुष्ठान किये हुए) पुण्य पाप कर्म वश, **देहलक्षैः पुनः पुनः**=अनेक प्रकार के लाखों देह धारण द्वारा बारम्बार, **जायतां म्रियताम् अपि**= जन्मे तथा मरे भी, **नः दाक्षिन्यतः**=हमारी उदारता से (दया से) **किं वद**=क्या प्रयोजन होगा, कहो ॥२॥

आचार्य सभी के ऊपर ही अनुग्रह करने वाले होते हैं, इस वास्ते अतिमूढ़ की भी गति आचार्य से कहनी चाहिये, इस प्रकार शिष्य कहता है—

अस्ति वोऽनुजिघृक्षुत्वाद् दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ।
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥३॥

वः अनुजिघृक्षुत्वात्=आप आचार्य शिष्यों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा वाले हैं, अर्थात् शिष्यों के उद्धार करने की इच्छा युक्त हैं इसलिये, **दाक्षिण्येन प्रयोजनम्**=उदारता का (दया का) शिष्यों का उद्धाररूप प्रयोजन, **अस्ति**=विद्यमान है (इसलिये कुछ न कुछ उपाय बताना अवश्य चाहिये), **तर्हि**=इस प्रकार शिष्य के वचन को सुनकर गुरु शिष्य को विकल्प पूर्वक पूछता है कि यदि मूढ़ पुरुष के लिये भी कोई उपाय बताना आवश्यक है तब, **सः मूढः किं पराङ्मुखः**=वह मूढ क्या रागी आत्मविमुख है? **वा जिज्ञासुः ब्रूहि**=अथवा विरक्त जिज्ञासु है? कहो ॥३॥

यदि रागी आत्मविमुख शिष्य है, तब उसको रागानुसार कर्म अथवा उपासना का उपदेश देना चाहिये, प्रथम पक्ष में इस प्रकार परिहार कहकर, उत्तरार्द्ध से द्वितीय पक्ष में अर्थात् यदि वह शिष्य जिज्ञासु है, तो भी वह अतिविवेकी है, अथवा मन्दप्रज्ञ है, इस प्रकार विकल्प करके अतिविवेकी के लिये योगानन्द प्रकरण में उक्त योग के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार उसको प्राप्त हो सकता है, इस प्रकार के अभिप्राय वाले आचार्य मन्दप्रज्ञ के लिये आत्मदर्शन के उपाय को कहते हैं

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम् ।
मन्दप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानन्देन बोधयेत् ॥४॥

विमुखाय=जो तत्त्व ज्ञान से विमुख, अर्थात् बहिर्मुख है तथा रागवाला है ऐसे अधिकारी के लिये, यथोचितं उपास्ति कर्म वा= यथायोग्य उपासना अथवा कर्म का, ब्रूयात्=उपदेश करें (यदि ब्रह्मलोक की इच्छा हो तो उपासना का उपदेश करें, यदि स्वर्गादि-कामना वाला हो तो कर्म का उपदेश करें), मन्द प्रज्ञं तु=और यदि अल्प बुद्धि वाला हो, परन्तु, जिज्ञासुं=विरक्त जिज्ञासु (अर्थात् तत्त्व-ज्ञान की इच्छा वाला) अधिकारी हो तो उसको, आत्मानन्देन बोधयेत्=आत्मानन्द का विवेचन द्वारा बोध करावें ॥४॥

इस प्रकार किसने किसको बोधन किया, ऐसी आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं—

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ।

न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥५॥

याज्ञवल्क्यः मैत्रेयीं निजप्रियां=ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी नाम वाली अपनी प्रिय भार्या को, न वा (१) अरे पत्युरर्थे पतिः प्रियः इति=इस प्रकार वाक्य से, ईरयन्=उपदेश करते हुए, बोध-यामास=बोधन किया है (बोध प्राप्त कराया है) ।

(१) अरे पत्युःअर्थे पतिः प्रियः=हे मैत्रेयी, पति के लिये पति प्रिय, न वै=नहीं है। तात्पर्य यह है कि पति में प्रीति स्वाभा-विक अहैतुकी नहीं है, किन्तु आत्मा में जो स्वाभाविक प्रीति है, उस प्रीति के अधीन आत्मसम्बन्धी होने से पति में प्रीति हैं ॥५॥

आगे के ग्रन्थ में 'परप्रेमास्पदत्वेन' इत्यादि वाक्य से परम प्रेम का आस्पद होने से आत्मा परमानन्दरूप है, इस वार्ता को सिद्ध करने की इच्छा वाले ग्रन्थकार पहले परप्रेमास्पदत्व हेतु को समर्थन करने के लिये श्रुति में उक्त याज्ञवल्क्यमैत्रेयी संवादरूप सब पर्याय वाक्यों का तात्पर्य कहते हैं—

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ।

लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥६॥

पतिः जाया पुत्रवित्ते=पति पत्नी, पुत्र और धनादि वित्त,

पशु ब्राह्मण बाहुजाः=पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, **लोकाः देवाः**=चौदह भुवन, देवता, **वेद भूते**=वेद तथा भूत अर्थात् आकाशादि पाँच, **सर्वं च आत्मार्थतः**=सभी भोग्य वस्तु आत्मा के लिये होने से (भोक्ता आत्मा के सम्बन्ध से ही), **प्रियं**=प्रिय लगते हैं, स्वरूप से नहीं। ६॥

अब पूर्व कहे हुए श्रुतिवाक्य के तात्पर्य अर्थ को विभाग पूर्वक दिखाते हैं—

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा।
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥७॥

यदा पत्न्याः=जिस काल में पत्नी की, **पत्यौ इच्छा**=पति के विषय में कामना होती है, **तदा सा प्रीतिं करोति**=उस काल में वह पत्नी पति से स्नेह करती है, **तत्पतिः**=और उसका पति जब, **क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैः**=क्षुधा, अनुष्ठान, रोगादि के कारण इच्छा रहित होता है, **तदा न इच्छति**=तब वह पत्नी की इच्छा नहीं करता हैं ॥७॥

इस प्रकार होने पर फलितार्थ को कहते हैं, और उत्तरार्ध से अन्य पर्याय वाक्यों का तात्पर्य को क्रम से विभाग पूर्वक दिखाते हैं-

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थं एव करोति ताम्।
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥८॥

सा प्रीतिः=पत्नी की वह प्रीति, **पत्युः अर्थे न**=पति के लिये (पति के प्रयोजन सिद्धि के लिये) नहीं है किन्तु, **ताम् स्वार्थे एव करोति**=पत्नी पति में उस प्रीति को अपने प्रयोजन के लिये ही करती है, **पतिः च आत्मनः अर्थे एव**=पति भी अपने प्रयोजन के लिये ही पत्नी में प्रेम करता है, **जायार्थे कदाचन न**=पत्नी के प्रयोजन के लिये कभी भी प्रेम नहीं करता ॥८॥

एक एक की कामना से जहाँ प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रीति [illegible]र्थ के लिये भले ही हो, परन्तु जहाँ एक काल में दोनों की इच्छा से प्रवृत्ति होती है, वहाँ तो प्रीति उभयार्थक होगी, ऐसी आशंका का उत्तर देते हैं—

अन्योन्यप्रेरणेऽप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥९॥

एवं अन्योन्य प्रेरणे अपि=उक्त प्रकार से परस्पर की इच्छा से उत्पन्न हुई प्रवृत्ति में भी, **स्वेच्छया एव**=अपनी अपनी कामना पूर्ण की इच्छा से ही, **प्रवर्तनम्**=दोनों की प्रवृत्ति होती है (ऐसा निश्चय करना चाहिए) ॥९॥

पूर्वोक्त स्वेच्छा से प्रवृत्ति को अब दिखाते हैं

श्मश्रुकण्टकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ।
चुम्बत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥१०॥

श्मश्रुकण्टक वेधेन=कांटे के समान-मूंछ दाढ़ी के गढ़ने से, **बाले रुदति**=छोटे बालक के रोदन करने पर भी, **तत्पिता चुम्बति एव**=उसका पिता बालक को चूमता ही रहता है, **सा प्रीतिः बालार्थे न**=पिता की वह प्रीति बालक की तुष्टि के लिये नहीं, **सा स्वार्थे एव**=किन्तु वह प्रीति पिता के अपने प्रयोजन (प्रसन्नता) के लिये ही है ॥१०॥

चेतन पति, जाया, पुत्रादिक, में की जाने वाली प्रीति स्वार्थ के लिये है, अथवा परार्थ के लिये है ऐसा सन्देह हो भी सकता है, परन्तु अचेतन होने के कारण इच्छा मात्र रहित वित्तादि विषयों में स्वार्थत्व, परार्थत्व की शंका का अवसर ही नहीं है, इस अभिप्राय से 'न वा अरे वित्तस्य' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य कहते हैं—

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ।
प्रीतिं करोति स स्वार्थे वित्तार्थत्वं न शङ्कितम् ॥११॥

निरिच्छम् अपि=अचेतन (जड़) होने से इच्छा मात्र रहित भी, **रत्नादि वित्त**=बहुमूल्य रत्न आदि सम्पदा को, **यत्नेन पालयन्**=प्रयत्न के साथ रक्षा करता हुआ, **सः स्वार्थे**=वह पालन कर्ता अपने ही प्रयोजन के लिये, **प्रीतिं करोति**=प्रेम (रत्नादियों में) करता है, **वित्तार्थत्वं**=वह प्रेम वित्त के प्रयोजनवश है, **न शंकितम्**=ऐसी आशंका ही नहीं हो सकती ॥११॥

और चेतन होने पर भी भार ढोने की इच्छा रहित पशु में भी उसी न्याय को कहने के लिये " नवा भरे पशूनां " इत्यादि वाक्य का तात्पर्य कहते हैं—

अनिच्छति बलिवर्दे विवाहयिषते बलात् ।
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलिवर्दार्थता कुतः ॥१२॥

बलिवर्दे अनिच्छति=बैल की भार ढोने की इच्छा न करने पर भी, **बलात् विवाहयिषते**= जबरदस्ती से उससे भार ढोवाने की इच्छा व्यापारी मनुष्य करता है, **सा प्रीतिः**=भार ढोवाने की वह इच्छा, **वणिगर्था एव**=व्यापारी के स्वार्थ के लिये ही है, **बलिवर्दार्थता कुतः**=बैल के स्वार्थ के लिये नहीं है। ॥१२॥

अब ' न वा अरे ब्रह्मणः कामाय " इत्यादि वाक्य का तात्पर्य कहते हैं—

ब्राह्मण्यं मेऽस्ति पूज्योऽहमिति तुष्यति पूजया ।
अचेतनाया जातेर्नो संतुष्टिः पुंस एव सा ॥१३॥

मे ब्राह्मण्यं अस्ति=मेरी ब्राह्मणत्व जाति है, **अहं पूज्यः**=इसलिये मैं पूजने योग्य हूँ, **इति**=इस प्रकार अभिमान वाला मनुष्य, **पूजया तुष्यति**=पूजा की प्राप्ति से प्रसन्न होता है, **सा संतुष्टिः अचेतनायाः जातेः न**=वह प्रसन्नता जड़ जाति की नहीं बन सकती किन्तु, **पुंसः एव**=ब्राह्मणत्व जाति वाले पुरुष की ही है। ॥१३॥

इसी प्रकार ' न वा अरे क्षत्रस्य ' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य कहते हुए इस उदाहरण को वैश्यादियों में भी घटाना चाहिये इस वार्ता को कहते हैं —

क्षत्रियोऽहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ।
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥१४॥

अहं क्षत्रियः तेन राज्यं करोमि=मैं क्षत्रिय हूँ, इस कारण से राज्य करता हूँ, **इति अत्र राजता जातेः**=यहाँ पर राज्यभोग निमित्त सुख जड़क्षत्रियत्व जाति को, **न**- प्राप्त नहीं किन्तु क्षत्रियत्व

जाति वाले मनुष्य के लिये है ;इदं वैश्यजात्यादौ=यह क्षत्रिय का उदाहरण वैश्यत्व जाति आदि में, योजनाय ईरितं=घटाने के लिये कहा गया है ॥१४॥

'न वा अरे लोकोनां कामाय' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य कहते हैं—

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ।
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ॥१५॥

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ मम स्तां= स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक दोनों मेरे लिये प्राप्त होवे, इति अभिवाञ्छनम्=इस प्रकार की इच्छा अर्थात् प्रीति, लोकयोः उपकाराय न=उन दोनों लोकों के उपकार अर्थात् हित (सुख) के लिये नहीं है किन्तु, केवलम् स्वभोगाय एव =एक मात्र अपने ही भोग के लिये है।

यहाँ भी कर्म उपासनारूप साधनों के द्वारा सम्पादनीय समस्त लोकों में यह न्याय जान लेना ॥१५॥

उसी प्रकार देवादि पर्यायों में भी सर्वत्र वाक्यों का तात्पर्य तीन श्लोकों से कहते हैं—

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यन्ते पापनष्टये ।
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥१६॥

ईशविष्ण्वादयः देवाः=महेश, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवता, पापनष्टये पूज्यन्ते=पाप की निवृत्ति के लिये पूजे जाते हैं, तत् निष्पापदेवार्थं न=वह देवता का पूजन स्वभाव से पाप रहित देवताओं के लिये नहीं है, तु तत्=किन्तु वह पूजन, स्वार्थं= पूजा करने वाले के अपने ही प्रयोजन के लिये, प्रयुज्यते=किया जाता है ॥१६॥

ऋगादयो ह्यधीयन्ते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ।
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥१७॥

ऋगादयः=ऋग्, यजुः आदि चारों वेद, दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये हि अधीयन्ते=व्रात्य दोष प्राप्त न हो इस लिये ही पढ़े जाते हैं, तत् वेदेषु प्रसक्तं न=वह व्रात्य दोष वेदों में प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु, मनुष्येषु प्रसज्जते=मनुष्यों में अर्थात् ब्राह्मणों में प्राप्त होता है ॥१७॥

भूम्यादि पञ्चभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः ।
हेतुभिश्चावकाशेन वाञ्छन्त्येषां न हेतवः ॥१८॥

स्थानतृट्पाकशोषणैः=स्थान प्रदान, तृष्णानिवारण, पकाना, गीली वस्तु को शोषणा, हेतुभिः च अवकाशेन=इन कारणों से और अवकाश प्रदानरूप निमित्त से भी, भूम्यादिपञ्चभूतानि वाञ्छन्ति= पृथ्वी, जल आदि पांचों भूतों को सर्व प्राणी चाहते हैं, एषां हेतवः न=पृथ्वी आदि पञ्च भूतों के स्थान प्रदान, तृष्णानिवारण आदि निमित्त नहीं (इस लिये पञ्च भूत स्वयं स्थानादि की इच्छा अपने प्रयोजन के लिये नहीं करते) ॥१८॥

अब "न वा अरे सर्वस्य कामाय" इस अन्तिम वाक्य का तात्पर्य कथन करते हैं—

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वाञ्छति ।
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥१९॥

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं=मालिक, नौकर, आदि सब ही, स्वोपकाराय वाञ्छति तु=अपने अपने ही प्रयोजन के लिये (मालिक नौकर आदिको) चाहते हैं, परन्तु, तत्तत्कृतोपकारः=तिसतिस स्वामी भृत्यादिकों के द्वारा किये हुए (अथवा किये जाने वाले) उपकार, तस्य तस्य=जिस जिस के प्रति उपकार किया, उसके लिये, न विद्यते =नहीं किया जाता है ॥१९॥

श्रुति में इस प्रकार के बहुत उदाहरण किस लिये दिखाये गये हैं, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसधातुमीदृशम् ।
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥२०॥

सर्वव्यवहृतिषु = (इच्छापूर्वक) सम्पूर्ण भोजनादि व्यवहारों में, **एवं** = उक्त प्रकार से (आत्मा के लिये ही सर्वपदार्थ प्रिय होते हैं, इस प्रकार), **अनुसंधातुं** = अनुसंधान अर्थात् निश्चय करने के लिये, **ईदृशं** = पति जायादियों में प्रीतिप्रदर्शनरूप, **उदाहरणबाहुल्यं** = बहुत से उदाहरण कहे गये हैं, **तेन स्वां मतिं** = इस लिये अपनी बुद्धि को, **वासयेत्** = उसी प्रकार अनुसंधान वाली बनावे (अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ अपने ही प्रयोजन के लिये हैं, ऐसे विचार द्वारा आत्मा प्रियतम है, इस प्रकार निश्चय वाली बनावे) ॥२०॥

शंका - आत्मा के शेष अर्थात् भोगोपकरण होने के कारण सम्पूर्णजगत् की प्रियता के कथन से आत्मा प्रियतम है ऐसा निर्णय नहीं बन सकता, क्योंकि प्रीति के विषय में विकल्प करने पर प्रीति का स्वरूप ही निरूपित नहीं किया जा सकता, इस अभिप्राय से प्रीति का स्वरूप पूछते हैं --

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ।
रागो बध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ।
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥२१॥

अथ = प्रश्न करते हैं कि, **या निजात्मनि प्रीतिः श्रूयते** = जो अपनी आत्मा में प्रीति सुनी जाती है, **इयं का भवेत्** = यह प्रीति कैसे स्वरूप वाली है अर्थात् वह रागरूप है अथवा श्रद्धारूप है, कि वा भक्तिरूप है, अथवा इच्छारूप है ? **रागः** = यदि रागरूप है तो, **बध्वादिविषये** = स्त्री आदि विषय में ही रागरूप प्रीति हो सकती है, यागादि विषय में नहीं, **श्रद्धा** = यदि श्रद्धारूप है तो, **यागादि कर्मणि** = याग होम आदि कर्म में ही होगी, अन्य वस्तु में नहीं, **भक्तिः गुरुदेवादौ स्यात्** = यदि भक्तिरूप वह प्रीति है तो, गुरु देवता आदि में ही हो सकती है, अन्य वस्तु में नहीं, **इच्छा तु** = और यदि वह प्रीति इच्छारूप है तो, **अप्राप्तवस्तुनि** = अप्राप्त वस्तु में ही होगी, प्राप्त में नहीं, इस प्रकार प्रीति का विषय सर्व पदार्थ न होने से प्रीति का स्वरूप सिद्ध नहीं होता ॥२१॥

उक्त प्रकार चतुष्टय के स्वरूप से अतिरिक्त ही प्रीति का स्वरूप है, इस प्रकार पंचम पक्ष को ग्रहण करके उत्तर देते हैं, और उत्तरार्ध से सिद्धान्ती के द्वारा उक्त प्रीति इच्छास्वरूप ही होगी ऐसी आशंका का [illegible] र करते हैं—

तर्ह्यस्तु सात्त्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ।
प्राप्ते नष्टेऽपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥२२॥

तर्हि=तब तो (यदि प्रीति का स्वरूप रागादिरूप नहीं बन सकता तब), **सुखमात्रानुवर्तिनी**=केवल सुख को विषय करने वाली, **सात्त्विकी वृत्तिः अस्तु**=सतोगुणी अन्तःकरण की वृत्ति प्रीति का स्वरूप होवे, **प्राप्ते नष्टे अपि**=प्राप्त वस्तु में (प्राप्त सुख में) तथा नष्ट हुई वस्तु में भी (नष्ट हुए सुख में भी), **सद्भावात्**=विद्यमान होने के कारण वह प्रीति, **इच्छातःव्यतिरिच्यते**=इच्छा से भिन्न ही हैं ॥२२॥

अब सुख के साधनरूप अन्नादि विषयों में जैसे प्रीति होती है, उसी प्रकार आत्मा में भी प्रीति देखने में आती हैं, इसलिये आत्मा भी अन्नादिक की न्याई सुख का साधन ही होगा, ऐसी आशंका करते हैं—

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ॥२३॥

अन्नपानादयः=भोजन जल आदि जो अन्नपान हैं, वे, **सुखसाधनतोपाधेः**=सुखसाधनतारूप उपाधि से अर्थात् सुख का साधन होने से, **प्रियाः**=जैसे प्रिय हैं अर्थात् प्रीति का विषय है, उसी प्रकार आत्मा भी अनुकूल अतएव प्रिय होने के कारण अन्नपानादिक की न्याई सुख का साधन ही होगा ॥२३॥

कहे हुये अर्थ में अनुमान प्रमाण भी 'चेत्'तक ग्रन्थ से पूर्वपक्षी कहते हैं, और अन्नपानादि में भोग्यत्व उपाधि है, इस लिये तुम्हारा अनुमान भी ठीक नहीं, इस अभिप्राय से शंका का समाधान करते हैं अवशिष्ट श्लोक से—

आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः ।
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥२४॥

आत्मा आनुकूल्यात्=आत्मा भी अनुकूल होने के कारण तथा प्रिय होने के कारण, **अन्नादिसमः**=अन्न पानादि के समान सुख का साधन ही होगा, **चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **अत्र अमुना**=इस लोक में सुख के साधन होने से अनुकूल इस आत्मा के द्वारा, **अनुकूलयितव्यः**=अनुकूल बनाने लायक अर्थात् प्रसन्न करने लायक **कः स्यात्**=कौन होगा अर्थात् कोई भी नहीं है, क्योंकि आत्मा से भिन्न कोई भोक्ता है नहीं जिसको अनुकूल बनाना है, **एकस्मिन् कर्मकर्तृता**=एक ही आत्मा एक ही काल में कर्म और कर्ता, **न**=नहीं बन सकता अर्थात् भोक्ता और भोग्य नहीं बन सकता, इस लिये एक ही आत्मा एक ही काल में उपकार्य अर्थात् भोक्ता, और उपकारक अर्थात् सुखसाधक विरुद्ध होने से बन नहीं सकता ॥२४॥

अन्नादि की न्याई आत्मा सुख का साधन न होने पर भी, वैषयिक सुख की न्याई भोक्ता का शेष अर्थात् भोक्ता के लिये है, इस आशंका का परिहार आत्मा के निरतिशय प्रेमास्पदत्व हेतु से करते हैं, और इस विषय में उपपत्ति भी उत्तरार्द्ध से कहते हैं—

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ।
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥२५॥

वैषयिके सुखे प्रीतिमात्रं=विषयजन्य सुख में केवल प्रीति है निरतिशय प्रीति नहीं, **आत्मा तु अतिप्रियः**=आत्मा तो निरतिशय प्रेम का विषय है (इसलिये विषयजन्य सुख के समान नहीं), **सुखे एषा**=विषयजन्य सुख में उत्पन्न होने वाली यह प्रीति, **व्यभिचरति**=कदाचित् दूसरे सुख में चली जाती है (एक ही सुख में नियम से नहीं रहती), **आत्मनि**=आत्मा में विद्यमान प्रीति तो, **न व्यभिचारिणी**=दूसरे विषय में जाने वाली नहीं हैं (इस वास्ते आत्मा में प्रीति निरतिशय है) ॥२५॥

वैषयिक सुख में प्रीति का व्यभिचार और आत्मा में व्यभिचार का अभाव दिखाते हैं –

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा।
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथं ॥२६॥

सदा एकं वैषयिकं सुखं त्यक्त्वा=विषयसुख में प्रीति हमेशा एक विषय से जन्य सुख को छोड़कर, अन्यत् आदत्ते=दूसरे वैषयिक सुख को ग्रहण करती है, आत्मा त्याज्यो न=और आत्मा तो हेय नहीं है, न च आदेयः=और न ही उपादेय है (क्योंकि आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप हानोपदान के योग्य नहीं है), तस्मिन्=उस आत्मा में वह प्रीति, कथं व्यभिचरेत्=कैसे व्यभिचारिणी हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ॥२६॥

हानि और उपादान का विषय न होने पर भी आत्मा तृणादि की न्याई उपेक्षा का विषय क्यों नहीं होगा, ऐसी आशंका पूर्वार्ध से करके, उत्तरार्ध से परिहार करते हैं कि उपेक्षा की योग्यता भी आत्मा में न होने से उपेक्षा का विषय भी वह आत्मा नहीं है—

हानादानविहीनेऽस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत्।
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥२७॥

हानादानविहीने अस्मिन्=त्याग और ग्रहण से रहित इस आत्मा में, तृणादिवत् उपेक्षा=तृणादि में उपेक्षा के समान उदासीनता होगी, चेत्=यदि ऐसी शंका हो तो उत्तर यह है कि, उपेक्षितुः स्वरूपत्वात्=उपेक्षा करने वाले के अपना ही स्वरूप होने से निजात्मनः=अपने स्वरूपभूत आत्मा, न उपेक्ष्यत्वं= (अपने स्वरूप से भिन्न तृणादि की न्याई) उपेक्षा का विषय भी नहीं हो सकता ॥२७॥

त्याग का विषय आत्मा नहीं है-यह आपका पूर्व कथन नहीं बन सकता, क्योंकि द्वेषवशात् आत्मा में भी त्याज्यता देखने में आती है, ऐसी आशंका करके "तन्नहि" पद से वह त्याग आत्मा से अति-

रिक्त देहादियों का ही है, आत्मा का नहीं इस प्रकार परिहार करते हैं–

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ।
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥२८॥

रोग क्रोधाभिभूतानां=रोग, क्रोध, शोक आदि से आविष्ट प्राणियों की, **मुमूर्षा क्वचित् वीक्ष्यते**=मरने की इच्छा कभी कभी देखने में आती है, **ततः द्वेषात्**=इस लिये आत्मा में द्वेष सम्भव होने के कारण, **आत्मा त्याज्यः**=आत्मा भी सर्प आदि की न्याई त्याग का विषय, **भवेत्**=हो सकता है (इस लिये आत्मा त्याज्य नहीं यह कहना सिद्धान्ती का युक्त नहीं), **इति यदि**==इस प्रकार अगर शंका है तो, **तत् न हि**=तुम्हारा वह कहना ठीक नहीं (क्योंकि आत्मा से भिन्न देहादियों का ही त्याग मुमूर्षु करना चाहता है; अपने स्वरूप आत्मा का नहीं) ॥२८॥

आत्मव्यतिरिक्त की त्याज्यता, और त्याग करने वाले की आत्मता को दिखाते हुए प्रकृत में सिद्ध प्रयोजन को कहते है--

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ।
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥२९॥

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य आत्मता न=त्यागने योग्य देह आत्मा नहीं है, **त्यक्तुः एव सा**=देह त्याग करने वाले देहातिरिक्त जीव ही वह आत्मा है, **त्यक्तरि सः द्वेषः**=देह त्याग करने वाले जीवात्मा में वह द्वेष, **न अस्ति**=नहीं है (इस लिये आत्मा त्याज्य नहीं), **त्याज्ये द्वेषे तु**=त्यागने योग्य देह में द्वेष होने पर भी, **का क्षतिः**=क्या हानि है, अर्थात् आत्मा का त्याग नहीं बन सकता, ऐसे कहने वाले हम सिद्धान्ती की क्या हानि है ॥२९॥

इस प्रकार पूर्वोक्त श्रुति के तात्पर्य विचार से सिद्ध आत्मा का प्रियतमत्व को दिखाकर, अब युक्ति से भी आत्मा के प्रियतमत्व को दिखाते हैं, और दृष्टान्त प्रदर्शन द्वारा उसको स्पष्ट भी करते हैं–

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ।
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥३०॥

सर्वस्य आत्मार्थत्वेन=सुख तथा सुख के साधन पति पुत्रादि सब आत्मा का उपकारक होने से, **प्रीतेः च आत्मा**=प्रिय होने पर भी अपना स्वरूप आत्मा, **अतिप्रियः सिद्धः हि**=अतिशय प्रिय है यह बात सिद्ध हुई, **यथा पुत्रमित्रात्**=जैसे लोक में पुत्र के मित्र से (पुत्र में प्रीति की अधीन प्रीति का विषय उस मित्र की अपेक्षा), **पुत्र-प्रियतरः**=अपना पुत्र अधिक प्रिय होता है, **तथा**=उसी प्रकार (आत्मसम्बन्धी होने के कारण आत्मप्रीति की अधीन प्रीति के विषय सर्व पदार्थों से) आत्मा निरतिशय प्रीति का विषय हैं ॥३०॥

इस प्रकार आत्मा में श्रुति तथा युक्ति से उपपादन किया हुआ निरतिशय प्रेम को स्वानुभव प्रदर्शन द्वारा दृढ़ करते हैं—

मा न भूवमहं किं तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ।
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥३१॥

अहं मा भुवम् न=मैं मत होऊं ऐसा कदापि मत होवे अर्थात् मेरा असत्त्व कभी न हो, **किन्तु सर्वदा भूयासम्**=परन्तु सदा ही मैं बना रहूँ अर्थात् मेरी सत्ता हमेशा बनी रहे, **इति असौ आशीः**=इस प्रकार की वह प्रार्थना, **सर्वस्य दृष्टा**=सब प्राणियों की देखी जाती हैं, **इति आत्मनि प्रीतिः प्रत्यक्षा**=इस लिये आत्मा में निरतिशय प्रेम प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है ॥३१॥

पूर्ववृत्त का अनुकीर्तन पूर्वक मतान्तर में दूषण दिखाने के लिये मतान्तर का अनुवाद करते हैं

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ।
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥३२॥

इत्यादिभिः । त्रिभिः=अनुभव, युक्ति और श्रुति इन तीनों प्रमाणों से, **एवम् आत्मनि प्रीतौ सिद्धायाँ**=पूर्वोक्त प्रकार से अपने स्वरूप आत्मा में निरतिशय प्रेम सिद्ध होने पर भी, **कैश्चित्**=श्रुति

आदि के तात्पर्य को नहीं जानने वाले कुछ वादियों ने, आत्मनः = आत्मा को, पुत्रभार्यादिशेषत्वम् ईरितम् = पुत्र पत्नी आदि का उपकारक कहा हैं ॥३२॥

और वादियों का यह कथन उनके के मत में श्रुति से सिद्ध है यह वार्ता कहते हैं--

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ।
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥३३॥

एतद्विवक्षया = आत्मा पुत्रादि का शेष अर्थात् उपकारक है इस बात को कहने की इच्छा से, आत्मा वै पुत्रनामा इति श्रुतीरितं = "आत्मा वै पुत्रनामासि" इत्यादि श्रुति ने कहा है कि, पुत्रे मुख्यात्मत्वं = पुत्र ही मुख्य आत्मा है, तत् च उपनिषदि स्फुटं = पुत्र का मुख्य आत्मत्व ऐतरेय उपनिषद् आदि में स्पष्ट ही कहा है ॥३३॥

ऐतरेय उपनिषद् के उस वाक्य को अर्थ से पाठ करते हैं—

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ।
अथास्येतर आत्माऽयं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥३४॥

अस्य सः अयम् आत्मा = इस पिता के पूर्वोक्त यह पुत्र रूप आत्मा, पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते = शुभ कर्मों के अनुष्ठान के लिये पिता के प्रतिनिधिरूप से पिता के द्वारा स्थापित किया जाता है, अथ अस्य अयं = पश्चात् पिता के प्रत्यक्षरूप से दृश्यमान, इतरः आत्मा = पुत्र से भिन्न जरायुक्त पितारूप आत्मा, कृतकृत्यः = खुब "मैंने संपूर्ण कर्तव्य कर्मों को कर लिया अब मेरा कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा" इस प्रकार कृतकृत्य होकर, प्रमीयते = मरण को प्राप्त होता है (इस प्रकार ऐतरेय उपनिषद् में भी कहा है, जिस से पुत्र का मुख्य आत्मत्व सिद्ध होता है) ॥३४॥

उक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिये पुत्र रहित को परलोक नहीं प्राप्त होता, इस वार्ता को व्यतिरेकमुख से प्रदर्शन करने वाले

"नापुत्रस्य लोकोऽस्ति" इस वाक्य के अर्थ को तथा "अनुशिष्टं पुत्रं लोक्यमाहुः" इस अन्वयमुख वाक्य के अर्थ को भी कहते हैं—

सत्यप्यात्मनि लोकोऽस्ति नापुत्रस्यात एव हि ।
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥३५॥

अत एव=क्योंकि पुत्र ही मुख्य आत्मा है, इस लिये, आत्मनि सति अपि=पितारूप आत्मा के होने पर भी, अपुत्रस्य लोकः न अस्ति=पुत्र रहित पिता का परलोक नहीं सिद्ध होता है, हि=यह बात पुराण आदि में प्रसिद्ध है, मनिषिणः=शास्त्र के अर्थ को जानने वाले विद्वानों ने, अनुशिष्टं एव="त्वं ब्रह्म" इत्यादि मन्त्रों से शिक्षित ही, पुत्रं लोक्यं आहुः=पुत्र को परलोक का साधन कहा है ॥३५॥

अब इस लोक के सुख का भी पुत्र हेतु है इस अर्थ का प्रतिपादक श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं और पुत्र के प्रति अनुशासन का योग्य अवसर और अनुशासन के मन्त्रों को दिखाते हैं—

मनुष्यलोको जय्यः स्यात् पुत्रेणैवेतरेण नो ।
मुमूर्षुर्मन्त्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमन्त्रकैः ॥३६॥

मनुष्यलोकः पुत्रेण एव जय्यः स्यात्=इस मनुष्यलोक का सुख पुत्र से ही संपादन करने को शक्य है, इतरेण नो=दूसरे धनादि साधन से नहीं, क्योंकि धनादि साधन होने पर भी पुत्र न हो तो दुःख होता है, मुमूर्षुः त्वं ब्रह्म=मरने वाला पिता अन्त काल में तू ब्रह्म है, इत्यादि मन्त्रकैः=तू यज्ञस्वरूप है, और लोकस्वरूप है इन तीनों मन्त्रों से, पुत्रं मन्त्रयेत्=पुत्र को शिक्षा प्रदान करें ॥३६॥

उक्त अर्थ का निगमन करते हैं, और इस में लोकप्रसिद्धि को भी दिखाते हैं--

इत्यादि श्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ।
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥३७॥

इत्यादि श्रुतयः=इस से आदि लेकर पूर्वोक्त श्रुतियों ने,

पुत्रभार्यादि शेषतां प्राहुः=पुत्रभार्यादि के उपकारक आत्मा को अर्थात् पिता आदि को कहा है, लौकिका अपि पुत्रस्य = लौकिक पुरुष भी पुत्र को,प्राधान्यम् अनुमन्वते=प्रधान अर्थात् उपकार्य मानते हैं अर्थात् मुख्य मानते हैं ॥३७॥

कहे हुए अर्थ को अगले श्लोक से उपपादन करते हुए फलितार्थ को भी कहते हैं—

स्वस्मिन्मृतेऽपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ।
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥३८॥

स्वस्मिन् मृते अपि=पिता अपने मरण प्राप्त होने पर भी अर्थात् मरण का अवसर आने पर भी, पुत्रादिः वित्तादिना=मेरे पुत्र भार्यादि धनादि द्वारा अर्थात् धनादि से संपन्न होकर, यथा जीवेत्= जिस प्रकार सुख से जीवन धारण करें, तथा एव यत्नं कुरुते=उसी प्रकार दुःख सहन करके भी पुत्रादि के जीवन का उपाय संपादन करता है, ततःपुत्रादयः मुख्याः=इसलिये पुत्र भार्यादि प्रधान है ॥३८॥

इस प्रकार वेद तथा लोक में प्रसिद्धि से प्रदर्शित पुत्रादि की प्रधानता को सिद्धान्ती अर्ध अंगीकार करते हुये आत्मा की प्रधानता का सिद्धान्तिकृत उपपादन विरुद्ध नहीं है, इस वार्ता को पूर्वार्द्ध से कहते है, और उत्तरार्द्ध से व्यवहारभेद से विवक्षित आत्मस्वरूप का प्राधान्य प्रदर्शन करने के लिये उपोद्घात संगति से त्रिविध आत्मा का वर्णन करते हैं—

बाढ़मेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ।
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥३९॥

बाढम्=लोक व्यवहार में पुत्रादि की प्रधानता भले ही हो परन्तु, एतावता=पुत्रादि की प्रधानता कहीं कहीं पर है इतने मात्र से ही,आत्मा कस्यचित् शेषः न भवति=आत्मा किसी का भी उपकारक नहीं सिद्ध होता है, गौणमिथ्यामुख्यभेदैः=गौण आत्मा मिथ्या आत्मा और मुख्य आत्मा इस भेद से, अयम् आत्मा त्रिधा भवति=यह प्रकृत आत्मा तीन प्रकार का हैं--(आत्मा की प्रधानता

दिखाने के लिये त्रिविध आत्मा का प्रदर्शन सिद्धान्तीने किया) ॥३९॥

पूर्वोक्त तीनों में पुत्रादि गौण-आत्मा है इस बात को दिखाने के लिये लोक में गौण प्रयोग का सहेतुक उदाहरण कहते हैं—

देवदत्तस्तु सिंहोऽयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ।
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥४०॥

अयम् देवदत्तः तु सिंहः=यह देवदत्त नामा मनुष्य तो सिंह है (शेर है), **इति एतयोः**=इस व्यवहार में देवदत्त और सिंह की, **एक्यं गौणम्**=जो एकता है, सो औपचारिक है, क्योंकि, **भेदस्य भासमानत्वात्**=उन दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीयमान है, **तथा पुत्रादेः आत्मता**=उसी प्रकार पुत्रादि की आत्मरूपता भी गौण है अर्थात् पिता और पुत्र का भेद स्पष्ट प्रतीत होने पर भी दोनों के औपचारिक अभेद को लेकर ही एकता का व्यवहार होता है, अतः पुत्रादि पिता आदि का गौण आत्मा सिद्ध होता हैं ॥४०॥

गौण आत्मा का स्वरूप प्रदशन करने के अनन्तर अब मिथ्या-आत्मा का स्वरूप सदृष्टान्त दिखाते हैं—

भेदोऽस्ति पञ्चकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ।
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चौरात्मा यथा ॥४१॥

पञ्चकोशेषु=अन्नमय से आदि लेकर आनन्दमय तक पांचों कोशों में, **साक्षिणः भेदः अस्ति**=साक्षी से, अर्थात् साक्षी का भेद है, **तु असौ न भाति**=परन्तु वह विद्यमान भेद भासता नहीं, **अतः कोशानां मिथ्यात्मता**=इस लिये वे पञ्चकोश मिथ्या आत्मा है, **स्थाणोः चौरात्मता यथा**=वस्तुतः चोर से भिन्न स्थाणु की चोरस्वरूपता जैसे मिथ्या है ॥४१॥

इस प्रकार गौण आत्मा और मिथ्यात्मा का उपपादन करने के पश्चात् अब साक्षी की मुख्यात्मरूपता को उपपादन करते हैं—

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ।
सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥४२॥

अप्रतियोगिनः=अपने स्वरूप से भिन्न कोई पारमार्थिक वस्तु न होने से अप्रतियोगी होने के कारण, साक्षिणः भेदः न भाति=साक्षी-रूप आत्मा का किसी से भी भेद नहीं प्रतीत होता है, न अपि अस्ति =और साक्षी का भेद किसी से है भी नहीं (क्योंकि देहादि सर्व अनात्मपदार्थ आरोपित है), सर्वान्तरत्वात्=सम्पूर्ण देह पुत्रादि पदार्थों से आन्तर होने के कारण, तस्य एव आत्मत्वम् मुख्यं=उस साक्षी का ही आत्मभाव मुख्य है, (प्रत्यक् आत्मस्वरूप साक्षी सर्वान्तररूप से प्रतीयमान होने के कारण साक्षी ही मुख्य आत्मा है इस प्रकार), इष्यते=अंगीकार किया जाता है ॥४२॥

त्रिविध आत्मा मान लेने पर भी पुत्रादि शेषी है, ऐसे कथन से क्या सिद्ध हुआ ऐसी आशंका उत्पन्न होने पर उत्तर कहते हैं—

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ।
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥४३॥

एवं सति=आत्मा तीन प्रकार सिद्ध होने पर, येषु व्यवहारेषु =जिन व्यवहारों में (पालन पोषण आदि लौकिक तथा ब्रह्मात्मत्व अनुसन्धानादि वैदिक व्यवहारों में), यस्य=जिसका (पुत्र देह अथवा साक्षी का), आत्मता उचिता=आत्मरूपत्व युक्तियुक्त होगा, तेषु तस्य एव=उन व्यवहारों में वही पुत्रादिरूप, देहादिरूप अथवा साक्षी-रूप आत्मा ही, शेषित्वं=शेषी अर्थात् प्रधान होता है, अन्यस्य सर्वस्य शेषता=उससे भिन्न सब उपकारक होते हैं ॥४३॥

पूर्वोक्त अर्थ को ही विस्तार पूर्वक पाँच श्लोकों से कहते हैं—

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ।
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥४४॥

मुमूर्षोः गृहरक्षादौ=मरने वाले मुमूर्षु के लिये गृह के रक्षादि कर्म विशेष में, गौणाऽऽत्मा एव=पुत्र भार्या आदि गौण आत्मा ही,

उपयुज्यते = उपयुक्त होता है क्योंकि वे आगे भी जीने वाले हैं, मुख्यात्मा न = मुख्य आत्मा साक्षी अविकारी होने से नहीं उपयुक्त होता है, मिथ्यात्मा न = और देहादिरूप मिथ्यात्मा भी उपयुक्त नहीं क्योंकि वह मरने के लिये उपयुक्त बैठा है, अतः = इस लिये गृहरक्षादि व्यवहार में, पुत्रः शेषी भवति = (गौण आत्मा) पुत्र प्रधान होता है ॥४४॥

उक्त गृहरक्षादि व्यवहार में स्वयं विद्यमान होने पर भी पुत्रादिकों के अंगीकार में दृष्टान्त कहते हैं—

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ।
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्बटुरेवात्र गृह्यते ॥४५॥

अध्येता वह्निः = यह वेदाध्ययन करने वाला साक्षात् अग्नि है, इति अत्र सन् अपि = शब्द प्रयोगरूप इस व्यवहार में विद्यमान हुआ भी, अग्निः न गृह्यते = अग्नि का स्वरूप अग्निशब्द से नहीं समझा जाता है, अयोग्यत्वेन = क्योंकि अध्ययन का कर्तापन अग्नि में बन नहीं सकता, योग्यत्वात् = किन्तु अध्ययन करने में योग्यता वाला होने से, बटुः एव अत्र = ब्रह्मचारी बालक ही इस पूर्वोक्त व्यवहार में, गृह्यते = अग्निशब्द का अर्थ ग्रहण किया जाता है ॥४५॥

गौणात्मा की प्रधानता जिस व्यवहार में होती है उसको कहकर अब मिथ्यात्मा की प्रधानता के स्थल का उदाहरण देते हैं

कृशोऽहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ।
न पुत्रं विनियुङ्क्तेऽत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥४६॥

अहं कृशः = मैं क्षीण अर्थात् पतला हो गया हूँ, पुष्टिम् आप्स्यामी = इस लिये अन्नभक्षणादि उपाय द्वारा अपना पोषण संपादन करूँगा, इत्यादौ = इत्यादि लौकिक व्यवहार में, देहात्मता उचिता = अन्नभक्षण में उपयोगी शरीर को ही आत्मा समझना युक्ति युक्त है क्योंकि, पुत्रं न विनियुङ्क्ते = पुत्र को कोई भी प्रयुक्त नहीं करता (इस लिये यहाँ देहरूप मिथ्यात्मा की प्रधानता है) ॥४६॥

और भी उदाहरण देते हैं—

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ।
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥४७॥

तपसा स्वर्गम् एष्यामि=तप के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करूँगा इत्यादौ= इत्यादि व्यवहार में, कर्त्रात्मता = कर्तृ शब्द का अर्थ विज्ञानमय को ही आत्मा मानना. उचिता=युक्तियुक्त है (देह पुत्रादिकों को नहीं), ततः=इस लिये (जिस लिये यहाँ पर देह का आत्मत्व युक्तियुक्त नहीं है, इस लिये), वपुर्भोगं अनपेक्ष्य=शरीर, का भोग परित्याग करके, कृच्छ्रादिकं=विज्ञानमय कोशरूप कर्ता के उपकारक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि, चरेत्=तपश्चरण करता है ॥४७॥

मोक्ष्येऽहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ।
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥४८॥

पुमान् अहम्=जब कोई पुरुष-मैं शमदमादि साधन संपन्न होकर, मोक्ष्ये इति=मुक्ति प्राप्त करूँगा, इस प्रकार निश्चय करता है, तदा गुरुशास्त्राभ्यां=तब आचार्य और शास्त्र के उपदेश का विचार करके अपरोक्ष ज्ञान द्वारा, तत्=उस चैतन्यस्वरूप आत्मा को अर्थात् मुख्य आत्मा को, वेत्ति=सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रकार अनात्मा से पृथक् करके जानता है, तु किंचित् न चिकीर्षति=और कुछ भी करने की इच्छा नहीं करता, अत्र चिदात्मत्वं= यहाँ पर अहम् शब्द से चैतन्यरूप मुख्य आत्मा का ही ग्रहण, युक्तं= उचित होता है, गौणात्मा अथवा मिथ्यात्मा का ग्रहण युक्ति युक्त नहीं ॥४८॥

ऊपर कहे हुए त्रिविध आत्मा की भिन्न भिन्न व्यवहारों में भिन्न भिन्न व्यवस्था द्वारा प्रधानता में दृष्टान्त कहते हैं—

विप्रक्षत्रादयो यद्वद्बृहस्पतिसवादिषु ।
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ॥४९॥

यद्वद् बृहस्पतिसवादिषु=जैसे बृहस्पतिसवादि यागों में, विप्रक्षत्रादयः=ब्राह्मण क्षत्रिय आदि, व्यवस्थिताः=अधिकारी रूप से

निर्णीत है (ब्राह्मण बृहस्पतिसव में अधिकारी है,क्षत्रिय आदि नहीं, राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय का अधिकार है, अन्य का नहीं, तथा वैश्य-स्तोम यज्ञ में वैश्य अधिकारी है दूसरे नहीं, इस प्रकार की व्यवस्था शास्त्रों में है), तथा गौणमिथ्यामुख्याः=उसी प्रकार गौणात्मा, मिथ्यात्मा तथा मुख्य आत्मा की, यथोचितं=यथायोग्य प्रधानता भिन्न भिन्न व्यवहारों में होती है ॥४९॥

अब फलितार्थ को कहते हैं—

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी ।

अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ॥५०॥

तत्र तत्र उचिते=तिस तिस व्यवहार में उपयोगी प्रधानरूप, आत्मनि एव प्रीतिः अतिशायिनी=आत्मा में ही प्रेम अतिशय युक्त होता है, तच्छेषे अनात्मनि तु=उस आत्मा के उपकारक अनात्म-पदार्थ में तो, प्रीतिः=केवल प्रेम होता है (अतिशय युक्त नहीं), अन्यत्र=जो आत्मा भी नहीं और आत्मा का उपकारक भी नहीं ऐसी अन्य वस्तु में, उभयम् न=वे दोनों (अतिशय प्रेम और केवल प्रेम) नहीं होते हैं ॥५०॥

पूर्व श्लोक में उक्त "अन्यत्र नोभयम्" इस वाक्य में स्थित अन्यशब्द के अर्थ आवान्तर भेद कहते हैं—

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद्द्वेधा मार्गतृणादिकं ।

उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥५१॥

अन्यत्=(आत्मा और आत्मशेष से अन्य यहाँ पर) अन्य-शब्द से कही जाने वाली वस्तु, उपेक्ष्यं द्वेष्यं=उपेक्षा का विषय और द्वेष का विषय, इति द्वेधा=इस भेद से दो प्रकार की है, उन में, मार्गतृणादिकं=रास्ते में पड़ा हुआ तिनका कंकड़ आदि, उपेक्ष्यं=उपेक्षा का विषय है (क्योंकि दुःख सुख का साधन नहीं), व्याघ्र-सर्पादि=और (अपने दुःख जनक होने से) बाघ सर्पादि, द्वेष्यं=द्वेष का विषय होता है, एवं चतुर्विधं=इस प्रकार से वस्तु चार प्रकार की सिद्ध हुई (अतिशय प्रीति का विषय आत्मा, केवल प्रीति

का विषय सुखसाधन, उपेक्षा का विषय मार्गतृणादि, और द्वेष का विषय सर्पादि) ॥५१॥

पूर्वोक्त चतुर्धा भेद को अब दिखाते हैं, और आत्मादिक चारों में प्रियतमत्व आदिक किसी व्यक्ति में नियत नहीं है, इस बात को कहते हुए उसकी व्यवस्था दिखाते हैं —

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ।
न व्यक्तिनियमः किं तु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ॥५२॥

आत्मा शेषः=आत्मा अर्थात् शेषी, उपकारक (शेष), उपेक्ष्यं च द्वेष्यं च=और उपेक्षा का विषय तथा द्वेष का विषय, इति चतुर्षु अपि व्यक्तिनियमः=इन चारों वस्तुओं में भी व्यक्ति का नियम, न=नहीं है अर्थात् यही प्रियतम है और यही प्रिय है और यह वस्तु ही द्वेष्य हैं अथवा यही वस्तु उपेक्ष्य है दूसरी वस्तु नहीं, इस प्रकार का नियम नहीं हो सकता, किं तु तत्तत्कार्यात्=परन्तु तिस तिस कार्य विशेष से अर्थात् भिन्न भिन्न उपकार अथवा अपकार आदि कार्यवशात्, तथा तथा=तदनुसार प्रियादिरूपता होती हैं ॥५२॥

संसार के सर्व पदार्थों में व्यक्तिगत प्रियतमत्व आदिक का अनियतपना दिखाने के लिये प्रसिद्ध द्वेष्य व्याघ्रादि में उस प्रियतमत्व आदि के नियम का अभाव दिखाते हैं —

स्याद्व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ।
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ॥५३॥

व्याघ्रः संमुखः द्वेष्यः स्यात्=जब व्याघ्र (बाघ) खाने के लिये सामने आता हो तब द्वेष का विषय होता है, पराङ्मुखः तु=और वही बाघ यदि पीठ फेरकर यदि चला जाता हो, उपेक्ष्यः हि=तब उपेक्षा का विषय होता है, द्वेष्य नहीं, चेत् लालनात्=वह बाघ यदि, पालन पोषण के कारण, अनुकूलः विनोदाय=अपने अनुकूल हो जाता है तब तो विनोद का साधन होता है, इति शेषताम्=इसलिये अपने उपकारक होने से प्रिय बन जाता है ॥५३॥

एक ही वस्तु यदि कभी प्रिय कभी अप्रिय और कभी उपेक्ष्य होवे तो व्यवहार की व्यवस्था नहीं बनेगी, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हुए, व्यवहार की व्यवस्था के लिये प्रियादिक का लक्षण बताते हैं-

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ।

आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥५४॥

व्यक्तीनां नियमः मा भूत्=तिस तिस व्यक्ति का पूर्वोक्त नियम मत होवे, तु=तथापि अर्थात् व्यक्तिनियम का अभाव होने पर भी, लक्षणात्=असाधारण धर्मरूप लक्षण से, व्यवस्थितिः= व्यवहार की व्यवस्था बन जायेगी जैसे, आनुकूल्यं प्रातिकूल्यम् च= अनुकूलत्वरूप धर्म, प्रतिकूलत्व रूप धर्म और, द्वयाभावः लक्षणम्= अनुकूलत्व और प्रतिकूलत्व दोनों धर्मों का अभाव क्रम से प्रिय का, द्वेष्य का, तथा उपेक्ष्य का लक्षण बन सकता है (और उसी से व्यवहार की व्यवस्था बन जायेगी) ॥५४॥

इतने ग्रन्थ से उपपादित अर्थ को बुद्धि की सुगमता के लिये संक्षेप से कथन करते हैं, और उसमें श्रुति सम्मति भी दिखाते हैं—

आत्मा प्रेयान्प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ।

इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥५५॥

आत्मा प्रेयान्=प्रत्यग् आनन्द स्वरूप आत्मा अतिशय प्रिय हैं, शेषः प्रियः=आत्मा के उपकारक पदार्थ केवल प्रिय हैं, तदन्ययोः= आत्मा और शेष से भिन्न बाध अथवा मार्गगत तृणादि पदार्थों में द्वेषोपेक्षे=द्वेष और उपेक्षा दोनों यथाक्रम से होते हैं, इति लोकः= इस प्रकार चार तरह से यह संसार, व्यवस्थितः=नियत है (इन चारों प्रकारों से अतिरिक्त कुछ भी संसार में है नहीं यह अभिप्राय हैं), तत् च=और ये प्रियतमत्व आदि जो कहे गये वे, याज्ञवल्क्यमतं =याज्ञवल्क्य ऋषि के भी संमत हैं। ॥५५॥

न केवल मैत्रेयीब्राह्मण में ही आत्मा का प्रियतमत्व कहा, किन्तु पुरुषविधब्राह्मण में भी कहा है, इस अभिप्राय से पुरुषविध ब्राह्मण के वाक्यार्थ को अगले श्लोक से कहते हैं—

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथाऽन्यतः ।
सर्वस्मादान्तरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ॥५६॥

अन्यत्र अपि पुत्रात् वित्तात्=पुरुषविधब्राह्मण में भी पुत्र से, **वित्तसे, तथा अन्यतः सर्वस्मात्**=और दूसरे सब ही पदार्थों से, **आन्तरं तत्त्वं तदेतत् प्रेयः**=प्रत्यग् आत्मस्वरूप तत्त्व है,वही प्रियतम है, **श्रुतिः प्राह**=इस श्रुति ने प्रत्यग् आत्मतत्त्व को ही प्रियतम बतलाया है, **इष्यताम्**=इसलिये आत्मतत्त्व को ही प्रियतम मानना चाहिये ॥५६॥

अब श्रुति में इस प्रकार कथन भले ही हो, प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, इस आशंका का उत्तर कथनपूर्वक विचारदृष्टि का कथन करते हैं –

श्रौत्या विचारदृष्ट्याऽयं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ।
कोशान्पञ्च विविच्यान्तर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥५७॥

श्रौत्या विचारदृष्ट्या=श्रुति के अर्थ की पर्यालोचनारूप विचारदृष्टि से, **अयं साक्षी एव आत्मा**=यह साक्षी ही मुख्य आत्मा है, **इतरः च न**=साक्षी से भिन्न पुत्रादि मुख्य आत्मा नहीं, **पञ्च कोशान् विविच्य**=अन्नमयादि पाँच कोशों को आत्मा से पृथक् करके, **अन्तर्वस्तुदृष्टिः विचारणा**=सर्वान्तर आत्मा का अनुभव ही विचार-दृष्टि का स्वरूप है ॥५७॥

सर्वान्तरस्थ वस्तु के दर्शन का प्रकार कहते है—

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ।
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥५८॥

जागरस्वप्नसुप्तीनां=जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के मध्य में, **आगमापायभासनं**=उत्तर उत्तर अवस्था की प्राप्ति तथा पूर्व पूर्व अवस्था की निवृत्तिरूप आगमापाय का प्रकाश अर्थात् प्रतीति, **यतः भवति**=जिस नित्य चैतन्यरूप साक्षी से होती है, **असौ स्वप्रकाशचिदात्मकः आत्मा**=वही साक्षी स्वयं-

प्रकाश चैतन्यरूप मुख्य आत्मा हैं ॥५८॥

संक्षेप से कहा गया श्रुत्यर्थ का उपपत्तिसहित विस्तार करते हैं—

शेषाः प्राणादिवित्तान्ता आसन्नास्तारतम्यतः ।

प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥५९॥

(१) ❀**प्राणादिवित्तान्ताः**=प्राण से आदि लेकर धनादि वित्त पर्यन्त, **शेषाः**=आत्मा से भिन्न सुखसाधन पदार्थ,**तारतम्यतः**=तारतम्य से (न्यून अधिक भाव से), **आसन्नाः**=आत्मा के समीपवर्ती हैं, **तथा**=जैसे वित्तादियों की तारतम्य से आन्तरता हैं उसी प्रकार, **तेषु सर्वेषु तारतम्यात्**=उन प्राणादि सर्व पदार्थों में न्यूनाधिकभाव से, **प्रीतिः वीक्ष्यते**=प्रेम भी देखने में आता हैं।

(१) ❀आत्मा के अधिक समीप प्राण, और प्राण से कम समीप इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से कम समीप देह,देह से कम समीप पुत्र, पुत्र से वित्त कम समीप हैं। वहाँ जैसे आन्तरता का न्यूनाधिक भाव है,उसी हिसाब से वित्त से लेकर प्राण पर्यन्त पदार्थों में प्रीति का भी न्यूनाधिकभाव देखने में आता है। ॥५९॥

न्यूनाधिकभाव से प्रीति का अनुभव स्पष्ट करके दिखाते हैं—

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियम् ।

इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ॥६०॥

वित्तात् पुत्रः प्रियः=धनादि वित्त से पुत्र अधिक प्रिय है क्योंकि पुत्र की रक्षा के लिये धनादि का त्याग किया जाता है, **पुत्रात् पिण्डः**=पुत्र से स्थूल देह अधिक प्रिय है क्योंकि अपने देह की रक्षा के लिये कदाचित् पुत्र का भी त्याग करते है, **तथा पिण्डात् इन्द्रियं**=और स्थूल देह से इन्द्रिय अधिक प्रिय हैं क्योंकि इन्द्रिय की रक्षा केलिये ताड़नादिजन्य देह का कष्ट भी स्वीकार करते हैं, **इन्द्रियात् च प्राणः**=और इन्द्रियों से भी प्राण, **प्रियः**=अधिक प्रिय है क्योंकि प्राणनाश का प्रसंग प्राप्त होने पर उसके निवारण के

लिये इन्द्रिय की हानि भी लोग स्वीकार करते हैं, प्राणात् आत्मा= और प्राण से भी साक्षी चैतन्यरूप आत्मा, परःप्रियः=परम प्रिय है क्योंकि उससे बढकर और कोई प्रिय पदार्थ है नहीं, इस प्रकार प्रीति का तारतम्य अनुभव सिद्ध हैं। ॥६०॥

पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा का प्रियतमत्व प्रमाणसिद्ध होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी का विवाद को परिहार करने के लिये श्रुति ने उनके विवाद को दिखाया और निर्णयरूप सिद्धान्त को भी कहते हैं—

एवं स्थिते विवादोऽत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः।
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः ॥६१॥

एवं स्थिते=आत्मा प्रियतम है यह वार्ता प्रमाणसिद्ध होने पर भी, अत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः=आत्मा के प्रियतमत्व के विषय में ज्ञानी और अज्ञानी का, विवादः श्रुत्या उदाहारि=परस्पर विवाद (विमति) श्रुति ने प्रदर्शित किया, तत्र आत्मा प्रेयान्=उस विवाद में चैतन्यस्वरूप मुख्य आत्मा ही निरतिशय प्रिय है, इति एव निर्णयः =यही निर्णय किया गया ॥६१॥

उसी विमति को अब दिखाते हैं—

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात् प्रेयानित्याह तत्त्ववित्।
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ॥६२॥

तत्त्ववित् इति आह=आत्मतत्त्व के वेत्ताओं ने इस प्रकार कहा है कि, साक्षी एव= साक्षी आत्मा ही, अन्यस्मात् दृश्यात् प्रेयान्=दूसरे दृश्यरूप अनात्मपदार्थों से अतिशय प्रिय है, पुत्रादिः एव प्रेयान्=पुत्र आदि ही अतिशय प्रिय है, इमं भोक्तुं साक्षी= इनके भोग के लिये अर्थात् इनके भोगसाधन साक्षी आत्मा है, इति मूढधीः=इस प्रकार अविवेकियों ने कहा हैं। ॥६२॥

आत्मा से अतिरिक्त पदार्थ को प्रिय कहने वाले वादियों का विभागपूर्वक उत्तर कहने के लिये वादियों का विभाग कथन करते हैं और उत्तर के कथन प्रकार को भी कहते हैं—

आत्मनोऽन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ।
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ॥६३॥

शिष्यः आत्मनः अन्यं प्रियं ब्रूते=शिष्य आत्मा से भिन्न पुत्रादिकों को प्रिय कहता है, च प्रतिवादी अपि=और वादविवाद करने वाला पूर्वपक्षी भी आनात्मपुत्रादि को प्रिय कहता है, तयोः=शिष्य और प्रतिवादी दोनों के, तस्य=उस वचन का (पुत्रादि प्रिय हैं इस प्रकार के वचन का), उत्तरं वचः क्रमात्=प्रत्युत्तररूप वाक्य क्रम से (तत्त्ववेत्ता के), बोधशापौ कुर्यात्=शिष्य के प्रति बोधरूप, प्रतिवादी के प्रति शापरूप प्रदान करें ॥६३॥

प्रत्युत्तर प्रदानरूप 'स योऽन्यमात्मनः प्रियं' इत्यादि श्रुतिवाक्य को अर्थ से पाठ करते है, और इस श्लोक के उत्तरार्ध से लेकर ६८ वें श्लोक पर्यन्त चार श्लोकों से शिष्य के प्रति उत्तर कहते है—

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ।
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥६४॥

तत्त्ववित्=तत्त्ववेत्ता शिष्य तथा प्रतिवादी दोनों के प्रति, प्रियं=तुम्हारे अभिलषित पुत्रादि प्रिय वस्तु नाश को प्राप्त होकर त्वां रोत्स्यति=तुम शिष्य अथवा प्रतिवादी को रोदन करायेगी, इति एवं उत्तरं वक्ति=इस प्रकार के पूर्वोक्त एक ही प्रतिवचन कहते है, शिष्यः=जिज्ञासु शिष्य तो बोध के लिये, स्वोक्तप्रियस्य=अपने कहे हुए पुत्रादिरूप प्रिय पदार्थ के, दुष्टत्वं विवेकतः वेत्ति=दोषों को वक्ष्यमाण विचार से जान लेता हैं। ॥६४॥

दोषविचार के प्रकार को दिखाते हैं तीन श्लोकों से—

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥६५॥
जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च मूर्खता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥६६॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥६७॥

तनयः अलभ्यमानः=पुत्र अप्राप्त की दशा में अविद्यमान हुआ ही, **पितरौ चिरं**=पिता और माता को बहुत काल तक, **क्लेशयेत्**=क्लेश प्रदान करता है, **लब्धः अपि गर्भपातेन**=कदाचित् प्राप्त हुआ भी उपयुक्त काल से पूर्व गर्भनाश द्वारा, **च**=तथा (यदि ऐसा नहीं हुआ तो), **प्रसवेन बाधते**=प्रसव अर्थात् गर्भ से बाहर निकलने द्वारा दुःख देता है, **जातस्य ग्रहरोगादि**=जन्म ग्रहण किये हुए पुत्र के दुष्ट ग्रह तथा रोगादि (तत्रः जनितचिन्ता), **च कुमारस्य मूर्खता**=और कुमार अवस्था युक्त पुत्र की मूढ़ता,उपनीते-अपि=यज्ञोपवित संस्कार-पूर्वक गुरुगृह प्राप्त होने पर भी, **अविद्यत्वम् च पण्डिते**=विद्या की अप्राप्ति, और कदाचित् विद्वान् होने पर भी, **अनुद्वाहः, च यूनः**=विवाह न होना, और विवाहित युवावस्था वाले पुत्र की, **परदारादि च**=परस्त्रीगमन आदि दुश्चरित्रता तथा सच्चरित्रता होने पर भी, **कुटुम्बिनः**=सम्बन्धियों की अथवा अधिक परिवार वाले पुत्र की, **दारिद्र्यं चेत्**=दरिद्रता और यदि कदाचित्, **धनी म्रियते**=पुत्र धनवान् होकर मरण को प्राप्त करता है, **तदा पित्रोः**=तब पुर्वोक्त प्रकार से पिता माता के, **दुःखस्य अन्तः न अस्ति**=दुःख की सीमा नहीं रहती ॥६५, ६६, ६७॥

पूर्वोक्त प्रकार से पुत्र के दोष का कथन स्त्री आदि सर्व विषयों का उपलक्षणरूप जानना-इस वार्ता को कहते हैं, और बोधरूप प्रयोजन की सिद्धि भी दिखाते हैं—

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि ।
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥६८॥

एवं पुत्रादौ=उक्त प्रकार से पुत्र से आदि लेकर संसार के पदार्थों में, **विविच्य**=विद्यमान दोषों को पृथक् पृथक् जानकर, **प्रीतिं त्यक्त्वा**=उन अनात्मपदार्थों में प्रीति को त्याग करके, **निजात्मनि परमां प्रीतिं**=साक्षीरूप प्रत्येक् आत्मा में निरतिशय प्रेम का, **निश्चि-**

त्य तम् = निश्चय करके, उस प्रत्यग् आत्मा को, अहर्निशम् वीक्ष्यते = सर्वदा (वह शिष्य) दर्शन तथा स्मरण करता रहता है ॥६८॥

'प्रियं त्वां रोत्स्यति' इसी वाक्य का ही प्रतिवादी के प्रति शापरूपता को प्रकट करते हैं—

आग्रहाद्ब्रह्मविद्द्वेषादपि पक्षममुञ्चतः ।
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥६९॥

आग्रहात् = (पुत्रादि ही प्रिय है इस पूर्वोक्त अर्थ को मैं किसी भी प्रकार से त्याग नहीं करूँगा, इस प्रकार) हठ के कारण, ब्रह्मविद्द्वेषात् अपि = ब्रह्मवेत्ता के प्रति (इसका कहा हुआ जरूर मैं खण्डन करूँगा, इस प्रकार) द्वेष के कारण भी, पक्षं अमुञ्चतः = पुत्रादि ही प्रिय है ऐसा कथनरूप अपने पक्ष को परित्याग नहीं करने वाले, वादिनः नरकः = प्रतिवादी को नरक की प्राप्ति, च बहुयोनिषु = तथा तिर्यग् आदि अनेक जन्मों में, दोषः = पुत्र स्त्री आदि इष्ट पदार्थ का वियोग और अनिष्ट पदार्थ का प्राप्तिरूप दोष प्राप्त होता है, जो दोष, प्रोक्तः = (पुत्र तुम्हारे को रूलायेगा ऐसा कहने वाले ब्रह्मवेत्ता के द्वारा) पूर्व कहे गए हैं ॥६९॥

ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता के द्वारा कहे गये एक ही वाक्य की शिष्य के प्रति उपदेशरूपता और प्रतिवादी के प्रति शापरूपता, ये विरुद्ध दो रूप कैसे बन सकते हैं, इस आशंका का उत्तर देने के लिये समर्थ ब्रह्मवेत्ता का अभिप्राय के अनुसार दोनों बन सकते हैं, इस प्रकार मान कर इस अर्थ के उपपादक 'ईश्वरो ह तथैव स्यात' इस वाक्य का तात्पर्य सिद्धान्ती कहते हैं —

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ।
यदयत्तत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥७०॥

ब्रह्मवित्-ब्रह्मरूपत्वात् = जिस लिये ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मसाक्षात्कार करने से ब्रह्मस्वरूप ही है इसलिये, ईश्वरः = ईश्वररूप अर्थात् समर्थ है, तेन = इसलिये उस ब्रह्मवेत्ता ने जिस शिष्य अथवा प्रतिवादी के प्रति, यत् यत् वर्णितं = जिस जिस इष्ट अथवा अनिष्ट को कहा है,

तत्तत्=वह वह इष्ट अथवा अनिष्ट, तच्छिष्यप्रतिवादिनोः=उस ब्रह्मवेत्ता के शिष्य अथवा प्रतिवादी को, तथा एव स्यात्=उसी प्रकार अवश्य ही प्राप्त होगा ॥७०॥

व्यतिरेक द्वारा उक्त अर्थ का अन्वयमुख से प्रतिपादक 'आत्मा नमेव' इत्यादि श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं –

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ।

तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥७१॥

यः तु=और अनात्मा को प्रिय कहने वाले वादी से भिन्न जो शिष्य, साक्षिणम् आत्मानं=साक्षी चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही, उत्तमम् प्रियम् सेवते=निरतिशय प्रेमास्पद समझकर-सदा भजता है अर्थात् स्मरण करता है, तस्य असौ प्रेयान् आत्मा=उस शिष्य का वह प्रियतम आत्मा, कदाचन न नश्यति=कभी भी अनित्य पदार्थ की न्याई विनष्ट नहीं होता (किन्तु सर्वदा नित्यानन्दरूप होकर भासता रहता है) ॥७१॥

इस प्रकार परप्रेमास्पद होने से आत्मा निरतिशय आनन्द-स्वरूप है इस वाक्य में परप्रेमास्पदत्वरूप हेतु को सिद्ध किया, अब फलितार्थ को कहते हुए उस परप्रेमास्पदत्वरूप हेतु में आत्मा की परमानन्दरूपता सिद्ध करने का जो सामर्थ्य है, उसको सूचन करने के लिये, जहाँ प्रीति की वृद्धि होती है वहाँ सुख की भी वृद्धि अवश्यं-भावी है, इस बात को उदाहरण सहित कहते हैं—

परप्रेमास्पदत्वेन परमानन्दरूपता ।

सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥७२॥

परप्रेमास्पदत्वेन=निरतिशय प्रीति का विषय होने से, पर-मानन्दरूपता=आत्मा निरतिशय सुखरूपसिद्ध होता है क्योंकि, सार्व-भौमादिषु=चक्रवर्ती राजा से आदि लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त उत्तर उत्तर पदों में, प्रीतिवृद्धौ=जहाँ जहाँ प्रेम की अधिकता होती है, सुखवृद्धिः=तहाँ तहाँ सुख की भी अधिकता है, यह वार्ता, श्रुता=तैतिरीय तथा बृहदारण्यक उपनिषदों में सुनी गयी अर्थात् कही गयी

हैं (इसलिये प्रेम निरतिशय होने पर आत्मा का स्वरूप सुख भी निरतिशय है यह समझ सकते हैं) ॥७२॥

आत्मा की परमानन्दरूपता नहीं बन सकती क्योंकि आत्मा की परमानन्दरूपता अंगीकार करे तो, चैतन्य की न्याई चैतन्य-स्वरूपभूत आनन्द की भी सम्पूर्ण बुद्धि वृत्तियों में अनुवृत्ति का प्रसंग प्राप्त होगा इस प्रकार आशंका करते हैं—

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ।
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥७३॥

चिदात्मनः चैतन्यवत्=चैतन्यस्वरूप आत्मा का जैसे चैतन्य-स्वभाव है, **चेत् सुखं च**=उसी प्रकार यदि सुख भी, **अस्य स्वभावः**=इस चिदात्मा का स्वभाव होता तब तो, **चितिः यथा**=चैतन्य की न्याईं आत्मा का स्वरूप आनन्द भी, **सर्वासु अपि धीवृत्तिषु**=सब ही अन्तःकरण की वृत्तियों में, **अनुवर्तेत**=अनुगत प्रतीत होना चाहिये (परन्तु सुख की प्रतीति होती नहीं, इस लिये सुख आत्मा का स्वरूप नहीं) ॥७३॥

चैतन्य और आनन्द दोनों ही आत्मा का स्वरूप है, तथापि बुद्धिवृत्तियों में चैतन्य की अनुवृत्ति होती है आनन्द की नहीं, इस वार्ता को दृष्टान्त के बल से दिखाते हुए पूर्वोक्त आशंका का परिहार करते हैं—

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ।
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥७४॥

एवम् मा=पूर्वोक्त शंका मत करो क्योंकि, **उष्णप्रकाशात्मा दीपः**=जैसे उष्ण तथा प्रकाश स्वरूप जो दीपक है, **तस्य प्रभा**=उस दीपक का केवल प्रकाश ही, **गृहे व्याप्नोति**=घर के अन्दर व्याप्त हो जाता है, **उष्णता न**=किन्तु उष्णता (गर्मी) नहीं व्याप्त होती हैं, **तद्वत् चितेः एव**=उसी प्रकार वृत्तियों में चैतन्य की ही, **अनुवर्तनम्**=अनुवृत्ति होती है आनन्द की नहीं। ॥७४॥

चित् और आनन्द यदि अभिन्न ही है, तो चैतन्य अभिव्यञ्जक बुद्धिवृत्ति में भी आनन्द की अभिव्यक्ति भी होगी, ऐसी आशंका उठाकर उसकी निवृत्ति के लिये वैसा कोई नियम नही है इस विषय में दृष्टान्त कहते है—

गन्धरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ।
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥७५॥

यथा गन्धरूपरसस्पर्शेषु=जैसे एक ही द्रव्य में गन्ध रूप रस स्पर्श चारों, **सत्सु अपि, पृथक् एकाक्षेण**=होने पर भी, अलग अलग एक इन्द्रिय से, **एक एव अर्थः गृह्यते**=एक ही वस्तु का ग्रहण यानी ज्ञान होता हैं, **इतरः न**=दूसरी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, **तथा**=उसी प्रकार चैतन्य और आनन्द दोनों के मध्य में चैतन्य का ही भान होता है आनन्द का नहीं । ॥७५॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की विषमता की शंका "चेत्" तक ग्रन्थ से करके उस विषमता के परिहार करने की इच्छा से दार्ष्टान्तिक में चैतन्य और आनन्द दोनों का अभेद स्वाभाविक है, अथवा औपाधिक है इस प्रकार विकल्प श्लोक के अवशिष्ट अंश से करते है—

चिदानन्दौ नैव भिन्नौ गन्धाद्यास्तु विलक्षणाः ।
इति चेत्तदभेदोऽपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥७६॥

चिदानन्दौ भिन्नौ न एव=चैतन्य और आनन्द दोनों भिन्न भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्न है, **गन्धाद्याः तु**=और गन्ध रूप रस आदि चारों तो, **विलक्षणाः**=परस्पर भिन्न भिन्न है (इस लिये दृष्टान्त विषम है), **इति चेत्**=यदि ऐसा कहते हो तो, **तदभेदः अपि**=चैतन्य और आनन्द इन दोनों का अभेद भी, **साक्षिणि**=साक्षीरूप आत्मा में स्वभाव से सिद्ध हैं, **वा अन्यत्र वद**=अथवा साक्षी की उपाधिरूप वृत्तियों में हैं, यह कहो । ॥७६॥

प्रथम पक्ष में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक दोनों की समता कहते हैं, उसी प्रकार द्वितीय पक्ष में भी—

आद्ये गन्धादयोऽप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ।
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ॥७७॥

आद्ये = प्रथम पक्ष में (चैतन्य और आनन्द दोनों का साक्षी में भेद नहीं इस पक्ष में), पुष्पवर्तिनः गन्धादयः अपि = पुष्प में रहने वाले गन्ध, रूप आदि भी, एवम् अभिन्नाः = चैतन्य और आनन्द के समान परस्पर भेद से रहित है (क्योंकि एक को छोड़कर दूसरे को लेना अशक्य है), अक्षभेदेन = (और दूसरे पक्ष में) गन्ध आदिकों की ग्रहण करने वाली घ्राण आदि इन्द्रियों के भेद के कारण, तद्भेदे = तिन गन्धादिकों के भेद स्वीकार कर लेने पर, वृत्तिभेदात् = उसी प्रकार वृत्तियों के भेद से चिदानन्द के अभिव्यञ्जक राजस, सात्विक वृत्तियों के भेद से, तयोः भिदा = चैतन्य और आनन्द दोनों का भेद सिद्ध हो जायेगा; अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में विषमता नहीं हैं । ॥७७॥

तब चित् और आनन्द दोनों की एकता कहां पर उपलब्ध होती है ऐसी आशंका करके उसका उत्तर उपपत्ति सहित कहते हैं-

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ।
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोऽत्र तिरस्कृतः ॥७८॥

सत्त्ववृत्तौ = शुभ कर्म जन्य सत्त्वगुण के परिणाम बुद्धिवृत्ति में चित्सुखैक्यं = चैतन्य और आनन्द की एकता भासती है, तद्वृत्तेः निर्मलत्वतः = क्योंकि वह सत्त्वगुणी वृत्ति मलरहित स्वच्छ है, रजोवृत्तेः तु मालिन्यात् = और रजोगुणी बुद्धिवृत्ति तो मलिन है इस लिये, अत्र सुखांशः = रजोगुणी वृत्ति में आनन्द का अंश, तिरस्कृतः = तिरोहित हो सकता है, इस वास्ते केवल चैतन्य का भान होता है आनन्द का नहीं ॥७८॥

विद्यमान सुखांश का तिरस्कार होने में दृष्टान्त कहते हैं—

तिन्तिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ।
तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥७९॥

यथा अत्यम्लं तिन्तिणीफलम्=जैसे अत्यन्त खट्टा इमली फल, यदा लवणेन युतं=जब लवण से युक्त होता है, तदा अम्लस्य तिरस्कारात्=तब खटाई के तिरोधान अर्थात् दब जाने से, ईषत् अम्लं =वह इमली फल मामूली खट्टा रह जाता है, तथा=उसी प्रकार रजोगुणी वृत्ति में आनन्द अंश का तिरोभाव हो जाता है ॥७९॥

अब पूर्वपक्षी मन में छिपे हुए अभिप्राय को लेकर आशंका करते हैं :-

ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दतात्मनि ।
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ? ॥८०॥

ननु=शंका करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से, आत्मनि परमानन्दता=आत्मा की परमानन्दरूपता, प्रियतमत्वेन=परम प्रीति का विषयत्वरूप हेतु से (आत्मा निरतिशय सुखरूप है, परमप्रीति का विषय होने से, इस युक्ति के बल से), विवेक्तुं, शक्यताम्=मुख्य आत्मा के प्रिय, उपेक्ष्य, द्वेष्यरूप गौण और मिथ्या आत्मा से विवेक द्वारा पृथक् करके जाना सकते हो, एवं योगेन विना=यद्यपि ऐसा है तथापि योग के बिना, किं भवेत्=क्या प्रयोजन सिद्ध होगा (तात्पर्य यह है कि विवेक मुक्ति का साधन नहीं, किन्तु अपरोक्ष ज्ञान द्वारा योग मुक्ति का साधन कहा गया है, इसलिये योग के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, यह पूर्वपक्षी का गूढ़ अभिप्राय है) ॥८०॥

अब गूढ़ अभिप्राय को लेकर ही सिद्धान्ती उत्तर कहते हुए प्रश्न और उत्तर दोनों की अभिसन्धि को प्रगट करते हैं—

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये ।
योगः प्रोक्तो विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥८१॥

यत् योगेन=जो ज्ञान द्वारा मोक्षरूप फल योग से सिद्ध हो सकता है, तदेव=वही मोक्षरूप फल ज्ञान द्वारा विवेक से भी प्राप्त हो सकता है, इति वदामः=इस प्रकार हम कहते हैं, ज्ञानसिद्धये योगः =अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि के जैसे योग, प्रोक्तः=उपाय कहा गया है योगानन्द प्रकरण में, उसी प्रकार, विवेकेन ज्ञानं=विवेकरूप उपाय

से अपरोक्ष ज्ञान, किं न उपजायते=क्या उत्पन्न नहीं होता, किन्तु होता हैं ॥८१॥

विवेक द्वारा भी ज्ञान की उत्पत्ति में क्या प्रमाण है ऐसी आशंका उठाकर उत्तर कहते हैं -

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
इति स्मृतं फलैकत्व योगिनां च विवेकिनाम् ॥८२॥

सांख्यैः यत् स्थानं प्राप्यते=आत्मा अनात्मा के विवेक करने वाले इस मोक्षरूप पद को प्राप्त करते हैं, **तत् योगैः अपि गम्यते**= उसी मोक्षरूप पद को योगी लोग भी प्राप्त करते हैं, **इति योगिनां**= इस वाक्य से योगियों के, **च विवेकिनां**=और विवेकियों के लिये, **फलैकत्वं स्मृतं**=ज्ञान द्वारा प्राप्य मोक्षरूप फल की एकता कही गयी है ॥८२॥

विवेक और योग दोनों का फल यदि एक ही है, तब तो उन दोनों में किसी एक का ही शास्त्रों में प्रतिपादन युक्तियुक्त है, दोनों का नहीं ऐसी आशंका का उत्तर अधिकारी के भेद से दोनों का प्रतिपादन युक्तियुक्त है इस अभिप्राय से कहते हैं –

असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥८३॥

कस्यचित् योगः=किसी अधिकारी के लिये योगरूप उपाय, **असाध्यः**=अनायास सिद्ध करने योग्य नहीं होता, **कस्यचित् ज्ञाननिश्चयः**=और किसी के लिये विवेक दुलर्भ होता है, **इत्थं विचार्य**= इस प्रकार भिन्न भिन्न अधिकारियों का विचार करके, **परमेश्वरः**= भगवान् श्री कृष्ण ने, **द्वौ मार्गौ जगाद**=योग और विवेक दोनों उपायों का उपदेश किया है ॥८३॥

अत्यन्त श्रम से सिद्ध करने योग्य योग में अनायास सुलभ विवेक की अपेक्षा अतिशय कहना चाहिये, ऐसी आशंका उठाकर वह अतिशय क्या अपरोक्ष ज्ञान का जनक होने से योग में है, अथवा रागद्वेषादि की निवृत्ति के हेतु होने से, किंवा द्वैत की अनुपलब्धि के कारण

होने से, इस प्रकार विकल्प करके प्रथम तथा द्वितीय पक्ष में फल में समतारूप अतिशयभाव को प्रत्युत्तररूप से कहते हैं—

योगे कोऽतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः ।
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥८४॥

द्वयोः ज्ञानं=विवेक और योग दोनों का अपरोक्षज्ञानरूप साक्षात्फल, **समं उक्तं**=समान ही कहा गया पूर्व श्लोक में इसलिये, **अत्र ते योगे**=विवेक और योग इन दोनों के मध्य में तुम्हारे अभिमत योग में, **कः अतिशयः**=क्या अधिकता है अर्थात् कोई भी अधिकता नहीं (इतने कहने से अपरोक्ष ज्ञान का जनक होने से योग उत्कृष्ट है, इस आशंका का निवारण किया, और रागद्वेषादि की निवृत्ति के हेतु होने से योग में अतिशय होगा इस आशंका का निवारण करते हैं कि), **रागद्वेषाद्यभावः च**=रागद्वेषादि की निवृत्तिरूप फल भी, **योगिविवेकिनोः तुल्यः**=योगी और विवेकी दोनों के लिये समान ही है ॥८४॥

विवेकी के लिये रागादि के अभाव का उपपादन करते हैं—

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ।
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ॥८५॥

आत्मा प्रेयान् इति जानतः=आत्मा ही प्रियतम है इस प्रकार जानने वाले विवेकी पुरुष को, **विषयेषु प्रीतिः न अस्ति**=संसार के अनात्मपदार्थों में प्रेम नहीं है, इसलिये, **रागः कुतः**=राग कहाँ से होगा (क्योंकि राग का कारण अनुकूलता का ज्ञान किसी भी पदार्थ में नहीं हैं), **प्रातिकूल्यम् अपश्यतः**=और प्रतिकूलता को किसी भी पदार्थ में नहीं देखने वाले पुरुष को, **द्वेषः कुतः**=द्वेष भी कहाँ से हो सकता अर्थात् नहीं होगा (क्योंकि द्वेष का कारण प्रतिकूलताज्ञान उनको नहीं हैं ॥८५॥

परन्तु विवेकी का व्यवहारदशा में देहादि के लिये उपद्रवकार्यों में द्वेष देखने में आता है यदि ऐसी आशंका हो तो, व्यवहारदशा में

योगी और विवेकी दोनों का वह द्वेष तुल्य ही है, इस आशय से शंका का परिहार करते हैं—

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ।
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ॥८६॥

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषः=शरीरादि के लिये प्रतिकूल सर्पादियों में द्वेष, द्वयोः अपि तुल्यः=योगी और विवेकी दोनों के लिये समान ही है, द्वेषं कुर्वन्=प्रतिकूल पदार्थ में द्वेष करने वाला, चेत् योगी न=यदि योगी नहीं है (ऐसा मानोगे तो), तादृशः अविवेकी अपि=उसी प्रकार द्वेष करने वाला भी विवेकवान् नहीं है (इस प्रकार हम भी कह सकते हैं, इसलिये रागद्वेषादि की निवृत्तिरूप हेतु से भी योग में कोई अतिशय सिद्ध नहीं होता) ॥८६॥

विवेकी को द्वैतदर्शन होता है, योगी को नहीं होता, इस लिये तीसरे विकल्प में योगी का अतिशय सिद्ध होगा, ऐसी आशंका करके विवेकी का द्वैतदर्शन क्या व्यवहारदशा में कहते हो अथवा अन्य काल में ? इस प्रकार विकल्प करके प्रथम पक्ष में द्वैतदर्शन योगी के लिये भी समान ही है इस प्रकार उत्तर कहते हैं, और द्वितीयार्ध से योगी को समाधि में द्वैतदर्शन नहीं होता ऐसी आशंका उठाकर, विवेकी को भी विवेकदशा में द्वैतादर्शन तुल्य ही है इस प्रकार परिहार करते हैं—

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ।
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ॥८७॥

व्यवहारे द्वैतस्य=व्यवहारदशा में द्वैत प्रपञ्च की, प्रतिभानं तु द्वयोः समम्=प्रतीति तो योगी और विवेकी दोनों के लिये समान ही है, समाधौ न=समाधि काल में योगी को द्वैतदर्शन नहीं होता इति चेत्=इस प्रकार यदि कहते हो तो, तद्वत्=उसी प्रकार (समाधिदशा में योगी के लिये द्वैतदर्शनाभाव की न्याईं), अद्वैतत्वविवेकिनः=अद्वैत ही तत्त्व है इस बात को श्रुति और युक्ति के द्वारा विवेचन करने वाले विवेकी को उस काल में, न=द्वैतदर्शन

नहीं होता (अतः द्वैत का दर्शन अथवा अदर्शन से प्रयुक्त अतिशय योग में सम्भव नहीं) ॥८७॥

विवेकी के लिये द्वैतदर्शन का अभाव कैसे ? ऐसी आशंका उठाकर आगे के अद्वैतानन्दप्रकरण में उसका उपपादन किया जायेगा इस प्रकार उत्तर कहते हैं, और उक्त अर्थ का निगमन करते हैं—

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानन्दनामके ।
अध्याये हि तृतीयेऽतः सर्वमप्यतिमङ्गलम् ॥८८॥

अस्माभिः तत्=हम पूर्वोक्त द्वैत के अदर्शन को, **अद्वैतानन्द-नामके तृतीये**=अद्वैतानन्द नाम वाले तीसरे, **अध्याये हि विवक्ष्यते**=अध्याय में उपपादनपूर्वक ही कहेंगे, **अतः सर्वम् अपि**=इसलिये उक्त सर्व अर्थ, **अति मंगलम्**=अत्यन्त मंगल अर्थात् कल्याणरूप है ॥८८॥

द्वैत का अदर्शन सहित आत्मदर्शन वाला ही योगी है अन्य नहीं, इस प्रकार आशंका करके उसका परिहार इष्टापत्ति द्वारा करते हैं—

सदा पश्यन्निजानन्दमपश्यन्निखिलं जगत् ।
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्धतां भवान् ॥८९॥

निजानन्दं सदा पश्यन्=आत्मानन्द को सर्वदा अपरोक्ष अनुभव करता हुआ, **निखिलं जगत् अपश्यन्**=संपूर्ण द्वैत जगत् को नहीं देखने वाला ज्ञानवान्, **अर्थात् योगी**=अर्थ से (तात्पर्य विचार से) योगी है, **इति चेत् तर्हि**=इस प्रकार यदि कहते हो तो, **भवान् संतुष्टः वर्धताम्**=आप तृप्त होकर वृद्धि को प्राप्त हो ॥८९॥

अध्याय के तात्पर्य को संक्षेप से दिखाते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे मन्दानुग्रहसिद्धये ।
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानन्दो विवेचितः ॥९०॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे=ब्रह्मानन्द नामक पाँच प्रकरणरूप ग्रन्थ

के, एतस्मिन् द्वितीयाध्याये=इस दूसरे अध्याय में (प्रकरण में), आत्मानन्दः=आत्मानन्द का, मन्दानुग्रहसिद्धये=मन्दबुद्धि मनुष्यों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये, विवेचितः=विवेचन किया गया है ॥९०॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि-विरचितपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दाख्यद्वादशप्रकरणात्मक-द्वितीयाध्यायस्य राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यस्वामि-स्वतन्त्रानन्दगिरिमहाराज कथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्दो नाम तृतीयोऽध्यायः, त्रयोदशं ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्द-प्रकरणम् ॥

आनन्द तीन प्रकार का है—ब्रह्मानन्द, विद्यानन्द, तथा विषयानन्द-इस प्रकार प्रथम अध्याय में अर्थात् योगानन्द प्रकरण के ११ वें श्लोक में त्रिविध आनन्द की प्रतिज्ञा करके, दूसरे अध्याय में उन तीनों से अतिरिक्त आत्मानन्द का निरूपण करने से उक्त प्रतिज्ञा का विरोध उत्पन्न होता है, ऐसी आशंका का उत्तर श्लोक के पूर्वार्ध से कहा, और उत्तरार्ध से "कथम्" इत्यादि शब्द से पूर्वपक्षी आशंका करते हैं-कि सजातीय गौणात्मा जो पुत्र भार्यादि है और मिथ्यात्मा जो देहादि है तथा विजातीय जो आकाशादि है, इन से अनेक भेदयुक्त होने के कारण द्वैत सहित आत्मानन्द की प्रथम अध्याय में उक्त अद्वितीय योगानन्दरूपता संभव नहीं, और 'शृणु" शब्द से बहुत मान के सहित उत्तर कहते हैं—

योगानन्दः पुरोक्तो यः स आत्मानन्द इष्यताम् ।
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥१॥

यः योगानन्दः=जो ब्रह्मानन्द, योगजन्य साक्षात्कार का विषय होने से योगानन्द नाम से, **पुरा उक्तः**=ग्यारह वें अध्याय में पूर्व कहा गया है, **सः आत्मानन्दः**=वही ब्रह्मानन्द आत्मानन्दरूप है, **इष्यतां**=ऐसा जानना (क्यों कि गौणात्मा, मिथ्यात्मा तथा जगत् का विवेकरूप उपाय द्वारा उत्पन्न साक्षात्कार का विषय हुआ ब्रह्मानन्द ही आत्मानन्द कहा जाता है), **सद्वयस्य**=(परन्तु पुत्र भार्यादि

गौणात्मा तथा देहादि मिथ्या आत्मा और आकाशादि-प्रपञ्च इत्यादि-रूप) द्वितीय सहित, एतस्य=यह आत्मानन्द, ब्रह्मत्वं=अद्वितीय ब्रह्मानन्दरूप (ब्रह्मानन्द से अभिन्न योगानन्दरूप), कथं=कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता, इति चेत्=इस प्रकार यदि आशंका हो तो, शृणु=उत्तर सुनो (इस का अभिप्राय यह है कि गौणात्मा, मिथ्या आत्मा और आकाशादि जगत् आत्मानन्द से अति-रिक्त है नहीं, इस लिये आत्मानन्द अद्वितीय ब्रह्मानन्दरूप बन सकता है) ॥१॥

आकाशादिस्वदेहान्तं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ।
जगन्नास्त्यन्यदानन्दादद्वैतब्रह्मता ततः ॥२॥

तैत्तिरीयश्रुतीरितम्="आत्मन आकाशः सम्भूतः" (आत्मा से अभिन्न ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि तैत्तिरीय उप-निषदुक्त, आकाशादिस्वदेहान्तम्=आकाश से आदि लेकर अपने देह पर्यन्त, जगत् आनन्दात्=संपूर्ण जगत् अपने कारण आत्मानन्द से, अन्यत् न अस्ति=जिस कारण से पृथक् नही है, ततः=इस लिये, अद्वैतब्रह्मता=आत्मानन्द अद्वितीयब्रह्मरूप (ब्रह्मानन्दरूप) सिद्ध होता है ॥२॥

उक्त श्रुतिवाक्य में आत्मा को कारण बताया गया, आनन्द को नहीं, ऐसी आशंका करके आनन्द को कारण बताने वाली उसी तैत्तरीय श्रुति का अर्थतः पाठ करते हैं—

आनन्दादेव तज्जातं तिष्ठत्यानन्द एव तत् ।
आनन्द एव लीनं चेत्युक्तानन्दात्कथं पृथक् ॥३॥

आनन्दात् एव=आनन्दस्वरूप आत्मा से अभिन्न ब्रह्म से ही तत् जातं=सम्पूर्ण भूत भौतिक कार्य उत्पन्न हुआ है, आनन्दे एव तत् =उत्पन्न होकर आनन्दस्वरूप आत्मा में ही वह, तिष्ठति=सम्पूर्ण कार्य जगत् स्थित होता है, आनन्दे एव च=और आत्मानन्द में ही, लीनम् इति=लय प्राप्त हो जाता है, इस लिये, उक्तानन्दात्= तैत्तिरीय श्रुति से उक्त जगत् के कारण आत्मानन्द से, पृथक्=वह

कार्यरूप जगत् भिन्न, कथं=कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता, अतः पूर्व उक्त कथन संगत है।

इस श्लोक में इस प्रकार अनुमान का सूचन किया कि विवाद का विषय यह जगत् आनन्द से भिन्न नहीं है, आनन्द का कार्य होने से, जो जिसका कार्य है, वह उससे भिन्न नहीं होता, जैसे मृत्तिका का कार्य घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं ॥३॥

कुलाल से उत्पन्न घट का कुलाल से भेद देखने में आता है, इस लिये कारण से कार्य भिन्न नहीं, आपका ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं, ऐसी आशंका कर उत्तर कहते हैं कि कुलाल निमित्त कारण होने से कुलाल से घट भिन्न हो सकता है, प्रकृत में तो आनन्दस्वरूप ब्रह्म उपादान कारण है, अतः कार्य जगत् उससे भिन्न नहीं हो सकता—

कुलालाद् घट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शङ्क्यताम्।
मृद्वदेष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ॥४॥

कुलालात्=कुम्भकाररूप कारण से, **घटः उत्पन्नः**=कार्य घट उत्पन्न हुआ है, **भिन्नः च**=और वह घटरूप कार्य कुलाल से भिन्न भी है (इस प्रकार आत्मानन्दरूप कारण से उत्पन्न हुआ कार्य जगत् भिन्न होगा), **इति न शङ्क्यताम्**=इस प्रकार आशंका नहीं करनी चाहिये क्यों कि, **एष मृद्वत्**=यह आत्मानन्द मिट्टी की न्याईं (जैसे मिट्टी घट के प्रति उपादान कारण है उसी प्रकार), **उपादानं**=जगत् का उपादान कारण है, **कुलालवत्**=कुम्भकार की न्याईं (जैसे कुम्भकार घट के प्रति उपादान कारण मिट्टी से भिन्न निमित्त कारण है उसी प्रकार), **निमित्तं न**=जगत् के प्रति निमित्त कारण नहीं है (इस लिये आत्मानन्दरूप उपादान कारण से जगत्रूप कार्य पृथक् नहीं हो सकता) ॥४॥

कुलाल भी उपादान कारण क्यो नहीं-ऐसी आशंका का स्थितिलयाधार ही उपादान कारण होता है, यह लक्षण कुलाल में नहीं घटता, इस लिये कुलाल उपादान कारण नहीं, ऐसा उत्तर कहते हैं—

स्थितिर्लयश्च कुम्भस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित्
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥५॥

हि कुम्भस्य स्थितिः=जिस कारण से घट की स्थिति, **लयः च**=और लय दोनों, **कुलाले क्वचित्**=कुंभकाररूप आधार में कहीं पर भी और कभी भी, **न स्तः**=नहीं होते है इसलिये कुलाल घट का उपादान कारण नहीं किन्तु, **तौ मृदि**=घट की स्थिति और लय दोनों मृत्तिकारूप आधार में, **दृष्टौ**=प्रत्यक्ष से देखे गये हैं इस लिये मृत्तिका घट का उपादान कारण है, **तद्वत्**=जैसे घट का उपादान कारण मृत्तिका है उसी प्रकार आत्मानन्द भी, **तयोः**=जगत् की स्थिति और लय दोनों का, **उपादानं स्यात्**=आधार होने से उपादान कारण है, क्योंकि, **श्रुतेः**= "आनन्दाद् ह्येव" इत्यादि श्रुतिवाक्य में जगत् के प्रति आत्मानन्द (स्थिति लय का आधार होने से) उपादान कारण सुना गया है ॥५॥

अब आनन्द जगत् का उपादान कारण जो सिद्धान्ती को संमत हैं, उसको कहने के लिये उपादान कारण के अवान्तर भेद कहते हैं, और आनन्द विवर्त्त का कारण है इस बात का निश्चय करने के लिये परिणामी और आरंभवाद को दुष्ट दिखाते हैं—

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च ।
आरम्भकं च तत्रान्त्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥६॥

उपादानं त्रिधा भिन्नं=उपादान कारण तीन प्रकार के भेद वाला है (अर्थात् तीन प्रकार का होने से भिन्न भिन्न है) **विवर्ति च**=प्रथम विवर्त्ती उपादान कारण है, और, **परिणामि च**=दूसरा परिणामी उपादान कारण है, और तीसरा, **आरम्भकं**=आरम्भक उपादान कारण है, **तत्र अन्त्यौ**=उन तीनों में अन्त के परिणामी उपादान कारण और आरंभक उपादान कारण, **निरंशे अवकाशिनौ**=निरवयव वस्तु में अर्थात् आत्मानन्द में अवकाश वाले, **न**=नहीं हो सकते, अर्थात् नहीं बन सकते, भाव यह है कि आत्मानन्द

निरवयव होने से न परिणामी उपादान कारण है, और न ही आरम्भक उपादान कारण है, किन्तु विवर्ती उपादान कारण है । ॥६॥

अब परिणाम तथा आरंभ का अद्वैतवाद में अवकाश नहीं है, इस वार्ता को दिखाने के लिये प्रथम आरंम्भवादी के मत का सहेतुक अनुवाद करते हैं और कार्य कारण के भेद की सिद्धि में भी कारण बताते हैं—

आरम्भवादिनोऽन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तन्तुपटौ खलु ॥७॥

आरंभवादिनः=आरंभक कारण को मानने वाले आरंभवादी नैयायिकों ने, **अन्यस्मात्**=कार्य की अपेक्षा भिन्न कारण से, **अन्यस्य उत्पत्तिम् ऊचिरे**=कारण की अपेक्षा से भिन्न कार्य की उत्पत्ति कही है, **तन्तोः पटस्य निष्पत्तेः**=जैसे सूत्रों से पट की उत्पत्ति देखने में आती है इसलिये, **तन्तुपटौ खलु भिन्नौ**=कारण तन्तु और कार्य वस्त्र दोनों निश्चय ही भिन्न भिन्न है। भाव यह है कि दोनों का प्रयोजन भी भिन्न है, इस कारण से भी तन्तु पट एक दूसरे से भिन्न है ॥७॥

अब परिणाम के स्वरूप को उदाहरण सहित कथन करते हैं—

अवस्थान्तरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ।
स्यात्क्षीरं दधि मृत् कुम्भः सुवर्णं कुण्डलं यथा ॥८॥

एकस्य= एक ही वस्तु की, **अवस्थान्तरतापत्तिः परिणामिता** = पूर्वावस्था त्याग पूर्वक दूसरी अवस्था की प्राप्ति परिणाम कहा जाता है, **यथा क्षीरं दधि स्यात्**= जैसे दूध दही बन जाता है और **मृत् कुम्भः** = मृत्तिका घट बन जाती है और, **सुवर्णं कुण्डलं**= सोना कुण्डल बन जाता है । ॥८॥

अब उदाहरण सहित विवर्त के लक्षण को कहते हैं, और विवर्त कार्य के रज्जु आदि सांश कारण में दर्शन से निरंश कारण में विवर्त का उपादानत्व संभव नहीं, इस आशंका का भी निरंश आका-

शादि में विवर्त दर्शन के कारण उक्त नियम नहीं, इस प्रकार उत्तर कहते हैं –

अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसर्पवत् ।
निरंशेऽप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥९॥

तु=आरम्भ तथा परिणामवाद से विवर्तवाद में विलक्षणता यह है कि, **अवस्थान्तरभानं**=पूर्वावस्था का परित्याग किये बिना ही दूसरी अवस्था का जो भान है-प्रतीति है वह, **विवर्तः**=विवर्त कहा जाता है, **रज्जु सर्पवत्**=जैसे रज्जुरूप से स्थितवस्तु का सर्परूप से भान विवर्त है, **असौ निरंशे अपि अस्ति**=वह विवर्त अवयव रहित वस्तु में भी है अर्थात् बन सकता है, **व्योम्नि**=क्योंकि निरवयव आकाश में, **तलमालिन्यकल्पनात्**= अधोमुखता (अधोमुखकटाहतुल्यता) और नीलवर्णता का आरोप देखा जाता है ॥९॥

अब फलितार्थ को कहते हुए अद्वितीय आनन्द में जगत् की कल्पना नहीं बन सकती, क्योंकि कल्पना का हेतु कल्पक कोई नहीं है, तथा शक्ति का कल्पकत्व कहाँ देखा गया है, ऐसी आशंकाओं का उत्तर कहते हैं—

ततो निरंश आनन्दे विवर्तो जगदिष्यताम् ।
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैन्द्रजालिकशक्तिवत् ॥१०॥

ततः=इस लिये (जिस लिये निरवयव पदार्थ भी विवर्ती कारण बन सकता है इसलिये), **जगत् निरंशे आनन्दे**=यह संसार निरवयव आत्मस्वरूप आनन्द में, **विवर्तः**=(अतत्त्वतो अन्यथाभावरूप) कल्पित कार्य है, **इष्यताम्**=ऐसा अंगीकार करना चाहिये, **मायाशक्तिः**=मायारूप अनिर्वचनीय शक्ति, **कल्पिका स्यात्**=अद्वितीय आनन्द में जगत् की कल्पना का हेतु, **ऐन्द्रजालिक शक्तिवत्**= जैसे मायावी पुरुष की मणि मन्त्रादिरूप मायाशक्ति गन्धर्व नगरादि विवर्त कार्य की कल्पना का हेतु देखी गयी है ॥१०॥

आनन्दरूप आत्मा से अतिरिक्त माया का अङ्गीकार करने पर द्वैतापत्तिदोष प्राप्त होगा, ऐसी आशंका करके उस माया के अनि-

र्वचनीयत्व हेतु से मिथ्यात्व को कहने के लिये आगे वक्ष्यमाण लौकिक अग्नि आदि की शक्ति का भिन्नतया अथवा अभिन्नतया निरूपण अशक्य है इस वार्ता को कारण सहित कहते हैं—

शक्तिः शक्तात्पृथङ् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ।
प्रतिबन्धस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥११

शक्तिः= अग्नि की दाहस्फोटादिजनिका शक्ति, **शक्तात् पृथक् न अस्ति**=शक्तिमान् अग्नि आदि के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं है, **तद्वद्दृष्टेः**=क्योंकि अग्नि आदि से भिन्न करके शक्ति का असत्त्व ही देखने में आता है (अर्थात् अग्नि आदि से अतिरिक्त शक्ति का पृथक् अनुभव नहीं होता, इस लिये शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं), **अभिदा न च**=शक्तिमान् से शक्ति का अभेद भी नहीं हो सकता क्यों कि, **प्रतिबन्धस्य**=शक्ति के कार्य दाहस्फोटादि के मणिमन्त्रादियों से प्रतिबन्ध का, **दृष्टत्वात्**=दर्शन होता है, अतः अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न ही शक्ति को समझना चाहिये अभिन्न नहीं, **शक्त्यभावे तु**= (शक्ति को स्वीकार न करने पर) शक्ति को अभावदशा में तो, **सः कस्य**=वह प्रतिबन्ध किसका है (भाव यह है कि अग्नि आदि का स्वरूप प्रत्यक्ष सिद्ध होने से उसका प्रतिबन्ध तो मणिमन्त्रादियों से सम्भव नहीं, और यदि शक्ति को शक्तिमान् से पृथक् न माने तो वह प्रतिबन्ध निर्विषय हो जायेगा, अतः प्रतिबन्ध का विषय शक्ति मानना चाहिये) ॥११॥

अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष की अविषय शक्ति का प्रतिबन्ध कैसे जाना जा सकता है इस आशंका का उत्तर अगले श्लोक से कहते हैं और सिद्धान्ती के कहे हुए अर्थ को दृष्टान्त प्रदर्शन से स्पष्ट भी करते हैं—

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबन्धनम् ।
ज्वलतोऽग्नेरदाहे स्यान्मन्त्रादिप्रतिबन्धता ॥१२॥

शक्तेः=शक्ति अतीन्द्रिय होने से, **कार्यानुमेयत्वात्**=उसके कार्यरूप लिङ्ग से अनुमान के द्वारा जानने योग्य हैं, **अकार्ये**=इसलिये

कारण के होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति न होने पर, प्रतिबन्धनं = कोई न कोई प्रतिबन्ध है, इस प्रकार ज्ञात होता है, ज्वलतः अग्नेः अदाहे = जैसे स्वरूप से जलती हुई अग्नि से दाह आदि कार्य न होने पर, मन्त्रादिप्रतिबन्धता स्यात् = मंत्रादियों की दाहिका शक्ति का प्रतिबन्धरूप मान लिया जाता है ॥१२॥

इस प्रकार लौकिक शक्ति का स्वरूप से तथा प्रमाण से कथन करने के अनन्तर, अब मायाशक्ति के अस्तित्व में श्वेताश्वतर उपनिषद् वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ।
परास्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानबलात्मिका ॥१३॥

मुनयः = काल, स्वभाव आदि कारणवादों में दोषदर्शन करने वाले मुनियों ने (जगत् के सही कारण को जानने की इच्छा से ध्यानयोग परायण हुए ऋषियों ने), देवात्मशक्तिं = स्वप्रकाश चैतन्य-स्वरूप प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म की मायाशक्ति को ही, स्वगुणैः = अपने कार्य स्थूल सूक्ष्म शरीरों के द्वारा, निगूढां = अत्यन्त आवृत अर्थात् छिपी हुई, अविदन् = इस प्रकार जगत् के प्रति कारणरूप करके साक्षात्कार किया, अस्य पराशक्तिः = इस प्रकार ब्रह्म की उत्कृष्ट अर्थात् जगत्कारणभूत मायाशक्ति, क्रियाज्ञानबलात्मिका = क्रिया, ज्ञान और इच्छा शक्तिरूप से, विविधा = श्रुतियों में अनेक प्रकार की सुनी जाती हैं ॥१३॥

पूर्व श्लोक में उक्त ये दोनों वाक्य कहाँ के, अर्थात् किसके हैं, इस का उत्तर कहते हुए मायाशक्ति स्मृतिप्रसिद्ध भी है इस बात को कहते हैं—

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ।
सर्वशक्तिं परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥१४॥

इति वेदवचः प्राह = इस प्रकार मायाशक्ति को वेद के वाक्यों ने कहा है, वसिष्ठः च तथा अब्रवीत् = वसिष्ठजी ने भी उस मायाशक्ति को उसी प्रकार कहा है कि, परं ब्रह्म सर्वशक्तिं = वह परब्रह्म सोपा-

धिकरूप से संपूर्णशक्ति अर्थात् मायाशक्ति वाला है, नित्यम् आपूर्ण अद्वयं किन्तु निरुपाधिकस्वरूप से वह परब्रह्म उत्पत्ति विनाश रहित सर्वत्र परिपूर्ण तथा अद्वितीयरूप है ॥१४॥

मायाशक्ति से ब्रह्म के विवर्त का वर्णन करते हैं—

ययोल्लसति शक्त्याऽसौ प्रकाशमधिगच्छति ।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम! शरीरेषूपलभ्यते ॥१५॥

राम=हे राम, **यया शक्त्या**=वह परब्रह्म जिस पूर्वोक्त माया-शक्ति से, **उल्लसति**=विकाश को अर्थात् विवर्त को जब प्राप्त होता है, **असौ प्रकाशम्**=तब वह शक्ति अभिव्यक्ति को, **अधिगच्छति**=प्राप्त होती है अर्थात् प्रगट होती है, **शरीरेषु ब्रह्मणः**=देवता, तिर्यक्, मनुष्यादि शरीरों में, पूर्वोक्त ब्रह्म की, **चिच्छक्तिः उपलभ्यते**=चेतन व्यवहार की हेतु वह शक्ति प्रतीत होती है ॥१५॥

स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले ।
द्रवशक्तिस्तथाम्भस्सु दाहशक्तिस्तथाऽनले ॥१६॥

वातेषु स्पन्दशक्तिः च=वायु में चलन की हेतुभूत शक्ति अभिव्यक्त होती है, **तथा उपले दार्ढ्यशक्तिः**=उसी प्रकार पत्थर में मजबूती की हेतुभूत शक्ति, **अम्भस्सु द्रवशक्तिः**=और जलों में पिघलने की अथवा आर्द्र करने की हेतुभूत शक्ति, **तथा अनले दाहशक्तिः**=और अग्नि में जलाने की हेतुभूत शक्ति अभिव्यक्त होती है ॥१६॥

अनभिव्यक्त वस्तु भी है इसमें दृष्टान्त कहते हैं—

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ।
यथाण्डेऽन्तर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥१७॥

तथा आकाशे शून्यशक्तिः=उसी प्रकार आकाश में अवकाश की शक्ति और, **विनाशिनि नाशशक्तिः**=विनाशी वस्तु में नाश की हेतुभूत शक्ति अभिव्यक्त होती है, **यथा अण्डे अन्तः महासर्पः**=जैसे अण्डे के भीतर बहुत बड़ा सर्प अनभिव्यक्त ही रहता है, **तथा आत्मनि**=उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा में, **जगत् अस्ति**=जगत् भी सृष्टि से पहले अनभिव्यक्तरूप से विद्यमान है ॥१७॥

उस आत्मा से अभिन्न सोपाधिक ब्रह्म में विचित्र कार्य की अस्तिता में दृष्टान्त कहते हैं—

फलपत्रलतापुष्प शाखाविटपमूलवान् ।

ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥१८॥

यथा फलपत्रलतापुष्प=जैसे विचित्र फल पत्ते लता पुष्प, **शाखाविटपमूलवान्**=शाखा काण्ड और मूल सहित, **वृक्षः बीजे ननु**=वृक्ष बीज में निश्चय होता है, **तथा इदं ब्रह्मणि स्थितम्**=उसी प्रकार यह विचित्र जगत् भी ब्रह्म में विद्यमान है ॥१८॥

सभी शक्तियों की एक ही काल में अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ऐसी आशंका का उत्तर देते हुए भिन्न भिन्न काल में अभिव्यक्ति के प्रति दृष्टान्त कहते हैं—

क्वचित् काश्चित् कदाचिच्च तस्मादुद्यन्ति शक्तयः ।

देश काल विचित्रत्वात् क्ष्मातलादिव शालयः ॥१९॥

क्वचित् कदाचित् च=किसी देश विशेष में, और किसी काल विशेष में, **काश्चित् शक्तयः तस्मात् उद्यन्ति**=कुछ शक्तियाँ उस ब्रह्म से अभिव्यक्त होती है, क्योंकि, **देशकाल विचित्रत्वात्**=देश काल की विलक्षणता से शक्ति भिन्न भिन्न होती है, अतः एक ही काल में सब शक्तियों की अभिव्यक्ति नहीं होती, **क्ष्मातलाद् शालयः इव**=जैसे भूमितल से धान्यादि उत्पन्न होते हैं, तात्पर्य यह है कि भूमि में विद्यमान सभी बीजों के मध्य में किसी किसी खास देश में किसी खास काल में कुछ खास बीजों की ही अंकुरोत्पत्ति होती है सबकी नहीं, उसी प्रकार शक्ति की अभिव्यक्ति में भी जानना ॥१९॥

अब जगत् की कल्पनामात्ररूपता को दिखाने के लिये जगत् के कल्पक मन का स्वरूप पहले दिखाते हैं—

स आत्मा सर्वगो राम ! नित्योदितमहावपुः ।

यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥२०॥

राम नित्योदितमहावपुः=हे राम ! सर्वदा प्रकाशमान परि

च्छेद रहित स्वरूप जिसका ऐसा, सः सर्वगः आत्मा=वह सर्वव्यापक आत्मा, यत् मनाक्=जिस काल में इषत् मात्र भी, मननीं शक्तिं धत्ते =अपना तथा पर का बोधनरूप मायापरिणाम शक्ति को धारण करता है, तत् मनः उच्यते=उस काल में मन कहा जाता है ॥२०॥

अब जिस प्रकार से जगत् की कल्पना होती है, उस प्रकार को कहते हैं, और कल्पित पदार्थ की भी वास्तवत्वभ्रान्ति में दृष्टान्त भी कहते हैं—

आदौ मनस्तदनुबन्धविमोक्षदृष्टी
पश्चात् प्रपञ्चरचना भुवनाभिधाना ।
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभग ! बालजनोदितेव ॥२१॥

सुभग=हे सौभाग्यशाली राम, आदौ मनः=प्रथम मनन-शक्ति की अभिव्यक्ति से मन होता है, तदनु बन्धविमोक्षदृष्टी=उसके अनन्तर बन्ध और मोक्ष की कल्पना होती है, पश्चात् भुवनाभिधाना =उसके अनन्तर भुवन नाम वाला, प्रपञ्चरचना=प्रपञ्च की रचना होती है, अर्थात् पर्वत, नगर, नदी समुद्रादि की कल्पना होती है, इत्यादिका इयं स्थितिः=उक्त प्रकार से यह जगत् की स्थिति, प्रतिष्ठाम् गता हि=स्थिरता को प्राप्त हुई, इसमें दृष्टान्त कहते हैं, बालजनोदिता=बालकों के लिये कही हुई, आख्यायिका इव=आख्यायिका की न्याईं अर्थात् बालकों के विनोद के लिये धात्री के द्वारा कही हुई कथा कहानी जैसे बालकों की बुद्धि में वास्तविकता को प्राप्त होती है, उसी प्रकार यह कल्पित जगत् भी अविवेकी मनुष्यों की बुद्धि में वास्तव प्रतीत होता है ॥२१॥

अब योगवासिष्ठ की कथा को कहते हैं—

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ।
क्वचित्सन्ति महाबाहो ! राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥२२॥

महाबाहो=हे महाबाहो राम !, धात्री बालस्य विनोदाय हि शुभां कथां वक्ति=कोई धाय बच्चे के मनोविनोद के लिये सुन्दर

कथा कहती है कि, क्वचित् त्रयः शुभाः राजपुत्राः सन्ति = किसी देश में तीन सुन्दर राजपुत्र रहते हैं ॥२२॥

द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भ एव न च स्थितः ।
वसन्ति ते धर्मयुक्ता अत्यन्तासति पत्तने ॥२३॥

द्वौ न जातौ = जिनमें से दो तो जन्मे ही नहीं, तथा एकः तु गर्भे एव न च स्थितः = और एक तो गर्भ में ही आया नहीं, ते अत्यन्तासति = वे तीनों राजपुत्र जो तीन काल में हैं ही नहीं ऐसे, पत्तने = असत् नाम वाले नगर में, धर्मयुक्ताः वसन्ति = धर्म सहित अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए निवास करने लगे ॥२३॥

स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ।
गच्छन्तो गगने वृक्षान्ददृशुः फलशालिनः ॥२४॥

विमलाशयाः = शुद्ध चित्त वाले वे तीनों राजपुत्र एक समय, स्वकीयात् शून्यनगरात् निर्गत्य = अपने उस असत् नगर में से निकलकर, गच्छन्तः गगने फलशालिनः = जाते हुए आकाश में फल वाले, वृक्षान् ददृशुः = अनेक वृक्षों को देखे ॥२४॥

भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोऽपि ते ।
सुखमद्य स्थिताः पुत्र ! मृगयाव्यवहारिणः ॥२५॥

पुत्र ! ते त्रयः राजपुत्राः = हे पुत्र ! वे तीनों राजपुत्र, तत्र भविष्यत् नगरे = उस भविष्य नगर में अर्थात् वर्तमान समय में अविद्यमान नगर में, अद्य मृगयाव्यवहारिणः सुखम् स्थिताः = अब शिकार खेलते हुए सुख से ठहरे हुए हैं ॥२५॥

धात्र्येति कथिता राम ! बालकाख्यायिका शुभा ।
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥२६॥

राम इति धात्र्या = हे राम! इस प्रकार धाय ने, शुभा बालकाख्यायिका कथिता = बच्चों के लिये सुन्दर कथा कही अर्थात् सुनायी, स बालः = वह बालक (कथा सुनकर उस कथा को), निर्विचारणया

धिया = विचार रहित बुद्धि से, निश्चयं ययौ = निश्चय को प्राप्त हुआ अर्थात् उस कथा को वास्तव मान लिया ॥२६॥

इस दृष्टान्त से सिद्ध अर्थ को दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं -

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ।

बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥२७॥

इत्थं इयं संसाररचना = इस प्रकार यह संसार की कल्पित सृष्टि, विचारोज्झितचेतसाम् = विचार रहित चित्त वाले अविवेकी मनुष्यों के प्रति, बालकाख्यायिका इव = बालक के लिये कही हुई इस कथा की न्याई, अवस्थितिम् = स्थिरता को, उपागता = प्राप्त हुई अर्थात् अविवेकी लोग कल्पित जगत्सृष्टि को भी वास्तव समझने लगे ॥२७॥

वसिष्ठोक्त अर्थ का उपसंहार करते हुए पूर्वोक्त प्रकार से माया के सद्भाव में प्रमाण कथन पूर्वक उस माया की अनिर्वचनीयता को कहने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं -

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ।

वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥२८॥

इत्यादिभिः उपाख्यानैः = इस से आदि लेकर बहुत कथाओं के द्वारा, मायाशक्तेः च विस्तरम् = माया शक्ति का और उसके विस्तार का, वसिष्ठः कथयामास = वसिष्ठ जी ने कथन किया, सा एव शक्तिः निरूप्यते = उसी शक्ति का अब निरूपण किया जाता है अर्थात् उस माया शक्ति की अनिर्वचनीयता को अब कहते हैं ॥२८॥

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ।

स्फोटाङ्गारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥२९॥

एषा शक्तिः कार्यात् = यह माया शक्ति अपने कार्यरूप जगत् से, च आश्रयतः = और अपने आश्रय ब्रह्म से, विलक्षणा भवेत् = विपरीत स्वभाव वाली है (कार्य से तथा अपने आश्रय से माया शक्ति के वैलक्षण्य को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं), स्फोटाङ्गारौ = जैसे अग्नि

की शक्ति का कार्य स्फोट और आश्रयरूप अङ्गार, दृश्यमानौ तत्र शक्तिः=प्रत्यक्ष से ज्ञेय है, उन कार्यों को देखकर अग्नि में शक्ति का कार्य द्वारा, अनुमीयते=अनुमान ज्ञान होता है, इस कारण से कार्य तथा आश्रय से यह शक्ति विलक्षण है ॥२९॥

अब उक्त दृष्टान्त को मृत्शक्ति में भी घटाते हैं—

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योऽत्र मृत्तिका ।
शब्दादिभिः पञ्चगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥३०॥

पृथुबुध्नोदराकारो घटः=स्थूल वर्तुल (गोल) उदर युक्त आकार वाला घट, कार्यः अत्र=कार्य है और यहाँ पर, शब्दादिभिः पञ्चगुणैः=शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पांचो गुणों से, युक्ता मृत्तिका=विशिष्ट मिट्टी आश्रय हैं, शक्तिः तु=और मिट्टी की घट-शक्ति तो, अतद्विधा=कार्य घट और आश्रय मृत्तिका दोनों से विलक्षण हैं ॥३०॥

अब वैलक्षण्य को भी दिखाते हैं—

न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ।
अत एव ह्यचिन्त्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥३१॥

शब्दादिनः = आश्रयके धर्म शब्दादि भी नहीं हैं शक्तौ पृथ्वादिः न=शक्ति में स्थूलता आदि धर्म (कार्य घट के धर्म) नहीं हैं, इस कारण से शक्ति विलक्षण है, तब यह शक्ति कैसी है, इसप्रकार आकांक्षा के उत्तर में कहते है, यथा तथा अस्तु=किन्तु शक्ति का स्वरूप जैसा है वैसा ही है, आगे यथा तथा शब्द से उक्त अर्थ को स्पष्ट करते हैं, अतएव=जिस कारण से कार्य तथा आश्रय से विलक्षण है तिस कारण से, एषा अचिन्त्या हि=यह शक्ति मन से भी चिंतन करने को अशक्य है। तब तो अचिन्त्यपना ही शक्ति का स्वरूप निकला ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं,- निर्वचनं न अर्हति = भिन्नतया अभिन्नतया अथवा अचिन्त्यत्वादि रूप से अर्थात् किसी भी रूप से निरूपण करने को योग्य नहीं है ॥३१॥

कारणस्वरूप से अतिरिक्त शक्ति यदि है तो कारणस्वरूप की

न्याई अर्थात् कारण का स्वरूप जैसा भासता है, वैसी वह शक्ति क्यों नहीं भासती ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं —

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ।
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥३२॥

शक्तिः = मृत्तिका में स्थित (घटोत्पत्ति की अनुकूल) शक्ति, कार्योत्पत्तेः पुरा = घटादिकार्योत्पत्ति से पहले, मृदि निगूढा = मृत्तिका में छिपी हुई, अवस्थिता = स्थित है इस लिये वह शक्ति भासती नहीं, यदि शक्ति निगूढा है तो पश्चात् भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिये, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि पूर्व अनभिव्यक्त का भी मथन के द्वारा नवनीतादि की अभिव्यक्ति की न्याई कुलालादि के व्यापार से शक्ति की अभिव्यक्ति हो सकती है, कुलालादिसहायेन = कुम्भकार दण्ड चक्र आदि के सहाय से अर्थात् व्यापार से, विकाराकारतां व्रजेत् = कार्य के आकार को वह शक्ति प्राप्त करती है ॥३२॥

शक्ति का कार्य यदि कारण से अतिरिक्त विद्यमान है तो, कार्य-कारण का भेद क्यों नहीं भासता ऐसी आशंका करके, भेदप्रतीति का हेतु जो विचार है, उसके अभाव से ही भेद नहीं भासता इस प्रकार उत्तर कहते है—

पृथुत्वादिविकारान्तं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ।
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ॥३३॥

विचारविकलाः जनाः = विचार से रहित अविवेकी मनुष्य, पृथुत्वादिविकारान्तम् = स्थूलत्व वर्तुलत्व आदि आकाररूप कार्य को, स्पर्शादिं च = और शब्द स्पर्शादि गुणों को, मृत्तिकाम् अपि = और कारणरूप मृत्तिका को भी, एकीकृत्य = अविचार से एक समझ कर, घटं प्राहुः = यह घट है इस प्रकार कहते हैं ॥३३॥

पूर्वोक्त घटव्यवहार अविचारमूलक है,यह कैसे सिद्ध हुआ ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं, और उत्तरार्द्ध से घटस्वरूप का निर्देश भी करते हैं—

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ।

पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुम्भता ॥३४॥

कुलालव्यापृतेः पूर्वः=कुम्भकार के व्यापार से पुर्वभावी, **यावानंशः**=जो मृतिका का अशरूप पिण्ड है, **सः घटः नो**=वह मृत्तिकांश घट नहीं है (परन्तु साधारण मनुष्य घटोत्पत्ति के पूर्व उस मृत्तिका के अश को घटशब्द के वाच्यार्थ में शामिल करके यह घट है ऐसा व्यवहार करते हैं, इसलिये अविचारमूलक है), **तु पश्चात्**=परन्तु कुलाल के व्यापार के अनन्तर, **पृथुबुध्नादिमत्त्वे हि**=होने वाले स्थूल तथा वर्तुल उदर का आकार की ही, **कुम्भता युक्ता**=घटरूपता अर्थात् घटशब्द की अर्थरूपता उचित है (क्यों कि उस आकार की उत्पत्ति के अनन्तर ही घटशब्द का प्रयोग दृष्ट होता है ॥३४॥

पारमार्थिकरूप से अभिमत घट अनिर्वचनीय शक्ति का कार्य है ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है ऐसी आशंका उठा कर घट का पारमार्थिकपना असिद्ध है इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ।

नाप्यभिन्नः पुरा पिण्डदशायामनवेक्षणात् ॥३५॥

सः घटः मृदः भिन्नः न=वह घट मृत्तिका से भिन्न नहीं क्यों कि, **वियोगे सति अनीक्षणात्**=मृत्तिका से पृथक् कर लेने पर वह घट देखने को शक्य नहीं रह जाता, **अभिन्नः अपि न**=और वह मृत्तिका से अभिन्न भी नहीं हैं क्यों कि, **पुरा पिण्डदशायाम्**=पहले (कुलाल के व्यापार से पूर्व) पिण्ड अवस्था में, **अनवेक्षणात्**=अनुभव का विषय नहीं होता ॥३५॥

अतोऽनिर्वचनीयोऽयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ।

अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥३६॥

अतः शक्तिवत् अनिर्वचनीयः=पूर्वोक्त युक्ति से शक्ति की न्याय अनिर्वचनीय, **अयं**=यह घट है (पारमार्थिक नहीं, इस लिये शक्ति का कार्य बन सकता है), **तेन शक्तिजः**=तिस से अर्थात् अनि-

र्वचनीय होने से अनिर्वचनीय शक्ति से उत्पन्न हुआ कार्य है, शक्ति और कार्य घट दोनों ही यदि अनिर्वचनीय हैं तो यह शक्ति है, यह कार्य है, इस प्रकार भेदव्यवहार क्यों ? ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं, **अव्यक्तत्वे**=अव्यक्तदशा में, **शक्तिः उक्ता**=जो शक्ति नाम से कही गई है वही, **व्यक्तत्वे घटनामभृत्**=अभिव्यक्तदशा में घटनाम वाला कार्य कहा जाता है ॥३६॥

पूर्व अनभिव्यक्त भी मायाशक्ति पश्चात् अभिव्यक्त होती है, इतना कहने से लोक में प्रसिद्ध माया का स्वरूप ग्रहण नहीं होता ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

ऐन्द्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा ।

पश्चाद्गन्धर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥३७॥

ऐन्द्रजालिकनिष्ठा अपि=इन्द्रजाल जानने वाले मायावी पुरुष में रहने वाली भी, **माया पुरा**=मायाशक्ति मणिमन्त्रादि के प्रयोग से पूर्व, **न व्यज्यते**=कार्यरूप से अभिव्यक्त नहीं होती, **पश्चात्**=और मणिमन्त्रादि के प्रयोग के अनन्तर, **गन्धर्वसेनादिरूपेण**=गन्धर्वसेनादि कार्यरूप से, **व्यक्तिम् आप्नुयात्**=अभिव्यक्ति को प्राप्त होती है (अतः लोकप्रसिद्ध मायास्वरूप में भी पूर्वोक्त लक्षण घटता है) ॥३७॥

शक्ति का कार्य घटादि मिथ्या है और शक्ति का आधार मृत्तिकादि सत्य है, यह वार्ता छान्दोग्य उपनिषद् में भी कही गई है, उसका वर्णन ग्रन्थकार करते हैं—

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ।

विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥३८॥

एवं मायामयत्वेन=इस प्रकार माया का कार्य होने से, **विकारस्य अनृतात्मताम्**=घटादि कार्यों के मिथ्यात्व को, **विकाराधारमृद्वस्तुसत्यत्वं च**=तथा घटादि कार्यों की आधारभूत मृत्तिका के सत्यत्व को भी, **श्रुतिः अब्रवीत्**="वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि छान्दोग्य श्रुति ने कहा है ॥३८॥

अब "वाचारम्भणम्" इत्यादि उदाहृत वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं -

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ।
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥३९॥

वाङ्निष्पाद्यं = वाग् इन्द्रिय से निष्पाद्य-उच्चारण करने योग्य, **नाममात्रं विकारः**=केवल नाम ही अर्थात् शब्दमात्र हो घटादि कार्य का स्वरूप है, **अस्य सत्यता न**=उस कार्य घटादि का शब्दातिरिक्त (शब्द से भिन्न) सत्यता अर्थात् कोई पारमार्थिक स्वरूप नहीं है, **तु स्पर्शादिगुणयुक्ता**=परन्तु स्पर्श शब्दादिगुण वाली, **केवलमृत्तिका सत्या**= घटादि की आधारभूत मृत्तिका ही सत्य है ॥३९॥

शक्ति और शक्ति के कार्य मिथ्या होने में और उनके आधार के सत्यत्व में कारण बताते हैं -

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः ।
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥४०॥

व्यक्ताव्यक्ते=व्यक्त घटादिरूप कार्य और अव्यक्त जो कारणरूप शक्ति, **तदाधारः**=और उन दोनों की आधारभूत मृत्तिका, **इति त्रिषु**=इन तीनों के मध्य में, **आद्ययोः द्वयोः**=प्रथम दोनों का अर्थात् कार्य और शक्ति का, **कालभेदेन**=सम्बन्धी जो काल है (भूतकाल और वर्तमान काल) उन कालों के भेद से शक्ति और कार्य के भेद विद्यमान होने के कारण, **पर्यायः तु**=क्रम से अस्तित्व सिद्ध होता है परन्तु, **तृतीयः**=शक्ति और कार्य का आधारभूत तीसरा पदार्थ मृत्तिकादि, **अनुगच्छिति**=शक्ति और कार्य दोनों में अनुगत रहता है अथवा दोनों कालों में अनुगत रहता है, भाव यह है कि शक्ति और कार्य दोनों कादाचित्क होने से मिथ्या है, और उन दोनों का आधार तीनों कालों में अनुगत रहने से सत्य हैं ॥४०॥

अब विकार के ही मिथ्यापने में तीन हेतु कहते हैं—

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ।
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥४१॥

व्यक्तं=व्यक्त शब्द का वाच्य घटादिकार्य, **निस्तत्त्वं भासमानं**=स्वरूप से असत् होता हुआ भी भासता है, **च उत्पत्तिनाशभाक्**=उत्पत्ति विनाशवाला हुआ भी प्रतीत होता है, **तदुत्पत्तौ**=उस कार्य की उत्पत्ति के अनन्तर, **नृभिः वाचा**=मनुष्य वाग् इन्द्रिय से, **तस्य नाम**=उस कार्य के शब्दात्मक स्वरूप को, **निष्पाद्यते**=व्यवहार करते हैं, अर्थात् उत्पन्न कार्य को वागिन्द्रियजन्य शब्दस्वरूप से (घट इत्यादि शब्द से) व्यवहार करते हैं ॥४१॥

कार्य के असत्यपने में हेतु कथन करते हैं—

व्यक्ते नष्टेऽपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ।
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद् व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥४२॥

व्यक्ते नष्टे अपि=कार्यरूप व्यक्त नष्ट हो जाने पर भी, **एतत् नाम**=कार्य से अभिन्न नाम अर्थात् शब्द, **नृवक्त्रेषु**=शब्दप्रयोग करने वाले मनुष्य के मुख में, **अनुवर्तते**=पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं, **व्यक्तं तेन नाम्ना**=कार्य उसी नाम से अर्थात् वाणी द्वारा व्यवहार किये जाने वाले उसी शब्द से, **निरूप्यत्वात् तद्रूपम्**=निरूपण करने के योग्य होने के कारण नामात्मक ही, **उच्यते**=कहा जाता है, भाव यह है कि घटशब्दस्वरूप ही घट है, क्यों कि घटशब्द से उस का व्यवहार किया जाता है, जैसे घटशब्द के व्यवहार का विषय घटशब्द ही है ॥४२॥

इस प्रकार तीनों हेतुओं का प्रसाधन करके अब अनुमान की रचना का प्रकार सूचन करते हैं, अर्थात् घटादि कार्य का असत्यपन अनुमान द्वारा दिखाते हैं--

निस्तत्त्वत्वाद्विनाशित्वाद्वाचारम्भणनामतः ।
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ॥४३॥

व्यक्तस्य रूपं=कार्य घटादि का जो पृथुबुध्नोदराकार रूप है, **तद् किंचित् मृदादिवत्**=वह कुछ भी रूप मिट्टी आदि की न्याई,

सत्यं न तु = सत्य नहीं है क्योंकि, निस्तत्त्वत्वात् विनाशित्वात् = वह वास्तव स्वरूप रहित है और विनाशी है तथा, वाचारम्भणनामतः = वाग् इन्द्रियजन्य शब्दमात्र स्वरूप है ॥४३॥

इस प्रकार कार्य की असत्यता का उपपादन करके अब कार्य के अधिष्ठानरूप मृत्तिकाआदि की सत्यता का उपपादन करते हैं —

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ।

सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥४४॥

व्यक्तकाले = कार्य के स्थितिकाल में, ततः पूर्वम् = और कार्योत्पत्ति के पूर्वकाल में, ऊर्ध्वम् अपि = कार्य के विनाश के उत्तर काल में भी, एकरूपभाक् सतत्त्वम् = एकाकार वास्तव स्वरूपवाली, अविनाशं च = विकार के साथ नष्ट न होने वाली, मृद्वस्तु सत्यं कथ्यते = जो मृत्तिका वस्तु है वह सत्य ही कही जाती है ॥४४॥

घटादि कार्य समूह यदि सत्य नहीं है तो आरोपित रजतादि की जैसे अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्ति होती है, उसी प्रकार कार्यों की निवृत्ति भी आधार मृत्तिका के ज्ञान से हो जानी चाहिये. इस प्रकार आशंका करते हैं—

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः ।

अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ॥४५॥

व्यक्तं घटः विकारः च = व्यक्त, घट और विकार, इति एतैः नामभिः = इन तीनों शब्दों से, ईरितः अर्थः = कहा जाने वाला अर्थ (कार्यरूप अर्थ), चेद् अनृतः = यदि मिथ्या है (अर्थात् कारण से अतिरिक्त हुआ असत्य स्वीकार किया जाये तो), मृद्बोधे = मृत्तिकारूप कारण के ज्ञान होने पर, कस्मात् न निवर्तते = क्यों नहीं निवृत्त हो जाता ॥४५॥

इष्टापत्तिद्वारा शंका का परिहार करते हैं और उसमें युक्ति भी कहते हैं—

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ।

ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ॥४६॥

यस्मात् ते तत्सत्यत्वमतिः= जिस कारण से तुम्हारी घटादि विषय में सत्यत्वबुद्धि, गता=नष्ट हो गई है (मृत्तिका सत्य है, घटादि सत्य नहीं इस प्रकार का निश्चय हो गया है इस कारण से) निवृत्तः एव= वह घटादि निवृत्त ही हो गया है. आरोपित रजतादि की अप्रतीतिरूप निवृत्ति उपलब्ध होती है सत्यत्वबुद्धि की निवृत्ति नहीं, ऐसी आशंका करके रजतादिभ्रम निरुपाधिक भ्रम हैं, इसलिये अप्रतीतिरूप भले ही हो, प्रकृत में तो सोपाधिक भ्रम में सत्यत्वबुद्धि का नाश ही निवृत्ति है, इस अभिप्राय से उत्तर कहते हैं— अत्र ईदृक् एव=सोपाधिक भ्रमस्थल में सत्यत्वबुद्धि का नाश ही, बोधजा = अधिष्ठानसत्यताज्ञान से जन्य, निवृत्तिः=नाश को अंगीकार करना चाहिये, अभासनं न तु= स्वरूप से अप्रतीति निवृत्ति नहीं मानी जाती हैं ॥४६॥

सोपाधिक स्थल में उक्त नियम कहाँ देखा गया है, ऐसी शंका का उत्तर कहते हैं—

पुमानधोमुखो नीरे भातोऽप्यस्ति न वस्तुतः ।
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नास्था कस्यचित्क्वचित् ॥४७॥

नीरे अधोमुखः भातः अपि=जल में नीचे मुख वाला प्रतीयमान हुआ भी, पुमान् वस्तुतः न अस्ति=पुरुष वास्तव में ऐसा नहीं है, कस्य चित्=क्योंकि किसी भी विवेकी अथवा अविवेकी को, तस्मिन् =उस अधोमुख पुरुष में, तटस्थमर्त्यवत्=तीरस्थ पुरुष में सत्यत्व के अभिमान की न्याई,आस्था=सत्यत्व का अभिमान,क्वचित् न एव= किसी देश में अथवा किसी काल में नहीं है ॥४७॥

आरोपित वस्तु का असत्यत्व के ज्ञानमात्र से पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती, इस प्रकार आशंका का समाधान करते हैं—

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ।
मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥४८॥

अद्वैतवादिनाम्=अद्वैतब्रह्मवादियों को, ईदृक्बोधे=आत्मानन्दातिरिक्त सबका मिथ्यात्व निश्चय होने पर, पुमर्थत्वं=अद्वितीय

आनन्द की अभिव्यक्तिरूप पुरुषार्थसिद्ध होता है, मतम्=यह अभिप्रेत है,घट मृत्तिका का विवर्त्त कार्य है यह सिद्ध होने पर मृत्तिका के ज्ञान से घट में सत्यत्वबुद्धि निवृत्त हो सकती है परन्तु अब तक घट विवर्त है यह बात सिद्ध नहीं हुई,ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं-मृद्रूपस्य= घट का कारण मृत्तिका का स्वरूप, अपरित्यागात्=परित्याग किये बिना ही अर्थात् स्वस्वरूप से स्थित हुए भी मृत्तिका से घट अभिव्यक्त होता है इसलिये, विवर्तत्वं=अतत्त्वतोऽन्यथाभावरूप विवर्तकार्यपना, घटे स्थितम्=घट में स्थित है, अर्थात् स्थित होता है अतएव घट के मिथ्यास्वरूप की निवृत्ति बन सकती है ॥४८॥

घट में मृत्तिका के स्वरूप का परित्याग न होने पर भी घट मृत्तिका का परिणाम क्यों नहीं होगा, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं—

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ।
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुण्डलयोर्न हि ॥४९॥

परिणामे तत्=परिमाणवाद में कारण, पूर्वरूपं त्यजेत्=पूर्वरूप का अर्थात् कारण अपने स्वरूप का त्याग करता है, क्षीररूपवत् =जैसे दूध अपने स्वरूप का परित्याग करके दधिरूप परिणाम को प्राप्त होता है, विवर्त्तवाद में (विवर्त कारण में) पूर्वरूप का अपरित्याग कहाँ देखा गया, ऐसी आशंका करके मृत्तिका तथा सुवर्ण में देखा गया है ऐसा उत्तर कहते हैं— घटकुण्डलयोः=मृत्तिका का विवर्त कार्य घट और सुवर्ण का विवर्त कार्य कुण्डल, इन दोनों के बन जाने पर भी, मृत्सुवर्णे=उन दोनों के कारण मृत्तिका तथा सुवर्ण न निवर्तेते=अपने स्वरूप का परित्याग करके निवृत्त नहीं हो जाते अर्थात् अपने स्वरूप का परित्याग न करने पर भी घट कुण्डलादि कार्य के प्रति कारण बनते हैं, हि=ये बात लोक में प्रसिद्ध है, इसलिये मृत् और सुवर्ण विवर्त कार्य के कारण का दृष्टान्त बन सकते हैं ॥४९॥

घट मृत्तिका का विवर्त कार्य है यह वार्ता नहीं बन सकती क्यों कि घट के नाश होने पर पुनः मृद्भाव नहीं देखने में आता है इस प्रकार आशंका करते हैं—

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ।
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥५०॥

घटे भग्ने मृद्भावः न=घट के फूट जाने पर मृत्तिकारूपता पुनः नहीं रहती क्यों कि, **कपालानामवेक्षणात्**=वहां कपालों का ही दर्शन होता है मृत्तिका का नहीं, इसमें कपालों का नाश होने पर मृद्भाव की उपलब्धि होती है इस आशय से शंका का परिहार करते हैं, **एवं मा**=ऐसी आशंका मत करो, क्यों कि, **चूर्णे मृद्रूपम् अस्ति**=कपालों के चूर्ण में मिट्टी का स्वरूप है, **स्वर्णरूपम् तु**=कुण्डल के नाश होने पर स्वर्ण का स्वरूप ती, **अतिस्फुटम्**=अत्यन्त स्पष्ट ही अनुभव में आता है इस लिये पूर्वोक्त शंका का सुवर्ण दृष्टान्त में अवकाश ही नहीं ॥५०॥

परिणाम के दृष्टान्त दूध, मृत्तिका, सुवर्ण आदि कहे गये हैं, उन में यदि मृत् और सुवर्ण ये दोनों विवर्त के दृष्टान्त आप स्वीकृत करते हो तो, मृद् सुवर्ण के समान ही दूध भी विवर्त का दृष्टान्त हो सकता है ऐसी आशंका करके उत्तर कहते हैं —

क्षीरादौ परिणामोऽस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ।
एतावता मृदादीनां दृष्टान्तत्वं न हीयते ॥५१॥

क्षीरादौ परिणामः अस्तु=दूध आदि दृष्टान्त में परिणाम ही स्वीकृत कर लेना चहिये क्यों कि, **पुनः**=दधि का नाश होने पर फिर, **तद्भाववर्जनात्**=दुग्धरूपता नहीं रहती है, इसलिये दुग्धादि विवर्त का दृष्टान्त नहीं बन सकता । तब तो दुग्ध की न्याई अवस्थान्तर को प्राप्त करने वाली मृत्तिका तथा सुवर्ण भी विवर्त के दृष्टान्त नहीं बन सकते ऐसी आशंका का उत्तर उत्तरार्द्ध से कहते हैं, **एतावता**=दुग्धादि परिणामी हैं इतने मात्र से, **मृदादीनां दृष्टान्तत्वं**=मृत्तिका सुवर्ण आदि की विवर्तदृष्टान्तरूपता, **न हीयते**=नष्ट नहीं होती, अभिप्राय यह है कि दुग्ध तो पूर्वरूप परित्यागपूर्वक अवस्थान्तर को प्राप्त होता है, इस लिये दुग्ध परिणामी कारण है और मृत्तिका तथा सुवर्ण तो अवस्थान्तर की उत्पत्ति होने पर भी पूर्वरूप का परित्याग न करने से विवर्ती कारण बन सकता है ॥५१॥

परिणाम और विवर्त के कारण की न्याई मृद् और सुवर्ण दोनों को आरम्भ के कारण भी क्यों नहीं मानते हो, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं--

आरम्भवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ।
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥५२॥

आरम्भवादिनः=आरम्भवादी नैयायिकों के मत में, **कार्ये मृदः**=घटादि कार्य में मृत्तिकादि द्रव्य का, **द्वैगुण्यम्**=कार्याकार से और कारणाकार से द्विगुणभाव, **आपतेत्**=प्राप्त होगा, तथा गुरुत्वादि का द्विगुणभाव प्राप्त होगा क्योंकि, **रूपस्पर्शादयः**=रूपस्पर्शादि गुणों को, **कार्य कारणयोः**=कार्य और कारण दोनों से अर्थात् गुणी से, **पृथक् प्रोक्ताः**=भिन्न ही आरम्भ वादियों ने कहा है, अर्थात् अंगीकार किया है, तात्पर्य यह है कि आरम्भवाद में कारण तथा कार्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न है, इस लिये घट उत्पन्न होने पर एक तो कारण मिट्टी का स्वरूप और दूसरा कार्य घट का स्वरूप इस प्रकार द्विगुणभाव को मानना होगा, और दोनों का गुरुत्व अर्थात् वजन भी अलग-अलग होने से द्विगुण होना चाहिये और मृत्तिका का गुण और कार्य घट का गुण भी इस मत में पृथक् पृथक् होने के कारण उन रूपादि गुणों का भी द्विगुणभाव होना चाहिये, परन्तु ऐसा द्विगुणभाव उपलब्ध नहीं होता, इस लिये मृत् सुवर्ण को आरम्भक कारण नहीं मान सकते ॥५२॥

मृत्तिका और सुवर्ण ये दो ही केवल विवर्त का दृष्टान्त हैं क्या ? ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि नहीं; और भी दृष्टान्त हैं--

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टान्तत्रयमारुणिः ।
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥५३॥

आरुणिः=अरुण का पुत्र उद्दालक नामा ऋषि ने, **मृत्सुवर्णमयः च**=कार्य के मिथ्यात्व में मृत्तिका सुवर्ण तथा लोहा, **इति दृष्टान्तत्रयं प्राह**=इस प्रकार तीन दृष्टान्त "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन"

इत्यादि वाक्य से कहा हैं, अतः=इस लिये (जिसलिये मृदादि बहु दृष्टान्तों में कार्य का मिथ्यात्व उपलब्ध होता है इसलिये), सर्व-वस्तुषु=भूत भौतिक सर्व वस्तुओं में, कार्यानृतत्वं वासयेत्=कार्य के मिथ्यात्व का अनुसंधान करें ॥५३॥

कार्य का मिथ्यात्वानुसन्धान भी किस प्रयोजन के लिये कहा गया है, ऐसी आशंका करके कारण के ज्ञान से कार्य के ज्ञान की सिद्धि के लिये कहा है, इस अभिप्राय से उत्तर कहते हैं—

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ।
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ? ॥५४॥

कारणज्ञानतः=कारण मृदादि के ज्ञान से, कार्यविज्ञानं च अपि=घटादि कार्य समूह का ज्ञान भी, सः अवदत्=आरुणि ने पूर्वोक्त वाक्य से कहा है, इसमें मृत्तिका सुवर्णादिरूप पारमार्थिक कारण के विज्ञान से कारण से विलक्षण घटादि का विज्ञान असम्भव है, इस प्रकार आशंका करते हैं, अत्र सत्यज्ञाने अनृतज्ञानं=यहाँ प्रकृत में सत्य कारण के ज्ञान से मिथ्या कार्य का ज्ञान, कथम् उप-पद्यते=कैसे सिद्ध होगा अर्थात् सिद्ध नहीं होगा ॥५४॥

कार्य सत्य तथा अनृत अंश द्वयरूप होने से कारण के ज्ञान से कार्यगत सत्य अंश का ज्ञान भी होता है, इस अभिप्राय से उत्तर कहते हैं—

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ।
वास्तवोऽत्र मृदंशोऽस्य बोधः कारणबोधतः ॥५५॥

समृत्कस्य विकारस्य=अधिष्ठानभूत मृत्तिका सहित आरोपित घटादि कार्य की, कार्यता लोकदृष्टितः=कार्यशब्दार्थता लोकदृष्टि से प्रसिद्ध ही है, इस प्रकार भले ही होवे, किन्तु इतने मात्र से कारण-ज्ञान से कार्यज्ञान सम्भव नहीं है, इस प्रश्न का क्या परिहार हुआ, ऐसी आशंका का कार्यगत अनृतांश ज्ञान न होने पर भी, कार्यगत सत्य अंश का ज्ञान तो होता ही है, इस अभिप्राय से परिहार करते हैं, अत्र वास्तवः मृदंशः=कार्य में जो पारमार्थिक मृत्तिका का अंश है,

अस्य बोधः=उस वास्तव अंश का ज्ञान, कारणबोधतः=कारण के ज्ञान से हो ही जाता है ॥५५॥

कार्य में सत्यांश की न्याईं मिथ्यांश को भी जानना चाहिये, ऐसी आशंका करके मिथ्या अंश के ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है, इस लिये मिथ्या अंश जानने योग्य नहीं, इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ।

तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यान्नानृतांशावबोधनम् ॥५६॥

अनृतांशः बोधव्यः न=कार्य में जो मिथ्या अंश है, वह जानने योग्य नहीं, तद्बोधानुपयोगतः=क्योंकि उस मिथ्या अंश के ज्ञान का कोई भी उपयोग अर्थात् सार्थकता नहीं है। अब उत्तरार्ध से प्रयोजन अभाव को दिखाते हैं, तत्त्वज्ञानं=तत्त्व का अर्थात् बाधरहित वस्तु का ज्ञान ही, पुमर्थं स्यात्=पुरुषार्थरूप प्रयोजन वाला है, अनृतांशावबोधनम् न=मिथ्या अंश कार्यरूप विकार का ज्ञान पुरुषार्थरूप प्रयोजन वाला नहीं ॥५६॥

कारण के ज्ञान से कार्य का ज्ञान होता है, यह तो श्रोताओं की बुद्धि में एक चमत्कार का हेतु बन जायेगा, इस अभिप्राय से कहा गया, परन्तु वह तो सम्भव नहीं ऐसी आशंका करते हैं—

तर्हि कारणविज्ञानात् कार्यज्ञानमितीरिते ।

मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोऽत्र विस्मयः ॥५७॥

तर्हि कारणविज्ञानात्=तब तो कारण मृत्तिका आदि के ज्ञान से, कार्यज्ञानम्=कार्यगत मृत्तिकादि सत्यांश का ज्ञान होता है, इति ईरिते मृद्बोधात्=ऐसा कहने पर मृत्तिका के ज्ञान से, मृत्तिका बुद्धा=मिट्टी ही ज्ञात हुई अर्थात् मृत्तिका का ज्ञान होता है, इति उक्तं स्यात्=यही कहा गया, अत्र=ऐसा होने पर, कः विस्मयः=क्या चमत्कार हुआ अर्थात् शब्द में ही चमत्कार नहीं ॥५७॥

पूर्व उक्त विवेकवानों के लिये विस्मय न होने पर भी विवेकरहित पुरुषों के लिये विस्मय तो होता ही है, इस आशय से पूर्व श्लोकोक्त शंका का परिहार करते हैं—

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ।
विस्मयो माऽस्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यते? ॥५८॥

सत्यं, कार्येषु=ठीक है, परन्तु घटादि कार्यों में, वस्त्वंशः कारणात्मा=विद्यमान वास्तव अंश कारण स्वरूप ही है, इति जानतः विस्मयः मा अस्तु=इस प्रकार जानने वालों को आश्चर्य मत होवे, इह अज्ञस्य=परन्तु प्रकृत प्रसंग में तत्त्वज्ञानशून्य अविवेकी को, विस्मयः=उत्पन्न होने वाले आश्चर्य, केन वार्यते=कौन निवारण करेगा अर्थात् किसी से भी निवारण करने को शक्य नहीं ॥५८॥

अविवेकी को आश्चर्य होता है, इस उक्त अर्थ को विस्तार से कहते हैं—

आरम्भी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ।
ज्ञाते सर्वमिति श्रुत्वा प्राप्नुवन्त्येव विस्मयम् ॥५९॥

आरम्भी च=समवायी असमवायी और निमित्त इन त्रिविध कारणों से भिन्न ही कार्य की उत्पत्ति का नाम आरम्भ है, उसको कहने वाला अथवा मानने वाला आरम्भी है और, परिणामी=पूर्वरूप का परित्याग करके रूपान्तर की प्राप्ति परिणाम हैं,उसको कहने वाला वादी परिणामी कहा जाता है, च लौकिकः=और उक्त दोनों प्रक्रियाओं को नहीं जानने वाला लोकव्यवहारमात्र परायण पुरुष लौकिक कहा जाता है, ये तीनों, एककारणे ज्ञाते=एक कारण के जान लेने पर, सर्वमिति=सब का ज्ञान हो जाता है इस बात को, श्रुत्वा=सुनकर, विस्मयं प्राप्नुवन्ति एव=विस्मय को प्राप्त होते ही हैं ॥५९॥

छान्दोग्य श्रुतिवाक्य के यथाश्रुत अक्षरार्थ का परित्याग कर के पूर्वोक्त प्रकार का व्याख्यान करने में क्या कारण है, इस आशंका का उत्तर देते हैं कि श्रुतिवाक्य का अक्षरार्थ में तात्पर्य है नहीं, अतः उक्त व्याख्यान किया है—

अद्वैतेऽभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ।
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ॥६०॥

अद्वैते=अद्वैत सद्ब्रह्म के विज्ञान में, अभिमुखी कर्तुम् एव=शिष्य को अभिमुख करने के लिये अर्थात् शिष्य का मनोयोग आकर्षण करने के लिये ही, अत्र श्रुतौ एकस्य बोधतः=यहाँ श्रुति में एक कारण के विज्ञान से, सर्व बोधः=सब कार्यों का विज्ञान कहा गया है, नानात्वस्य विवक्षया=अनेक कार्यों के विज्ञान की विवक्षा से अर्थात् कहने के अभिप्राय से, न एव=उक्त वाक्य नहीं कहा गया है ॥६०॥

अब एक विज्ञान से सर्व विज्ञान का दृष्टान्त प्रदर्शन करने वाला "यथा सोम्य" इत्यादि वाक्य के अर्थ का निरूपण पूर्वक दार्ष्टान्तिक का प्रदर्शन करने वाला "उत तम् आदेशम्" इत्यादि वाक्य के अर्थ को दिखाते हुए फलितार्थ को कहते हैं—

एकमृत्पिण्डविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा ।
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥६१॥

यथा एकमृत्पिण्डविज्ञानात्=जैसे घटादि के उपादान कारण एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से, सर्वमृन्मयधीः=मृत्तिका के विकार सम्पूर्ण घटादि कार्यों का ज्ञान हो जाता है, तथा एकब्रह्मबोधेन=उसी प्रकार सर्व जगत्का उपादान कारण एक ब्रह्म के ज्ञान से, जगद्बुद्धिः=सम्पूर्ण कार्यरूप जगत् का बोध हो जाता है, विभाव्यताम्=इस प्रकार समझना चाहिये ॥६१॥

ब्रह्म और जगत् इन दोनों के स्वरूप का ज्ञान न होने पर ब्रह्मज्ञान से जगत् का ज्ञान होता है इस प्रकार समझना अशक्य है, अर्थात् इस वाक्य के अर्थ को कोई नहीं समझ सकता, ऐसी आशंका का उत्तर देने के अभिप्राय से ब्रह्म और जगत् के ज्ञान के लिये दोनों का स्वरूप दिखाते हैं, और उत्तरार्द्ध से ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, इस विषय में तापनीयादि श्रुति को प्रमाण रूप से कहते हैं—

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ।
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ॥६२॥

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म=जो सत् चित् सुख स्वरूप है. वह ब्रह्म है, नामरूपात्मकं जगत्=जो नाम तथा आकार है, वह संसार प्रपंच है, तापनीये=उत्तर तापनीय उपनिषद् में,ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं=ब्रह्म सत् चित् और आनन्द स्वरूप, श्रुतं=सुना गया अर्थात् कहा गया ॥६२॥

और भी श्रुतिवाक्यों का प्रदर्शन करते हैं—

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः ।
सनत्कुमार आनन्दमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥६३॥

आरुणिः=ऋषि आरुणि अर्थात् उद्दालक ऋषि ने छान्दोग्य श्रुति में, सद्रूपम्="सदेव सोम्य" इत्यादि वाक्य से सद्रूप ब्रह्म का, प्राह=निरूपण किया, बह्वृचः=ऋग् शाखा अध्ययन करने वालों ने, ब्रह्म प्रज्ञानं=ब्रह्म को प्रज्ञानरूप दिखाया, सनत्कुमारः=और छान्दोग्य में सनत्कुमार नामक मुनि ने अपने शिष्य नारद के लिये, आनन्दम्=भूमाशब्द का अर्थ ब्रह्म को आनन्दस्वरूप कहा है, एवं अन्यत्र=इस प्रकार अन्य श्रुतियों में भी, गम्यताम्="आनन्दो ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से ब्रह्म को कहा है इस प्रकार जानना ॥६३॥

ब्रह्म की सच्चिदानन्दरूपता में जैसे श्रुति प्रमाण कहा, उसी प्रकार नाम रूप में भी श्रुति प्रमाण दिखाते हैं—

विचित्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ।
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥६४॥

सर्वरूपाणि विचित्य=जगत् के सब रूपों को संकल्प द्वारा बनाकर, नामानि कृत्वा तिस्ठति=और जगत् के नामों को भी बनाकर जो स्थित है, अहं इमे नामरूपे व्याकरवाणि=मैं इन नाम रूपों को प्रकट करूं, इति श्रुतेः=इस श्रुति प्रमाण से स्रष्टव्य जगत् के नामरूप दिखाये गये हैं ॥६४॥

उन्हीं नामरूपों में दूसरी श्रुति का उदाहरण कहते हैं, और श्रुति के अव्याकृत शब्द का अर्थ भी उत्तरार्द्ध से कहते हैं—

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियते द्विधा ।
अचिन्त्य शक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥६५॥

सृष्टेः पुरा अव्याकृतं=सृष्टि से पहले यह जगत् अव्याकृत नामरूपात्मक था, **ऊर्ध्वं द्विधा व्याक्रियते**=और सृष्टिकाल में दो प्रकार से अर्थात् वाच्य और वाचकरूप से अभिव्यक्त हुआ, **ब्रह्मणि अचिन्त्यशक्तिः माया**=ब्रह्म में जो यह अचिन्त्यशक्तिरूप माया है, **एषा अव्याकृताभिधा**=यही इस वाक्य में अव्याकृतशब्द से कही जाती है ॥६५॥

"तन्नाम-रूपाभ्यामेव व्याक्रियते" इस श्रुति वाक्य का अर्थ कहते हैं, और उत्तरार्द्ध से माया ब्रह्म में स्थित है, इस विषय में प्रमाण भी कहते हैं—

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ।
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥६६॥

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा=विकार रहित ब्रह्म में स्थित वह माया शक्ति, **अनेकधा विकारं याति**=अनेक प्रकार से अर्थात् भूत भौतिक प्रपंचरूप से परिणाम को प्राप्त होती है, **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्**=और उसे पूर्वोक्त माया को जगत् का उपादान कारण जानना, **मायिनं तु**=और उस माया के आश्रय होने से मायावी को तो, **महेश्वरम्**=माया का नियामक ईश्वर जानना ॥६६॥

अब माया से उपहित ब्रह्म के प्रथम कार्य को, और उस प्रथम कार्य में कारण से आये हुए तीनों रूपों को कहते हैं, और उत्तरार्द्ध से उस प्रथम कार्य का अपना स्वरूप, और पूर्व अस्ति भाति प्रियरूप ब्रह्म से उस प्रथम कार्य का वैलक्षण्य भी बताते हैं—

आद्यो विकार आकाशः सोऽस्ति भात्यपि च प्रियः ।
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ॥६७॥

आद्यः विकारः आकाशः=उस माया से उपहित ब्रह्म का प्रथम कार्य आकाश है,सः अस्ति=वह आकाश है इस प्रकार ब्रह्म का सत्यत्व, भाति अपि=भासता भी है इस प्रकार चिद्रूपत्व, प्रियः च=और प्रिय अर्थात् सुखरूपत्व ये तीनों रूप मायोपहित ब्रह्म से आये हुए हैं, अवकाशः तस्य रूपं=और अवकाश अर्थात् पोल उस आकाशका अपना स्वरूप है, तत् मिथ्या तु=वह अवकाशरूप कार्य आकाश मिथ्या है परन्तु, तत् त्रयम् न=वह सच्चिदानन्द स्वरूप मिथ्या नहीं किन्तु वास्तव है ॥६७॥

ब्रह्म के सच्चिदानन्दरूप तीनों स्वरूप से भिन्न उस अवकाशरूप चतुर्थरूप आकाश के मिथ्यात्व में हेतु कहते हुए, उत्पत्ति विनाश के मध्य में प्रतीयमान आकाश का मिथ्यापन कैसे ? इस आशंका का निवारण करते हैं—

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ।
आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥६८॥

व्यक्तेः पूर्वं न एव अस्ति=अभिव्यक्ति से पूर्व वह आकाश है ही नहीं, च नाशतः पश्चात् अपि न=और नाश के अनन्तर भी वह आकाश नहीं है, इसलिये आकाश मिथ्या है (जैसे रज्जु, सर्प, स्वप्नादि), यत् आदौ अन्ते च न अस्ति=जो वस्तु (रज्जु सर्पादि) प्रतीति के पहले और नाश के अनन्तर नहीं होती है, तत् वर्तमाने अपि तथा=वह वस्तु मध्य में प्रतीति के काल में भी वास्तव में नहीं है ॥६८॥

इस अर्थ में श्रीकृष्णवाक्य को भी प्रमाणरूप से कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोऽर्जुनं प्रति ॥६९॥

भारत भूतानि=हे अर्जुन ! ये सब भूत प्राणी, अव्यक्तादीनि =उत्पत्ति से पहले अव्यक्तरूप ही थे (व्यक्त रूप नहीं थे), व्यक्त-मध्यानि=मध्य में व्यक्तरूप हुए प्रतीत होते हैं, अव्यक्तनिधनानि एव =और नाश के अनन्तर पुनः अव्यक्तरूप हो जाते हैं, अर्थात् व्यक्तरूप

से नहीं रहते (अतएव मिथ्या होने से वियोग होने पर उसके लिये क्या शोक करना), इति कृष्णः अर्जुनं प्रति आह=इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा है ॥६९॥

ब्रह्म के सद् आदि रूपत्रय आकाश में विद्यमान है इसमें क्या प्रमाण है, ऐसी आशंका होने पर अनुभव ही प्रमाण है, ऐसा उत्तर कहते हैं, और उत्तरार्द्ध से आकाश को छोड़कर सद् आदि रूपत्रय का कैसे अनुभव हो सकता है इस आशंका का भी निवारण करते हैं—

मृद्वत्ते सच्चिदानन्दा अनुगच्छन्ति सर्वदा ।
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥७०॥

मृद्वत्=घटादि में जैसे तीनों काल में मृत्तिका अनुगत रहती है उसी प्रकार, **ते सच्चिदानन्दाः सर्वदा अनुगच्छन्ति**=वे पूर्वोक्त सच्चिदानन्द तीनों कालो में आकाश में अनुगत रहते हैं, **निराकाशे**=और आकाश को छोड़कर अर्थात् आकाश न होने पर, **निजात्मनि**=आकाश रहित अपने स्वरूप आत्मा में, **सदादीनां अनुभूतिः**=सद् आदि तीनों का अनुभव होता है ॥७०॥

अब उक्त अर्थ का उपपादन करते हैं—

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ।
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥७१॥

अथ अवकाशे विस्मृते=और अवकाशरूप आकाश का स्मरण न होने पर, **तत्र ते किं भाति वद**=वहाँ तुम को क्या भासता है कहो, **शून्यम् एव इति चेत्**=शून्य ही भासता है इसप्रकार यदि कहते हो तो **अस्तु नाम**=ऐसा ही होवे, **तादृक् विभाति**=आकाशाभाव विशेषण का विशेष्यरूप से प्रतीयमान किंचित् वस्तु को तो स्वीकार करना ही होगा, **हि**=यह बात लोक में प्रसिद्ध है। भाव यह है कि शब्दमात्र से तुम शून्य मानते हो, वास्तव में तो आकाशाभाव विशेषण का विशेष्य-रूप से प्रतीयमान सद् ब्रह्म का अंगीकार करना ही होगा ॥७१॥

ऐसा होने पर भी प्रकृत में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, ऐसी आशंका होने पर उत्तर देते हैं, कि विशेष्यरूप से प्रतीयमान स्वरूप का अंगीकार करना ही होगा—

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ।
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥७२॥

तादृक्त्वात् एव=अपना स्वरूप होने से ही, तत्सत्त्वम्=वह सद्रूप सिद्ध होता है, औदासीन्येन तत्सुखं=और औदासीन्य का विषय होने से वह सुखरूप है, यत् आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं=जो अनुकूलता और प्रतिकूलता रहित है, तत् निजं सुखम्=वही स्वरूप-सुख है ॥७२॥

इस अर्थ का उपपादन करते हैं—

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात् प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ।
द्वयाभावे निजानन्दो निजदुःखं न तु क्वचित् ॥७३॥

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात्=अनुकूलता में हर्षबुद्धि होती है, तु प्रातिकूल्ये दुःखधीः=प्रतिकूलता में तो दुःखबुद्धि होती है, द्वयाभावे=अनुकूलताप्रतिकूलताजन्य सुखदुःख की दोनों बुद्धि जहाँ नहीं होती, निजानन्दः=वहीं स्वरूपानन्द है। निजानन्द की न्याईं स्वरूपदुःख भी क्यों नहीं होगा ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि दुःख में स्वरूपता की सिद्धि होती ही नहीं अर्थात् स्वस्वरूप कभी दुःखरूप नहीं बन सकता—तु निजदुःखं=परन्तु स्वरूप दुःख तो, क्वचित् न=कहीं पर भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्यों कि स्वस्वरूप में कभी प्रतिकूलता की बुद्धि होती ही नहीं ॥७३॥

निजानन्द सर्वदा आनन्दरूप होने से सदा हर्ष ही होना चाहिये शोक नहीं, इस प्रकार आशंका करके निजानन्द नित्य होने पर भी उसका ग्राहक मन क्षणिक है, इसलिये मन का परिणाम हर्ष शोकादि क्षणिक हो सकता है इस प्रकार उत्तर कहते हैं—

निजानन्दे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ।
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥७४॥

निजानन्दे स्थिरे=स्वरूपानन्द नित्य होने पर भी, हर्षशोकयोः=हर्ष और शोक दोनों का, व्यत्ययः=वैपरीत्य अर्थात् कभी हर्ष

कभी शोक, क्षणात्=क्षण भर में हो सकता है क्यों कि, मनसः क्षणिकत्वेन=निजानन्द का ग्राहक मन अस्थिर है इसलिये, तयोः मानसता इष्यताम्=हर्ष और शोक दोनों को मन के परिणाम मानो ॥७४॥

दृष्टान्त में सिद्ध अर्थ की दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं

आकाशेऽप्येवमानन्दः सत्ताभाने तु संमते ।
वाय्वादिदेहपर्यन्तं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥७५॥

एवम् आकाशे अपि आनन्दः=निजात्मा में कहे गये प्रकार से आकाश में भी निजानन्द विद्यमान है, सत्ताभाने तु=सद् और चिद्-रूपता दोनों तो, सम्मते=आपको भी अंगीकृत है, अर्थात् आप भी दोनों को मानते हो इसलिये उनका उपपादन आवश्यक नहीं, वाय्वादि-देहपर्यन्तं वस्तुषु=वायु से आदि लेकर शरीर पर्यन्त वस्तुओं में, एवं=आकाश में प्रतिपादित अर्थ को उक्त प्रकार से, विभाव्यताम्=विचार द्वारा जान लेना चाहिये ॥७५॥

अब वायु आदि के असाधारण धर्मों को दो श्लोकों से दिखाते हैं-

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ।
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥७६॥

गतिस्पर्शौ वायुरूपं=गमन और स्पर्श ये दोनों वायु के असा-धारण धर्म हैं, वह्नेः दाहप्रकाशने=और अग्नि का दाह और प्रकाश असाधारण धर्म हैं, द्रवता जलस्य=द्रवता जल का असाधारण धर्म है, भूमेः च काठिन्यं=और भूमिका असाधारण धर्म कठिनता है, इति निर्णयः=इस प्रकार निश्चय है ॥७६॥

असाधारण आकार ओषध्यन्नवपुष्यपि ।
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥७७॥

ओषध्यन्नवपुष्यपि=व्रीहि यवादि ओषधि और अन्न तथा शरीरों में भी पूर्वोक्त, असाधारणः आकारः=विशेष-विशेष आकार अर्थात्

धर्म जानना, **एवं यथोचितं**=इस प्रकार योग्यतानुसार, **तत्तद्रूपं**=तिस तिस असाधारण धर्म को सर्व वस्तुओं में, **मनसा विभाव्यताम्**=मन से विचार कर जान लेना और अंगीकार कर लेना चाहिये ॥७७॥

अब फलितार्थ को कहते हैं—

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ।

तिष्ठन्ति सच्चिदानन्दा विसंवादो न कस्यचित् ॥७८॥

अनेकधा विभिन्नेषु=अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न, **नामरूपेषु च**=नाम और रूपों में भी (अर्थात् नाम रूप भिन्न-भिन्न वस्तुओं में बहुत प्रकार से भिन्नता होने पर भी), **सच्चिदानन्दा**=सत् चित् और आनन्द उन वस्तुओं में, **एकधा तिष्ठन्ति**=एक ही प्रकार से स्थित है, **कस्यचित् विसम्वादः न**=इस अर्थ में किसी का भी विवाद नहीं है ॥७८॥

तब तो प्रतीति के विषय नामरूपों की क्या गति होगी, ऐसी आशंका करके कल्पितपना ही उनकी गति हैं ऐसा उत्तर कहते है—

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ।

बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥७९॥

नामरूपे द्वे निस्तत्त्वे=नाम और रूप दोनों तत्त्वरहित अर्थात् कल्पित हैं, **ते च जन्मनाशयुते**=क्यों कि वे दोनों जन्म और नाश वाले हैं, **ब्रह्मणि बुद्ध्या**=अधिष्ठान ब्रह्म में विचार विवेक से, **वीक्षस्व**=देखो अर्थात् नामरूप दोनों को कल्पित देखो, **समुद्रे बुद्बुदादिवत्**=जैसे समुद्र में बुलबुले तरंग आदि कल्पित है ॥७९॥

इस प्रकार कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ऐसी शंका का उत्तर कहते हैं—

सच्चिदानन्दरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ।

स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥८०॥

सच्चिदानन्दरूपे पूर्णे=सत् चित् और आनन्द स्वरूप अपरि-

च्छिन्न, अस्मिन् ब्रह्मणि वीक्षिते=यह ब्रह्म दृष्ट होने पर अर्थात् अनुभूत होने पर, स्वयमेव नामरूपे=खुद ही जानने वाला नाम रूप दोनों की, शनैः शनैः अवजानाति=धीरे-धीरे अवज्ञा करता है ॥८०॥

ब्रह्मज्ञान की दृढ़ता द्वैत की अवज्ञा करने से ही होती है-इस लिये श्रवणादि की न्याई द्वैत की अवज्ञा भी कर्तव्य है इस वार्ता को कहते हैं—

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ।
यावद्यावद्वीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥८१॥

यावत् यावत् अवज्ञा स्यात्=जितना-जितना द्वैत का निरादर होगा, तावत् तावत् तदीक्षणं= उतना ही उतना ब्रह्मज्ञान दृढ़ होगा, तत् यावत् यावत्=उस ब्रह्म का जितना जितना, वीक्ष्यते =ज्ञान होगा और द्वैत की अवज्ञा भी होगी, तावत् तावत् उभे त्यजेत्=उतना ही उतना नाम रूप दोनों का त्याग करेगा ॥८१॥

ब्रह्मदर्शन के और द्वैतमिथ्यात्व निश्चय के अभ्यास का फल कथन करते हैं—

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ।
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥८२॥

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायाम्=उन दोनों के अभ्यास से ज्ञान दृढ़ हो जाने पर, अयं पुमान् जीवन् एव=यह ब्रह्मवेत्ता पुरुष जीते जी ही, मुक्तः भवेत्=मुक्त हो जाता है अर्थात् जीवन्मुक्त हो जाता है, वपुः यथा तथा अस्तु=और यह शरीर जैसा तैसा रहे अर्थात् प्रारब्धानुसार रहे ॥८२॥

अब ब्रह्माभ्यास का स्वरूप बताते हैं—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥८३॥

तच्चिन्तनं= अद्वितीय आत्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन, तत्कथनम्=उसी का वर्णन, अन्योन्यं तत् प्रबोधनं परस्पर उसी

ब्रह्मतत्त्व का बोध कराना, एतदेकपरत्वं च = और इस ब्रह्मतत्त्वज्ञान में ही तत्पर होना इसी को, बुधाः ब्रह्माभ्यासं विदुः = ज्ञानवानों ने ब्रह्माभ्यास जाना है अर्थात् कहा है ॥८३॥

अनादिकाल से लेकर प्रतिभासमान जो द्वैत है, उसी की कदाचित् होने वाले ज्ञानाभ्यास से कैसे निवृत्ति होगी ऐसी आशंका करके उसका उत्तर कहते हैं, कि दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार से सेवित अभ्यास से उसकी निवृत्ति हो सकती है—

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरन्तरम् ।
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥८४॥

अनेककालिना वासना = अनादिकाल का द्वैतसंस्कार, दीर्घकालं निरन्तरं = बहुत काल तक निरन्तर (अविच्छिन्नरूप से), सादरं च अभ्यस्यमाने = आदर के सहित तत्त्व का अभ्यास करने पर, सर्वथा एव निवर्तते = सभी प्रकार से निवृत्त हो जाता है ॥८४॥

एक ब्रह्म का अनेकाकार जगत् के प्रति कारणत्व नहीं बन सकता ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं कि माया सहित होने से एक ही ब्रह्म अनेकाकार जगत् का हेतु बन सकता है—

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान् सृजेत् ।
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥८५॥

मृच्छक्तिवत् ब्रह्मशक्तिः = मृत्तिकानिष्ठ शक्ति की न्याई ब्रह्म की मायाशक्ति, अनेकान् अनृतान् सृजेत् = अनेक नामरूपात्मक मिथ्या कार्यों का सृजन करती है; मृत्तिकानिष्ठ शक्ति सत्य है, और अनेक का हेतु है इस लिये दृष्टान्त विषम है, ऐसी आशंका का उत्तर दूसरे दृष्टान्त से कहते हैं, यद्वा जीवगता निद्रा = अथवा जीव में स्थित निद्रारूप कारण, स्वप्नः च अत्र निदर्शनम् = और स्वप्नरूप कार्य इस प्रसंग में दृष्टान्त जानना ॥८५॥

अब दृष्टान्त का विस्तार से स्पष्टतया कथन करते हैं और दार्ष्टान्तिक में योजना करते हैं —

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ।

ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी ॥८६॥

यथा जीवे निद्राशक्तिः=जैसे जीव में स्थित निद्रारूपी शक्ति **दुर्घटस्वप्नकारिणी**=जो बन नहीं सकता ऐसे दुर्घट स्वप्न को करने वाली अर्थात् रचने वाली है उसी प्रकार, **ब्रह्मणि स्थिता एषा माया** =ब्रह्म में रहने वाली यह माया, **सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी**=विचित्र जगत् की सृष्टि स्थिति और लय करने वाली बन सकती है ॥८६॥

निद्रा का दुर्घटकारित्व को दिखाते है—

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत् स्वमूर्धच्छेदनं यथा ।

मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥८७॥

यथा स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत्=जैसे स्वप्नावस्था में आकाश के गमन को देखता है और, **स्वमूर्धच्छेदनं च**=अपने शिरच्छेदन को भी देखता है और, **मुहूर्ते वत्सरौघं**=एक मुहूर्त में वर्षों के समूह का दर्शन करता है, **पुनः मृतपुत्रादिकम्**=फिर मरे हुए पुत्रादिकों को भी देखता है ॥८७॥

अब स्वप्न दुर्घट है इसमें हेतु कहते हैं—

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ।

यथा यथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्य क्तं तथा तथा ॥८८॥

तत्र इदं युक्तं इदं न=स्वप्न में ये युक्तियुक्त हैं ये युक्तियुक्त नहीं हैं, **इति व्यवस्था दुर्लभा**=इस प्रकार की व्यवस्था दुलभ है. **यद् यद् यथा यथा ईक्ष्यते**=जो जो दृश्य जैसे जैसे देखने में आता है, **तत् तत् तथा तथा युक्तं**=वह वह दृश्य वैसे ही वैसे ठीक मानन पड़ता है, इसलिये व्यवस्था के अभाव से स्वप्न दुर्घट है ॥८८॥

इसी अर्थ को कैमुक्ति न्याय से स्पष्ट करते है—

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ।

मायाशक्तेरचिन्त्योयं महिमेति किमद्भुतम् ॥८९॥

यदा निद्राशक्तेः ईदृशः=जब निद्रारूपी शक्ति के इस प्रकार का, महिमा दृष्टः=महत्त्व (दुर्घटकारित्व) देखने में आता है, तदा मायाशक्तेः=तब माया शक्ति का, अयं अचिन्त्यः महिमा=यह मन से भी चिन्तन करने अयोग्य महत्त्व है, अर्थात् दुर्घटकारित्व है, इति किम् अद्भुतं=इस विषय में क्या आश्चर्य है ॥८९॥

प्रयत्न रहित ब्रह्म में स्थित माया जगत् का हेतु है, इस में दृष्टान्त कहते हैं –

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ।
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान् कल्पयत्यसौ ॥९०॥

शयाने पुरुषे निद्रा=निश्चेष्ट सोये हुए पुरुष में स्थित हुई निद्रा, बहुविधं स्वप्नं सृजेत्=अनेक प्रकार स्वप्न का सृजन करती है, एवं निर्विकारे ब्रह्मणि=उसी प्रकार निर्विकार ब्रह्म में,असौ विकारान् कल्पयति=स्थित हुई वह माया अनेक विकारों की कल्पना करती है ॥९०॥

माया के द्वारा सृष्ट पदार्थों को दिखाते हैं—

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः ।
विकाराः प्राणिधीष्वन्तश्चिच्छाया प्रतिबिम्बिता ॥९१॥

खानिलाग्निजलोर्व्यण्डलोकप्राणिशिलादिकाः=आकाश, वायु तेज, जल, पृथिवी, ब्रह्माण्ड, चौदह भुवन, प्राणी और पत्थर आदि, विकाराः=अनेक विकार अर्थात् कार्य माया के द्वारा सृष्ट हैं। सब पञ्चभूत का विकार होने पर भी कुछ चेतन कुछ जड़ ऐसा भेद क्यों ? इस आशंका का उत्तर कहते हैं—प्राणिधीषु अन्तः चिच्छाया= प्राणियों के शरीरों में स्थित अन्तःकरणों में चैतन्य की छाया ही, प्रतिबिम्बिता=चैतन्य का प्रतिबिम्ब है,इसलिये जिसमें चित्प्रतिबिम्ब है वह चेतन है और जिसमें चिदाभास नहीं है,वह जड़ है यह विभाग बन सकता है ॥९१॥

चेतन अचेतन का विभाग चिद्रूप ब्रह्म का किया हुआ क्यों नही होगा ऐसी आशंका का उत्तर कहते हैं, कि ब्रह्म सबका उपादान

होने के कारण सर्वत्र समान है इसलिये ब्रह्मचैतन्यकृत उक्त विभाग नहीं बन सकता—

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानन्दलक्षणम् ।

समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥९२॥

चेतनाचेतनेषु एषु=चेतन और जड़रूप जगत् के इन नाम रूपों में, **सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्म**=सत्चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्म, **समानं**=एक समान ही है,इसलिये ब्रह्मचैतन्यकृत जड़ चेतन का विभाग नहीं हो सकता, **नामरूपे पृथक् पृथक् भिद्येते**=नाम और रूप दोनों विलक्षण-विलक्षण है, इसलिये भिन्न भिन्न है ॥९२॥

ब्रह्म चेतन और अचेतन में समान है, इसमें हेतु कहते हुए उस ब्रह्म का ज्ञान कैसे होगा, इस आशंका का उत्तर भी कहते हैं कि कल्पित नामरूप का त्याग कर देने पर अधिष्ठान ब्रह्म अवगत हो सकता है—

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ।

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दधीर्भवेत् ॥९३॥

पटे चित्रम् इव ब्रह्मणि=पट में चित्र की न्याईं ब्रह्म में, **एते नामरूपे स्थिते**=ये नाम और रूप स्थित अर्थात् कल्पित है, **नामरूपे द्वे उपेक्ष्य**=नाम रूप दोनों की उपेक्षा कर देने पर, **सच्चिदानन्दधीः भवेत्**=सत्चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्म का बोध हो सकता है ॥९३॥

उक्त अर्थ में दृष्टान्त कहते हैं—

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेऽप्युपेक्ष्य तम् ।

तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ॥९४॥

जलस्थे अधोमुखे स्वस्य देहे=जल में स्थित नीचे मुख वाला अपना शरीर, **दृष्टे अपि तम् उपेक्ष्य**=दृश्यमान होने पर भी, उसमें आदर बुद्धि का परित्याग करके, **तीरस्थे स्वे देहे एव**=जल से बाहर तीर मे स्थित अपने ऊर्ध्वमुख शरीर में ही, **यथा तात्पर्यं स्यात्**=जैसे तात्पर्य अर्थात् ममता बुद्धि होती है, **तथा**=उसी प्रकार ब्रह्म में भी जान लेना ॥९४॥

अब सर्व लोक प्रसिद्ध दूसरा दृष्टान्त कहते हैं—

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ।
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥९४॥

यद्वत् सहस्रशः मनोराज्ये वर्तमाने=जैसे हजारों मनोरथ विद्यमान होने पर, सदा एव सर्वैः तत् उपेक्ष्यते=सर्वदा ही सब लोग उस मनोराज्य की उपेक्षा करते हैं, नामरूपयोः उपेक्षा=उसी प्रकार नामरूप की भी उपेक्षा कर लेनी चाहिये ॥९५॥

प्रपंच के वैलक्षण्य में दृष्टान्त कहते हैं और दार्ष्टान्तिक में भी योजना करते हैं—

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा ।
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥९६॥

क्षणे क्षणे अन्यथा अन्यथा=जैसे प्रतिक्षण विलक्षण विलक्षण, मनोराज्यं भवति एव=मनोरथ होता ही रहता है, गतं गतं पुनः न अस्ति =और जो जो बीत जाता है वह फिर लौट कर नहीं आता, तथा बहिः व्यवहारः=उसी प्रकार बाहर के व्यवहार भी जान लेना ॥९६॥

उसी का विवरण कहते हैं—

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ।
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥९७॥

बाल्यं यौवने न लभ्य=बाल्यावस्था युवावस्था में प्राप्त नहीं हो सकती, स्थाविरे यौवन=वृद्धावस्था में युवावस्था नहीं प्राप्त हो सकती, मृतः पिता पुनः न अस्ति=मरण को प्राप्त हुआ पिता फिर विद्यमान नहीं हो सकता, गतं दिनम् न एव आयाति=बीता हुआ दिन कभी नहीं लौटता ॥९७॥

द्वैत की क्षणिकता का उपसंहार करते हुए क्षणिकत्वसाधन का प्रयोजन कहते हैं—

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ।
अतोऽस्मिन्भासमानेऽपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥९८॥

क्षणध्वंसिनि लौकिके मनोराज्यात्=क्षण क्षण में विनाशी संसारी पदार्थ में मनोरथ से, कः विशेषः=क्या वैलक्षण्य है अर्थात् कुछ भी वैलक्षण्य नहीं, अतः अस्मिन् भासमाने अपि=इस लिये यह क्षणिक द्वैत प्रतीयमान होने पर भी, तत्सत्यत्वधियं त्यजेत्=उस द्वैत में सत्यत्वबुद्धि का (द्वैतबुद्धि का) परित्याग करें ॥९८॥

लोकप्रसिद्ध पदार्थ की उपेक्षा करने पर क्या लाभ होता है ऐसी आशंका का यह उत्तर देते हैं कि ब्रह्म में बुद्धि स्थिर होती हैं—

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिन्तने।
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥९९॥

लौकिके उपेक्षिते= लोकप्रसिद्ध पदार्थ की उपेक्षा कर देने पर, ब्रह्मचिन्तने धीः=ब्रह्म के चिन्तन में बुद्धि, निर्विघ्ना=विघ्न रहित होकर स्थिर हो जाती है यही द्वैत की उपेक्षा का लाभ है। तब ब्रह्मज्ञानी का व्यवहार कैसे सिद्ध होता है इस आशंका का उत्तर उत्तरार्द्ध से कहते हैं— नटवत्कृत्रिमास्थायां= ज्ञानवान् नट की न्याई बनावटी अस्तिक्य बुद्धि को लेकर, लौकिकं निर्वहति एव= लोकव्यवहार का निर्वाह करता है यह निश्चय है ॥९९॥

ज्ञानी का व्यवहार अंगीकार कर लेने पर ज्ञानी में विकारित्व प्राप्त होगा, ऐसी आशंका करके बुद्धि व्यवहार वाली होने पर भी उसका साक्षी आत्मा निर्विकार ही रहता है, इस प्रकार का उत्तर दृष्टान्त सहित कहते हैं—

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा।
नामरूपान्यथात्वेऽपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥१००॥

नीरे प्रवहति अपि=जल ऊपर ही ऊपर बहते रहने पर भी, अधः प्रौढशिला= प्रवाह के नीचे बहुत मजबूत भारी पत्थर, यथा-स्थिरा=जैसे अचल रहता है (चलायमान नहीं होता), नामरूप-अन्यथात्वे अपि= उसी प्रकार नामरूप के विकार होने पर भी, ब्रह्म-कूटस्थं= सद् ब्रह्म निर्विकार ही रहता है, अन्यथा न= विकार वाला नहीं होता, अभिप्राय यह है कि नामरूप से अभिन्न बुद्धि विकृत

होने पर भी ज्ञानवान् का वास्तव स्वरूप (ज्ञानी) विकार को कभी नहीं प्राप्त होता ॥१००॥

अखण्ड ब्रह्म में उससे विलक्षण जगत् का भासना कैसे हो सकता है ऐसी आशंका करके छिद्र रहित दर्पण में आकाश के भान की न्याई बन सकता हैं ऐसा उत्तर कहते हैं-

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ।
सच्चिद्घने तथा नाना जगद्गर्भमिदं वियत् ॥१०१॥

निश्छिद्रे दर्पणे=छिद्र रहित दर्पण में जैसे, वस्तुगर्भं= अभ्र-नक्षत्रादि वस्तु है गर्भ में जिसके ऐसे, बृहद्वियत् भाति= विस्तृत आकाश भासता है, तथा सच्चिद्घने नाना=सत् चित् घन ब्रह्म में अनेक प्रकार का, जगद्गर्भम् = द्वैतरूप जगत् अर्थात् नामरूप है गर्भ में जिसके ऐसा, इदं वियत्=ये आकाशादि प्रपंच भी भासता हैं ॥१०१॥ उसी प्रकार

अदृश्य ब्रह्म में दृश्य जगत् की प्रतीति कैसे होगी, ऐसी आशंका करके सच्चिदानन्द की प्रतीति पूर्वक ही जगत् की प्रतीति होती है ऐसा उत्तर दृष्टान्त सहित कहते हैं -

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदन्तःस्थेक्षणं तथा ।
अमत्वा सच्चिदानन्दं नामरूपमतिः कुतः ? ॥१०२॥

दर्पणं अदृष्ट्वा= दर्पण को बिना देखे, तद् अन्तःस्थेक्षणं न एव= जैसे दर्पण के भीतर स्थित पदार्थ का दर्शन हो ही नहीं सकता, तथा सच्चिदानन्दम् =उसी प्रकार सत् चित् आनन्दस्वरूप ब्रह्म को, अमत्वा नामरूपमतिः=जाने बिना नामरूप का ज्ञान, कुतः =कैसे हो सकता अर्थात् नहीं हो सकता. अभिप्राय यह है कि दृश्यत्व अथवा अदृश्यत्व अकिंचित्कर है, प्रकृत में उपयोग नहीं ॥१०२॥

नामरूप दोनों भी साथ साथ भासमान होने से निर्विशेष ब्रह्म की प्रतीति कैसे होगी ऐसी आशंका करके निर्विशेष ब्रह्मज्ञान का उपाय बताते है—

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमानेऽथ तावता ।
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥१०३॥

प्रथमं सच्चिदानन्दे भासमाने=पहले सच्चिदानन्द ब्रह्म जब भासने लगेगा, अथ=उसके अव्यवहित अनन्तर अर्थात् तत्काल ही, तावता=उतने मात्र से अर्थात् ब्रह्माकार बुद्धिवृत्ति के द्वारा, बुद्धिं नियम्य ऊर्ध्वं=बुद्धि को वश में करके उसके पश्चात्, नामरूपयोः न एव धारयेत्=नाम रूप दोनों को बुद्धि में धारण करना ही नहीं ।

अभिप्राय यह है कि अधिष्ठान सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म में कल्पित नामरूपात्मक प्रपंच सच्चिदानन्दमात्र ही है, इस प्रकार बुद्धि से ग्रहण करके नामरूप को विषय करने वाली बुद्धि की धारणा अर्थात् नाम-रूप आकार न होने दे किन्तु ब्रह्म में ही स्थित रखें ॥१०३॥

अब फलितार्थ कहते हैं —

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
अद्वैतानन्द एतस्मिन्विश्राम्यन्तु जनाश्चिरम् ॥१०४॥

एवं च निर्जगत् ब्रह्म=ऐसा होने पर नामरूप रहित निर्विशेष ब्रह्म, सच्चिदानन्दलक्षणम्=सत् चित् आनन्द स्वरूप ही अवशिष्ट रहता है, एतस्मिन् अद्वैतानन्दे जनाः=ऐसे अद्वैतानन्दरूप निर्विशेष ब्रह्म में अधिकारी जन, चिरं विश्राम्यन्तु=चिरकाल तक अर्थात् सर्वदा विश्राम प्राप्त करें ॥१०४॥

अब इस अद्वैतानन्द प्रकरण के प्रतिपाद्य अर्थ का उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे तृतीयोऽध्याय ईरितः ।
अद्वैतानन्द एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिन्तया ॥१०५॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे=ब्रह्मानन्द नामक पंच अध्यायात्मक ग्रन्थ में, तृतीयः अध्यायः ईरितः=अद्वैतानन्द नामक तीसरा अध्याय कहा

गया, जगन्मिथ्यात्वचिन्तया=इस अध्याय में उक्त प्रकार से जगत् के मिथ्यात्व की चिन्ता अर्थात् विचार से, अद्वैतानन्दः एव स्यात्= अधिकारी इस अध्याय का प्रतिपाद्य अर्थ अद्वैतानन्दरूप ही हो जाता है ॥१०५॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनि-विरचितपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्देऽद्वैतानन्दाख्यत्रयोदशप्रकरणात्मक-तृतीयाध्यायस्य राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यस्वामि-स्वतन्त्रानन्दगिरिमहाराज कथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दो नाम चतुर्थोऽध्यायः, चतुर्दशं ब्रह्मानन्दे विद्यानन्द-प्रकरणम् ॥

अब विद्यानन्दप्रकरण और उससे पूर्व तीन आनन्दप्रकरणों का सम्बन्ध बताते है --

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया ।

ब्रह्मानन्दं पश्यतोऽथ विद्यानन्दो निरूप्यते ॥१॥

योगेन आत्मविवेकेन = योग के द्वारा मुख्य आत्मा के विवेक-द्वारा, द्वैतमिथ्यात्वचिन्तया = और द्वैत जगत् के मिथ्यापने के विचार से, ब्रह्मानन्दं पश्यतः अथ = ब्रह्म स्वरूप आनन्द को अनुभव करने वाले पुरुष के लिये अब, विद्यानन्दः = विद्यानन्द नाम वाले प्रकरण में विद्याजन्य आनन्द का (ज्ञानरूप अन्तःकरणवृत्ति में अभिव्यक्त होने वाले ब्रह्मानन्द का). निरूप्यते = निरूपण किया जाता है ॥१॥

अगले श्लोक में विद्यानन्द का स्वरूप कहते हैं, और उसका चार अवान्तर भेद भी कहते हैं--

विषयानन्दवद्विद्यानन्दो धीवृत्तिरूपकः ।

दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥२॥

विषयानन्दवत् = विषयानन्द के समान (पन्द्रवां प्रकरण में जैसे विषयानन्द अन्तःकरण की वृत्तिरूप कहा गया है उसी प्रकार), विद्यानन्दः धीवृत्तिरूपकः = विद्यानन्द भी अन्तःकरण की वृत्तिरूप

ही है, एषः दुःखाभावादिरूपेण=यह विद्यानन्द दुःखाभाव कामाप्ति इत्यादि भेद से, चतुर्विधः प्रोक्तः=चार प्रकार का कहा गया है ॥२॥

दुःखाभावादि चार भेद को अब दिखाते हैं—

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योऽहमित्यसौ ।
प्राप्तप्राप्योऽहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥३॥

दुःखाभावः च कामाप्तिः=दुःख की निवृत्ति और भोग प्राप्ति, अहं कृतकृत्यः इति असौ=मैं कृतकृत्य हूँ इस प्रकार वह कृतकृत्यता तीसरा है, अहं प्राप्तप्राप्यः=मैंने जो कुछ पाना था सो पा लिया, इति एव चातुर्विध्यं उदाहृतम्=इस प्रकार विद्यानन्द का चार भेद बताया गया है ॥३॥

निवारणीय दुःख का विभाग करते हुए ऐहिक दुःख की निवृत्ति में बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन प्रमाण रूप से दिखाते हैं—

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ।
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥४॥

ऐहिकं च आमुष्मिकं च=इहलौकिक दुःख और पारलौकिक दुःख, इति एवं दुःखं द्विधा ईरितं=इस प्रकार दुःख दो प्रकार का कहा गया है उन में, ऐहिकस्य निवृत्तिं=इस लोक के दुःख की निवृत्ति को, बृहदारण्यकं वचः आह=बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य ने कहा है ॥४॥

बृहदारण्यक के वाक्य का पाठ करते हैं—

आत्मानं चेद्विजानीयादहमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥५॥

पूरुषः=जीव (साभास अन्तःकरण सहित कूटस्थरूप जीव), आत्मानं=अपना वास्तव स्वरूप कूटस्थ आत्मा को, चेत् अहम् अस्मि=यदि यह कूटस्थ मैं हूँ, इति विजानीयात्=इस प्रकार अपरोक्षतया जानता है तो, किम् इच्छन्=किस मिथ्या पदार्थ की इच्छा करता

हुआ, कस्य कामाय शरीरम् अनु=किस भोक्ता के लिये शरीर के पीछे, संज्वरेत्=अपने आपको सन्तप्त करेगा अर्थात् नहीं करेगा ॥५॥

आत्मा में शोक का सम्बन्ध दिखाने के लिये आत्मा का भेद कथन करते हुए, उस चिदात्मा के जीवभाव के प्रति निमित्त कथन करते हैं—

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ।
चित्तादात्म्यात् त्रिभिर्देहैर्जीवः सन्भोक्तृतां व्रजेत् ॥६॥

जीवात्मा च परमात्मा इति=जीवात्मा और परमात्मा इस भेद से, आत्मा द्विविधः ईरितः=आत्मा दो प्रकार का कहा गया है, त्रिभिः देहैः=स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीरों से, चित्तादात्म्यात्=चैतन्यस्वरूप आत्मा का अभेदभ्रम के कारण, जीवः सन्=जीवभाव को प्राप्त हुआ वह आत्मा, भोक्तृतां व्रजेत्=भोक्ता बन जाता है, अर्थात् भोक्ता जीव कहा जाता है ॥६॥

अब परमात्मा का स्वरूप कहते हैं, और वह परमात्मा जिस प्रकार से भोग्यरूपता को प्राप्त हुए, उस प्रकार को कहते हुए विवेकदशा में भोक्तापन और भोग्यपन के अभाव को दिखाते हैं—

परात्मा सच्चिदानन्दस्तादात्म्यं नामरूपयोः ।
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥७॥

सच्चिदानन्दः परात्मा=सत् चित् और आनन्दस्वरूप परमात्मा, नामरूपयोः=कल्पित नाम रूप का अधिष्ठान होने से उन नाम रूपों के साथ, तादात्म्यं गत्वा=कल्पित ही अभेदभाव को प्राप्त हो कर, भोग्यत्वम् आपन्नः=भोग्यभाव को प्राप्त हुआ, अर्थात् भोग्य बन गया, तद्विवेके तु=परन्तु तीनों शरीर तथा भोग्य जगत् से आत्मा का भेदज्ञान उत्पन्न होने पर, उभयं न=पूर्वश्लोकोक्त प्रकार से भोक्ता और इस श्लोक में उक्त भोग्य दोनों ही नहीं रहते हैं, अर्थात् भोक्तापन और भोग्यपन से रहित शुद्ध आत्मा ही जीवात्मा परमात्मारूप से विभागशून्य होकर अवशिष्ट रहता है ॥७॥

अब उक्त अर्थ का चार श्लोकों में विस्तार से कथन करते हैं—

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ।

ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः ॥८॥

भोक्तुः अर्थे भोग्यं इच्छन्=भोक्ता के लिये भोग्य पदार्थ की इच्छा करता हुआ अविवेकी जीव, **शरीरम् अनु संज्वरेत्**=शरीर के पीछे अपने आप को सन्तप्त करता है परन्तु वास्तव दृष्टि से तो, **ज्वराः त्रिषु शरीरेषु स्थिताः**=सन्ताप अथवा दुःख तीनों शरीरों में स्थित हैं, तु **आत्मनः ज्वराः न**=किन्तु आत्मा में (अर्थात् आत्मा के) ये दुःख नहीं हैं ॥८॥

किस शरीर में कौन सा सन्ताप है, ऐसी आशंका करके स्थूलादि देहों में विद्यमान सन्तापों को पृथक्-पृथक् दर्शाते हैं—

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ।

कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥९॥

धातुवैषम्ये=कफ पित्त वायु इन धातुओं की विषमता होने पर, **व्याधयः स्थूलदेहे स्थिताः**=अनेक प्रकार के रोग ही स्थूल शरीर में होने वाले, **ज्वराः**=दुःख हैं (अर्थात् व्याधिरूप सन्ताप को स्थूल शरीर के ज्वर कहते हैं), **कामक्रोधादयः सूक्ष्मे**=और काम क्रोधादिरूप सन्ताप सूक्ष्म शरीर में होने वाले ज्वर हैं, तु **द्वयोः बीजं**=और पूर्वोक्त दोनों प्रकार के ज्वरों के संस्काररूप निमित्त, **कारणे**=कारण शरीर में होने वाले ज्वर हैं ॥९॥

अब पूर्वोक्त श्रुति का ("आत्मानं चेत् विजानीयात्" इत्यादि श्रुति का) तात्पर्य कहने के मिस से पूर्वोक्त अर्थ को ही स्पष्ट करते हैं—

अद्वैतानन्दमार्गेण परात्मनि विवेचिते ।

अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत्परात्मवित् ॥१०॥

अद्वैतानन्दमार्गेण=ब्रह्मानन्द के तीसरा प्रकरण अद्वैतानन्द में कहे हुए प्रकार से, **परात्मनि**=माया के कार्य नामरूप से सच्चि-

दानन्दस्वरूप परमात्मा को, विवेचिते वास्तवं भोग्यं=भिन्न करके जान लेने पर, सत्य भोग्य पदार्थ को, अपश्यन्=नहीं देखता हुआ, किन्तु सम्पूर्ण प्रपञ्च को मिथ्या जानता हुआ, परात्मवित् किं नाम =ब्रह्मवेत्ता किस भोग्य पदार्थ की, इच्छेत्=इच्छा करेगा अर्थात् नहीं करेगा ॥१०॥

अब पूर्वाध्यायोक्त रीति से जीवात्मस्वरूप असंग कूटस्थ चैतन्य का निश्चय होने पर कामना करने वाले के अभाव होने से आत्मा में ज्वरादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता इस बात को कहते हैं—

आत्मानन्दोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ।
भोक्ता नैवास्ति कोऽप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः? ॥११॥

आत्मानन्दोक्तरित्या=आत्मानन्दप्रकरण में कहे हुए प्रकार से, अस्मिन् जीवात्मनि=इस जीव के वास्तव स्वरूप असङ्ग कूटस्थ चैतन्य, अवधारिते अत्र शरीरे भोक्ता=निश्चित होने पर इस शरीर में कामना करने वाले भोक्ता, कः अपि न एव अस्ति=कोई भी नहीं सिद्ध होता है इसलिये, ज्वरः तु कुतः=सन्ताप कैसे होगा अर्थात् सन्ताप का सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥११॥

चतुर्थ श्लोक में ऐहिकामुष्मिक भेद से दोनों प्रकार का दुःख कहा था, उनमें ऐहिक दुःख और उसकी निवृत्ति का उपाय पूर्व कह आये, अब आमुष्मिक अर्थात् पारलौकिक ज्वर अर्थात् दुःख का प्रदर्शन करते हैं—

पुण्यपापद्वये चिन्ता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ।
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिन्ता नैनं तपेदिति ॥१२॥

पुण्यपापद्वये=पुण्य पाप इन दोनों के विषय में, चिन्ता= अकरण और करण से जनित चिन्ता ही (मैंने पुण्य क्यों नहीं किया, पाप क्यों किया इस प्रकार पश्चात्तापरूप चिन्ता ही), आमुष्मिकं दुःखं भवेत्=पारलौकिक दुःख है, एनं चिन्ता न तपेत्=इस ब्रह्मवेत्ता को वह पश्चात्तापरूप चिन्ता सन्तप्त नहीं कर सकती, इति प्रथमाध्याये

एव=इन शब्दों से योगानन्द नामक प्रथम प्रकरण में ही, उक्तं= पारलौकिक सन्ताप का अभाव ब्रह्मवेत्ता के लिये कहा गया है ॥१२॥

ज्ञानवान् को प्रारब्ध कर्म की चिन्ता मत होवे, किन्तु आगामी कर्मविषयक चिन्ता तो अवश्य होगी, ऐसी आशंका के उत्तर में- "तद्यथा पुष्करपर्णे" इत्यादि श्रुति के द्वारा जैसे कमल पत्र में जल का श्लेष (स्पर्श) नहीं होता, उसी प्रकार आगामी कर्म का स्पर्श भी ज्ञानवान् में नहीं हो सकता इस प्रकार ज्ञानवान् में आगामी कर्म के सम्बन्ध का निषेध किया गया, इस लिये आगामी कर्मविषयक चिन्ता भी नहीं हो सकती, यह समाधान कहते हैं—

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ।
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥१३॥

यथा अस्मिन् पुष्करपर्णे= जैसे इस प्रसिद्ध कमलपत्र में, अपाम् अश्लेषणं=जल का लेप नहीं होता (सम्बन्ध नहीं होता), तथा वेदनात् ऊर्ध्वं=उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के अनन्तर, बुधे आगामि-कर्मणः=ज्ञानवान् में आगामी कर्म का, अश्लेषणं=सम्बन्ध नहीं होता ("तद्यथा पुष्करपलाशे" इस श्रुति में तत्त्वज्ञानी में आगामी कर्म का अलेप कहा गया है, इसी श्रुति का अर्थ ऊपर श्लोक में स्पष्ट किया है) ॥१३॥

"तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत" (जैसे इषीका नामक तृण की तूला अर्थात् रूई अग्नि में डाली हुई तत्काल भस्मीभूत हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानवान् के सब सञ्चित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं) इस श्रुति के बल से सञ्चित कर्म की चिन्ता भी ज्ञानवान् के लिये नहीं होती इस अर्थ को अगले श्लोक से कहते हैं—

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ।
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥१४॥

यथा इषीकातृणतूलस्य=जैसे इषीका नामक घास की रूई को क्षणात् वह्निदाहः=अग्नि में डाली हुई क्षण भर में ही अग्नि जला डालती है, तथा अस्य=उसी प्रकार इस ज्ञानवान् के, संचितकर्म=

पूर्व जन्म के किये हुए संचित कर्म भी, **वेदनात् दग्धं भवति**=तत्त्व-ज्ञान से तत्क्षण ही जल जाते हैं ॥१४॥

उक्त अर्थ में भगवद्वाक्य को भी प्रमाणरूप से कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥१५॥

अर्जुन यथा समिद्धः अग्निः=हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि, **एधांसि भस्मसात् कुरुते**=काष्ठों को जलाकर भस्म कर देती है, **तथा ज्ञानाग्निः**=उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि, **सर्वकर्माणि**=सम्पूर्ण संचित कर्मरूप इन्धन को, **भस्मसात् कुरुते**=जला कर भस्म कर देती है ॥१५॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१६॥

यस्य=जिसका अन्तः करण शास्त्र, आचार्य के उपदेश से संस्कृत है, **अहंकृतः भावः न**=मैं कर्त्ता हूं, इस प्रकार अहंकारयुक्त भावना जिसको नहीं है, **यस्य बुद्धिः न लिप्यते**=और जिसकी बुद्धि नहीं लिपायमान होती है, **सः इमान् लोकान्**=वह अधिकारी पुरुष इन सम्पूर्ण लोकों को, **हत्वा अपि न हन्ति**=हनन करके भी किसी का हनन करता नहीं, **न निबध्यते**=और न ही उसके फल अधर्म से सम्बद्ध होता है ॥१६॥

इसी अर्थ में कौषीतकी श्रुति वाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

मातापित्रोर्वधः स्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ।
न मुक्तिं नाशयेत्पापं मुखकान्तिर्न नश्यति ॥१७॥

मातापित्रोः वधः, स्तेयं=माता और पिता का हनन, चोरी, **भ्रूणहत्या**=ब्रह्म हत्या अथवा गर्भस्थ पिण्ड का नाशन, **ईदृशं अन्यत् पापं**=अथवा इसी प्रकार का दूसरा महापातक भी, **मुक्तिं न नाशयेत्**=ब्रह्मवेत्ता की मुक्ति को नहीं नाश कर सकता, **मुखकान्तिः**=और ऐसे महापापों से भी ब्रह्मवेत्ता के मुख का तेज (लावण्य), **न नश्यति**

=नहीं नष्ट होता (कौषीतकी उपनिषत् के वाक्य का उक्त अर्थ के विचार से भी यह प्रमाणित होता है कि अभिमान रहित ज्ञानवान् को शुभाशुभ कर्म का लेप नहीं होता, अतः पुण्यपाप की चिन्ता ब्रह्मवेत्ता को सन्तप्त नहीं कर सकती) ॥१७॥

पूर्व तृतीय श्लोक में उक्त चार प्रकार विद्यानन्द के मध्य में अब दूसरे प्रकार को कहते हुए, इस अर्थ में ऐतरेय श्रुतिवाक्य का अर्थतः पाठ करते हैं—

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ।
सर्वान्कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥१८॥

अस्य दुःखाभाववत् एव=इस ज्ञानवान् के लिये सर्व दुःखों का अभाव की न्याई ही, **सर्वकामाप्तिः ईरिता**=सर्व कामों की (काम्य पदार्थों की) प्राप्ति भी श्रुति में कही गई है, **असौ सर्वान् कामान्**=वह ज्ञानवान् सम्पूर्ण काम्य पदार्थों को, **आप्त्वा हि**=प्राप्त होकर ही, **अमृतः अभवत्**=मरण रहित अर्थात् मुक्त हुआ है अर्थात् होता है, **इति अतः**=इस ऐतरेय श्रुतिवाक्यरूप प्रमाण से ज्ञानवान् को सर्व कामाप्ति सिद्ध होती है ॥१८॥

इसी विषय में छान्दोग्य श्रुतिवाक्य का भी अर्थतः पाठ करते हैं—

जक्षन्क्रीडन्रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ।
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥१९॥

जक्षन् क्रीडन्=भक्षण करता हुआ अथवा हँसता हुआ खेलता हुआ, **स्त्रीभिः यानैः**=स्त्रीयों से अथवा सवारियों से, तथा **इतरैः रतिं प्राप्तः**=और ज्ञाति तथा वयस्य से प्रीति को प्राप्त हुआ, **शरीरं न स्मरेत्**=शरीर को स्मरण नहीं करता, **प्राणः अमुं**=प्राण इसको अर्थात् इस देहादि संघात को, **कर्मणा जीवयेत्**=कर्म के द्वारा जीवित रखता है ॥१९॥

सर्वकामाप्तिरूप अर्थ में ही तैत्तिरीय श्रुतिवाक्य का अर्थतः

पाठ करते हैं और कर्मफल का भोग अङ्गीकार करने पर भी ज्ञानवान् को पुनर्जन्म की प्राप्ति नहीं होती इस वार्ता को भी कहते हैं--

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ।

वर्तन्ते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥२०॥

सर्वान् कामान् सह=सम्पूर्ण काम्य पदार्थों को एक ही साथ, **आप्नोति, अन्यवत्**=ज्ञानवान् प्राप्त कर लेता है, अज्ञानी के समान, **जन्मकर्मभिः न**=ज्ञानवान् जन्म और जन्म के हेतु संचित कर्मों से बद्ध नहीं होता (क्यों कि ज्ञान से संचित कर्मों का नाश हो जाने के कारण जन्म ज्ञानवान् को नहीं होता), **श्रोत्रिये भोगाः**=श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ निष्काम पुरुष में सम्पूर्ण भोग, **क्रमवर्जिताः युगपत् वर्तन्ते**=क्रम से रहित एक ही काल में विद्यमान होते हैं ॥२०॥

अब तैत्तिरीय तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के वाक्य का संक्षेप से पाठ करते हैं—

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढचित्तवान् ।

सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥२१॥

युवा रूपी च विद्यावान्=युवा अवस्था वाला, रूपवान् और विद्वान्, **निरोगः दृढचित्तवान्**=रोग से रहित बलवान् चित्तवाला (दृढिष्ठ), **सैन्योपेतः वित्तपूर्णां**=सेनायुक्त होकर धनरत्नादि वित्तों से भरी हुई, **सर्वपृथ्वीं प्रपालयन्**=सम्पूर्ण पृथ्वी को अच्छी तरह पालन करता हुआ ॥२१॥

सार्वभौम अर्थात् चक्रवर्ती राजा से आदि लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त जीवनिष्ठ सर्व आनन्दों का ज्ञानी में कैसे संभव होगा ऐसी आशंका कर के उत्तर कहते हैं कि संपूर्ण आनन्दों को ज्ञानी ने ब्रह्मानन्द का ही अंश मात्र करके जान लिया, इसलिये संपूर्ण आनन्दों का ज्ञानवान् में संभव है---

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ।

यमानन्दमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥२२॥

सर्वैः मानुष्यकैः=संपूर्ण मर्त्य लोक के, भोगैः संपन्नः तृप्त-भूमिपः=भोग सुखों से युक्त होने के कारण तृप्त हुआ चक्रवर्ती राजा, यम् आनन्दम् अवाप्नोति=जिस श्रेष्ठ सुख को प्राप्त करता है, तं ब्रह्मवित् च=उस संपूर्ण आनन्द को निष्काम श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ, अश्नुते=प्राप्त करता है (क्यों कि ज्ञानवान् के द्वारा साक्षात्कृत ब्रह्मानन्द का ही अंश सब सांसारीक सुख है) ॥२२॥

सार्वभौम अर्थात् चक्रवर्ती राजा और श्रोत्रिय अर्थात् ज्ञानवान् को भोग्य विषय की प्राप्ति एक समान नहीं है, इसलिये आनन्द की समता यद्यपि नहीं होनी चाहिये, तथापि काम्य वस्तु की प्राप्ति अथवा विवेक होने पर कामना के अभाव से भोग्य निरपेक्षता दोनों में समान ही है, इसलिये तृप्ति की समता हो सकती है इस वार्ता को कहते हैं—

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ।
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥२३॥

मर्त्यभोगे कामः=मर्त्यलोक के भोग में इच्छा अथवा कामना, द्वयोः न अस्ति=दोनों की (सार्वभौम राजा और श्रोत्रिय दोनों की) नहीं है क्यों कि, एकस्य=एक को (सार्वभौम राजा को), भोगात्=भोग से अर्थात् सम्पूर्ण इष्ट वस्तु की प्राप्ति से, निष्कामता=कामना का अभाव सिद्ध है, परस्य विवेकतः अपि=दूसरे श्रोत्रिय को विवेक के बल से निष्कामता है, अतः तृप्तिः समा=इसलिये सन्तोष (सुख) दोनों के लिये समान ही है ॥२३॥

विवेक में निष्कामता होती है, इस अर्थ का व्याख्यान करते हुए वृहद्रथ राजा के द्वारा मैत्रायणी शाखा में स्थित गाथाओं से विषय के दोषों का कथन किया है इस बात को कहते हैं—

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ।
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान्गाथाभिरुदाहरत् ॥२४॥

श्रोत्रियत्वात्=वेदादि शास्त्र के अर्थ को जानने वाले श्रोत्रिय होने के कारण, वेदशास्त्रैः=वेदादि शास्त्रों के द्वारा, भोगदोषान् अवेक्षते=भोग्य पदार्थ और उनके भोग में होने वाले दोषों को वह

श्रोत्रिय देखता है, **बृहद्रथः राजा तान् दोषान्**=बृहद्रथ नामक राजा ने उन शास्त्रोक्त दोषों को, **गाथाभिः उदाहरत्**=मैत्रायणी शाखा में उपाख्यानों के द्वारा कहा है ॥२४॥

विवेकी की कामना की अनुत्पत्ति मे दूसरा दृष्टान्त कहते हैं-'शुना वान्ते' इत्यादि अर्ध श्लोक से—

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ।

शुना वान्ते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥२५॥

देहदोषान् अनेकशः=शरीर के अनेक प्रकार के दोषों को, **चित्तदोषान्**=चित् के अनेक प्रकार के दोषों को, **भोग्यदोषान्**=और भोग्य पदार्थ के अनेक प्रकार के दोषों को मैत्रायणी शाखा में कहा है उन दोषों का, **विवेकिनः**=दर्शन करने वाले विवेकी श्रोत्रिय पुरुष की, **तद्वत् कामः नो**=उसी प्रकार किसी भी पदार्थ में कामना नहीं उत्पन्न होती, **शुना वान्ते**=जैसे कुत्ते के द्वारा वमन की हुई, **पायसे**=खीर में किसी भी मनुष्य की इच्छा नहीं होती ॥२५॥

चक्रवर्ती राजा की अपेक्षा श्रोत्रिय में सुख की अधिकता का कथन करते हैं—

निष्कामत्वे समेऽप्यत्र राज्ञः साधनसचये ।

दुःखमासीद्भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥२६॥

अत्र=चक्रवर्ती राजा और श्रोत्रिय दोनों में, **निष्कामत्वे समे अपि**=निष्कामता समान होने पर भी, **राज्ञः साधनसंचये दुःखम् आसीत्**=राजा को भोग साधनों के संग्रह करने में, अर्थात् संग्रह काल में दुःख हुआ था और अब, **भाविनाशात्**=संगृहीत पदार्थों के अवश्य होने वाले नाश के निमित्त से, **अति भिः**=अत्यन्त भय, **अनुवर्तते**=विद्यमान है अर्थात् भयजनित दुःख अभी से विद्यमान है ॥२६॥

अब अर्धश्लोक से श्रोत्रिय में सुख की और भी अधिकता का कथन करते हैं—

नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानन्दोऽधिकोऽन्यतः ।

गन्धर्वानन्द आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥२७॥

उभयं श्रोत्रियस्य न=वे दोनों दुःख श्रोत्रिय को प्राप्त नहीं हैं, **अतः तदानन्दः**=इस लिये श्रोत्रिय का सुख, **अन्यतः अधिकः**=सार्वभौम राजा के सुख से उत्कृष्ट है तथा, **गन्धर्वानन्दे**=मर्त्य लोक के श्रेष्ठ सुख से सौ गुणा अधिक गन्धर्वलोक के सुख में, **राज्ञः आशा अस्ति**=राजा की इच्छा विद्यमान है, परन्तु, **विवेकिनः न अस्ति**=विवेकी श्रोत्रिय की गन्धर्वलोक के सुख में आशा नहीं है ॥२७॥

अब गन्धर्वानन्दमें द्विविध भेद को दिखाने के लिये दो श्लोकों से गन्धर्वों का भेद कहते हैं--

अस्मिन् कल्पे मनुष्यः सन्पुण्यपाकविशेषतः ।
गन्धर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगन्धर्व उच्यते ॥२८॥

अस्मिन् कल्पे=इस कल्प में अर्थात् वर्तमान सृष्टि में, **मनुष्यः सन्**=मनुष्य होकर अर्थात् बन कर, **पुण्यपाकविशेषतः**= किसी विशेष पुण्य के फलोन्मुख होने से, **गन्धर्वत्वं समापन्नः**=गन्धर्व शरीर को प्राप्त हुआ जीव, **मर्त्यगन्धर्वः उच्यते**=मर्त्य गन्धर्व कहा जाता है ॥२८॥

पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद्भवेत् ।
गन्धर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगन्धर्व उच्यते ॥२९॥

पूर्व कल्पे कृतात् पुण्यात्=पूर्व सृष्टि में किये हुए पुण्य से, **कल्पादौ एव चेत् गन्धर्वत्वं भवेत्**=सृष्टि के आदि में ही यदि गन्धर्व बन जाता है, **तादृशः अत्र देवगन्धर्वः**=वैसा जीव इस प्रकरण में देव-गन्धर्व, **उच्यते**=कहा जाता है ॥२९॥

चिरलोक में रहने वाले पितरों का आनन्द प्रदर्शन के लिये चिरलोकवासी पितरों का कथन अर्ध श्लोक से कहते हुए त्रिविध देवानन्द के ज्ञानार्थ देवताओं का भेद कथन करते हैं -

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ।
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥३०॥

लोके चिरवासिनः=पितृलोक में चिरलोकनिवासी, अग्निष्वात्तादयः पितरः=अग्निष्वात्तादि पितर लोग रहते है, कल्पादौ एव देवत्वं गताः=तथा सृष्टि के प्रारम्भ में ही देवभाव को प्राप्त हुए देवता, आजानदेवताः=आजानदेवता कहे जाते हैं ॥३०॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ।
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥३१॥

अस्मिन् कल्पे=इस वर्तमान सृष्टि में मनुष्यशरीर धारण कर, अश्वमेधादि कर्म कृत्वा=अश्वमेध अग्निहोत्रादि कर्म संपादन करके, महत्पदम् अवाप्य=उच्च स्वर्गादिरूप स्थान को प्राप्त हुए, याः आजानदेवैः पूज्याः=जो देवता पूर्वोक्त आजानदेवताओं करके पूजित होते हैं, ताः कर्मदेवताः=वे कर्मदेवता कहे जाते हैं ॥३१॥

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविन्द्रबृहस्पती ।
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥३२॥

यमाग्निमुख्याः देवाः स्युः=यमराज अग्नि वरुण कुवेर आदि मुख्य देव हैं, इन्द्रबृहस्पती ज्ञातौ=इन्द्र और बृहस्पति ये दोनों प्रसिद्ध ही हैं, विराट् प्रजापतिः प्रोक्तः=समष्टि स्थूलप्रपंच का अभिमानी वैश्वानर प्रजापति कहा जाता है, सूत्रात्मनामकः ब्रह्मा=और सूक्ष्म समष्टिप्रपंच के अभिमानी सूत्रात्मा अर्थात् हिरण्यगर्भ को ब्रह्मा कहते हैं ॥३२॥

चक्रवर्ती राजा से आदि लेकर सूत्रात्मा पर्यन्त सब में श्रोत्रिय की अपेक्षा न्यूनता सूचन करने के लिये उन सबसे आत्मानन्द की अधिकता कहते हैं—

सार्वभौमादिसूत्रान्ता उत्तरोत्तरकामिनः ।
अवाङ्मनसगम्योऽयमात्मानन्दस्ततः ॥३३॥

सार्वभौमादिसूत्रान्ताः=चक्रवर्ती राजा से आदि लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सब ही, उत्तरोत्तरकामिनः=अपने से ऊपर ऊपर के आनन्द के इच्छुक हैं, अयम् आत्मानन्दः=किन्तु यह आत्मानन्द,

अवाङ्मनसगम्यः=मन वाणी का अविषय होने से, ततः परः=इन सब आनन्दों से उत्कृष्ट है, उस से उत्कृष्ट और कोई सुख हैं नहीं अर्थात् निरतिशय है ॥३३॥

अब सबों का आनन्द श्रोत्रिय में विद्यमान है क्यों कि वह निःस्पृह है इस वार्ता को कहते हैं—

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ।
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानन्दाः सन्ति तस्य ते ॥३४॥

तैः तैः=सार्वभौम राजा से लेकर हिरण्यगर्भ तक सबकी **काम्येषु सर्वेषु सुखेषु**=कामना का विषय सब सुखों में, **श्रोत्रियः यतः निःस्पृहः**=श्रोत्रिय ब्रह्मवेत्ता जिस कारण से इच्छा रहित है, **तेन सर्वेषां**=इस लिये चक्रवर्ती राजा आदि सब के, **ते आनन्दाः तस्य सन्ति**=पूर्वोक्त आनन्द श्रोत्रिय को प्राप्त है ॥३४॥

प्रतिपादित अर्थ का उपसंहार करते हुए पक्षान्तर को कहते हैं—(उक्त प्रकार से भिन्न दूसरा प्रकार सर्वकामाप्ति का प्रतिपादन करते हैं)

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ।
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥३५॥

एषा सर्वकामाप्तिः उक्ता=यही (इसी को) सम्पूर्ण कामना की प्राप्ति कही गई है (कहते हैं), **यद्वा स्वदेहवत्**=अथवा जैसे अपने देह में सुखाकार बुद्धि के साक्षी होने से पुरुष सुखी है उसी प्रकार, **सर्वदेहेषु अपि**=दूसरे सम्पूर्ण शरीरों में भी, **साक्षिचिदात्मना**=साक्षी चैतन्यरूप से (स्थित हुआ श्रोत्रिय), **भोगान् अवेक्षते**=सुख को (सुखाकार वृत्ति को) साक्षात् अनुभव करता है ॥३५॥

उक्त प्रकार से अज्ञानी को भी सर्वानन्द प्राप्ति होगी, ऐसी आशंका करके सर्व बुद्धियों का साक्षी मैं हूँ, ऐसा ज्ञान सब को प्राप्त नहीं, इस लिये अज्ञानी को सम्पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नहीं होती, इस प्रकार उत्तर कहते हुए इस में तैत्तिरीय श्रुति का प्रमाण देते हैं—

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ।
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥३६॥

अज्ञस्य अपि एतत्=अज्ञानी को यद्यपि यह सर्व सुख, अस्ति एव=स्वरूप से प्राप्त ही है (क्योंकि अज्ञानी का वास्तव स्वरूप आत्मा सर्वबुद्धि के साक्षीरूप से सर्व देह में स्थित है), तु अबोधतः= परन्तु अज्ञान के कारण (सर्वबुद्धि के साक्षी रूप से सर्वदेहों में मैं हूँ, इस प्रकार ज्ञान के न होने से), तृप्तिः न=अज्ञानी को तृप्ति नहीं (किन्तु ज्ञानवान् को प्राप्त हैं) क्यों कि, यो वेद=बुद्धिरूपी गुहा में स्थित ब्रह्म को जो जानता है, सः सर्वान् कामान् अश्नुते=वह ब्रह्मवेत्ता संपूर्ण सुख और तृप्ति को अनुभव करता है, इति श्रुतिः अब्रवीत्=इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति ने कहा है ॥३६॥

अब तीसरा प्रकार बताते हैं—

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा ।
अहमन्नं तथाऽन्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥३७॥

यद्वा= अथवा (तीसरे प्रकार से भी सर्व कामाप्ति को दिखाते हैं), स्वस्य सर्वात्मतां साम्ना=अपने सर्वात्मभाव को सामके मंत्र द्वारा, सर्वदा गायति= सदा साम के तत्त्व को जानने वाला कीर्तन करता है क्योंकि, अहम् अन्नं, तथा अन्नादः च= मैं अन्नस्वरूप हूँ, उसी प्रकार अन्न का भोक्ता भी हूँ, इति साम अधीयते हि= इस प्रकार साम का अध्ययन सामवेदपाठी करते ही हैं ॥३७॥

पूर्व ग्रन्थ से सिद्ध हुए अर्थ को अब संक्षेप से कहते हैं—

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ।
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥३८॥

एवं दुःखाभावः च= इस प्रकार पूर्व श्लोकों में सर्व दुःखों का अभाव और, कामाप्तिः उभे हि निरूपिते= सर्व भोगों की प्राप्ति इन दोनों का ही निरूपण किया गया है, अन्यत् च कृतकृत्यं= उससे

अतिरिक्त और भी कृतकृत्यता, प्राप्तप्राप्यत्वं ईक्षतां = तथा प्राप्त-प्राप्यता भी ब्रह्मवेत्ता में जान लेना चाहिये ॥३८॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ।
त एवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥३९॥

अस्माभिः तृप्तिदीपे = हमने तृप्तिदीप प्रकरण में, उभयं हि = उन दोनों का ही (कृतकृत्यता प्राप्तप्राप्यता दोनों का), सम्यक् ईरितं = भली भाँति कथन किया है, ते एव श्लोकाः अत्र = तृप्ति-दीप के वे ही श्लोक इस प्रकरण में भी, बुद्धिविशुद्धये अनुसन्धेयाः = बुद्धि की स्वच्छता के लिये स्मरण करने योग्य हैं ॥३९॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ।
बहुकृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥४०॥

अस्य पुरा = इस तत्त्वज्ञानी को तत्त्वज्ञान से पूर्व, ऐहिका-मुष्मिकव्रातसिद्ध्यै = इस लोक तथा परलोक के इष्टलाभ और अनिष्टनिवृत्ति के अर्थ, मुक्तेः च सिद्धये = और मोक्षसाधन ज्ञान की सिद्धि के लिये, बहुकृत्यं अभूत् = बहुविध कर्त्तव्य (कृषि, वाणिज्य आदि याग उपासना तथा श्रवणादिरूप अनेक प्रकार का कर्त्तव्य) प्राप्त था, अधुना तत् सर्वं = अब कृषि याग श्रवण आदि सभी कर्त्तव्य, कृतं = कर लिये गये अर्थात् पूर्ण हो गये। (क्योंकि अब ज्ञानवान् को किसी भी सांसारिक फल की इच्छा नहीं रही और ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार भी प्राप्त हो गया है, इसलिये अब अनुष्ठान करने योग्य कुछ रहा नहीं) ॥४०॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ।
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥४१॥

तत् एतत् कृतकृत्यत्वं = इस पूर्वोक्त कृतकृत्यता को (कृता-र्थता को), प्रतियोगिपुरः सरं = अकृतकृत्यतास्मरण पूर्वक, अनुस-न्दधत् एव = स्मरण करता हुआ (अथवा विचार करता हुआ), अयं एवं = यह ज्ञानवान् वक्ष्यमाण प्रकार से, नित्यशः तृप्यति = सर्वदा तृप्ति का अनुभव करता है, ॥४१॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया ।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥४२॥

दुःखिन अज्ञाः पुत्राद्यपेक्षया = दुःखी अज्ञानी जन पुत्र धन आदि की आकांक्षा से, कामं संसरन्तु = यथेष्ट संसारगति को भले ही प्राप्त होवें, अहं परमानन्दपूर्णः = मैं तो निरतिशय आनन्दरूप पूर्ण परमात्मा हूँ, किम् इच्छया = इसलिये किस वस्तु की इच्छा से संसरामि = संसारगति को प्राप्त करूँगा अर्थात् कदापि नहीं करूँगा ॥४२॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥४३॥

परलोकयियासवः = स्वर्गादि परलोक के अर्थी (प्राप्त करने की इच्छा वाले), कर्माणि अनुतिष्ठन्तु = यागादि कर्मों का भले ही अनुष्ठान करें, सर्वलोकात्मकः = किन्तु (सर्वात्मक) सर्वलोकस्वरूप मैं, कस्मात् कथं = किस प्रयोजन से कैसे, अत्र किं अनुतिष्ठामि = और किस कर्म का अनुष्ठान करूँ ॥४३॥)

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥४४॥

अत्र ये अधिकारिणः = इस लोक में तथा इन कर्मों में जो अधिकारी हैं, ते शास्त्राणि व्याचक्षतां = वे शास्त्रों का व्याख्यान करें, वा वेदान् अध्यापयन्तु = अथवा वेदों को पढावें, तु अक्रियत्वतः = परन्तु मैं तो निष्क्रिय हूँ इसलिये, मे अधिकारो न = मेरा अधिकार उन कर्मों में नहीं है ॥४४॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥४५॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे = निद्रा तथा भिक्षाआहरण, स्नान तथा शुद्धि, न इच्छामि च न करोमि = इनकी इच्छा मुझ में नहीं है और न मैं निद्रादि करता ही हूँ, चेद् द्रष्टारः कल्पयन्ति = यदि देखने वाले

इनकी कल्पना मुझ में करें तो, अन्यकल्पनात् मे=दूसरों की कल्पना से मेरा, किं स्यात्=क्या बिगाड हो सकता है (अर्थात् दूसरों की कल्पना से निद्रा तथा भिक्षादि मेरे में नहीं सिद्ध हो सकते) ॥४५॥

गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥४६॥

अन्यारोपितवह्निना=जैसे अन्य के द्वारा कल्पित अग्नि से, गुञ्जापुञ्जादि न दह्येत=चिर्मियों का ढेर नहीं दग्ध होता, एवम् अहं अन्यारोपितसंसारधर्मान्=इस प्रकार मैं अज्ञानी के द्वारा कल्पित संसारधर्मों को, न भजे=नहीं प्राप्त होता हूँ ॥४६॥

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥४७॥

अज्ञाततत्त्वाः=जिन्होंने ब्रह्म और आत्मा का अभेदरूप तत्त्व को नहीं जाना, ते शृण्वन्तु=वे श्रवणरूप साधन करें, अहं जानन् कस्मात् शृणोमि=मैं तत्त्व को जानता हुआ किस प्रयोजन से वेदान्त का श्रवण करूँ, संशयापन्नाः मन्यन्ताम्=तत्त्व में संशय वाले मनन करें, अहं असंशयः न मन्ये=मैं सन्देह रहित हूँ, इसलिये मनन नहीं करता हूँ ॥४७॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥४८॥

विपर्यस्तः निदिध्यासेत्=विपरीत भावना वाला निदिध्यासन करें, अविपर्यये किं ध्यानम्=विपर्यय न होने पर ध्यान की क्या आवश्यकता है (अर्थात् विपर्यय के अभाव वाले के लिये ध्यान निरर्थक है), अहम् देहात्मत्वविपर्यासं=मैं देह में आत्मत्वबुद्धिरूप भ्रम को, कदाचित् न भजामि=कभी भी नहीं प्राप्त होता हूँ ॥४८॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥४९॥

अहं मनुष्यः इत्यादिव्यवहारः=मैं मनुष्य हूँ-इस प्रकार का

व्यवहार, अमुम् विपर्यासं विना अपि=इस पूर्वोक्त विपरीत भावना के विना भी, चिराभ्यस्तवासनातः=बहुत काल से अभ्यस्त वासना अर्थात् संस्कार से, अवकल्पते=बन सकता है ॥४९॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ।
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥५०॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे=प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर, **व्यवहारः निवर्तते**=उक्त व्यवहार स्वयं निवृत्त हो जाता है, **तु कर्माक्षये**=परन्तु कर्म के क्षय हुए विना (जब तक प्रारब्ध कर्म क्षय नहीं होता तब तक), **असौ ध्यानसहस्रतः**=उक्त व्यवहार हजार ध्यान से भी, **न एव शाम्येत्**=नहीं निवृत्त हो सकता ॥५०॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥५१॥

व्यवहृतेः विरलत्वं चेत् इष्टं=व्यवहार की अल्पता यदि अभिलषित है, **ते ध्यानम् अस्तु**=तब तुम्हारे लिये ध्यान कर्त्तव्य है, **व्यवहृतिं अबाधिकां**=व्यवहार ज्ञान का बाधक नहीं, **पश्यन्**=ऐसा देखता हुआ (अर्थात् जानता हुआ), **अहं कुतः ध्यायामि**=मैं किस लिये ध्यान करूं ॥५१॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥५२॥

यस्मात् मे विक्षेपः न अस्ति=जिस कारण से मुझे विक्षेप नहीं है, **ततः मम समाधिः न**=इस लिये मेरे लिये समाधि की भी आवश्यकता नहीं, **विक्षेपः वा समाधिः वा**=विक्षेप अथवा समाधि, **विकारिणः मनसः स्यात्**=विकारी मन की ही अवस्था है ॥५२॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥५३॥

नित्याऽनुभवरूपस्य मे=नित्य अनुभव स्वरूप अर्थात् चैतन्यरूप मेरा, **अत्र**=अनुभवस्वरूप अपने विषय में, **पृथक् अनुभवः कः**

=अपने से पृथक् अनुभव कौन सा है (अर्थात् कोई नहीं है जिसका मैं सम्पादन करूँ), कृत्यं कृतं=जो कुछ करना था सो कर लिया, प्रापणीयं प्राप्तम्=जो कुछ प्राप्त करना था सो पा लिया, इति एव निश्चयः=इस प्रकार का दृढ़ निश्चय है ॥५३॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ।
मम्माकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥५४॥

लौकिकः वा=भिक्षा आहार आदि लौकिक व्यवहार अथवा, शास्त्रीयः वा=जप समाधि आदि शास्त्रीय व्यवहार अथवा, अन्यथा अपि वा व्यवहारः=हिंसा आदि निषिद्ध व्यवहार, अकर्तुः अलेपस्य मम=अकर्ता अभोक्तारूप निर्लेप मेरा, यथारब्धं प्रवर्तताम्=प्रारब्ध-कर्मानुसार होता रहे ॥५४॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ? ॥५५॥

अथवा अहम् कृतकृत्यः अपि=अथवा मैं कृतकृत्य हूँ तथापि, लोकानुग्रहकाम्यया=प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से, शास्त्रीयेण एव मार्गेण वर्ते=शास्त्रोक्त ही मार्ग से व्यवहार करूँ, मम का क्षतिः=मेरी क्या हानि है ॥५५॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥५६॥

वपुः देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ=यह शरीर देवतापूजन, स्नान, शुद्धि तथा भिक्षादि व्यवहार में, वर्ततां वाक् तारं जपतु=प्रवृत्त होवे, वाक्इन्द्रिय प्रणव का जाप करें, तद्वत् आम्नायमस्तकम् पठतु=तथा वेदान्त का पाठ करें ॥५६॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥५७॥

धीः विष्णुं ध्यायतु=और बुद्धि व्यापक परमात्मा का ध्यान

करें, यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयतां=अथवा ब्रह्मस्वरूप आनन्द में लीन हो जावें, साक्षी अहम् अत्र=साक्षी स्वरूप मैं तो इन व्यवहारों में, किंचित् अपि न कुर्वे=कुछ भी नहीं करता हूँ ॥५७॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥५८॥

असौ कृतकृत्यतया तृप्तः=वह विद्वान् पूर्वोक्त प्रकार से कृतकृत्यता के कारण हर्षित हो कर, पुनः प्राप्तप्राप्यतया तृप्यन्=और वक्ष्यमाण प्रकार से प्राप्तप्राप्यता के कारण तृप्ति का अनुभव करता हुआ, स्वमनसा निरन्तरं एवं मन्यते=अपने मन से सदा इस प्रकार मानता है ॥५८॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि ।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥५९॥

अहं धन्यः अहं धन्यः=मैं कृतार्थ हो गया हूँ मैं कृतार्थ हो गया हूँ, नित्यं स्वात्मानं=क्यों कि निरन्तर अपने निज स्वरूप को (देहादि उपाधि से रहित प्रत्यग् आत्मा को), अञ्जसा वेद्मि=साक्षात् जानता हूँ, अहं धन्यः अहं धन्यः=मैं कृतकृत्य हूँ मैं कृतकृत्य हूँ, ब्रह्मानन्दः मे=ब्रह्मस्वरूप आनन्द मुझे, स्पष्टं विभाति=स्पष्टरूप से भासता है ॥५९॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥६०॥

अहं धन्यः अहं धन्यः=मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ, अद्य दुःखं सांसारिकं=अब दुःखस्वरूप संसार को, न वीक्षे=मैं नहीं देखता हूँ (इस लिये कृतार्थ हूँ), अहं धन्यः अहं धन्यः=मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ, स्वस्य अज्ञानं क्व अपि=अपने स्वरूप का अज्ञान कहीं, पलायितं=भाग गया है (अर्थात् नष्ट हो गया है) ॥६०॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥६१॥

अहं धन्यः अहं धन्यः = मैं कृतार्थ हूँ मैं कृतार्थ हूँ, मे किंचित् कर्तव्यं न विद्यते = मेरा कुछ भी कर्तव्य अब है नहीं, अहं धन्यः अहं धन्यः = इसलिये मैं धन्य हूँ मैं कृतकृत्य हूँ क्यों कि, सर्वं प्राप्तव्यम् अद्य सम्पन्नं = प्राप्त करने योग्य सम्पूर्ण वस्तु आज प्राप्त हो गई हैं ॥६१॥

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥६२॥

अहं धन्यः अहं धन्यः = मैं धन्य हूँ मैं धन्य हूँ, मे तृप्तेः उपमा लोके = मेरी तृप्ति की उपमा इस संसार में, का भवेत् = क्या होगी, अर्थात् कोई भी उपमा नहीं, अहं धन्यः अहं धन्यः = मैं धन्य हूँ क्योंकि मैं कृतार्थ हूँ, धन्यः धन्यः = केवल तृप्ति ही तृप्ति है इसलिये मैं धन्य हूँ, पुनः पुनः धन्यः = (और इस से अतिरिक्त कुछ करने का और अवशेष नहीं है इसलिये) वारम्बार मैं धन्य अर्थात् तृप्त हूँ ॥६२॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥६३॥

अहो पुण्यम् अहो पुण्यं = पूर्व जन्म के पुण्य पुञ्ज ही, फलितं फलितं दृढं = अब दृढरूप से फलिभूत होकर इस तृप्ति का हेतु बना, इस वास्ते उस पुण्य के स्मरण से भी मैं तृप्त हूँ, अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेः = ऐसे पुण्य के सम्पादन से, अहो वयं अहो वयं = हम तृप्त हैं हम प्रसन्न हैं ॥६३॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥६४॥

अहो शास्त्रम् अहो शास्त्रम् = अर्थात् तत्त्वज्ञान का साधन शास्त्र भी धन्य है, इस प्रकार के स्मरण से भी मैं परम तृप्त हूँ, अहो गुरुः अहो गुरुः = और उस तत्त्व के उपदेश करने वाले आचार्य भी धन्य है (क्योंकि उनके विना ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, इसी प्रकार गुरु का स्मरण करते हुए तृप्ति का अनुभव करते हैं), अहो

ज्ञानम् अहो ज्ञानम्=पुनः शास्त्राचार्य के उपदेशजन्य ज्ञान को स्मरण करते हुए भी तृप्ति का अनुभव प्रगट करते हैं-अहो ज्ञानम् अहो ज्ञानम् इत्यादि शब्द से, अहो सुखम् अहो सुखं=और उक्तज्ञानजनित निरतिशय सुख का अनुस्मरण करते हुए निरंकुश तृप्ति को प्रगट करते है-अहो सुखम् अहो सुखम् इत्यादि शब्द से ॥६४॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ।
विद्यानन्दस्तदुत्पत्तिपर्यन्तोऽभ्यास इष्यताम् ॥६५॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे=ब्रह्मानन्द नाम के पाँच प्रकरणरूप ग्रन्थ में, चतुर्थः अध्यायः=चौथा अध्याय विद्यानन्दः ईरितः=विद्यानन्द नाम का कहा गया है, तदुत्पत्तिपर्यन्तः=विद्यानन्दरूप ब्रह्मानन्द की उत्पत्ति तक, अभ्यासः इष्यतां=इस प्रकरण का अभ्यास करना चाहिये ॥६५॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनिविरचितपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दनामकचतुर्थाध्यायात्मकस्य चतुर्दशप्रकरणस्य राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यस्वामिस्वतन्त्रानन्दगिरिमहाराज कथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

ॐ

अथ ब्रह्मानन्दे विषयानन्दो नाम पञ्चमोऽध्यायः, पञ्चदशं ब्रह्मानन्दे विषयानन्द प्रकरणम् ॥

—❀—

आनन्द प्रकरण के पञ्चम अध्याय विषयानन्द का प्रतिपाद्य अर्थ को कहते हुए विषयानन्द यद्यपि लौकिक होने से मोक्षशास्त्र में उसका निरूपण अयुक्त है, तथापि वह लोकप्रसिद्ध विषयानन्द ब्रह्मानन्द का ही एक देश होने से ब्रह्मज्ञान में उपयोगी है, इस लिये यहाँ उसका निरूपण अयुक्त नहीं और इस विषयानन्द का ब्रह्मानन्दांश होने में प्रमाण श्रुति ही है, इतने अर्थ को प्रथम श्लोक से वर्णन करते हैं—

अथात्र विषयानन्दो ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् ।
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥१॥

अथ अत्र = अब इस मोक्षकास्त्र के पञ्चम अध्याय विषयानन्द प्रकरण में, ब्रह्मानन्दांशरूपभाक् = ब्रह्मानन्द के एकदेशरूप, विषयानन्दः निरूप्यते = विषयानन्द का निरूपण किया जाता है, द्वारभूतः = क्योंकि यह विषयानन्द ब्रह्मानन्द का एकदेश होने से ब्रह्मज्ञान में उपयोगी है, श्रुतिः तदंशत्वं = श्रुति ने ब्रह्मानन्द का अंश ही विषयानन्द है, जगौ = इस प्रकार कहा है ॥१॥

उसी प्रमाणभूत श्रुति का अगले श्लोक में अर्थतः पाठ करते हैं—

एषोऽस्य परमानन्दो योऽखण्डैकरसात्मकः ।
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुञ्जते ॥२॥

याऽखण्डैकरसात्मकः=जो अद्वितीय समरस आत्मा है, एषः अस्य परमानन्दः=यही इस आत्मा का स्वरूप निरतिशय आनन्द है, अन्यानि भूतानि एतस्य=दूसरे सब प्राणी इस परमानन्दरूप ब्रह्मानन्द के ही, मात्राम् एव उपभुञ्जते=अंश मात्र को विषयानन्दरूप से उपभोग करते हैं ॥२॥

अब अगले दो श्लोकों में विषयानन्द ब्रह्मानन्द का ही अंश है, इस बात को दिखाने के लिये आनन्द की उपाधिरूप अन्तःकरण की वृत्तियों का विभाग करते हैं—

शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्याः शान्तवृत्तयः ॥३॥

शान्ताः घोराः तथा मूढाः=सात्त्विक वृत्तियाँ, राजस वृत्तियाँ, और तामसी वृत्तियाँ, मनसः वृत्तयः त्रिधा=इस प्रकार मन की वृत्तियाँ तीन प्रकार की हैं, वैराग्यं क्षान्तिः औदार्यम्=वैराग्य (तृष्णा रहित होना), क्षमा, उदारता, इत्याद्याः=इससे आदि लेकर सतोगुणी वृत्तियाँ, शान्तवृत्तयः=सात्त्विक वृत्ति कही गई हैं ॥३॥

तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्याः घोरवृत्तयः।
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥४॥

तृष्णा=तृष्णा (उत्तरोत्तर बढने वाली इच्छा), स्नेहः रागलोभौ=आसक्ति, अनुराग और लोभ, इत्याद्याः घोरवृत्तयः=इससे आदि लेकर रजोगुणी वृत्तियाँ घोरवृत्ति कही गई हैं, संमोहः, भयम्=मोह अर्थात् अविवेक, भय, इत्याद्याः=इससे आदि लेकर तमोगुणी वृत्तियाँ, मूढवृत्तयः कथिता=मूढ़ वृत्ति कही गई हैं ॥४॥

उक्त नानाप्रकार की वृत्तियों में ब्रह्म की चिद्रूपता भासती है और सात्विक वृत्तियों में विलक्षणता को भी कहते हैं—

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता।
प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥५॥

एतासु सर्वासु वृत्तिषु=इन सब वृत्तियों में (अर्थात् शान्त

घोर, मूढ़ वृत्तियों में), ब्रह्मणः चित्स्वभावता=ब्रह्म की चैतन्यरूपता, प्रतिबिंबति=प्रतिबिंबित होती है, शान्तासु सुखं च=परन्तु शान्त वृत्तियों में सुखरूपता का भी, प्रतिबिंबति=प्रतिबिंब पड़ता है ॥५॥

उक्त अर्थ में प्रमाण कहने के लिये श्रुतिवाक्य का अर्थ से पाठ करते हैं और व्याससूत्र के एकदेश को भी कहते हैं—

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ।
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥६॥

असौ रूपं रूपं=वह अद्वितीय परमात्मा हर एक उपाधि में, प्रतिरूपः बभूव=प्रतिबिंबित होता है, इति श्रुतिः=यह श्रुतिवचन पूर्वोक्त अर्थ में प्रमाण है, सूत्रकृत्=और सूत्रकार भगवान् व्यास जी ने भी, उपमा सूर्यकेत्यादि=जलपात्र में प्रतिबिंबरूप सूर्य की न्याईं यह आत्मा भी हर एक अन्तःकरण उपाधि में प्रतिबिंबित होता है इस प्रकार, सूत्रयामास=सूत्र की रचना की है।

टि०—सूत्र का पूरा स्वरूप इस प्रकार है,'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' इसका अर्थ—जिसलिये यह आत्मा एकरस चैतन्यरूप है, और निर्विशेष होने से अनात्मनिषेध द्वारा उपदेश करने योग्य है। अतएव=इसलिये उपाधिकृत विशेष को लेकर, सूर्यकादिवत्=जल में सूर्यप्रतिबिंब आदि की न्याईं इस प्रकार का, उपमा=दृष्टान्त दिया हुआ है ॥६॥

स्वरूप से एक ही आत्मा के उपाधि के सम्बन्ध से नानापने में श्रुतिवाक्यरूप प्रमाण कहते हैं—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७॥

एकः एव हि भूतात्मा=एक अद्वितीयरूप ही सब प्राणियों का आत्मा, भूतेभूते व्यवस्थितः=हरएक प्राणी में विद्यमान है, एकधा=स्वरूप से एक होता हुआ भी, बहुधा चैव=अनेक उपाधि के कारण प्रतिबिंबरूप से अनेक प्रकार, जलचन्द्रवत्=जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा की न्याईं, दृश्यते=देखने में आता है ॥७॥

निरवयव (निरंश) ब्रह्म के किसी उपाधि में चिन्मात्र अंश की प्रतीति और किसी उपाधि में चित् तथा आनन्द अंश की प्रतीति इस प्रकार विभाग करना अयुक्त है, ऐसी आशंका का परिहार चन्द्रमा के दृष्टान्त से करते हैं—

जले प्रविष्टश्चन्द्रोऽयमस्पष्टः कलुषे जले ।
विस्पष्टो निर्मले तद्वद्द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥८॥

जले प्रविष्टः = जल में प्रतिबिंबरूप से प्रवेश किया हुआ, अयं चन्द्रः कलुषे जले अस्पष्टः = यह चन्द्रमा जैसे मलिन जल में साफ नहीं दिखता, निर्मले विस्पष्टः = और स्वच्छ जल में स्पष्ट दिखता है, तद्वत् ब्रह्म अपि = उसी प्रकार अखण्ड ब्रह्म भी, वृत्तिषु = अंतःकरण की भिन्न-भिन्न वृत्तियों में, द्वेधा = दो प्रकार प्रतीत होता है। (घोर मूढ़ वृत्तियों में केवल चिद्रूप से और शान्तवृत्ति में चिदानन्दरूप से ब्रह्म प्रतीत होता है) ॥८॥

पूर्वश्लोकोक्त अर्थ का ही अब युक्तिसहित निरूपण करते है—

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहितः ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥९॥

घोरमूढासु = घोर (रजोगुणी) मूढ़ (तमोगुणी) वृत्तियों में, मालिन्यात् सुखांशः च = अधिक मलिनता के कारण ब्रह्म का सुखांश, तिरोहितः = छिप जाता है (अर्थात् प्रतिबिंबित नहीं होता), ईषन्नैर्मल्यतः = और थोड़ीसी स्वच्छता के कारण, तत्र चिदंशप्रतिबिंबनम् = घोर मूढ़ वृत्तियों में ब्रह्म के चैतन्य अंश का प्रतिबिंब पड़ता है ॥९॥

चन्द्रमा की उपाधि जल मलिन और निर्मल दो प्रकार के होने से अंशतः भान बन सकता है, परन्तु प्रकृत प्रसंग में उपाधि अन्तःकरण एक ही है, इसलिये आत्मा के एक अंश का भान, और दूसरा अंश का अभान नहीं बन सकता, ऐसी आशंका का समाधान करने के लिये दूसरा दृष्टान्त कथन करते हैं—

यद्वापि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्य संक्रमः ।
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥१०॥

यद्वा अपि निर्मले नीरे = अथवा जैसे स्वच्छ जल में, वह्नेः औष्ण्यस्य संक्रमः = अग्नि की उष्णता का संचार होता है, प्रकाशस्य न = अग्नि के प्रकाश का संचार नहीं होता, तद्वत् चिन्मात्रोद्भूतिरेव च = उसी प्रकार, घोर मूढ़ वृत्ति में चैतन्यमात्र अंश की ही अभिव्यक्ति, स्यात् = होती है सुखांश की नहीं ॥१०॥

अब आगे सतोगुणी शान्त वृत्तियों में चैतन्य और आनन्द दोनों की प्रतीति में पूर्वदृष्टान्त से भिन्न दृष्टान्त कहते हैं —

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ।
शान्तासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥११॥

काष्ठे तु औष्ण्यप्रकाशौ = लकड़ी में तो अग्नि की उष्णता और प्रकाश, द्वौ यथा उद्भवं गच्छतः = दोनों ही जैसे उत्पन्न होते हैं, तथा शान्तासु = उसी प्रकार सतोगुणी शान्त वृत्ति में, सुखचैतन्ये एव = सुख और चैतन्य दोनों ही ब्रह्म के अंश, उद्भूतिमाप्नुतः = अभिव्यक्ति को प्राप्त होते हैं ॥११॥

इस प्रकार की व्यवस्था का कारण क्या है, और उसका नियामक कौन है, ऐसी आकांक्षा का उत्तर अग्रिम श्लोक में कहते हैं—

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ।
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥१२॥

वस्तुस्वभावं आश्रित्य = वस्तु के (अर्थात् उपाधि के) स्वभाव का अवलम्बन करके, उभयोः व्यवस्था तु समा हि = दोनों की व्यवस्था तो समान ही है क्योंकि अनुभूत्यनुसारेण नियामकं = अनुभव के अनुसार ही व्यवस्थापक की, कल्प्यते = कल्पना होती है ॥१२॥

अब उस अनुभव को दिखाते हैं—

न घोरासु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ।
शान्तास्वपि क्वचित्कश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥१३॥

घोरासु सुखानुभवः=घोर वृत्ति में सुख का अनुभव, न ईक्ष्यते=नहीं देखने में आता है. मूढासु न= और मूढ वृत्तियों में भी सुखानुभव नहीं देखने में आता है, किन्तु शान्त वृत्ति में सुखानुभव देखने में आता है, शान्तासु अपि क्वचित्=और शान्तवृत्तियों में भी कहीं कहीं कभी कभी, कश्चित् सुखातिशयः=किसी सुख की अधिकता, ईक्ष्यताम्=अनुभव से देखलो ॥१३॥

पूर्वोक्त राजस घोरवृत्तियों में तथा तामस मूढवृत्तियों में सुख के अभाव को अंगुली निर्देश से दिखाते हैं—

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ।
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥१४॥

यदा गृहक्षेत्रादिविषये=जब मकान भूमि आदि विषयों में, कामः भवेत्=इच्छा होती है, तदा राजसस्य अस्य कामस्य=तब रजोगुणी यह इच्छा, घोरत्वात् तत्र सुखं नो=घोरवृत्तिरूप होने से उस घोर वृत्ति में सुख नहीं होता ॥१४॥

घोरवृत्ति में सुख सिद्ध न होने पर दुःखादि परिणाम को कहते हुए सुखाभाव में दूसरा कारण भी कहते हैं—

सिद्ध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ।
प्रतिबन्धे भवेत्क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥१५॥

सिद्ध्येद् वा न=इच्छा का विषय सिद्ध होगा अथवा नहीं सिद्ध होगा, इति दुःखम् अस्ति=इस प्रकार संशयदशा में दुःख होता है, असिद्धौ तत् विवर्धते=सुख की सिद्धि न होने पर वह दुःख बढ़ता है, प्रतिबन्धे=सुख की प्राप्ति में रुकावट पड़ने पर, क्रोधः भवेत्=रुकावट डालने वाले पर क्रोध उत्पन्न होता है, द्वेषः वा प्रतिकूलतः=अथवा प्रतिकूल दुःख के होने से अन्तःकरण में द्वेष

उत्पन्न होता है, इसलिये भी सुख की प्रतीति घोर वृत्ति में है नहीं ॥१५॥

विघ्न अथवा दुःख का निवारण अशक्य होने पर विषाद होता है, और वह तामस वृत्तिरूप होने से वहाँ भी सुख नहीं होता, इस वार्ता को कहते हैं—

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ।
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशङ्कापि दूरतः ॥१६॥

यत् प्रतीकारः=यदि प्रतिबन्ध के नाश का उपाय, **अशक्यः विषादः स्यात्**=असंभव हो जाय तब मन में खेद होता है, **स तामसः**=वह विषाद तमोगुण का कार्य है, इस लिये सुख नहीं होता, **क्रोधादिषु महद्दुःखं**=क्रोध द्वेषादि में बड़ा भारी दुःख होता है, **सुखशंकापि दूरतः**=सुख की आशा भी दूरसे ही निवृत्ति हो जाती है ॥१६॥

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शान्ता तत्र महत्सुखम् ।
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥१७॥

काम्यलाभे हर्षवृत्तिः=इष्ट पदार्थ के लाभ होने पर मोद हर्षरूप वृत्ति अन्तःकरण की होती है, **शान्ता**=उसी को सतोगुणी शांत वृत्ति कहते हैं, **तत्र महत्सुखं**=उस शान्त वृत्ति में बहुत सुख होता है **भोगे महत्तरं**=इष्ट वस्तु के भोग में उस से भी अधिक सुख होता है, **लाभप्रसक्तौ**=इष्ट वस्तु की प्राप्ति की संभावना होने पर, **ईषत् एव हि**=थोड़ा सा मामूली सुख होता है ॥१७॥

महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानन्दे तदीरितम् ।
एवं क्षान्तौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥१८॥

विरक्तौ तु महत्तमं=संसार से वैराग्य होने पर सब से उत्तम सुख प्राप्त होता है, **विद्यानन्दे तदीरितम्**=विद्यानन्द प्रकरण में वैराग्यदशा में सर्वोत्तम सुख का वर्णन किया गया है, **एवं क्षान्तौ तथा औदार्ये**=उसी प्रकार क्षमा और उदारता में भी जान लेना, **क्रोध-**

लोभ निवारणात्=क्योंकि सतोगुणी वृत्ति में क्रोध लोभ आदि दोषों का अभाव हो जाता है ॥१८॥

वैराग्यादि सतोगुणी वृत्ति से प्रतीयमान (अनुभव का विषय) सुख ब्रह्मानन्दरूप है, इसका कथन करते हुए क्षमा आदि वृत्तियों में भी उसकी सिद्धि को दिखाते हैं—

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्म एव प्रतिबिम्बनात् ।
वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम् ॥१९॥

यत् यत् सुखं भवेत्=सतोगुणी वृत्ति में जो जो सुख होता है, तत् तत् ब्रह्म एव=वह वह सुख ब्रह्मानन्दरूप ही है, प्रतिबिंबनात्=क्योंकि उसी का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, अन्तर्मुखासु वृत्तिषु=जिस कारण से अन्तर्मुखी वृत्तियों में, अस्य निर्विघ्नं प्रतिबिंबनम्=इस ब्रह्मानन्द का बिना रुकावट के प्रतिबिम्ब पड़ता है ॥१९॥

अब सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपानुभव प्रदर्शनार्थ ब्रह्म के स्वरूप का स्मरण करवाते हैं और सत्ताभाव के अभिव्यञ्जक उपाधि को भी कहते हैं—

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्द्वयम् ॥२०॥

ब्रह्मणः त्रयः स्वभावाः=ब्रह्म के तीन स्वभाव (स्वरूप) है, सत्ता चितिः सुखं च=सत्स्वरूप, चैतन्यस्वरूप और सुख स्वरूप, इति=इस प्रकार तीन स्वरूप जानना, मृच्छिलादिषु=मिट्टी पत्थर काष्ठादि में, सत्ता एव व्यज्यते=ब्रह्म का सत्स्वरूप ही प्रगट होता है, इतरद्वयं न=अन्य दो स्वरूप चैतन्य और सुख मिट्टी आदि में प्रगट नहीं होते अर्थात् अभिव्यक्त नहीं होते ॥२०॥

अब सत्ता तथा चैतन्य दोनों की अभिव्यक्ति तथा सत् चित् आनन्दरूपांश त्रयात्मक ब्रह्म की अभिव्यक्ति का हेतु भिन्न भिन्न उपाधियों का निरूपण करते हुए प्रपञ्च सहित ब्रह्म के प्रतिपादन का उपसंहार करते हैं—

सत्ताचितिर्द्वयं व्यक्तं घोरमूढयोः ।
शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥२१॥

घोरमूढयोः धीवृत्त्योः=घोर और मूढ़ दो प्रकार की बुद्धि-वृत्तियों में, सत्ता चितिः द्वयं व्यक्तं=सत्स्वभाव और चैतन्यस्व-भाव दोनों प्रगट होते हैं, शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं=सतोगुणी वृत्ति में सत् चित् और सुखस्वभाव तीनों ही प्रतीत होते हैं, इत्थं मिश्रं ब्रह्म ईरितम्=इस प्रकार प्रपञ्च सहित परमात्मा कहा गया है ॥२१॥

अमिश्र अर्थात् शुद्ध ब्रह्म किस प्रकार जाना जा सकता है, ऐसी आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं—

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ ।
आद्येऽध्याये योगचिन्ता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥२२॥

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां=निष्प्रपञ्चब्रह्म ज्ञान और योग से जाना जा सकता है, तौ च पूर्वं उदीरितौ=और ज्ञान और योग दोनों पहले कहे गये हैं, आद्ये अध्याये=प्रथम अध्याय में (आनन्द प्रकरण के प्रथम अध्याय में), योगचिन्ता=योग का विचार किया गया, द्वयोः अध्याययोः=और उसके बाद के दो अध्यायों में (अर्थात् आनन्द-प्रकरण के दूसरे और तीसरे अध्याय में), ज्ञानं=ज्ञान कहा गया है ॥२२॥

यदि सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूप है तो माया का क्या स्वरूप होगा, इस प्रकार आक्षेप का उत्तर कहते हैं—

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम् ।
असत्ता नरशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥२३॥

असत्ता=असत् स्वरूप (सत्ता का अभाव), जाड्यदुःखे द्वे =और जडता तथा दुःख ये दोनों, इदं त्रयं तु मायारूपं=मिलकर ये तीनों माया का स्वरूप है, नरशृंगादौ=इन तीनों में से मनुष्य का सिंग और खरगोश का सिंग तथा आकाशपुष्प आदि में, असत्ता =माया की असत्यरूपता प्रतीत होती है, काष्ठशिलादिषु=और

लकड़ी पत्थर आदियों में, जाड्यं = माया की जड़रूपता प्रतीत होती है ॥२३॥

माया की दुःखरूपता की प्रतीति कहां होती है, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हुए शान्तादि वृत्तियों में ब्रह्म का प्रपञ्च सहित होने में कारण भी वर्णन करते हैं—

घोरमूढधियोर्दुःखमेवं माया विजृम्भिता ।
शान्ताविबुद्धिवृत्त्यैक्यान्मिश्रं ब्रह्मेति कीर्तितम् ॥२४॥

घोरमूढधियोर्दुःखं = राजस घोरवृत्ति में और तामस मूढ़वृत्ति में माया की दुःखरूपता प्रतीत होती है, एवं माया विजृम्भिता = इस प्रकार परमात्मा की शक्ति माया सर्वत्र फैली हुई प्रतीत होती है, शान्ताविबुद्धिवृत्त्यैक्यात् = (सात्विक) शान्त तथा (राजस) घोरादि बुद्धिवृत्तियों के साथ उससे तादात्म्य होने के कारण ब्रह्म को, मिश्रं ब्रह्म इति कीर्तितम् = मिश्रब्रह्म इस नाम से कहा गया है ॥२४॥

इस प्रकार का वर्णन ब्रह्मध्यान के लिये ही किया गया है, और प्रपञ्च अर्थात् उपाधि की उपेक्षा करके ब्रह्मध्यान कर्तव्य है, इस वार्ता को कहते हैं—

एवं स्थितेऽत्र यो ब्रह्म ध्यातुमिच्छेत् पुमानसौ ।
नृशृङ्गादिमुपेक्षेत शिष्टं ध्यायेद्यथायथम् ॥२५॥

एवं स्थिते = इस प्रकार वस्तुस्थिति के होने पर, अत्र यः ब्रह्म ध्यातुम् इच्छेत् = यहाँ प्रपञ्च में जो ब्रह्म का ध्यान करना चाहता है, असौ पुमान् नृशृङ्गादिम् = वह मनुष्य नरशृङ्गादि की, उपेक्षेत शिष्टं = उपेक्षा करे, और शेष रहे सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का, यथायथम् ध्यायेत् = यथोचित ध्यान करें ॥२५॥

अब किस उपाधि में किस प्रकार ब्रह्मध्यान कर्तव्य है, इस आकांक्षा को पूर्ण करते हैं—

शिलादौ नामरूपे द्वे त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम् ।
त्यक्त्वा दुःखं घोरमूढधियोः सच्चिद्विचिन्तनम् ॥२६॥

शिलादौ नामरूपे द्वे=पत्थर काष्ठादिकों में नाम और रूप दोनों को, त्यक्त्वा सन्मात्रचिन्तनम्=त्याग करके सत्स्वरूप ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिये, घोरमूढधियोः दुःखं त्यक्त्वा=घोर और मूढवृत्तियों में दुःख का त्याग करके, सच्चिद्विचिन्तनम्=ब्रह्म के सत् और चित्स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये ॥२६॥

सात्त्विक वृत्तियों में सत् चित् और आनन्द तीनों का चिन्तन करना चाहिये और इन चिन्तनों में उत्तम अधम आदि भाव को भी कहते हैं –

शान्तासु सच्चिदानन्दांस्त्रीनप्येवं विचिन्तयेत् ।
कनिष्ठमध्यमोत्कृष्टास्तिस्रश्चिन्ताः क्रमादिमाः ॥२७॥

एवं शान्तासु=इस प्रकार शान्त वृत्तियों में, सच्चिदानन्दान् त्रीन् अपि विचिन्तयेत्=सत् चित् और आनन्द तीनों का ही ध्यान करें, इमाः तिस्रः चिन्ताः क्रमात्=ये तीनों ध्यान क्रम से, कनिष्ठ-मध्यमोत्कृष्टाः=अधम, मध्यम और उत्तम जानना चाहिये ॥२७॥

निगुर्णब्रह्मध्यान में जिनका अधिकार नहीं, ऐसे मन्द अधिकारियों के ऊपर अनुग्रह के लिये सोपाधिकब्रह्मध्यान में उनका अधिकार है, इस अभिप्राय से अब अग्रिम श्लोक कहते हैं—

मन्दस्य व्यवहारेऽपि मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम् ।
उत्कृष्टं वक्तुमेवात्र विषयानन्द ईरितः ॥२८॥

व्यवहारे अपि=व्यवहार काल में भी, मन्दस्य=निगुर्णब्रह्म-ध्यान में अनधिकारी मन्द मनुष्यों के लिये, मिश्रब्रह्मणि चिन्तनम्=उपाधि सहित ब्रह्म का ध्यान कहा गया, उत्कृष्टं वक्तुम् एव=सर्वोत्तम ध्यान कहने के लिये ही, अत्र विषयानन्दः ईरितः=इस प्रकरण में विषयानन्द कहा गया है ॥२८॥

इस प्रकार वृत्तिसहित तीन प्रकार के ध्यान को कह कर अब वृत्तिरहित ब्रह्मध्यान को कहते हैं—

औदासीन्ये तु धीवृत्तेः शैथिल्यादुत्तमोत्तमम् ।
चिन्तनं वासनानन्दे ध्यानमुक्तं चतुर्विधम् ॥२९॥

औदासीन्ये तु—उदासीन अवस्था में (अर्थात् रागद्वेष रहित अवस्था में), **धीवृत्तेः शैथिल्यात्**=बुद्धिवृत्ति शिथिल हो जाने के कारण, वासनानन्दे चिन्तनम्=वासनानन्द का ध्यान, उत्तमोत्तमं=पूर्वोक्त तीन प्रकार के ध्यान से सर्वोत्तम है अर्थात् अतिरिक्त है, **ध्यानं चतुर्विधम्** उक्तम्=इस प्रकार ध्यान चार प्रकार का कहा गया हैं ॥२९॥

ज्ञान और योग से उत्पन्न हुई बुद्धिवृत्ति को भी ध्यान का ही एक अवान्तर भेद क्यों नहीं मान लिया जाये, ऐसी आशंका का उत्तर कहते हुए ज्ञान और योग से उत्पन्न हुई ब्रह्मविद्यारूप बुद्धि-वृत्ति कैसे उत्पन्न होती है, इस आकांक्षा का भी समाधान करते हैं—

न ध्यानं ज्ञानयोगाभ्यां ब्रह्मविद्यैव सा खलु ।
ध्यानेनैकाग्र्यमापन्ने चित्ते विद्या स्थिरीभवेत् ॥३०॥

ज्ञानयोगाभ्यां=ज्ञान और योग से (प्रथम प्रकरण में उक्त योग और द्वितीय, तृतीय में उक्त ज्ञान इन दोनों से), **ध्यानं न**=जो ब्रह्मानन्द का चिन्तन है, वह ध्यानरूप नहीं, **सा खलु ब्रह्मविद्या एव**=वह बुद्धिवृत्ति निश्चय करके ब्रह्मविद्या (ब्रह्मज्ञान) ही है, **ध्यानेन चित्ते**=ध्यान के द्वारा चित्त, **ऐकाग्र्यम् आपन्ने**=एकाग्र होने पर उस एकाग्रचित्त में, **विद्या स्थिरीभवेत्**=ब्रह्मज्ञान स्थिर हो जाता है ॥३०॥

ज्ञान और योग से उत्पन्न हुई बुद्धिवृत्ति ब्रह्मविद्यारूप ही हैं, इसमें हेतु बताते हैं—

विद्याया सच्चिदानन्दा अखण्डैकरसात्मताम् ।
प्राप्य भान्ति न भेदेन भेदकोपाधिवर्जनात् ॥३१॥

विद्यायां सच्चिदानन्दाः=ज्ञान में (ब्रह्म विचार में) सत् चित् और आनन्द तीनों, अखण्डैकरसात्मतां प्राप्य=अखण्ड समरस-भाव को प्राप्त होकर, भेदेन न भान्ति=भिन्न-भिन्न नहीं भासते हैं-(किन्तु अभिन्नरूप से भासते हैं), भेदकोपाधिवर्जनात्=क्योंकि भेद करने वाली (सत् चित् और आनन्द को भेद करने वाली) उपाधियों का वहाँ त्याग हो जाता है ॥३१॥

अब पुर्वोक्त भेदक उपाधियों का वर्णन करते हुए उन उपाधियों के परिहार का उपाय कहते हैं—

शान्ता घोराः शिलाद्याश्च भेदकोपाधयो मताः ।
योगाद्विवेकतो वैषामुपाधीनामपाकृतिः ॥३२॥

शान्ताः घोराः=शान्त वृत्ति घोरादि वृत्ति, शिलाद्याः च भेदकोपाधयः मताः=और पत्थर, मृत्तिकादि भेद करने वाली उपाधियाँ कही गई हैं, योगात् विवेकतः वा=योग से अथवा विवेक से (ज्ञान से), एषाम् उपाधीनाम् अपाकृतिः=इन उपाधियों का परिहार हो जाता है ॥३२॥

पूर्वग्रन्थ के फलितार्थ को कहते हैं—

निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने स्वयंप्रभे ।
अद्वैते त्रिपुटी नास्ति भूमानन्दोऽत उच्यते ॥३३॥

स्वयंप्रभे अद्वैते=स्वयंप्रकाशरूप अद्वितीय, निरुपाधिब्रह्मतत्त्वे भासमाने=उपाधि से रहित ब्रह्मतत्त्व प्रकाशमान होने पर, त्रिपुटी नास्ति=द्रष्टा, दर्शन, दृश्य आदि त्रिपुटी (ध्याता, ध्येय, ध्यान आदि त्रिपुटी) नहीं होती, अतः=इस लिये (त्रिपुटी के भान न होने से), भूमानन्दः उच्यते=वह निष्प्रपञ्च ब्रह्म भूमानन्द (अपरिच्छिन्न आनन्द) कहा जाता है ॥३३॥

अब पञ्चमअध्यायरूप ग्रन्थ का उपसंहार करते हैं—

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे पञ्चमोऽध्याय ईरितः ।
विषयानन्द एतेन द्वारेणान्तः प्रविश्यताम् ॥३४॥

ब्रह्मानन्दाभिधे ग्रन्थे = ब्रह्मानन्द नामक पाँच प्रकरणरूप इस ग्रन्थ में, पञ्चमः अध्यायः विषयानन्दः ईरितः = पाँचवां अध्याय विषयानन्द नाम का कहा गया है, एतेन द्वारेण = इस द्वार से (विषयानन्द में कही हुई प्रक्रिया से), अन्तः प्रविश्यताम् = भीतर प्रवेश करना चाहिये (प्रत्यक् अन्तरात्मारूप प्राप्त करना चाहिये) ॥३४॥

प्रीयाद्धरिर्हरोऽनेन ब्रह्मानन्देन सर्वदा ।

पायाच्च प्राणिनः सर्वान्स्वाश्रिताञ्छुद्धमानसान् ॥३५॥

अनेन ब्रह्मानन्देन = इस ब्रह्मानन्द से, हरिः हरः सर्वदा प्रीयात् = अभिन्नात्मा हरिहर सदा प्रसन्न होवें, स्वाश्रितान् शुद्धमानसान् = परमात्मा के शरणागत शुद्धचित्त वाले, सर्वान् प्राणिनः = सब प्राणियों की, पायाच्च = रक्षा भी करें ॥३५॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीभारती तीर्थ विद्यारण्यमुनिविरचितपञ्चदश्यां ब्रह्मानन्दे विषयानन्दनामकपञ्चमाध्यायात्मकस्य पञ्चदशप्रकरणस्य राष्ट्रभाषायां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यस्वामिस्वतन्त्रानन्दगिरिमहाराज कथितान्वय व्याख्या समाप्ता ॥

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

॥ इति शुभमस्तु ॥

—❀—